संस्कृति

संस्कृति

डा० आदित्य नाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थ

सर्वस्याऽऽप्त्यै सर्वस्य जित्यै
सर्वमेव तेनाऽऽप्नोति सर्वं जयति।

तैत्तिरीय संहिता ५।४।१२
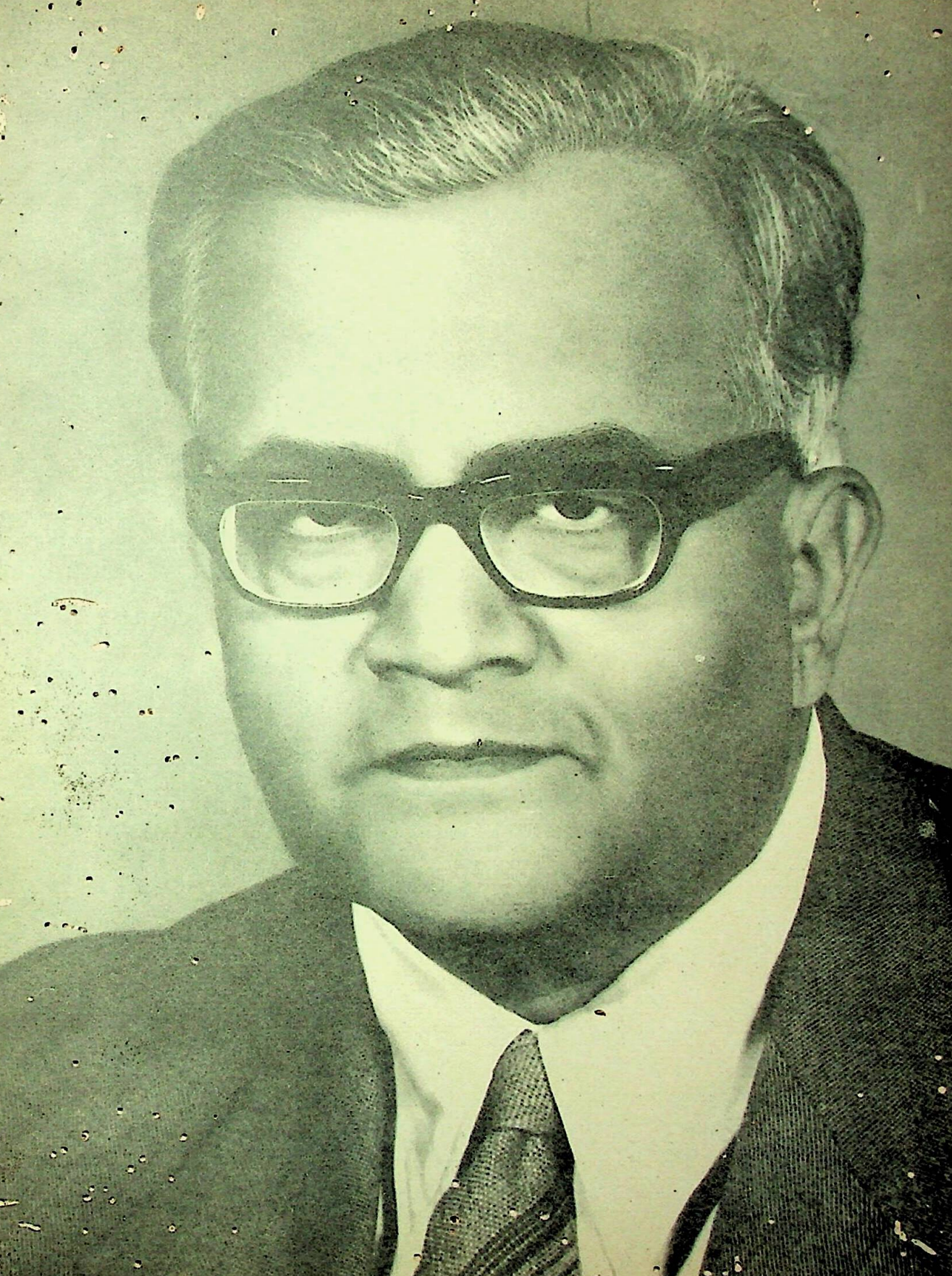
प्राधानिकम्

विद्या हि राष्ट्रस्य प्रथमा सम्पत्, सैव भौतिक्या आध्यात्मिक्याश्च समृद्धेर्मूलम्। अतस्तस्याः संरक्षणं संवर्धनं च तस्य प्राथमिकं कर्त्तव्यम्। तच्च न केवलं विद्वत्समुदायेन, न वा केवलं शासनेन, न च केवलं जनतया साध्यमपि तु समेषामेषां सामूहिकप्रयत्नेन। तत्र विद्वत्समुदायो निष्ठापूर्णया निःस्पृहया स्वाध्यायसाधनया, शासनमावश्यकवित्तादि-साधनसांविध्यप्रबन्धेन, जनता च तत्रावश्यकाभिरुचिप्रदर्शनेन वाञ्छनीयं योगदानं कर्तुमर्हति। विद्वत्समुदायस्यापेक्षिता प्रवृत्तिस्तस्मै शासनेन जनतया च दीयमानं सम्मान-मुपजीवति। आभ्यामुभाभ्यां सम्मानितो विद्वद्वर्गः प्रयोजनान्तरमनपेक्षमाण एव विद्या-व्यवसाये स्वात्मानं सर्वतोभावेन समर्प्य राष्ट्रस्य गरिम्णोऽभिरक्षणं विश्वस्य समक्षं तस्य मूर्ध्न उन्नयनं च कर्तुं क्षमते।

सर्वथा तथ्यमेतत्—

विद्वद्भिर्मानिसन्तुष्टैर्नित्यं संवर्ध्यमानया।
विद्यया रक्षितं राष्ट्रं प्रसीदति न सीदति॥

कृत्स्नोऽयमर्थः कामन्दकेन एकेनैव वाक्येनेत्थं सम्यगभ्यधायि।

"विद्या लोकोपकारिण्यस्तत्पाता हि महीपतिः।"

निर्विवादमेतद् यद् विद्यापालनादेव मही पालिता भवति, तत्पालनञ्च विद्वत्पा-लनात्। विदुषां पालनं च तेषां यथोचितात्सभाजनादेव।

अधुना प्रचलत्सु विदुषां विद्यानुरागिणां च सभाजनप्रकारेषु तेभ्योऽभिनन्दन-ग्रन्थसमर्पणं सर्वतो गरीयान् प्रकारो मन्यते। अस्मिन् प्रकारे विदुषां, विद्वत्प्रणयिनां, शासनस्य प्रजाजनस्य च सर्वेषां सामञ्जस्यपूर्णः समवायः सञ्जायते। विद्वांसो बहुमूल्यैः लेखैः, विद्वत्प्रणयिनो योजनाया व्यापकैः स्तवनैः, शासनं प्रजाश्च सम्मतैः धनराशेश्च समर्पणैरभिनन्दनग्रन्थस्य निष्पत्तिं विधायाभिनन्दनीयं पुरुषं सत्कुर्वन्ति। अनेनादर-विधिना सत्क्रियमाणस्य पुंसः सम्माननेन सह विद्याक्षेत्रे विशिष्टो बोधागमोऽपि सम्पद्यते।

प्रस्तुतोऽभिनन्दनग्रन्थो यस्य पुरुषरत्नस्य सम्माने प्रक्रम्यमाणो विद्यते, स तस्या मिथिलाया योग्यतमस्तनयो या बहुकालं संस्कृतवाङ्मयस्य बहूनां शाखानां, विशेषेण

आन्वीक्षिकीविद्यायाश्च सुमहत्केन्द्रमासीत्। न्यायसूत्रकारो महर्षिगौतमः, षड्दर्शनीवल्लभो वाचस्पतिः, जगत्कर्तुः शिवस्य शरण्य उदयनो नव्यन्यायप्रजापतिस्तत्त्वचिन्तामणिकारो गङ्गेशस्तर्ककाव्ययोः समं लीलायमानभारतीकः पक्षधरश्च मिथिलाया एव महनीयाः सन्ततयः। उपनिषद्गीतकीर्तेः राजर्षिजनकस्य सैव शासनस्थली आदर्शनार्याः सीतायाः सैव प्रादुर्भावभूमिः। तत्रैव श्रेष्ठे श्रोत्रियब्राह्मणकुले लब्धजनुषः स्वकीयेन प्राच्यपाश्च्यात्यविद्यावैदुष्येण न केवलं मिथिलां, न वा केवलं भारतवर्षमपितु विद्यानुरागिणां सम्पूर्णं संसारमेव शोभयतश्चमत्कुर्वतश्च स्व० डॉ० गङ्गानाथ झा शर्मणः कनीयान्स्तनुजन्मा चिरं प्रयागविश्वविद्यालयोपकुलपतेः सुविख्यातशिक्षाविदः स्वाग्रजस्य डॉ० अमरनाथझाशर्मणश्चानुजन्माऽऽयुष्मानादित्यनाथः प्रकृतग्रन्थस्य नायकः। एष हि शैशव एवाभिव्यज्यमानयाऽऽत्मनोऽसाधारणप्रतिभया गृहजनैः 'पण्डित' इत्यभिख्यया व्यपदिश्यत। मयापि च तन्नाम्नैव सततमस्मर्यत। मन्ये, यद्ययं शिक्षाजगत्येव यापितजीवकोऽभविष्यत्तदा निस्संशयं स्वीयपितरं भ्रातरं चातिशयानो देशस्य सम्मान्येषु शिक्षावित्सु प्रथमश्रेण्यां गणितोऽभविष्यत्। परमयमनिर्वाच्यप्रेरणया तथा न कुर्वाणो योग्यताप्रतिभयोरनन्यनिकषभूतां सुप्रसिद्धाम् आई० सी० एस० परीक्षामक्षोभमुत्तीर्य प्रशासनस्य गंभीरोत्तरदायित्वपूर्णेष्वनेकेषु पदेषु वर्तमानस्तत्र यशस्करं कार्यं विदधानोऽपि सहजानुरागवशादनवरतं विद्योपासनायां समर्पितात्माऽविद्यत, येन संस्कृते आङ्गले च वाङ्मयेऽस्य सुस्पृहणीयः प्रवेशः प्रत्यपद्यत।

देशे स्वातन्त्र्यसूर्योदयप्रभया प्रकाशिते यदोत्तरप्रदेशप्रशासनं वाराणस्यां संस्कृत विश्वविद्यालयस्य प्रतिष्ठापनं निश्चित्य 'कस्तस्य प्रथमोपकुलपतिर्नियुज्येत, तन्निर्माण संचालनयोर्भारः कस्मै प्रदीयेत' इति चिन्तायां न्यमज्जत्तदा श्रीझामहोदयः स्वयमग्रसरो भूत्वा भारमिदं शिरसा दधानः प्रशासनं निश्चिन्तं विधाय वर्षाभ्यन्तर एव विश्वविद्यालयं यथोचितं यथापेक्षं च प्रावर्तयत्। श्री झामहोदयः प्रारम्भ एव विश्वविद्यालयस्य विकासाय प्राशासनिकीं शैक्षिकीं च यां योजनां पुरोऽकरोत्तदनुसारेणैव विश्वविद्यालयः क्रमेणोपचीयमानो विद्यावतां मोदायावकल्पते।

झामहोदयस्योपकुलपतित्वकालो न केवलं विश्वविद्यालयस्यापि तु समस्तस्य संस्कृतानुरागिणो लोकस्य सर्वतोमुखाभ्युदयस्य स्वर्णकालोऽवर्तत। तदानीं कस्यापि किमपि दुष्करं न प्रातीयत। सर्वस्य संस्कृताध्येतुर्मानसं भव्यस्य भविष्यतः कल्पनया समुदलस्यत। झा महोदयेन न केवलं विश्वविद्यालयस्यैव चतुरस्रो विकासश्चिन्त्यमानोऽविद्यत, अपितु सर्वेषां पुरातनानां संस्कृतविद्यालयानामपि सर्वविधं समुन्नयनं समलक्ष्यत। तदीये सम्पर्के स्वस्वविधेयेषु व्यापृतो विद्वद्वर्गः कमप्यपूर्वं महिमानममन्यत।

इदं हि संस्कृतसमाजस्य दुर्दैवमासीद् यत् स शीघ्रमेव केन्द्रियशासनेन प्राशासनिकस्य गुरुतरकार्यस्य निर्वर्तनाय विश्वविद्यालयाद् व्ययोजि। यद्यप्येवं स स्वल्पकालमेव

विश्वविद्यालयं संसेव्य ततः पृथग् भवितुं विवशोऽभूत्तथापि तदवधौ संस्कृतोन्नयनकर्मणि तदीये मनसि याऽऽस्थाऽजायत, सा संस्कृतसेवायां तन्मनो दृढतरमकरोत्। तदनन्तरं स यत्र कुत्रापि पदे प्रत्यतिष्ठत् तेन सर्वेणैव पदेन यथामर्यादं यथावसरं च संस्कृतसेवां समपादयत्। भारतराजधान्यां दिल्लीनगर्यां श्री लालबहादुरशास्त्रिसंस्कृतविद्यापीठस्य केन्द्रियशासन-संरक्षणप्रदानेन चिरजीविताया अजस्रमुपचीयमानतायाश्च सम्पादनमपि श्रीझामहोदय-स्यैवसुप्रशस्तं विलसितम्।

श्रीझामहोदयस्य संस्कृतविषये विशिष्टामभिरुचिं महान्तमध्यवसायं चावधाय प्रसीदतां बहूनां मनस्ययं स्तुत्यः सङ्कल्पः प्रादुरभूद् यत्तस्य सुमहत्याः संस्कृतसेवाया उप-लक्ष्येऽभिनन्दनग्रन्थसमर्पणेन विद्वज्जनैस्तत्सभाजनं क्रियेत। तत्सङ्कल्पस्यैव सुमधुरोऽयं परिणामो यत्प्रस्तुतग्रन्थः श्री झामहोदयस्य सम्माननायां समुद्गतो विद्यते।

अस्य ग्रन्थस्य प्रसाधनाय यैर्मनीषिभिर्लेखाः प्रहिताः, यैः सज्जनैश्च प्रकाशनसौ-कर्याय धनादिसाधनं सुलभं कृतं, यैश्च ग्रन्थस्य पूर्वरूपाद्यवलोक्य मुद्रणस्य निर्दोषत्वं निष्पादितं, तेभ्यो हार्दिकान् धन्यवादान् वितरननेन ग्रन्थेनाभिनन्द्यमानस्य दिल्ली प्रशासनोपराज्यपालस्य विद्यारसोदन्वतः श्रीमत आदित्यनाथझामहाभागस्य निरामयं सर्वैः प्रकारैः सुसमृद्धं दीर्घतममायुः सान्नपूर्णं काशीविश्वनाथं प्रार्थयते कामयते च तस्मा-दुत्तरोत्तरं राष्ट्रस्य समुन्नयनं संस्कृतशिक्षायाः संवर्धनं च।

कविराजोपाधिकः
गोपीनाथदेव शर्मा
प्रधान सम्पादकः

आभार

अमृत मन्थन का अवगुंठन लिये संस्कृति—डॉ० झा का अभिनन्दन साकार कर रही है। यह सब उन महानुभावों के पुण्य-प्रताप का फल है जिन्होंने इसमें तन-मन-धन से सहयोग दिया। अभिनन्दन-ग्रन्थ की प्रेरणा में यह एक नई दिशा है—जिसमें व्यक्ति-विशेष के गुणानुवाद का बाहुल्य नहीं है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति सर्वांगीण साहित्य और कला के विद्वानों की विद्वत्तापूर्ण कृतियाँ सँजोकर अपनी संस्कृति के प्रतीक डॉ० आदित्यनाथ झा को समर्पण करने के रूप में है। योग्य, अनुभवी और समन्वयात्मक ज्ञान के विज्ञाता ही इस अस्थिर-युग की मँडराती हुई नाव को सही मार्ग-निर्देशन देकर चलाने में सक्षम हो सकते हैं। जिन्होंने अपनी परम्परा से पूर्व और पश्चिम की साहित्यिक तथा राजनीतिक गतिविधियों का सूक्ष्मता से अध्ययन और निरीक्षण किया है और युग के प्रबल झंझावातों से मानव-मन एवं परिस्थितियों को परखा है, वह सक्षम नेता, निदेशक और अधिकारी होने योग्य हैं। ऐसे व्यक्ति जो राज्य और जनता दोनों को समान दृष्टि से देखकर चलने वाले हों, निश्चय ही सम्माननीय हैं। ऐसे महापुरुषों का अभिनन्दन देश, जाति, समाज के लिए श्रेय और प्रेय का मार्ग प्रस्तुत करता है।

डॉ० झा की बहुमुखी प्रतिभा ने दिल्ली में अपने को और निखार लिया और यहाँ के जन-मन में अपना एक निराला स्थान बना लिया और न जाने कितने ही लोगों के हृदय में डॉ० झा के व्यक्तित्व की ओर श्रद्धा और स्नेह की भावना घर कर गई है। हम शिक्षा-विशेषज्ञ डॉ० दुर्गाप्रसाद पाण्डेय के आभारी हैं कि उनके अन्तस् में इन भावनाओं को मूर्त रूप देने की प्रेरणा जगी। डॉ० पाण्डेय ने जब इस श्रेयस्कर योजना को मुझे बताया और इच्छा व्यक्त की कि मैं इसके संयोजन का भार सँभालूँ तो कार्य के गुरुत्व को देखते हुए भी इस योजना के पीछे जो श्रेयप्रद भावना निहित थी और इसके पीछे जितने आप्त पुरुषों का वरदहस्त प्राप्त था, वह मुझे अपने लक्ष्य के प्रति प्रेरित कर रहा था। फलस्वरूप डॉ० झा अभिनन्दन-ग्रन्थ समिति का गठन हुआ। दिल्ली के महापौर श्री हंसराज गुप्त अध्यक्ष और प्रसिद्ध पत्रकार श्री अक्षयकुमार जैन उपाध्यक्ष, डॉ० दुर्गाप्रसाद पाण्डेय तथा आचार्य श्री बदरीनाथ शुक्ल इसके संयोजक बने। मेरे सहयोग के लिए श्री रामप्रताप मिश्र और चन्द्रभान पाण्डेय मिले जो मनसा-वाचा-कर्मणा डॉ० पाण्डेय के साथ उनकी छाया की तरह रहकर कार्य में सहयोग देते रहे। यह सब डॉ० झा के व्यक्तित्व के प्रभाव का ही फल है कि आरम्भ में जिस ग्रन्थ का अनुमान ८००पृष्ठों का था, वह लगभग १८०० पृष्ठों में आपके सम्मुख है। जिस उदारता और स्नेह से न केवल भारतवर्ष, किन्तु पाश्चात्य देशों से भी उच्च कोटि के विद्वानों तथा मनीषियों ने विविध विषयों पर अपने खोजपूर्ण लेख देकर यह अमूल्य निधि संकलित करने में सफलता दी, वे स्तुत्य हैं। भारतीय संस्कृति की शायद ही कोई ऐसी विधा हो जिस पर इस ग्रन्थ में लेख न हो। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी के तीन खण्डों में प्रकाण्ड पंडितों ने अपनी-अपनी कृतियाँ दी हैं। साथ

ही गुरुमुखी और उर्दू में भी विद्वत्तापूर्ण लेख हैं। समिति सबसे अधिक उपकृत और आभारी है—पद्मविभूषण महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज की, जिन्होंने अभिनन्दन-ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक के पद का भार स्वीकार कर हमें गौरवान्वित किया है। इससे ग्रन्थ की गरिमा को चार चाँद लग गये हैं। ग्रन्थ के सम्पादक डॉ० दुर्गाप्रसाद पाण्डेय के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ, कितना अथक परिश्रम उन्होंने किया है, उनके विचार-संकल्प का प्रतिफल ही यह ग्रन्थ है।

भारत के महामहिम राष्ट्रपति डॉ० ज़ाकिर हुसैन ने कला और संस्कृति के इस सुन्दर पुष्प-माल्य को भेंट देकर न केवल डॉ० झा को अपितु सारे देश के विद्वानों को गौरवान्वित किया है। अभिनन्दन-समिति महामहिम के इस अनुग्रह के लिए हृदय से आभार प्रकट करती है।

सामग्री का संकलन और चयन एवं उसका प्रकाशन अपनी कठिनाई लेकर चलता है, विशेषतः जबकि उसका इतना वृहत् रूप हो। मैं किन शब्दों में उन सहयोगियों की कृतज्ञता प्रकट करूँ, जिन्होंने इस संकल्प को पूरा करने में योगदान दिया। वह तो उनका अपना ही काम था, फिर भी औपचारिकता की दृष्टि से यह मेरा कर्तव्य हो जाता है कि जिन लोगों ने विशेषतः हाथ बँटाया उनके प्रति मैं कृतज्ञता व्यक्त करूँ! मैं अपने सहयोगियों, विद्वान् लेखकों, सम्पादक-मण्डल के सदस्यों, डॉ० प्रभाकर माचवे, कलाविद् श्री विश्वनाथ मुकर्जी एवं बी० एम० पाठक तथा श्री श्यामसुन्दर गर्ग, मुद्रक के प्रति अपना विशेष आभार प्रकट करता हूँ। यह श्री श्यामसुन्दर गर्ग का ही साहस था कि इतने थोड़े समय में वे इस ग्रन्थ को इतने सुन्दर रूप में प्रस्तुत कर सके। इसमें सन्देह नहीं है कि वे अपनी कला में निपुण हैं। फिर भी इतने बड़े ग्रन्थ में हम लोगों की जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनके लिए मैं विद्वत् समाज से विनम्र क्षमा-प्रार्थी हूँ। उदारमना महानुभावों ने जिस स्नेह से आर्थिक सहायता दी, उसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

अन्त में मैं सर्वशक्तिमान् परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह डॉ० आदित्यनाथ झा को दीर्घायुष्य प्रदान कर भारतीय संस्कृति और जनता के श्रेय एवं प्रेयमार्ग को अधिक प्रशस्त करे, क्योंकि दोनों का सन्तुलन बड़ी कठिनाई, त्याग और अनुभव से प्राप्त होता है, जिसने इस कोण को पा लिया, वही सच्चा राष्ट्रचिन्तक, जनहितकारी और सफल प्रशासक है।

नीतिकार ने कहा है—

नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके
जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः
इति महति विरोधे वर्तमाने समाने
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता।

लक्ष्मीनारायण सकलानी
मंत्री, संयोजन समिति

अवतरणिका

श्रद्धा और कृतज्ञता मानव की प्रकृति के दो पावनतम पहलू हैं। इन्हीं पर किसी भी संस्कृति का स्थायित्व एवं गौरव निर्भर करता है। जो देश या जाति जितनी उदात्तता एवं उदारता के साथ महाप्राण मानवों का सम्मान करना जानती है वह उतनी ही प्रगतिशील, समृद्ध और गौरवशालिनी वनती जाती है। भारतीय संस्कृति की यही विशेषता रही है कि यहाँ श्रद्धा के समर्पण और कृतज्ञता के ज्ञापन को न केवल सामाजिक जीवन के एक कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया है वल्कि धार्मिक जीवन का एक अंश माना है। इस ग्रन्थ के समर्पण का संकल्प इसी भावना की प्रेरणा है।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि झा-परिवार की वहुत वड़ी देन भारतीय संस्कृति को है। स्वनामधन्य महामहोपाध्याय स्वर्गीय डॉ० गंगानाथ झा ने भारतीय चिन्तन-धारा को नई प्रेरणा दी, भारतीय ज्ञान-परम्परा को निखारा और समृद्ध किया। स्वर्गीय डॉ० अमरनाथ झा ने अपने गम्भीर पाण्डित्य एवं दूरदर्शिता के द्वारा भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में नई चेतना और नये उद्‌वोध को विकसित किया, और डॉ० आदित्यनाथ झा ने अपने महान् पिता एवं अग्रज के गुणों को तो अपनाया ही है, उनमें कुछ और भी जोड़ दिया है जो उनके व्यक्तित्व की अपनी देन है। महान् पण्डितों के इस परिवार में डॉ० आदित्यनाथ झा वचपन में ही पण्डित कहे जाते थे, सदसद्-विवेचनी बुद्धि के धनी और कर्तव्य के निष्ठावान उद्‌वोधक। डॉ० आदित्यनाथ झा को जो जानते हैं, वे जानते हैं कि उनकी प्रतिभा कितनी पैनी, कितनी गहरी, कितनी विस्तृत और कितनी उद्‌बुद्ध है। ये प्रकाण्ड पण्डित, कुशल प्रशासक, कलामर्मज्ञ, चिन्तनशील और विवेकवान तो हैं ही सच्चे माने में मानव भी हैं, सहृदयता, सहानुभूति और शालीनता से भरपूर। भारतीय गणराज्य की महिमामयी राजधानी दिल्ली को सँवारने, सुघराने और सुख-सुविधा से भरपूर वनाने के लिए इन्होंने जो किया है वह इनकी कार्य-कुशलता, शासन-क्षमता और दूरदर्शिता का अद्वितीय उदाहरण है। दिल्ली को जिन्होंने पहले देखा है और वे ही दिल्ली को जव आज देखते हैं तो आश्चर्यचकित हो जाते हैं इसके वाह्यरूप की प्रतिदिन बढ़ने वाली मनोहरता को देख कर।

डॉ० आदित्यनाथ झा के इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर यह विचार उठा कि इनका सम्मान तो सरकार को करना चाहिए ही और करेगी भी, पर दिल्ली की जनता-जनार्दन की ओर से और विद्वानों की ओर से भी इनका अभिनन्दन इनके स्वरूप और

सेवाओं के अनुरूप होना चाहिए। यह अभिनन्दन केवल व्यक्ति का ही अभिनन्दन नहीं, अपितु भारतीय सांस्कृतिक परम्परा एवं चेतना का अभिनन्दन होगा। विचार ने संकल्प का रूप लिया और मैंने इसकी चर्चा अपने मित्र वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसन्धान विभाग के निदेशक, संस्कृत एवं भारतीय दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य श्री पण्डित बदरीनाथ शुक्ल से की। उन्हें यह बात बड़ी भाई, और हमने श्री लक्ष्मी-नारायण सकलानी से जब इस संकल्प की बात की तो उन्होंने बड़े उत्साह से इसका समर्थन किया। संकल्प कार्यरूप में परिणत होने की ओर बढ़ा। मानव-भारती इस अभिनन्दन की तैयारी में जुट गई। हमारे संकल्प और विश्वास को और बल मिला जबकि तपःपूत मनीषी महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ जी कविराज ने अभिनन्दन-ग्रन्थ का प्रधान सम्पादक बनना स्वीकार कर लिया। एक सम्पादन-समिति बनाई गई जिसमें देश और विदेश के प्रख्यात विद्वानों ने अपना सहयोग देने का वचन दिया और दिल्ली के महापौर श्री हंसराज जी गुप्त की अध्यक्षता में एक संयोजन-समिति भी गठित की गई। इन दोनों समितियों के सम्मिलित प्रयास का परिणाम यह अभिनन्दन-ग्रन्थ है।

यह ग्रन्थ अपनी तरह का अद्वितीय है। अब तक कोई भी अभिनन्दन-ग्रन्थ ऐसा प्रकाशित नहीं हुआ है जो संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेज़ी तीनों भाषाओं में, अलग-अलग खण्डों में, और इतने विस्तृत रूप में भारतीय संस्कृति सम्बन्धी इतनी पठनीय एवं मननीय सामग्री को उपलब्ध कराता हो। देश-विदेश के विद्वानों तथा विशेषज्ञों ने अपनी साधना और अनुसन्धान की सामग्री से इसे सुसज्जित किया है। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ सैकड़ों वर्षों तक भारतीय संस्कृति पर अनुसन्धान करने वाले विद्वानों के लिए एक प्रकाश-स्तम्भ बना रहेगा।

संस्कृत-खण्ड की सामग्री को एकत्रित तथा सम्पादित करने का श्रेय आचार्यश्री पण्डित बदरीनाथ शुक्ल को है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् एवं राष्ट्रीय संग्रहालय के भूतपूर्व निदेशक श्री सी० शिवराममूर्ति ने अपनी व्यस्तता में भी अधिक से अधिक समय देकर इस ग्रन्थ के सम्पादन में हमारी बड़ी सहायता की है। इनके अतिरिक्त महान् पत्रकार श्री अक्षयकुमार जैन तथा प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ० प्रभाकर माचवे ने समय-समय पर सुझाव देकर हमारी कठिनाइयों को दूर किया है। ग्रन्थ का जो कलात्मक पहलू है, साज-सज्जा है उसको सुलभ और सुव्यवस्थित करने का सारा श्रेय श्री बी० एम०, पाठक को है। जिनके सहयोग एवं अथक परिश्रम के बिना ग्रन्थ का सौन्दर्यात्मक अंश इतना कमनीय नहीं हो पाता। दिल्ली के कला महाविद्यालय के आचार्य श्री विश्वनाथ मुकर्जी से भी हमें समय-समय पर सुझाव मिलता रहा है। सम्पादन-समिति के विद्वान् सदस्यों का सहयोग हमारे उत्साह का सम्बल रहा है। उपरोक्त इन सभी मित्रों के प्रति अपनी हार्दिक आदरपूर्ण कृतज्ञता प्रकट करने में मैं आनन्द और गौरव का अनुभव कर रहा हूँ।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने तथा इस अभिनन्दन-यज्ञ को सम्पादित करने का सारा श्रेय श्री लक्ष्मीनारायण सकलानी को है। जिनकी निष्ठा, लगन, साहस, स्नेह और तत्परता का परिणाम यह अभिनन्दन-ग्रन्थ और यह आयोजन है। ये केवल हमारी ही कृतज्ञता के पात्र नहीं बल्कि उन सबकी कृतज्ञता के भाजन हैं जो इस ग्रन्थ से लाभ उठाएँगे। उनके प्रति आभार-प्रदर्शन के शब्द ढूँढ़ कर भी नहीं पा रहा हूँ—गूँगे का यह है ख्वाब भला क्या बयाँ करूँ !

इस ग्रन्थ को प्रकाशित देखकर जो सुख का अनुभव हो रहा है उसके साक्षी हैं डॉ० चन्द्रभान पाण्डेय, श्री रामप्रताप मिश्र और श्री चन्द्रचूड़मणि; जिनके अथक परिश्रम, अडिग निष्ठा और गहरी आत्मीयता के विना इस ग्रन्थ की सामग्री को एकत्रित और सम्पादित करने का काम सम्भव नहीं था। इनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपने स्वयं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना है।

महामहिम उपराज्यपाल के निजी सचिव श्री सुरेश वाजपेयी तथा उनके सहकर्मियों के हम अत्यन्त आभारी हैं जिनका सहयोग पग-पग पर हमारी कठिनाइयों को आसान बनाता रहा है।

अन्त में इस ग्रन्थ के मुद्रक, हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस के मालिक श्री श्यामसुन्दर गर्ग तथा उनके सहयोगियों के प्रति, आभार प्रदर्शित करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर हाथ से लिखी गई जो कलात्मक सामग्री है उसके कलाकार श्री आशाराम शुक्ल ने उत्साह और तत्परता के साथ इस सजावट की सामग्री को उपलब्ध किया है अतः वे भी हमारी कृतज्ञता के भाजन हैं। इस ग्रन्थ के प्रकाशन का व्यय-भार जिन धनी-मानी व्यक्तियों ने उठाया है उन्होंने अपनी सम्पत्ति और उदारता का उचित उपयोग किया है, समिति उनकी हृदय से आभारी है।

हमारा सतत प्रयत्न रहा है कि ग्रन्थ के प्रकाशन तथा चयन में त्रुटि न रहे, फिर भी यदि कहीं चूक हो गई हो तो—हम विद्वद् जनों से क्षमा प्रार्थी हैं। सम्भव है इस ग्रन्थ में प्रकाशन की गई त्रुटियाँ रह गई हों। अत्यन्त सजग रहने पर भी प्रूफ के संशोधन में कुछ भूलें छूट गई हैं जिनके लिए हम विद्वानों से क्षमा-याचना करते हैं।

इस अभिनन्दन-ग्रन्थ को समर्पित करने का हमारा संकल्प जितना शुभ तथा दृढ रहा है उतनी ही हमारी सीमाएँ सीमित रही हैं। फिर भी उपर्युक्त मित्रों की संकल्प-शक्ति तथा उन्मुक्त, सद्भावपूर्ण एवं सक्रिय सहयोग के बल पर ही यह ग्रन्थ आज इस रूप में समर्पित किया जा रहा है।

पहले हमारा विचार था कि यह ग्रन्थ केवल एक भाग में और तीनों भाषाओं में प्रकाशित किया जाय, पर विद्वान् लेखकों ने अपनी ऐसी रचनाएँ भेजीं जिन्हें हम छाँट नहीं पाये। ग्रन्थ का आकार बड़ा हो गया, इसलिए हमें इसे तीन खण्डों में प्रकाशित

करना पड़ा। प्रथम खण्ड संस्कृत, द्वितीय खण्ड हिन्दी और तृतीय खण्ड अंग्रेज़ी का है। लेखों का क्रम विषय की प्राचीनता के आधार पर है।

प्रयत्न करने पर भी, वे सारे लेख, जो हमारे पास आए या जिन विद्वानों के लेख देर से आने के कारण हम नहीं दे सके हैं, उनसे हम क्षमा-प्रार्थी हैं। विद्वान् लेखकों के सहयोग से ही यह ग्रन्थ इतना महान् एवं उपयोगी बन पाया है। माँ सरस्वती के उन वरद पुत्रों को मेरा शत-शत प्रणाम है।

इस ग्रन्थ की पृष्ठभूमि में न जाने कितनी ज्ञात-अज्ञात शुभ कामनाएँ न जाने कितने प्रकार से हमें बल प्रदान करती रही हैं। इस प्रयास में हमें जो कुछ भी सफलता मिल सकी है उसका श्रेय डॉ० झा की महानता तथा हमारे सहयोगियों एवं शुभेच्छुओं की उदारता एवं निष्ठा को है और जो कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं वे हमारी सीमित शक्ति और समय की कमी के कारण हैं।

चैत्र शुक्ल एकादशी
विक्रम संवत् २०२६

दुर्गाप्रसाद पाण्डेय
सम्पादक

शुभ-संदेश

राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली-४
RASHTRAPATI BHAVAN,
NEW DELHI-4.

माघ ३, १८९० शक
जनवरी २३, १९६९

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि दिल्ली के उप-राज्यपाल डॉक्टर आदित्यनाथ झा को एक अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित कर सम्मानित करने का आयोजन किया जा रहा है।

डॉक्टर झा बहुमुखी प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। उनकी विद्वत्ता तथा संस्कृति और साहित्य-सम्बन्धी सेवाओं से अधिकाधिक लाभ मिलता रहे, यही मेरी आशा और कामना है।

ज़ाकिर हुसैन

उपराष्ट्रपति, भारत, नई देहली
VICE-PRESIDENT, INDIA
NEW DELHI

October 9, 1968.

It is heartening to learn that there is a proposal afoot to present an 'Abhinandan Granth' by way of honouring my esteemed friend Shri Aditya Nath Jha, Lieutenant Governor of Delhi and one of our veteran administrators and educationists. It has been a pleasure and privilege for me to reckon him as one of my close friends. Our bonds of kinship strengthened during my Governorship of Uttar Pradesh where Shri Jha was serving as Chief Secretary and subsequently as Vice-Chancellor, Sanskrit Vishwavidyalaya, Varanasi. One of the pillars of our Administrative edifice, Shri A. N. Jha's versatile talents have been in evidence in different spheres of human endeavour as a stalwart administrator, educationist, Indologist and Linguist and adorned with distinction and dignity many a tough assignment which he was entrusted with. He maintains his interest in literary and cultural matters and is associated with many organizations connected with the promotion and fostering of these aesthetic pursuits. His dynamic vigour, devotion to duty, erudition, impressive demeanour, civility and administrative calibre have, naturally, marked out for him a gubernatorial assignment in Delhi in which capacity he has been playing a prominent part in nurturing democratic traditions as also in giving our Capital City and its surrounding territory a refreshingly new and healthy look. Shri Jha can thus look back to his past with a sense of elation and legitimate pride to the meritorious record of services rendered by him and derive renewed inspiration to augment his dedicated endeavours. I join his innumerable friends and admirers in heartily wishing Shri A. N. Jha a long, healthy life of continued service and satisfying achievements.

Sd/-
(V. V. GIRI)

अनन्त श्री विभूषित १००८ जगद्गुरु श्री शंकराचार्य,
श्री काञ्ची कामकोटि पीठाधिपतिः

भवतां लेखा श्रीचरणसविधे निक्षिप्ता। श्रीचरणानां शुभकामना प्रेष्यते।

उपाध्याय उवज्जायं ओजाजेति क्रमप्रथा,
विद्या चतुर्दशाधाना जामाला राजतां चिरम्।
यन्नायकमणिर्गङ्गानाथो मैथिलजा स्रजा,
भारती भारती जीयादुज्वालाविश्वबोधदृक्॥
(नारायणस्मृतिः)

विशाखापत्तनम्।

अनन्त श्री विभूषित १००८ जगद्गुरु श्री शंकराचार्य, श्री शारदापीठाधिपतिः

समारम्भ शुभाशिषः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणाद्यनेक विरुदविभूषित श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरुश्रीशंकराचार्य श्रीमदभिनवसच्चिदानन्दतीर्थस्वामिभिः।

श्रीमदादित्यनाथ-झा अभिनन्दन-ग्रन्थ समिति संयोजक विषये प्रत्यग्ब्रह्मैक्यानुसन्धानसमन्विताः श्रीनारायणस्मरणसंसूचिताः शुभाः आशिषः समुल्लसन्तुतराम्। पत्रम्प्राप्तम्। श्रीमदादित्यनाथ झा महोदयानामभिनन्दनमुचितमेव। विद्वत्त्वमधिकारश्च वंशपरम्परया विद्योतत इति हर्षस्थानम्। अतः—

भवद्भिः क्रियमाणोऽयं समारम्भः शुभंकरः।
निरन्तरायश्चलतु भूयाच्च सफलो भुवि॥
श्रीद्वारकाधीश्वर चन्द्रमौलिश्रीशारदाम्बाकरुणाकटाक्षैः।
शिष्योत्तमानां हि भवादृशानां भवन्तु भूयांस्यपि मंगलानि॥
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्॥

श्रीः

श्री शारदापीठम्
द्वारका।

HIS HOLINESS THE DALAI LAMA

The qualities of selflessness, dedicated service and humanitarianism shown by Dr. A.N. Jha have earned for him the spontaneous respect and affection of the general public. He has been a precious, invaluable friend of the Tibetan people. The profound sympathy, kindness and unstinted help given by him has made an indelible impression on our hearts. Above all, he has made an outstanding contribution to the preservation and promotion of the priceless heritage of Tibetan culture and learning. This unflagging interest evinced by Dr. A. N. Jha in the welfare of the Tibetans in exile and their culture and way of life is a source of unbounded encouragement to us. We are deeply grateful to him.

I am glad to learn that the Editorial Committee of the Dr. A. N. Jha Felicitation Volume has decided to bring out a publication enumerating the meritorious deeds of Dr. A. N. Jha.

THEKCHEN CHOLING
DHARAMSALA CANTT
KANGRA DISTRICT
HIMACHAL PRADESH

Sd/-
(THE DALAI LAMA)

RAJ BHAWAN,
CHANDIGARH.

यह बहुत हर्ष एवं प्रसन्नता का विषय है कि डॉ० ग्रादित्य-नाथ झा, उप-राज्यपाल दिल्ली की विद्वत्ता, बहुमुखी प्रतिभा तथा ग्रादर्श प्रशासन-क्षमता के सम्मानार्थ उन्हें एक ग्रभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। राष्ट्र में नवजागरण एवं सांस्कृतिक चेतना लाने के लिए ऐसे प्रयास सर्वथा सहयोगी सिद्ध होते हैं।

इस सम्मान-यज्ञ की पूर्ण सफलता के लिए मैं ग्रपनी शुभ-कामनाएँ भेजता हूँ।

दा० चि० पावटे
राज्यपाल, पंजाब।

HARYANA RAJ BHAWAN
CHANDIGARH.

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि डॉ० ग्रादित्यनाथ झा, उप-राज्यपाल, दिल्ली, को समर्पित करने के लिये एक ग्रभिनन्दन-ग्रन्थ तैयार किया जा रहा है। डॉ० झा को मैं चिरकाल से जानता हूँ। डॉ० झा उच्च-कोटि के प्रशासक होने के साथ-साथ प्रसिद्ध विद्वान् भी हैं। प्रशासन-सम्बन्धी समस्याग्रों में व्यस्त रहने के बावजूद भी, उन्होंने विद्वत्ता तथा सेवा की परम्परा को बनाये रखा है जिसके लिये उनका परिवार बहुत प्रसिद्ध है। भारतीयों ने सदा ही विद्वान् पुरुषों का सम्मान किया है। ग्रतः इस ग्रभि-नन्दन-ग्रन्थ के द्वारा डॉ० झा को सम्मानित करना सर्वथा उचित है। मुझे ग्राशा है कि समारोह पूर्णतः सफल होगा।

वी० ना० चक्रवर्ती
(वीरेन्द्र नारायण चक्रवर्ती)

हरियाणा राजभवन,
चंडीगढ़।

खाद्य, कृषि, सामुदायिक विकास तथा सहकारिता मन्त्री,
भारत सरकार, नई दिल्ली।

डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थ समिति, नई दिल्ली द्वारा उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है, यह प्रसन्नता की बात है।

डॉ० झा विद्वान्, विचारशील एवं बहुमुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति हैं। एक कुशल प्रशासक के रूप में ये अपनी प्रतिभा का परिचय देते रहे हैं। दिल्ली के उप-राज्यपाल के रूप में इन्होंने अपनी राष्ट्र के प्रति निष्ठा, जन-सेवा और कुशल प्रशासन का और भी प्रमाण दिया है। दिल्लीवासी इनका अभिनन्दन करके अपने एक कर्तव्य का पालन कर रहे हैं। आशा है, ग्रन्थ में इनकी सेवाओं का समुचित दिग्दर्शन होगा।

मेरी शुभकामना है कि डॉ० झा दीर्घायु हों तथा देश एवं जनता की सेवा करते रहें।

ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध हो।

जगजीवन राम

संचार तथा संसदीय-कार्य मन्त्री, भारत सरकार,
नयी दिल्ली।

देश में शिक्षा और प्रशासन के क्षेत्रों में झा-परिवार ने महान् कार्य किया है और इस योगदान की छाप चिरकाल तक बनी रहेगी।

श्री आदित्यनाथ झा प्रशासन में उसी उत्कृष्ट परम्परा के प्रतीक हैं। वे न केवल कुशल प्रशासक बल्कि उच्च-कोटि के विद्वान् और विचारक हैं।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री आदित्यनाथ झा के सम्मानार्थ अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। इस अवसर पर अपनी शुभ-कामनाएँ भेजते हुए मैं यह आशा करता हूँ कि वे आने वाले वर्षों में भी विभिन्न क्षेत्रों में कर्मशील रहेंगे।

रामसुभग सिंह

स्वास्थ्य एवं परिवार नियोजन मन्त्री,
भारत सरकार, नई दिल्ली।

आपका दिनाङ्क १५ जनवरी, १९६९ का पत्र प्राप्त हुआ। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि दिल्ली के उप-राज्यपाल डॉ० आदित्यनाथ झा के सम्मान में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। इनका परिवार भारत के शास्त्रीय-ज्ञान और भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए प्रसिद्ध रहा है। स्वयं डॉ० आदित्यनाथ झा इस क्षेत्र में भारत के गिने-चुनें विद्वानों में हैं। इनके जैसे विद्वान् और कुशल प्रशासक बहुत कम लोग हैं। यह सर्वथा उचित है कि देश के प्रति इनकी सेवाओं को देखते हुए आप लोग इनका अभिनन्दन कर रहे हैं। मैं आपके प्रयास की सराहना करता हूँ और इस उत्सव की सफलता के लिए अपनी शुभ-कामनायें भेजता हूँ।

सत्यनारायण सिंह

औद्योगिक विकास तथा समवाय कार्य मंत्री,
भारत सरकार, नई दिल्ली।

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि आप डॉ० आदित्य-नाथ झा, उप-राज्यपाल, दिल्ली को उनकी प्रशासन-कुशलता, कर्तव्यनिष्ठा एवं बहुमुखी प्रतिभा के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने हेतु एक अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने जा रहे हैं।

वस्तुतः देश के आध्यात्मिक विकास एवं सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न करने की दिशा में झा-परिवार का योगदान सराहनीय है।

इस अवसर पर मेरी ओर से हार्दिक शुभ-कामनाएँ स्वीकार करें।

फ़खरुद्दीन अली अहमद

भूतपूर्व शिक्षा मन्त्री, भारत सरकार, नई दिल्ली।

डॉ० आदित्यनाथ झा अपने झा-परिवार की सुस्थापित परम्पराओं की शृंखला में एक ऐसे रत्न हैं जिनमें एक सर्वथा योग्य प्रशासनिक और एक धुरन्धर विद्वान् के सभी विलक्षण गुण समाविष्ट हुए हैं। मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। डॉ० आदित्य-नाथ झा-अभिनन्दन-ग्रन्थ-समिति के संयोजकों को उनके इस सराहनीय प्रयास पर मैं बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि इस ग्रन्थ से हमारे युवकों को भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय परम्पराओं के प्रति निष्ठा की प्रेरणा मिलेगी।

मैं इस अवसर पर अपनी हार्दिक शुभ-कामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

त्रिगुण सेन

मुख्य मंत्री, महाराष्ट्र, सचिवालय,
बम्बई-३२।

डॉक्टर आदित्यनाथ झा स्वयं एक बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न, विद्वान् एवं कुशल प्रशासक हैं। उन्होंने देश एवं साहित्य की बड़ी प्रशंसनीय सेवा की है। उनके प्रति अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने का कार्यक्रम वास्तव में एक अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य है।

संयोजन-समिति के इस कार्य-क्रम के हेतु मैं अपनी शुभ-कामनाएँ भेजता हूँ।

वसन्तराव नाईक

मुख्य मंत्री, राजस्थान।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि दिल्ली के उप-राज्यपाल एवं देश के प्रतिष्ठित विद्वान् डॉ० आदित्यनाथ झा के सम्मानार्थ एक अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है।

मुख्य मंत्री के रूप में राजस्थान की सेवा करते हुए मुझे डॉ० झा से मुलाकात करने के अनेक अवसर मिले हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी है तथा शास्त्रों के ज्ञाता होने के साथ-साथ उनमें असाधारण प्रशासन-क्षमता है। प्रशासनिक अधिकारी के रूप में उन्होंने विभिन्न पदों पर रहकर कुशलतापूर्वक कार्य किया है। डॉ० गंगानाथ झा के ख्याति-प्राप्त परिवार में जन्म लेकर डॉ० आदित्यनाथ झा ने परिवार की यशस्वी परम्परा को आगे बढ़ाया है। ऐसे सुयोग्य पुरुष का सार्वजनिक सामाजिक सम्मान किया जाना सर्वथा उपयुक्त है।

मैं अभिनन्दन-ग्रन्थ की सफलता चाहता हूँ तथा इस अवसर पर डॉ० आदित्यनाथ झा की देश की सेवा में दीर्घायु की कामना करता हूँ।

मोहनलाल सुखाड़िया

मुख्य मंत्री, हरियाणा।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि डॉ० आदित्यनाथ झा उप-राज्यपाल दिल्ली, के सम्मानार्थ एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है।

डॉ० आदित्यनाथ झा भारत-प्रसिद्ध 'झा'-परिवार से सम्बन्धित हैं जिसमें स्वर्गीय डॉ० गंगानाथ एवं डॉ० अमरनाथ झा-जैसी विभूतियों ने जन्म लिया था। डॉ० आदित्यनाथ एक योग्य प्रशासक, उत्कृष्ट राजमर्मज्ञ एवं प्रसिद्ध विद्वान् हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् आपने देश के सामाजिक एवं आर्थिक सुधार के क्षेत्र में अमूल्य योगदान दिया है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप भविष्य में भी इसी निष्ठा एवं उत्साह से मातृभूमि की सेवा करते रहेंगे।

शुभ-कामनाओं सहित।

बंसीलाल

भूतपूर्व, शिक्षा राज्य मंत्री, भारत सरकार,
नई दिल्ली।

यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि डॉ० आदित्यनाथ झा, उप-राज्यपाल, दिल्ली के सम्मानार्थ उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने का आयोजन किया गया है। डॉ० झा की विद्वत्ता, बहुमुखी प्रतिभा तथा आदर्श नैष्ठिक प्रशासन-क्षमता सर्वविदित है। स्वनामधन्य डॉ० गंगानाथ झा तथा उनके सुपुत्रों ने भारत के शास्त्रीय-ज्ञान को निखारा है, सांस्कृतिक चेतना को उद्‌बुद्ध किया है तथा भारत के नव-जागरण में अमूल्य योगदान दिया है। अपनी विद्वत्ता तथा प्रतिभा से उन्होंने अपने स्वर्गीय पिता के नाम को और भी अधिक गौरवान्वित किया है। मैं अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पण के सम्मान-यज्ञ की सर्वांगीण सफलता के लिये संयोजन-समिति को अपनी शुभ-कामनायें भेजता हूँ।

भागवत झा आज़ाद

राज्य मंत्री, संचार तथा संसद् कार्य, भारत सरकार,
नई दिल्ली।

डॉ० आदित्यनाथ झा ने कई उच्च पदों पर आसीन होकर देश की सेवा की है। जहाँ भी रहे अपनी बहुमुखी प्रतिभा से प्रशासन में वे नयी प्रगति लाए। राजधानी दिल्ली के सुधार और विकास में उनका विशेष योग है।

डॉ० झा न केवल एक कुशल प्रशासक हैं बल्कि उच्च-कोटि के विद्वान्, वक्ता और विचारक भी हैं।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि डॉ० झा के सम्मानार्थ एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। इस अवसर पर मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ और मुझे विश्वास है कि आने वाले वर्षों में उनकी उपलब्धियाँ और भी महान् होंगी।

इन्द्रकुमार गुजराल

डॉ० ग्रादित्यनाथ झा एक कुशल प्रशासक, शिक्षा-शास्त्री ग्रौर संस्कृत के महान् पंडित हैं। ऐसे विद्वानों का सम्मान किया जाना उचित ही है।

डॉ० झा के सम्मान में दिए जाने वाले ग्रभिनन्दन-ग्रन्थ के लिए ग्रौर उनके स्वास्थ्य ग्रौर दीर्घ जीवन के लिए मेरी शुभ-कामनाएँ।

नन्दिनी शतपथी
उप मन्त्री, सूचना ग्रौर प्रसारण,
भारत सरकार, नई दिल्ली।

श्री ग्रादित्यनाथ झा सुयोग्य प्रशासक, संस्कृत के विद्वान् एवं भारतीय संस्कृति के ग्रखंड पुजारी हैं।

ग्रापके साथ मैं भी उनका हार्दिक ग्रभिनन्दन करता हूँ।

क० मा० मुँशी
(कन्हैयालाल माणिकलाल मुँशी)
भारतीय विद्या भवन, चौपाटी पथ,
बम्बई-७।

चिरस्मरणीय महामहोपाध्याय श्री गंगानाथ झा जी नव-निर्मित, प्रयाग विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति थे। वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित तो थे ही किन्तु संस्कृत के गूढ ग्रन्थों का भी बड़ी सुगमता से अंग्रेज़ी में अनुवाद भी करते थे। उनके पुण्य-प्रताप व पवित्र संस्कारों के फलस्वरूप उनके पुत्र भी प्रतिभा-शाली योग्य व्यक्ति हुए। उनमें से एक हैं पण्डित आदित्यनाथ झा, वे भी संस्कृत के बड़े प्रेमी और भक्त हैं। साथ ही साथ शासन द्वारा जिस-जिस पद पर आरूढ किये गये, वहाँ बड़ी योग्यता तथा कुशलता से कार्य करते रहे हैं। स्वभाव के बड़े नम्र तथा जन-हित करने में सदा तत्पर रहते हैं। उत्तर प्रदेश में सचिव के स्थान पर, वाराणसी में संस्कृत विश्वविद्यालय के उपकुलपति, मसूरी में राष्ट्रीय प्रशासन के निदेशक, केन्द्रीय सूचना विभाग में सचिव रहे, और अब दिल्ली प्रशासन के उप-राज्यपाल हैं। निश्चय ही है कि वे अब किसी प्रदेश में राज्यपाल होकर जायें, हमारी शुभ-कामनायें उनकी उत्तरोत्तर सफलता के लिये हैं।

मुझे उनके प्रति अपनी स्नेह-पुष्पाञ्जलि अर्पित करने का सौभाग्य मिला, इसका मैं आभारी हूँ। विशेषतः इसलिए कि मुझे १६०४-५ में उनके परम पूज्य पिताजी के चरणों में बैठकर संस्कृत पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जब मैंने म्योर सेन्ट्रल कॉलेज, इलाहाबाद में एम० ए० की कक्षा में प्रवेश किया था तथा जिनका मैं सदैव कृपापात्र रहा।

सीताराम

मंसूरी। **भूतपूर्व हाई कमिश्नर**

संस्कृत खण्डस्य विषयानुक्रमः

डॉ० झा महोदयानां चित्रानुबद्धजीवनम्

वेदः

दर्शनम्

राजनीतिः

ज्योतिषम्

आयुर्वेदः

प्रकीर्णः

व्यक्तित्वं कृतित्वं च

डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थः

यद्वैदुष्य समुद्भवाद्भुतयशः स्वच्छन्दमन्दाकिनी-
कल्लोलै वितनोति केलिकुतुकं दिक्सुन्दरीणां गणः ।
विद्वन्मण्डिततीरभुक्तितिलकः सौजन्यलक्ष्मी हरि-
र्गङ्गानाथसुधीः पवित्रचरितारम्भः प्रणम्यः स नः ॥

× × ×

यः काश्यामथतीर्थनाथ सविधे श्लाघ्यः सतां सन्ततं
सम्मान्योऽमरनाथ मुख्यविबुधैरादित्यतेजो गुरुः।
ईशानो विविधात्मनामपि सदा विद्यावधूनां परो
गङ्गानाथशिवः स मङ्गलगुणग्रामाय नः कल्पताम् ॥

आदित्यनाथझा यस्य कनिष्ठस्तनयो महान् !
आद्यया सार्धमद्यत्वे शास्ति दिल्लीं स वन्द्यते॥
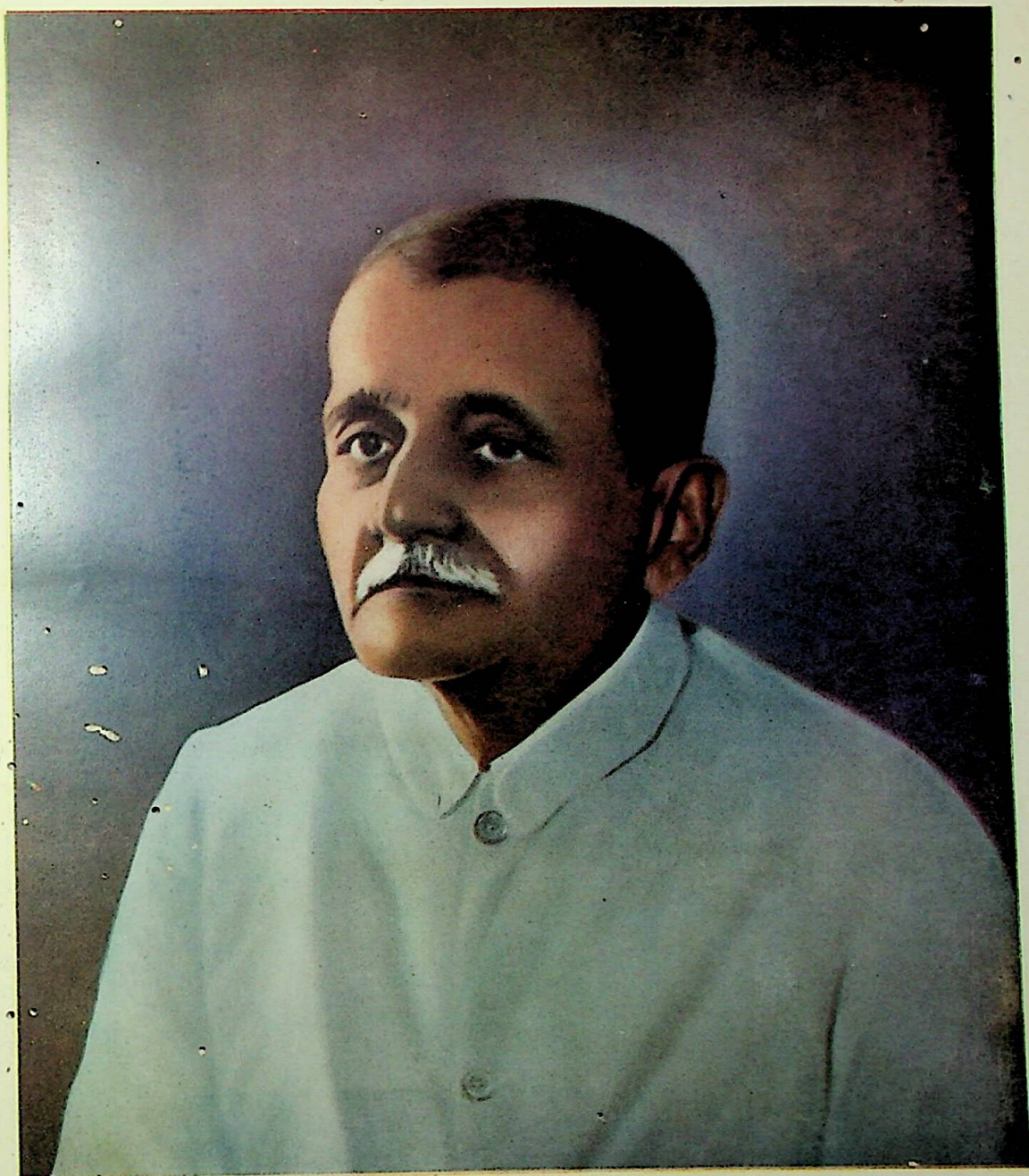
पिता

महामहोपाध्याय डा० सर गंगानाथ झा

मंगलाभिवादनम्

प्राज्ञैर्यस्य प्रशस्ता प्रतिभटरहिता भारती भारतीयैः
शास्त्रे प्राच्ये प्रतीच्ये प्रगतिरतुलिता यस्य चासीदभङ्गा ।
गङ्गानाथः स गङ्गाधरचरणपरः कीर्तिकायवशेषः
शेषस्तुल्यात्मविद्यो विलसतु परमव्योम्नि विद्योतमानः ॥

गङ्गानाथः पिताभूद् गुणनिवहनिधिर्ज्ञानविज्ञानसिन्धु-
र्बन्धुर्बान्धुर्यधुर्योऽभवदिह भुवने यस्य नाथोऽमराणाम् ।
आदित्यैर्नाथ्यमानो दिशि दिशि विलसत्पुण्यगाथः स धीमान्
श्रीमानादित्यनाथः शतमिह शरदां जीविताज्जागरूकः ॥

रम्यां कामप्यवस्थां धृतनयमनयः प्रत्तहस्तावलम्ब-
मारात् वाराणसेयं सुरवरवचसां विश्वविद्यालयं त्वम् ।
कीर्तिस्ते कीर्तनीये यमनियमखिलैः कीर्त्यते प्राज्ञलोकै-
रेतेनैवामरोऽसि स्थिरतरयशसा कीर्त्यमानैः किमन्यैः ॥

जातो वंशे बुधानां पितुरिह विदुषो दिक्षु विख्यातकीर्ते-
र्विद्वानेवेति युक्तं प्रभवति सततं तेजसस्तेज एव ।
हृद्या विद्यानवद्या नयविनयगुणान् भाति ते वर्धयन्ती
यैरेव प्रापितोऽसि प्रथिततरपदं राज्यपालाभिधेयम् ॥

शास्त्राब्धेः पारदृश्वा कृतिकुशलतरः शासने चासि दक्षः
सोत्साहः स्थूललक्षो विलसितविनयो बुद्धिमान् गूढमन्त्रः ।
सामादीनां प्रयोगे पटुरसि तनुषे चारसंचारचर्यां
वृण्वन्तीष्टा गुणौघा अहमहमिकया शासकार्हा न के त्वाम् ॥

नव्यं भव्यं प्रकाशं प्रथयसि जनयंश्चापि जागर्तिमुच्चैः
सोपस्थानं द्विजाग्र्याः प्रतिदिवसमुखे त्वां सदा संस्तुवन्ति ।
धन्योऽस्येतावतैव प्रदधदतिरुचां राशिमादित्यनाथ !
का चिन्तोल्लूकलोको यदि तिमिररतिस्त्वाभिनन्देन्न जातु ॥

मार्तण्डोऽसौ न शक्तः पदमपि चलितुं स्वं विहायो विहाय
श्रेष्ठस्त्वं पिण्डजानां दिति भुति च समं गन्तुमीशो विमानैः ।

उद्गत्यास्तं प्रयाति प्रतिदिवसमसौ त्वं तु नित्योदितोऽसि
नूनं तेजः प्रतापौ द्युमणिविजयिनौ तेऽनिशं वृद्धिमत्त्वात् ॥

या वेदे भाति सांगे स्मृतिषु च लसिता येतिहासे पुराणे
काव्ये नाट्ये च नव्ये स्फुरति बहुविधा दृश्यते दर्शनेषु ।
श्रीमद्भिः साधु यस्याः प्रयतितमनिशं सिद्धये वृद्धये सा
कल्याणी देववाणी प्रभवतु भवतां भूयसे मङ्गलाय ॥

भारोत्तारो धरण्याः सहृदयसुहृदां हारिहारोपहारः
सूद्धारो देववाचो जगदुपकृतये कोऽपि दिव्योऽवतारः ।
प्रीत्युद्गारोऽमराणां मनसि सुमनसां हर्ष संचारकारो
वारोऽयं जन्मनस्ते रचयतु रुचिरं सौख्यसारप्रसारम् ॥

विद्वंल्लोकेऽवलोके तव विमलयशश्चन्द्रिकायां चितायां
राका सा काप्यमाभूत् सपदि समभवंस्तेऽपि काका वलाकाः ।
कैलासप्रातिरूप्यात् प्रतिगिरि गिरिजां मार्गते भार्गवेज्यः
पद्मां पद्मायताक्षोऽप्यभिलषति धिया नीरधौ क्षीरसिन्धोः ॥

अस्माकं नास्ति पार्श्वे वरमुपहरणं साधनं वा धनं वा
सामोदं यत्प्रदायाविरतमिह वयं मोदयामो भवन्तम् ।
किन्त्वेषा चारुवेषा नवरुचिरुचिरा प्रापिता सन्निधानं
सानन्दं कण्ठलग्ना सुखयतु सततं स्रग्धरा सुन्दरीव ॥

दाक्षिण्यस्यावलम्बः शुचि रुचि रुचिरावासभूमिः कृपायाः
जीवातुर्वेदवाचः प्रणयिपरिजनः काव्यविद्यावधूनाम् ।
आन्वीक्षिक्याः प्रमोदास्पदमथ सुकृताचारधाम्नोऽतितुङ्गं
श्रीमानादित्यनाथो विलसति भुवने वाग्मिताया विलासः ॥

शिक्षा कर्मण्यतायाः क्षतिरखिलमहाविघ्नजालावलीनां
दीक्षा दैन्य प्रशान्तेर्निधिरतुलगुणागार संविन्मणीनां ।
पूर्वाद्रिर्ज्ञानभानोरुपशमनिलयस्सर्वथा ध्वान्तराशेः
श्रीमानादित्यनाथो जयति निरुपमः शेवधिस्सद्गुणानाम् ॥

आशाकेन्द्रं बुधानां विशदसुरगवीप्राणरक्षैकहेतुः
सेतुः सर्वार्थसिन्धोर्निरवधि सदनं ज्ञानविज्ञानसिद्धेः ।
मर्यादार्यव्रतानां परिणतिरमला पुण्यशीलक्रियाणाम्
औदार्यस्यावतारः स्फुरदमलयशोराशिरादित्यनाथः ॥

रक्षोपायप्रकाशाद् अपगतमहिमप्राप्तये सत्प्रयत्नात्
स्फूर्तेरुद्बोधनाच्च श्लथहृदयवतां यो जनानां समन्तात् ।

साक्षाद्भास्वान् प्रसन्नस्समुदयमयते याचकाभीष्टसिद्धि
स्सौभाग्यं पण्डितानामुदयशिखरिणो भूषणं सोऽयमास्ते ।।
उद्याने नन्दनाख्ये वसतिमुपगतस्तुच्छवृक्षोऽपि कामं
श्लाघामञ्चन्प्रसिद्धो भवति विटपिनां मण्डले मानमाप्तः ।
वृन्दैर्वृन्दारकाणामभिमतनिकरं किन्तु वर्षन्सहर्षं
वन्द्यः कल्पद्रुरेव प्रथयति हि वनं यन्निवासात्समृद्धिम् ।।
पैशुन्यं यातु चास्तं क्षयमिह लभतां चाटुकारित्ववृत्तिः
विध्वस्तः पक्षपातो भवतु सुमनसां निष्क्रियत्वं प्रयातु ।
अन्योन्यंचावमानप्रकटन पटुता सर्वथा शान्तिमेतु
वैरस्यं सन्निरस्तं भवतु परिभव धीमतां च क्षिणोतु ।।
संवत्सराणां शतमायुरस्तु धर्मे दृढत्वं धनधान्यवृद्धिः ।
हंसीव कीर्तिर्धवलाप्रतापो लोकेऽस्तु शम्भोस्तव संप्रसादात् ।।

(मानव भारती)

दीर्घायुष्य-कामना

म० म० प्रभुदत्त शास्त्री

यस्याग्रे परिरक्षणेन सुकवेः स्वान्तं प्रसन्नं भवेत् ।
स श्रीमानथवा स्तुतो गणपति स्तुत्यौ मतौ मन्मतौ ।।
गङ्गानाथ सुतावुभौ तदिदकं काव्यंमनावश्रूयताम् ।
प्राच्याऽवाच्यसुवाच्ययाच्यरसवज्झङ्कार भञ्भाधरम्।। १ ।।

आदित्येत्यभिधा-प्रसिद्धिमयिता देवा दिनिष्ठाश्य ये ।
भूरेवा अपि तत्पदेन गदिता विद्याऽनवद्या द्विजाः ।।
तन्नाथो ग्रहणं करिष्यति यदा नव्यस्य काव्यस्य मे ।
संतुष्टो गणनाथ एव भगवानस्मै प्रदेयात् सुखम् ।।२।।

कारुण्यार्द्रतयाऽम्बु शीकरधरः श्रीमानिहालोक्यते ।
दुष्टोद्दण्डन शक्तिनामतडिता युक्तोऽपि नक्तं दिनम् ।।
'आद्या भे'त्युदिता शची सहचरी श्रीमन्त मासेवते ।
इन्द्रप्रस्थ सुशासनाधिकृतितो न्यूनो मघोनोऽस्तिनो ।। ३ ।।

सोऽकार्षीद् गणनाथ मर्च्य ममर प्राथम्यतो विश्रुतम् ।
श्रीमांस्तत् शुभकाव्यमद्य कुरुताद्वर्चेलिमाग्रस्थितम् ।।
सम्मत्या च कृतार्घ्यतां विपुलया मञ्जीर शिञ्जाजुषा ।
श्री काशी 'प्रभुदत्त'-सर्वविभवैर्युज्याः वसन्तान् वहून् ।। ४ ।।

आदित्य नाथ पदतो मघवा प्रसिद्धः ।
योऽम्भः पविंच धरते जनता हिताय ।।
श्री मत्करे पविरिवोग्रजनायदण्डः ।
कारुण्य वारिनयने च करोति साम्यम् ।। ५ ।।

दीर्घेन्द्रप्रस्थ पदमागुपराज्यपालाः ।
मादृक् कवीन्द्र कृतये मधुरा रसालाः ।।
त्वत्पाणिपङ्कज पुटे भ्रमरायतां मे ।
सद् गुञ्जनं गणपतेर्नवकाव्यमेतत् ।। ६ ।।

लप्स्येऽत्र सम्मतिदलं च सुवर्णवर्णम् ।
प्रोत्साहितं मम मनो भवितेवयेन ॥
नैश्छल्यतः सुरगिरंप्रतिभक्ति निष्ठम् ।
प्राचुर्यतो विहितजीवनदानमेव ॥ ७ ॥

चेत्श्रावयेयमभिगम्य च कर्हि चित्त्वाम् ।
गौरी विवाहरस मुच्चतरंगसंघम् ॥
शास्त्रार्थिपुत्रगणनाथविवादशोभाम् ।
तत् स्यात् सुवर्ण तनुगन्धमयः सुयोगः ॥ ८ ॥

उपराज्यपालस्य डॉ० श्रीमदादित्यनाथ-झा महोदयस्य अभिनन्दनम्

विद्वत्पितुर्विद्वान् पुत्रः

पण्डितश्री दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वतः

स्मृतिमूर्धन्यायां मनुस्मृतौ प्रोक्तम्—

"अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद् वेदपारगः।
अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्, पिता स्याद् वेदपारगः॥
ज्यायांसमनयोर्विद्याद् यस्य स्यात् श्रोत्रियः पिता।
मन्त्रसम्पूजनार्थं तु सत्कारमितरोऽर्हति॥

३।१३६।१३७

उक्त पद्ययुगलस्य अयमर्थः—यस्य पिता श्रोत्रियो न स्यात् परं पुत्रः श्रोत्रियः स्यात्; अथवा पुत्रोऽश्रोत्रियः स्यात् पिता त श्रोत्रिय स्याद्; अनयरुभयोः कः श्रेयान्? अत्र श्रीमनुना प्रोक्तम्—यस्य पिता श्रोत्रियः स्यात्, पुत्राऽश्रोत्रियोपि कामं भवेद्; अनयोः श्रोत्रियस्य पुत्रः स्वयमश्रोत्रियोपि ज्यायान् ज्ञातव्यः। एतेन पितुर्विद्वत्त्वमवश्यमपेक्षितम्—इति सिद्धयति। अत्र पितुर्विद्याया आदरः प्रोक्तः।

परं यस्य पिता विद्वान् नास्ति, पुत्रश्च वेदविद्वान्, ततो वेदस्य आदरार्थं तत्पूजनं कार्यम्। वस्तुतः श्रेयस्त्वं पितुर्विद्यया श्रीमनुना स्वीकृतम्।

'श्रोत्रियस्य' कोऽर्थः, अस्मिन् विषये अत्रिस्मृतौ प्रसिद्धम्—'जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैर्द्विज उच्यते। विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते' (१४१) अर्थाद् यो जन्मना ब्राह्मणः संस्कारैश्च द्विजः, विद्याया च विप्रः—ईदृशो जनः श्रोत्रिय उच्यते। उक्तमनुद्येपपि श्रोत्रियः स विज्ञेयः।

परम् उक्तमनुपद्योयोर्वस्तुतः पितुर्विद्वत्त्वं पुत्रस्य च अविद्वत्त्वं नष्टम्, किन्तु श्रीमनु विद्वत्पितुः पुत्रं चापि विद्वांसं वष्टि, श्रोत्रियस्य पुत्रः स्वयं चापि श्रोत्रियः, स एव पूर्णादरपात्रम् इति मनोरभिसन्धिः। तदैव तु श्रीमनुः श्रोत्रियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः। अर्हत्तमाय विप्ताय तस्मै दत्तं महाफलम्' (३।१२८) इति स्पष्टमाचष्ट।

अस्त्मसमक्षं चरितनायकः श्रीमान् आदित्यनाथ-झा महोदयो वर्तते। तदीयः, पिता श्रीगङ्गानाथझामहाभागो महान् विद्वान् आसीत्। तस्य चाऽयं तनुजनः; अतो मनुरीत्या महद् आदरभाजनम्। यद्येवमेव केवलमयाविष्यत्; तदापि अयम् आदरपात्र-मासीत्। परमयं स्वयमपि महान् विद्वान्। कतिपय वार्तासु स्वपितरमप्यत्यशयिष्ट।

श्रीपिता विविधशास्त्राणां विद्वान्। सम्भवतः प्रयागविश्वविद्यालयस्य उपकुल-पतिरासीत् परं यदि नाऽहं स्खलामि, स महोदयो राजकुलेऽधिकारे ना चकलत्; परमयं तत्तनुजनुर्विद्वान् सम्भवतो वाराणसयेसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य उपकुलपतिः। इतरेऽस्य अन्यद् वैशिष्ट्यं यद—अयं राजकुलेऽपि प्रविष्टः। उपराज्यपालपद—यत् प्रतिष्ठितं पदं मन्यते, भागमगृह्णात्।

नीतिशास्त्रे प्रसिद्धं यद्—

'नरपतिहितकर्ता द्वेष्यतां याति लोके,
जनपदहितकर्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः।
इति महति विरोधे वर्त्तमाने समाने,
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्ता' ॥

अर्थात् राजकीयाधिकारी जनताया आदरपात्रं न तिष्ठति, जनताहितकारी च पृथिवी पालेन नाद्रियते, अत एव ईदृग्विरोधाद् ईदृशो जनो दुर्लभतरो भवति, यो राजप्रियो राज्याधिकार्यपि च भवेत्, तथा जनताप्रियोपि स्यात्। परमस्मिन् श्रीमदा-दित्यनाथझामहोदये उभयता दृश्यते। अत एव स सर्वेषामादरणीयः। अयं यत्र विद्याया-मुन्नतिमकार्षीत्, पौरस्त्यपाश्चात्योभयविद्यानिष्णातः; तत्र राजकीयोच्चपदपाटवमपि अद्धिश्रियत्। जनतानृपत्योरुभ्योः सम्मानभाजनमजनि।

एतत् पद्यं प्रसिद्धमस्ति—

'वपुर्वचनवस्त्राणि विद्या विभव एव च।
वकारैः पञ्चभिर्युक्तो नरो नारायणेभवेत् ॥

एतदपि च प्रसिद्धं कविकालिदासीयं पद्यम् —
'प्रायेण सामग्रचविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः'

अन्यत्रापि च विश्रुतम्—
'नैकत्र सर्वो गुणसन्निपातः,'।

परमस्मिन् महामहसि 'झा' महादये परमात्मनोऽकम्पानुकम्पावशात् पञ्च नकाराः, बपुर्वचनवस्त्रविद्या विभावदयः समानतया सन्ति। अयं वक्तापि च, लेखकोपि

च। अयं लोकनीतिज्ञोपि, राजनीतिनिष्णातोऽपि च । दिल्ल्या उपराज्यपालपदमलङ्कुर्वन्नेव महतीं प्रतिष्ठामलब्ध। ततोऽस्मिन् विषये विदुषो विद्वांसं पुत्रं वयममुं समाजयमाना अधिकाक्षरक्षरणाद् विरमामः; यतो हि अदसीया गुणगणास्तु-अनल्पाः, परमास्माकीना जिह्वा तु अल्पा। अत एव वैवश्यादेव अस्माभिर्विरम्येत। दीर्घायुष्य भमानो। जनतानरपत्योरुभयोरेव हितं कुर्वाणोऽयं 'झा' महोदयो विजेषीष्ट—इति रमारमणो भगवान् अभ्यर्थ्यते। शम्।

शुभाशंसन-प्रसूनांजलिः

पण्डितश्री वटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

(१)

वन्द्ये वृन्दारकाणां मधुररससुधाम्भोनिधौ रत्नरश्मि-
स्फूर्जद्द्वीपस्थकल्पद्रुमवनविलसद्दिव्य माणिक्यपीठे ।
देव्या मन्दस्मितोद्यद्वदनकमलयाऽऽलिङ्गितः सन्निषण्णः
श्रेयस्ते वेदगेयः प्रचुरयतु कृपाबन्धुरः सिन्धुरास्यः ।।

(२)

ब्रह्मर्षिव्रातपूते रघुपतिदयिता पादपांसुप्रसन्ने
विद्यावैशद्यहृद्ये परिकलितजनिस्तीरभुक्तिप्रदेशे ।
श्रीगङ्गानाथविद्वत्कमलदिनमणेरात्मजः श्रोत्रियाणा-
मग्रीयः शंयुरास्तां भव-विभव भरैः श्रीमदादित्यनाथः ।।

(३)

मूर्तिर्गाम्भीर्यपूर्तिर्जलधिमधरयत्येव यस्याऽतिमाना
स्फूर्तिर्विद्याकलासु त्रिदशगुरुतुलामभ्युपैति प्रसन्ना ।
कीर्तिर्गङ्गतरङ्गावलिधवलतनुर्मण्डयन्ती दिगन्तान्
यस्योदेति प्रतिष्ठागिरिशिखरहरिः सोऽयमादित्यनाथः ।।

(४)

श्रीमद्गीर्वाणवाणीपरिचरणविधौ धौतचित्तेन येन
प्रेष्ठा विद्वद्वरेण्याः समुचितपदवीं प्रापिरे शास्त्रनिष्ठाः ।
उन्मीलत्काव्यमालाकुसुमरसनवास्वादरोलम्बधुर्यः
सोऽयं सौजन्यसिन्धुः शतमिह शरदां राजतां राजमान्यः ।।

(५)

दुःसाध्यं कार्यजातं करतलगुटिकाकल्प मल्पं वितन्वन्
चिन्तां प्रज्ञाप्रभावात् तिरयति नितरां यश्चिरं शासनस्य ।
दुर्णीतिध्वान्तरक्षःक्षपण पटुमहामन्त्ररूपो मनस्वी
जीव्यादादित्यनाथः स इह गुरुतपःपुण्यपुञ्जानुभावात् ॥

(६)

यस्योदाराधिकारावसरपरिसरोदञ्चदत्यद्भुतश्री—
वाराणस्यां प्रशस्यां दिशमुपगमितो विश्वविद्यालयोऽभूत ।
प्राचीनाऽनेकविद्याविवरणकुतुकं सुप्तमासीद्यदन्त-
स्तद् विद्वद्वृन्दचेतःकमलवनमसौ फुल्लतामानिनाय ॥

(७)

यस्योत्साहांशुजालैस्त्रिभुवन-भवनालेपकाश्मीरपूरै-
दिल्लीपद्माकरस्य प्रभवति सुषमा, यत्र रक्तेन्दिराऽपि ।
यस्याऽऽज्ञा काऽपि शक्तिः सहजसहचरी सत्रयीमन्त्रपूतो
भूयात् सौभाग्यपूर्वाचलनिहितपदो नित्यमादित्य नाथः ॥

महापण्डित श्रीमदादित्यनाथ-झा गुणगौरवः

पण्डितश्री वामनशर्मा गोखले

अन्यायप्रतिकारकर्मणि सदा दक्षो विशुद्धाशयः कार्याकार्य विचारणासु कुशलः सत्यप्रियः सत्यवाक् कर्तव्याचरणे रतः प्रतिदिन निष्कामकर्मादरः धन्यस्त्यागिषु आदित्यनाथः वर्वति सर्वोपरि, प्रान्तियाभिनिवेशशून्यचरितो यः सर्वदेशो मम प्रेमस्थान-मतस्तदुन्नतिकरं कार्यं विधेयं मया इत्येदं स विचिन्त्य यत्समुचितं तत्सर्वमेवत्यधात् धन्यस्त्यागिषु **आदित्यनाथः** वर्वति सर्वोपरि—

राज्यपालः दिल्लीप्रदेशस्य
आदित्यनाथ झा महोदयः
तत्वविद् राजनीतिज्ञः
विदेहि जनको यथा
वामन शर्मणा गोखले कुलजेन प्रकीर्त्यते ।
पद्यपुष्प मयो हारो आदित्यनाथोपदद्वये ।।
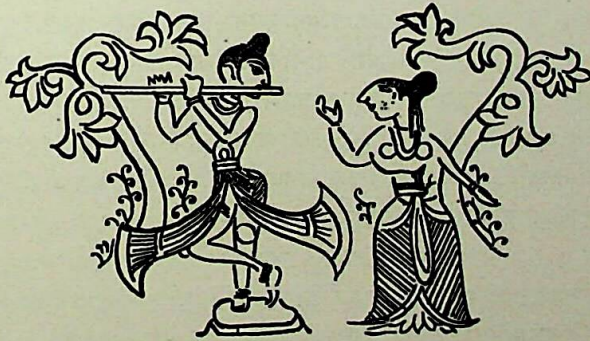
श्रीमन्तः डा० आदित्यनाथ-झा महाभागाः
"भारतीय-संस्कृति-संस्कृत-जीवातवः"

डॉ० मण्डनमिश्रः

अभिनन्दनीयाः पुण्यश्लोका इमे श्रीमन्तो डा० झा महाभागा यस्यां भूमावजायन्त, तया न केवलं श्रीजगज्जननी जानकी प्रसूता, प्रत्युत जीवन्मुक्तो राजर्षिर्जनकः, शतपथ-ब्राह्मणप्रवक्ता महर्षि याज्ञवल्क्यः, गौतमप्रभृतयो दर्शनप्रवक्तारः, नव्य न्यायप्रवर्तको गङ्गेशः, पक्षधरोदयन वाचस्पति प्रमुखा बौद्धमहाराज-गण्डस्थल-मदवारिशोषका विद्वन्मृगेन्द्राः, कुमारिल-मण्डनमुख्या मीमांसकाः, अयाचि-शङ्करादिब्रह्मवादिनः, गोविन्द-भानुप्रमुखा आलङ्कारिकाः, मदन-सदन-गणनाथ प्रभृतयस्तान्त्रिकाः, लक्ष्मीनाथमुख्या योगिनः, राजनाथ-जुड़ौन-जयदेव प्रभृतयः शब्दिकाः, सचल प्रमुखाः संस्कृतमहाकवयः, विद्यापति-गोविन्द-चन्द्र-मुख्या भाषामहाकवयः, गार्गी-मैत्रेयी-भारती-लक्ष्मी-प्रभृतयो विदुष्यौ महिलाश्च प्रासूयन्त ।

अद्यतन विहारप्रदेशान्तर्गताया ज्ञानकर्मभूमो मिथिलाया दरभङ्गामण्डलस्य पण्डितपरम्परावाहिनि सरिसवपाहीटोल नामनि ग्रामे श्रोत्रियसंज्ञके तपःपूते पलिवार-महिषीमूलके वत्सगोत्रीय मनीषिब्राह्मणकुले, कामेश्वरसिंह-दरभङ्गा संस्कृतविश्वविद्यालय संस्थापक-विविधविरुदावली-विराजमानमानोन्नत-महाराजाधिराज स्वर्गीय डा० कामेश्वर-सिंहशर्म-वंश-महापुरुष-संस्कृतविद्योपार्जितमिथिलाराज्य-न्याय चिन्तामणिटीकाद्यनेक संस्कृतग्रन्थरत्ननिर्मातृ-महामहोपाध्याय-प्रातःस्मरणीय-मिथिलेश-महामहिममहेश-ठक्कुर-कुल-कमल-दिवाकर-वाणीन्दिराऽऽराधित-स्वतन्त्र-संस्कृत महाविद्यालय संस्थापक-कलि-कर्ण-गन्धवारि-नगराधीश-दरभङ्गा महाराज-कुमार-वासुदेवसिंह शर्मणो दौहित्रस्य, प्रत्यह त्रिसहस्र गायत्री-जपपरायण-स्वनामधन्य-पण्डितशिरोमणि-धरानाथ झा-शर्माऽऽत्मजस्य, दरभङ्गाराज्य संचालक-कविवरपण्डितविन्ध्यानाथ-तान्त्रिक-दैवज्ञ-कविचूड़ामणि-श्री ताराचरणचञ्चरीक-पण्डित गणनाथ-नीतिशास्त्र निष्णातपण्डित विजयनाथ-दरभङ्गा महाराजार्थ सचिवान्वर्थनाम पण्डित वैद्यनाथेति चतुर्भिः सोदरैर्भ्रातृभिः ऋग्यजुः सामा-थर्ववेदैरिवान्वितस्य, स्वर्गीय-भूतपूर्वभारतीयसेनाप्रमुखचिकित्सक-दरभङ्गाराजकीय महा-चिकित्सालय-प्रधान कैप्टन डॉ० भवनाथ-जगद्विदितशिक्षाशास्त्र-निरुपममहापण्डित

डा० अमरनाथ-शिवस्वरूप-प्राध्यापक-शिक्षानिरीक्षक-पाण्डित शिवनाथ संस्कृत साहित्य-मूर्तिनाट्यकलागुरु-परोपकारव्रति-मण्डलाधीश पण्डित विभूतिनाथ झा शर्मेति चतुः पुत्रै-र्विद्या समुद्रैरिव समभ्यर्चित पादपद्मयुगलस्य, विश्वविख्यातलोकोत्तर-वैदुष्यस्य, महामहिम-दार्शनिक-प्रातः स्मरणीय-महामहोपाध्याय डा० सरगङ्गानाथ झा शर्मणः कनिष्ठ पुत्रत्वेन, संस्कार प्रदीपप्रभृत्यनन्तसंस्कृत ग्रन्थरत्नप्रणेतृ-शब्दिकाऽऽलङ्कारिक तार्किक चूड़ामणि-महाकवि-प्रातः स्मरणीय-महामहोपाध्याय पण्डित हर्षनाथ झा शर्मणो दुहितुर्गर्भादितस्त्रि-पञ्चाशद्वर्षपूर्व चतुर्दशाधिकैकोनविंशतिशततमे खिष्टाब्देऽगस्तमासस्याष्टादशे पुण्य-दिवसे, इमे महाभागाः प्रादुरभूवन्निति—"कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते" इति महाकवि श्रीहर्ष सूक्तिमनुसन्दधतामस्माकं विश्वसंस्कृतजगतश्च नाश्चर्यकरः, एषां महामहिम्नां भारतीयसंस्कृति-संस्कृतयोर्निरुपमः शाश्वतिकः प्रेमा, एकान्तनिष्ठा च ।

न केवलमेषां पूर्वजा एव संस्कृतस्य विलक्षण विचक्षणा आसन्नपितु स्वयमेते विदेशमपि गत्वा संस्कृत मादायैव "आइ० सी० एस्०" परीक्षा प्रथमश्रेण्यां सर्वप्राथम्येन समुत्तीर्य सुरभारत्यामात्मनो विलक्षण वैदग्ध्यं सूचयन्तः संस्कृत संसारस्य गौरवम-वर्धयन् ।

मण्डलाधीश-प्रमण्डलाधीशोत्तर प्रदेशमुख्यसचिवादि नाना राजकीय महत्वपूर्ण-पदान्यलङ्कृत्य वाराणसेय-संस्कृत विश्वविद्यालयस्य प्रथम संस्थापकोपकुलपतिपदमल-ङ्कुर्वन्तः एते संस्कृत शिक्षाक्षेत्रे नूतनां पद्धतिं विरच्य कृतिकुलकमनीयामार्हन्तीमेवाऽऽत्मनो न प्रकटितवन्तः किन्तु पारम्परिकसंस्कृत पण्डितानां कृते यामभिनवामुचितां वेतनशृङ्खलां समचालयन्, सैवेदानीं संस्कृतजगतः समुज्जीवनायानुकार्यतां गता विद्योतते ।

संस्कृत विद्या प्राणायमानानामेषां प्रशासन पण्डित्ययोः शारद-निशा-पूर्णचन्द्र-धवलां कीर्तिपरम्परां श्रावं श्रावं मीमांसाशास्त्राध्ययन जन्येन मिथिलैतत्पितृपादयो विशेष-सम्बन्धमाहात्म्येन संस्कृतजगतः सेवकतया च सुतरां मनसि प्रादुरभूदेभिर्महाभागैः साक-मात्मनोऽतिसामीप्यं स्थापयितुमस्माकं वाञ्छा ।

अथ राजस्थान प्रदेशस्य शिरोभूषणायमाने भारतीयसंस्कृतेरैतिहासिके पवित्रतमे चित्तौड़गढ़स्थाने समायोजितस्याऽखिलभारतीय संस्कृत साहित्यसम्मेलन वार्षिकमहाधि-वेशनस्य शिक्षापरिषद्-विभागाध्यक्ष पदमलङ्कर्तुमिमे सादरमामन्त्रिता अस्माभिः । संस्कृतसम्मेलनस्य मूर्ध्नि पूर्वविराजितं निजपितृचरणानां वरदहस्तं स्मारं स्मारमेते तदध्यक्षतायै स्वकीयां स्वीकृतिमस्मभ्यं प्रदाय यमनुग्रहं कृतवन्तः, स कदापि विस्मर्तुं न शक्यते । यद्यप्येषां विश्वविद्यालयकार्यासक्ततया, अस्माकं सुरभारती-वरिवस्या-पुण्यस्या-ऽपरिपाकतया वा, तदवसरेऽस्माभिरिदमीयचरणयुगलैरलङ्कृतः सम्मेलन-मञ्चो नादृश्यत, तथाप्येनं सम्मेलनमञ्चमानेतुम्—

"आरभ्यते न खलु विघ्नभयेननीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमगुणा न परित्यजन्ति।।"

इति महाकवि विशाखदत्त-सूक्तिमनुसरतामस्माकं प्रयासो मनागपि शैथिल्यं न गतः।

संस्कृत-निरुपमसेवोपलब्धेन काशीहिन्दूविश्वविद्यालय-सम्मानोपाधिना विद्यावाचस्पतिना प्रद्योतमाना डा० झा महाभागाः सर्वप्रथममस्माभिः सम्मेलन-विद्यापीठ-द्वितीयशारदज्ञानमहोत्सव-भाषणमालाया उद्घाटकत्वेन भारतराजधान्यां सम्मेलनमञ्चमानीताः।

अथाखिलभारतीय संस्कृत साहित्यसम्मेलन विद्यापीठयोरध्यक्षपादानां भारतीय-संस्कृति संस्कृतजगतः प्राणायमानानां भारतस्यैतिहासिक-ज्ञान-कर्म-योगि-प्रधानमन्त्रिणां श्रद्धेय डा० श्रीलाल बहादुर शास्त्रि महाभागानामाकस्मिकमधिताशकन्दं महाप्रस्थानं निशम्य मर्माहता भारतीय-संस्कृति-संस्कृत-संसारस्यान्ये जीवातवः सम्मेलन-कार्यवाहकाध्यक्षाः श्रद्धेयाः श्रीमन्तो नरहरिविष्णुगाडगिलमहाभागा अपि सहसाऽस्मान् विहाय स्वकल्पित-संस्कृतकल्याण भावनायाः पूर्त्तये परामर्शमिव कर्तुं शास्त्रिपादानन्वगच्छन्। अस्यां दुर्दैवविरचितायां शोक-संकुलायां विषमपरिस्थितौ दिव्याऽऽत्मनां शास्त्रिपादानामन्तः प्रेरणया, श्रद्धेयानामन्वर्थवाम्नां डा० श्रीसम्पूर्णानन्द-महाभागानां करुणया, विश्वसंस्कृतजगतः प्रार्थनया च निजपूर्वजवद् भारतीय-संस्कृति-संस्कृतयोरात्मनो निःसीमां निष्ठां निरुपमं प्रणयं च दर्शयन्त्यस्तत्रभवत्यो माननीया भारत-प्रधानमन्त्रिणिः श्रीमत्यः इन्दिरागान्धिमहाभागाः सम्मेलनविद्यापीठयोरध्यक्षतां स्वीकृत्य सहसा संस्कृत जगदनुगृहीतवत्यः। तासां प्रधानमन्त्रिमहाभागानामुत्कटेच्छया, निरुपमया निजया करुणया च डा० झा महाभागा भारत-सूचना प्रसारण सचिव-पदमलङ्कुर्वन्त एव विद्यापीठस्य कार्यवाहकाध्यक्षत्वेन सम्मेलन-विद्यापीठाभ्यां सहाऽऽत्मनः प्रत्यक्ष सम्बद्धमुररीकृत्यास्मान् पूर्णसंकल्पानकुर्वन्। अङ्गीकृत-विद्यापीठ कार्यवाहकाध्यक्ष पदा एते दिल्ली प्रशासनस्य मुख्यायुक्तपदमथोपराज्यपालपदमलङ्कुर्वन्तो रात्रिन्दिवं संस्कृत-समुन्नतये नैकां चूड़ान्तां चिन्तामकुर्वन्।

शास्त्रिमहाभागानां स्मारकत्वधिया अखिलभारतीय संस्कृतविद्यापीठं सम्मेलन-परामर्शेन श्रीलाल बहादुरशास्त्री राष्ट्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ नाम्ना परिवर्तितं विधाय, भारत सर्वंकराय समर्पयितुमिदं प्रथमतया सम्मेलन-स्वर्ण जयन्ती समारोहावसरे दिल्ली-विज्ञानभवने महामहिम्नां श्रीमतां राष्ट्रपति महानुभावानां समक्षं प्रधानमन्त्रि भाषणं

पठद्भिरेभिरेव घोषणाकृता। अथभारतसर्वकार सञ्चाल्यमानस्य श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रीय-संस्कृत विद्यापीठस्य यथाशास्त्रिसंकल्पं विकासाय तत्समाध्यक्षताभारं युववीरेषु जम्बूकाश्मीर महाराजाधिराज-केन्द्रीय-नागर विमानन मन्त्रि डा० श्री श्रीकर्णसिंह महोदयेषु सभिनन्दनं समर्प्य, सत्यपि राजकीय कार्यबाहुल्ये तत्सभासदस्यतां हातुमिमे भा महाभागाः सहज-शाश्वतिक-सुरगवी-श्रद्धाभक्त्यनुरागबद्धतया प्रभवो नाभूवन्।

भारतराजधान्यां स्वकीयाभिनन्दनावसरेऽखिलभारतीय-संस्कृतसाहित्य-सम्मेलन-स्याधिमञ्चं भाषमाणैरेभिर्व्याहृतमासीद् यन्मां जनाः पण्डितं मन्यन्ते, नाहं वस्तुतः पण्डितः, वाराणस्यां मम पितृचरणानां समीपे तत्तच्छात्र-निष्णातैः पण्डितैः कृतानां शास्त्रचर्चानां श्रवणजन्यो वंशपरम्परा प्राप्तश्च संस्कृतस्य कश्चनाल्पीयानेव परिचयो विद्यते, सत्यमिदं यत् पूज्यपितृपादाः परस्पर प्रतिस्पर्द्धि प्रतिभावतामात्मजानां मध्ये यदाऽहं शिशुरासं तदैव मम पण्डितेति स्नेहाभिव्यञ्जकं गृहनाम व्यदधत्, आजीवनं ते, सर्वे सोदरा अन्ये च गुरुजनाः पण्डितेति नाम्ना मां सम्बोधयन्ति स्म, अतो मन्ये मयि भवतामपि पाण्डित्य भ्रमो जातः, अथवा तेषां जनानामाननेषु कः करमर्पयिष्यति, ये प्रलयकाले समस्तमेव संसारं "कवलीकुर्वन्तमपि देवं शिवं, नित्यं जनावनायोद्यमिनं च देवं जनार्दनं ब्रुवते" इदीदमेवैषां विनयालङ्कृतविलक्षणवैचक्षण्यख्यापनाय पर्याप्तं वर्तते।

एभिर्महाभागैर्भारतस्य राजधान्यामपि भारतीय-संस्कृति-संस्कृतयोः प्रचार-प्रसारावृद्धिश्य कश्चन नूतनः पन्था विरचितः। एषां संस्कृतसम्बद्धानि भाषणानि प्रायः संस्कृतभाषामयान्येव जायन्ते, तेषु च भारतीय संस्कृतेस्तत्त्वानि नूनमोतानि प्रोतानि च विराजन्ते। उत्तरभारतयात्राक्रमेण देहलीमलङ्कुर्वतां त्रिदिवसीयाऽभूतपूर्वाखिल भारतीय-शास्त्रार्थसभामायोजनमायोजयतामनन्त श्रीविभूषितानां पूजनीयचरणानां शृङ्गेरीपीठा-धीश्वराणां जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य वर्याणां शुभाविर्भावमहोत्सवस्य, हरियाणाप्रदेशे सम्पन्नस्याखिल भारतीय गीतामहासम्मेलनस्य चोद्घाटनभाषणं, दिल्ल्यां सम्पन्नस्याखिल-भारतीयवेदान्तमहासम्मेलनस्याध्यक्षीय भाषणम्, अत्रत्यान्यन्यानि चानन्तानि भाषणा-न्येषामीदृशान्यभूवन्, यत्र भारतस्य धर्मः, संस्कृतिर्दर्शनानि च तन्तुषु पटवदनुस्यूतानि सन्ति।

भारतीय संस्कृति-संस्कृतरक्षाभ्युदय कार्ये सततं सावधाना एते स्वामि श्रीरामतीर्थ जन्मशताब्दी-ग्रन्थे प्रकाशनाय "अद्वैतवेदान्तसिद्धान्त" नामकं महानिबन्धं विलिख्य स्वराजनिवासे रुद्रयागादिकं कारयन्तो दरीदृश्यन्ते।

महामहिमभिरेभिर्विश्वसंस्कृतजगतः सम्मेलन-विद्यापीठयोश्च ये निरुपमा उपकाराः कृताः, यच्चान्यदुर्लभं प्रत्यक्षं परोक्षं वा साहाय्यमाचरितं, सुरभारती सेवकान-स्मान् प्रति यश्च हार्दिकः स्नेहो दर्शितः, तेषां समेषां गणना धरणिधूलीनां प्रत्येकं गणना-

मनुकुर्यादिति मन्यामहे । केवलमिदमेव वक्तुं शक्यते यदेषामुपकारकरुणास्नेहाशीर्वचनैः समेषामस्माकं रोम रोम कृतज्ञमिति ।

अधुना भारतस्य राजधान्यामुपराज्यपालपदे विराजमाना इमे पत्न्या चतुर्भिः पुत्रैरेकया कन्यया पौत्र्या च सुखं समभ्यर्च्यमान-चरणकमल युगला राजकार्याविशिष्टान् प्रायः सर्वनिक्षणान् भगवच्चरण चिन्तने श्रीगणेश महाग्रन्थस्य शक्तिस्तोत्र संग्रहग्रन्थस्य च प्रणयने यापयन्ति ।

अतो निःसंशयं मन्यामहे यद् "वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपी" ति महाकवि भवभूतिसूक्तिलक्षित लोकोत्तर चरिता महापुरुषा एते नूनम् ।

यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥

इति श्रीमद्भगवदुक्तिमनुसृत्य तदंशावतारत्वेनावतीर्याधुना भारतीय-संस्कृति-संस्कृत-जीवातवः सम्पन्नाः सन्तीति ।

संस्कृतज्ञेषु क्रीडाभावनोत्पादकाः श्री झा-महोदयाः

डॉ० मुरारीलाल शर्मा

ईशवीय संवत्सरस्य १९५८ वर्षे यदा भारते संस्कृतज्ञानामभ्युन्नतये संस्कृतस्य च पुनरुद्धाराय वाराणसेयसंस्कृविद्यालयस्य संस्थापना जाता, यदा च श्रीमन्त आदित्यनाथ झा महोदयाः प्रशासनजगतोऽधिकारोपभोगस्य महान्तं गौरवं परित्यज्य स्वतातचरणानां श्री डा० गङ्गानाथझामहोदयानां स्वीकृतमध्यानमनुसृत्य संस्कृतस्याभुदयाय बद्धपरिकरा भूत्वा वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्योपकुलपतिपदं स्वीचक्रुस्तदा परमसौभाग्यादहं क्रीडाध्यक्षस्य पदे विनियुक्त आसम् । तेषां कार्यकाले संस्कृतविश्वविद्यालयेन क्रीडा जगति या विशिष्टा उपलब्धयः प्राप्तास्तासां किञ्चिद् विवरणमत्र प्रस्तौतुमिच्छामि ।

क्रीडाभावनाया-आशयः—क्रीडायां व्यक्तिद्वयं यूथद्वयं वा परस्परं क्रीडतिः । तत्र परस्परं क्रीडते व्यक्तिद्वये यूथद्वये वोत्कर्षसाधनाय परस्परं मात्सर्यं न भवति । प्रत्येकमन्यपक्षं पराजेतुमीहते परं तच्छलेन न क्रियते । क्रीडाचातुर्येण गुणोत्कर्षेण वा जयः पराजयो वा लभ्यते । सत्यं कदाचिद् भाग्यवशादानुकूल्यत्वाच्च परिस्थितीनां विजयो भवति। परं बाहुल्येन सम्यक् कृताभ्यास एव पक्षो विजयं लभते । जातेऽपि पराजये मनसि क्लेशो न भवति, परं विपक्षपक्षस्य क्रीडा चातुर्येणाह्लाद एव जायते । परस्परं सौहार्दं च वर्द्धते । अतः क्रीडाभावनाया मुख्यतो अयमेवाशयो यन्मात्सर्यं विहायान्येभ्य उत्कर्षसिद्धये आत्मनोऽभ्युदयस्य प्रयत्नः, जयाजये समत्वं, विपक्षिषु परं प्रेमेति । यदि मानवोऽनया भावनया जीवनक्षेत्रेऽग्रेसरो भवति तदा बहूनां दुर्भावनामूलकानां समस्यानां स्वयमेव परिहारो जायते ।

क्रीडाव्यायामयोरन्ये लाभाः—क्रीडायां व्यायामे च संचाल्यमानासु प्रतियोगितासु नियमानां पालनमावश्यकम् । अथ चैकस्मिन् यूथे यूथनायकस्य निर्देशानुसारं व्यूहनिर्माणं क्रीडनं चानिवार्यम् । निर्णायकस्य निर्णयः प्रतिकूलोऽपि सन् ग्राह्य एव भवति । एतेषां नियमानां पालनेनानुशासनाभ्यस्तं जायते मनः । अथ च प्रतिदिनं क्रीडाया अभ्यासेन व्यायामेन वा अङ्गानि पुष्टानि जायन्ते । एवं क्रीडाव्यायामाभ्यां शरीरं स्वस्थं, वशीभूतं मनश्च जायते । क्रीडा भावना लाभश्चातिरिक्त एव जायते ।

शारीरिक शिक्षायाः महत्त्वम्—शिक्षाया उद्देश्यानि प्रायश इमानि सन्ति-विनयोऽनुशासनं वा, व्यवहारार्हता, कर्तव्याकर्तव्यसंदेहे कर्तव्यमार्गनिर्धारणं, विषयविशेषस्य विशिष्टं ज्ञानञ्चेति। सर्वेषामेतेषां लक्ष्याणां पूर्तिः शारीरिकशिक्षयाजायते। शरीरस्यारोग्यसंपादनाय क्रीडाव्यायामादि शिक्षैव शारीरिक शिक्षा। शारीरिक शिक्षया सर्वेषांमुपरिलिखितानामुद्देश्यानां पूर्तिस्तु जायत एव तत्र विषयविशेषे क्रीडाव्यूहादि रचनाया विशेषं ज्ञानमपि जायते। एतेषां लक्ष्यानां मूर्त्या सह तत्रैकोऽपरोऽपि लाभः। तच्च स्वस्थशरीरनिर्माणम्। अस्माकं शास्त्रेषु चत्वारः पुरुषार्थाः। धर्मस्य पालनं स्वस्थशरीरमन्तरा न संभवति, यथोक्तं कालिदासेन।

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।' इति

न केवलं धर्मः कश्चिदपि पुरुषार्थः रुग्णशरीरेण साधयितुं न शक्यते। अत एवाधुनिक शिक्षायां शारीरिक शिक्षायाः किञ्चिद् विशिष्टं महत्त्वम्। विश्वविद्यालयीयपाठ्यविषयेषु बहुज्ञायं विषयो मुख्य विषयता गतः। नववृत्तिषु विशेषतः सैन्यरक्षापुरुष (पुलिस) वृत्तिषु तु शारीरिक शिक्षायां दक्षाणामेव यूनां ग्रहणं भवति। केवलं शारीरिक शिक्षा प्रदानार्थमेव बहूनां शिक्षा संस्थानां संस्थापनं जातमस्ति।

संस्कृतज्ञानां शारीरिक शिक्षोपेक्षा—यद्यपि प्राचीनकाले गुरुकुलादिषु सर्वेभ्यश्छात्रेभ्यः शारीरिकशिक्षानिवार्यासीत्, यम नियमयोगासनमल्लविद्याधनुर्विद्यानां च किञ्चिद् विशिष्टं महत्त्वमासीत्, वर्तमाने काले संस्कृतज्ञानां तत्र काचिदुपेक्षा समजायत। तत्र कारणद्वयमासीत्। तत्र प्रथमस्त्वयं हेतुर्यत् संस्कृतशिक्षा सर्वत्र सुलभा नास्ति। काश्यादिषु विशिष्टेषु स्थानेषु दूर देशेभ्यः समागताश्छात्रा बहूनि कष्टानि विषह्य स्वल्पेन कालेन बहूनां शास्त्राणां ज्ञानमर्जयितुमीहन्ते। तेषां च पार्श्वे साधना नामप्यभावः। अतस्तेषां ध्यानं क्रीडाव्यायामशिक्षायां यात्येव नहि। द्वितीयं च कारणमेतद् वर्तते यत् समाजः संस्कृतज्ञान् शास्त्रमर्मज्ञान् गाम्भीर्यगुणोपेतांश्चापेक्षते। संस्कृतज्ञाश्च क्रीडनकर्म मन्यन्ते अतोऽपि तत्र तेषां रुचेरभावो दृश्यते।

झा महोदयानां योजना—यदा श्रीमन्तः झामहोदयाः संस्कृतविश्वद्यालयस्योपकुलपतिपदमलंचक्रुस्तदा तैर्दृष्टं यत् संस्कृतच्छात्राणां शिक्षायै महत्त्वपूर्णे क्रीडाव्यायामविषये काचिदुपेक्षा विद्यते। तैश्चाहमाहूतः। क्रीडाविषये विश्वविद्यालयीय छात्राणां प्रवृत्ति विषये तैः सम्यग् ज्ञानमधिगतम्। तत्र क्रीडाविभागस्यावश्यकतानामुपलभ्यसाधनानां चाध्ययनं कृतम्। संस्कृतच्छात्राणां क्रीडाव्यायमयोः प्रवृत्तिमुत्पादयितुं प्रयत्नेष्वपि विचारः कृतः। तनश्चैका योजना निर्मिता, यदनुसारं क्रीडाविभागस्य पुनर्ग्रन्थनं चिकीर्षितमासीत्।

राजकीय संस्कृत महाविद्यालये क्रीडा व्यवस्था—श्रीमद्भि भामहोदयैः संस्कृत-जगति क्रीडाव्यायामयोरभ्युत्थानाय कृतानां प्रयत्नानां ज्ञानाय राजकीय संस्कृतमहाविद्यालयेऽस्य विभागस्यस्थिते राकलनमावश्कम्। यतो राजकीय संस्कृतमहाविद्यालय एव वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य पूर्वरूपमासीत्। राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालये प्रदेशीयप्रशासनेनोपकरणानां क्रयणार्थं वर्षे पञ्चाशन्मुद्रा दीयन्ते स्म। किं किमुपकरणं पञ्चाशद्रूप्यकैः क्रीणातुं शक्यते ? क्रीडाणां संचालकायाध्यापकाय प्रतिमासं पञ्चदशमुद्रा दीयन्ते स्म। तत्र कश्चिदपि सेवकोऽपि नासीत्। छात्राणाम् अध्ययमात्रे रुचित्वात् क्रीडासंचालकस्य चासेवकं सर्वकार्यसम्पादात्तत्र विशेषरुचेरभाव एव दृश्यते स्म। क्रीडोपकरेणेपु मुख्यतया हस्तकन्दुकस्य (Vollyball) क्रयो भवति स्म। यदा १९५२ वर्षे मया क्रीडा विभागस्य भारो गृहीतस्तदा क्रीडाया इमामवस्थां विलोक्य मम मनसि महान् क्लेशो जातः। छात्रेभ्यः प्रेरणां प्रदातुं मया तैः सह स्वयं क्रीडितम्। अर्थानिपेक्षितानां कबड्डीमल्लविद्यायोगासनादीनां च प्रचालनं कृतं, वार्षिकप्रतियोगितानां समारम्भाश्च कृतः। तथापि साधनाभावेन प्रोत्साहनाभावेन च शारीरिकशिक्षा राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालये नाम मात्रेणैव प्रचलति स्म।

भा महोदयानां प्रयत्नाः—क्रीडाव्यायमयोः सम्यक् सञ्चालनाय भामहोदयैः ये प्रयासाः कृतास्तेषां मुख्यरूपेण गणनानया रीत्या कर्तुं शक्यते—

(क) क्रीडाक्षेत्राणां सम्यक् निर्माणम्।
(ख) क्रीडाभवनस्य निर्माणम्।
(ग) क्रीडाविभागाय शिक्षकसेवकादीनां नियुक्तिः।
(घ) क्रीडोपकरणक्रयणार्थं पर्याप्तिद्रव्यानुदानम्।
(ङ) क्रीडोपयोगिवस्त्रादीनां निर्माणायानुदानम्।
(च) क्रीडावार्षिक प्रतियोगितायां विश्वविद्यालय सम्बद्धछात्रां विद्यालयानामामन्त्रणाय प्रवन्धः।
(छ) क्रीडा प्रतियोगितासु प्रमाणपत्रपुरस्कारादिवितरणप्रवन्धः।
(ज) क्रीडाया उपस्थितेरनिवार्यताकरणम्।
(झ) सत्क्रीडकेभ्यश्छात्रेभ्यः पुरस्कारवृत्त्यादिषुप्रदानम्।
(ञ) स्थानीयासु स्थानान्तरीयासु च प्रतियोगितासु छात्राणां प्रेषणप्रबन्धः।
(ट) क्रीडायाः प्रगतेः स्वयं निरीक्षणं छात्राणां प्रोत्साहनार्थं च स्वयं छात्रैः सह क्रीडनम्।

(क) क्रीडाक्षेत्रस्य निर्माणम्—यदा भा महोदयाः विश्वविद्यालयप्रशासनमधिरूढास्तदा तैर्दृष्टं यत् क्रीडाक्षेत्रभूमि (pitch) रतीव कठोरासीत्। तैश्च तस्य सम्यङ्निर्माणाय तस्या यान्त्रिकहलेनोत्खननं कारयित्वा भूरिप्रयत्नेन तत्र समतल कारकेण

रोलराभिधेन यन्त्रेण तस्य सम्यक् समतलत्वं तथा कारितं यथा भूमेः कठोरत्वं गतम्। क्रिकेट कीडायै क्रीडामण्डपस्य (pitch) निर्माणार्थं क्रिकेटक्रीडायै स्वदेशे विदेशे च लब्ध यशसां 'विजी' नाम्ना प्रख्यातानां विजयानगरस्य महाराजकुमारानांश्रीविजय आनन्द महाभागानां सहयोगेन किञ्चिदपूर्वदूर्वायुक्तं (Turf) मण्डपं निरमायि। अन्येषां क्रीडा-क्षेत्राणां निर्माणयापि तत्तत्क्रीडा विशारदानां परामर्शः गृहीतः।

(ख) **क्रीड़ाभवनस्य निर्माणम्**—क्रीडाविभागस्य सम्यक्कार्यसञ्चालनाय तत्रैकं वस्तुगृहं (Store), कार्यालयः, यूथसदस्यानां विश्रामगृहं चात्यन्तमावश्यकम्। अतः श्रीमद्भिर्झामहोदयैः सद्य एव क्रीडा भवनस्य निर्माणं कृतम्। तैस्तत्रैकमाधुनिकं व्यायाम-गृहं (Gymnasium), एकं तरणाभ्यासयोग्यो जलाशयोऽपि निर्मातुमिष्ट आसीत्। यच्च तेषां गमनकाले योजनानिर्माणकार्यस्यापूर्णतयेदानीमप्यनिर्मितमेवतिष्ठति। श्रीमतां झामहोदयानामेको विशिष्टो गुणोऽयमासीद् यद् यदपि निर्माणकार्यं कर्तव्य-मासीत्तत्ते झटिति समारभन्ते स्म। तत्र च प्रशासनं स्वयमेव धनप्रबन्धमकरोत्। अतएव स्वल्पीयसि काले तैर्यज्ञशाला वेदभवनं, केन्द्रीयकार्यालयः, महिलाछात्रावासः, क्रीडाभवनं, बौद्धदर्शनभवनमतिथिशालाप्रभृतीनां बहूनां भवनानां निर्माणं कारितम्।

(ग) **शिक्षकसेवकदीनां नियुक्तिः**—अद्यत्वे छात्राणां विनयस्य (discipline) दृष्ट्या यद्यपि क्रीडाध्यक्ष पदं कश्चिद् वरिष्ठः क्रीडादिषु निपुणोऽध्यापक एवालंकरोति तथापि तेनाध्यापनमनुसन्धानकार्यमन्यान्यपि च कार्याणि कर्तव्यानि भवन्ति। अतः कार्यालयनिर्वाहाय पूर्णकालिकस्य शिक्षकस्य विनियोगो नितान्तमपेक्ष्यते। अतएव श्रीमद्-भिर्झामहोदयैर्मम सम्मत्या सुयोग्यस्य शिक्षकस्य कार्याभिज्ञस्य सेवकस्य च नियुक्तिः सद्य एव कृता।

(घ) **क्रीडोपकरण क्रयणार्थमनुदानम्**—क्रीडोपकरणानाभावे किञ्चिदपि क्रीडनकर्म सञ्चालयितुं न शक्यते। यथा मया पूर्वमेव निवेदितं यद् राजकीय संस्कृतमहा-विद्यालये क्रीडोपकरणक्रयणार्थं केवलं पञ्चाशद् रूप्यकानि लभ्यन्ते स्म, तेन स्पष्टमेतद् यदस्माकं क्रीडाविभागे क्रीडोपकरणानि नाममात्रेणैवासन्। तत्र श्रीमद्भिर्झामहोदयै-राहूयाहमुक्तो यदत्रत्याश्छात्राः क्रीडाक्षेत्रेऽपि अन्य विश्वविद्यालयायीयछात्रेभ्योऽवरा यथा न स्युस्तथा प्रयतितव्यम्। तत्राहं सर्वेषामपेक्षितानामुपकरणानां क्रयणार्थमेकस्या योजनाया निर्माणार्थमुक्तः। तैश्च स्पष्टीकृतं यत्सर्वाण्यप्यावश्यकानि भारतीयानि आधुनिकानि चोपकरणानि क्रेतव्यानि। तदर्थचिन्ता न कार्या। मया च यथानिर्दिष्टं कार्यं संपाद्य विश्वविद्यालयस्य क्रीडाविभागः सर्वविधैरुपकरणैः सुसज्जितः कृतः। तत्र झामहोदयाना-मेकमपरं वैशिष्ट्यमासीत्। उपकरणानां क्रयणकाले उपकरण विक्रेतृभिर्या प्रदर्शनी क्रियते तत्र स्वयमपि भागं गृहीत्वा सर्वथा श्रेष्ठानामुपकरणानां चयनेऽपि सहयोगं दद्युः।

(ङ) **क्रीडोपयोगिवस्त्रादीनां निर्माणार्थमनुदानम्**—विश्वविद्यालयस्य छात्रै-रुत्तरप्रदेशीयक्रीडापरिषदायोजितेऽन्तर्विश्वविद्यालयीयक्रीडाप्रतियोगितामहोत्सवे भागो-गृहीतव्य आसीत्। तत्र श्री झा महोदयैरहमाहूय प्रोक्तो यत् सर्वेषां छात्राणां वेशे एकरूपता तिष्ठतु, वेशश्चान्यविश्वविद्यालयीयछात्रसदृश एव भवतु येनास्माकं छात्राणां कश्चिदुपहासो मा भवेत्। तदा मया प्रोक्तं यदस्माकं छात्रास्त्वतीव निर्धनाः सन्ति, यथार्हवेशवस्त्रनिर्माणे ते तादृशं महान्तं व्ययमपि कर्तुमसमर्थाः विशेषतश्च चिह्नांकित-ब्लेज़रकोटनिर्माणं तेषामवश्यमेव। तदा श्रीमद्भिर्झामहोदयैर्यथायोग्येन साहाय्येन वस्त्र-भूषादिनिर्माणेऽपि छात्राणां साहाय्यं कृतम्। तत्र विश्वविद्यालयीय वर्णस्य (colour) निर्धारणं स्वयंकृतं च चिह्न (crest) निर्माणं स्वनिरीक्षणे कर्मरतम्। एतस्यायं प्रभाव आसीद् यदस्माकं छात्राणां वेशस्य कार्यस्य विशेषतोऽनुशासनस्य सर्वत्रैव प्रशंसाभवत्।

(च) **विश्वविद्यालयपि प्रतियोगिता**—वाराणसेयराजकीयसंस्कृत महाविद्यालये दीक्षान्तसमारोहावसरे यथासाधनं कासांचित् क्रीडाप्रतियोगितानां प्रबन्धः क्रियते स्म। तत्र केवलं विद्यालयीया एव छात्रा भागं गृह्णन्ति स्म। तत्र श्रीझामहोदयैरहमुक्तो यावदवधि सर्वेषां संस्कृतछात्रायां हृदिक्रीडाभावना न जागर्ति तावद् विश्वविद्यालये क्रीडा प्रबन्धो निष्फल एव। अतो वार्षिकक्रीडाप्रतियोगितासु सर्वेऽपि प्रमुखा विद्यालया आमन्त्रयितव्याः। क्रीडाप्रतियोगितासु विजेतृभ्यः पुरस्काराः प्रमाणपत्राणि च प्रदेयानि। क्रीडारसानभिज्ञा अन्य विद्यालयानां छात्रा एतत् समारम्भं विलोक्य क्रीडारसिकाः स्युरितिकरणाय तैः प्रथमवारं भागगृहीतृभ्यश्छात्रेभ्य एकपक्षस्य यात्राव्ययोऽपि प्रदत्तः। तत्र प्रथमेऽवसरे धावनक्षेपनकुर्दनकवड्डीवालीवालधनुर्विद्यामल्लस्तंभयोगासनमल्लयुद्ध-रज्जूकर्षणादिषु प्रतियोगितानुष्ठिता। तत्र प्रथमवारमेव पञ्चदशसंख्याकैः सम्बद्धविद्या-लयैः स्वछात्राः प्रेषिताः। महती च सफलता लब्धा समारोहेन। पुरस्कारवितरणस्य प्रमाणपत्रदीनां वितरणस्य भव्यं कार्यक्रमं दृष्ट्वा वहिस्तः समागतानां छात्राणां हृदयेषु कश्चिदपूर्व उत्साह सञ्जातः। श्रीझामहोदयैः सञ्चालितः स कार्यक्रम इदानीं सर्वथा पल्लवितः पुष्पितश्च जातो यत्र सर्वेऽपि प्रमुख्या महाविद्यालयाः स्वव्ययेन छात्रान् प्रेषयन्ति। श्रीमतां झामहोदयानां स्मरणार्थम् इदानीं सर्वजेतृ (champion) यूथाय यद् विजयचिह्न दीयते तस्य नाम 'श्री आदित्यनाथ झा विजयफलकम्' अस्ति।

(छ) **क्रीडाया उपस्थितेरनिवार्यता**—मया श्री झा महोदयाः प्रोक्ता यद् यावत् संस्कृतच्छात्राः क्रीडारसं नानुभवन्ति तदापर्यन्तं क्रीडानिवार्या क्रियताम्। प्रतियोगितासु छात्राणां प्रेषणमपि तदैव संभवति यदा बहुसंख्याकाश्छात्राः क्रीडासुभागं गृह्णन्ति। श्रीमद्भिर्झामहोदयैर्यथानिवेदितं कृतम्। तत्र प्रथमं बहूनां छात्राणां विरोधो जातः। परं श्रीमद्भिर्झामहोदयै दृढतया नियमानां पालनं कारितम्। यदा च वेदान्तादिदर्शन शास्त्रा-ध्ययनपरैः कैश्चित् संन्यासिछात्रैः क्रीडाप्रतिबन्धविमोचनाय (exemption) प्रार्थितं

तदापि तैः स्वकौशल्येन नियमाः सर्वथाः रक्षिताः। तैः संन्यासि छात्राः प्रोक्ताः 'भो, योगासनादि प्रक्रिया तु वीतरागैर्महर्षिभिरेव प्रारब्धाः। भवद्भिः केवलं योगाभ्यासः क्रियतां तत्र च नूतनाश्चमत्कारा उत्पाद्यन्ताम्।' क्रीडाव्यायामयोरनिवार्यतया सायंकाले सर्वमपि क्रीडाक्षेत्रं विविधं क्रीडाकलापेन गुञ्जायितमभवत्।

(ज) **सत्क्रीडकेभ्यश्छात्रेभ्य पुरस्कारवृत्त्यादि प्रदानम्**—क्रीडासु छात्राणां प्रोत्साहनं प्रदातुं श्रीमद्भिर्झामहोदयैरुद्घोषितं यद् ये छात्राः प्रान्तीयप्रतियोगितासु विश्वविद्यालयीय प्रतियोगितासु च विशिष्टं स्थानं गृहीष्यन्ति, छात्रवृत्तिप्रदाने तेषां तत्कार्यं योग्यतारूपेण स्थास्यति। सर्वथा विशिष्टेभ्यश्छात्रेभ्यस्तैरुत्सवपूर्वकं कदाचिद्विश्व-विद्यालयपक्षेण कदाचिदात्मनः पक्षेण विशिष्टाः पुरस्काराः प्रदीयन्ते स्म। एतेन क्रीडाविषये छात्राणां महदुत्साहसंवर्धनं संजातम्।

(झ) **प्रतियोगितासु छात्रप्रेषण प्रबन्धः**—तत्र प्रतियोगितासञ्चालनं प्रतियोगि-तासु छात्रप्रेषणमपि व्ययसाध्यमस्ति। यदि काचित् प्रतियोगिता क्रियते तदा तत्रावश्यक-प्रबन्धार्थं जलपानाद्यर्थं चार्थो उपेक्ष्यते। स्थानान्तरे च छात्रप्रेषणे मार्गव्ययार्थं भोजनाद्यर्थं च धनमपेक्ष्यते। परं यदि तद्धनं न व्ययीक्रियते तदा छात्रेषु क्रीडाकौशलमपि न समायाति। एतदर्थं श्रीमद्भिर्झामहोदयैरावश्कयकस्यार्थस्य प्रबन्धः कृतमासीत्। प्रथम एव वर्षेऽस्माकं छात्रैरखिलभारतीयव्यायामप्रतियोगितासु उत्तरप्रदेशीयान्तर्विश्वविद्यालयप्रतियोगितासु च भागं गृहीत्वा तत्र तत्र प्रमाणपत्रादिलाभेन कश्चिन्नव उत्साहोलब्धः। छात्रैः काशीहिन्दू-विश्वविद्यालयच्छात्रैरन्यविद्यालयानां छात्रैश्चसह मैत्रीवर्द्धकासु क्रीडाप्रतियोगितास्वपि भागो गृहीतः। १९५९ वर्षे उत्तरप्रदेशीयोलंपिकसमित्यानुष्ठितासु क्रीडा प्रतियोगितासु विसेषताश्च तरणप्रतियोगितासु अस्माकं छात्रैः किञ्चिद् विशिष्टमेव स्थानंलब्धम्। ४×१०० स्वतंत्रसरण्या (Free Style) तरणे तु अस्माकं छात्राः सर्वजेतृणः (champion) वासन्।

(ञ) **क्रीडायाः प्रगतेः स्वयंनिरीक्षणम्**—अस्मादृशेषु स्वानुचरेषु भृशं विश्व-सन्तोऽपि श्रीमन्तो झामहोदयाः महत्त्वपूर्णेषु कार्येषु स्वयमवधानं ददति स्म। क्रीडायां तु तेषां विशिष्टमवधानमासीत्। अतस्ते प्रतिसायं स्वयं क्रीडाक्षेत्रमागत्य तत्र क्रीडासञ्चालनं पश्यन्ति स्म। तत्रैव च ते क्रीडाधिकरिभिश्छात्रैश्च सह वार्तालापं कृत्वा तेषां मार्गे या बाधा आसंस्तासां सद्य एव निराकरणं कुर्वन्ति स्म। बहुधा ते छात्रैः सह स्वयमपि क्रीडन्ति स्म। अहं तं दिन स्मरामि यदा ते सहसा धनुर्विद्याभ्यासकर्तॄणां छात्राणां मध्ये समागत्य शरसन्धानाभ्यासं कर्तुमारभन्त। महच्च ममाश्चर्यमभूद् यत्तेषां सर्वेऽपि शरा धनुर्विद्या-निपुणस्य जनस्येव सम्यक् लक्ष्ये तदासन्ने वापतन्। एकदा ते क्रिकेटक्रीडांभ्यासकर्तॄणां छात्राणां मध्ये समागत्य ताडनफलकेन बैटाभिधेन कन्दुकताडनाभ्यासं कर्तुमारभन्त। कतिपयान्येव कन्दुकानि क्रीडितव्यानीत्युक्त्वा तैः करत्राणं (batting gloves) न

धारितम् । ततश्चैकं तीव्रगति कन्दुकं तेषां कराङ्गुली अप्रहरत् । किञ्चिद् व्रणप्यजायत् । वयं सर्वेऽपि खिन्नास्तेषां सविधे समागताः । कन्दुकोत्तोलकः (bowler) छात्रश्च क्षमां याचितुमैच्छत । परं तैरेवं प्रदर्शितं यत् किमपि न दुर्घटितमासीत् । तै विर्हस्य प्रोक्तं, भो अहं तु गच्छामि । अद्य बहु अभ्यासो जातः । अङ्गुलीषु किमपि न जातम् । एतत्तु क्रीडायां भवत्येव । क्रिकेटक्रीडायां त्वितोऽप्यधिकं दुर्घटते । अलं चिन्तया ।' इतिप्रोक्त्वा यानमारुह्यौ पिधालयमगच्छन् ।

(ट) **भारतीय कीडाव्यायमयोः स्नेहः**—यदा प्रथमक्रीडा शिक्षकस्य नियुक्तिरभीष्टासीत् तदा तैरहमाहूयैवं प्रोक्तः जीवनक्षेत्रेऽस्माकं छात्राणामन्यविश्वविद्यालयीयछात्रैः सह प्रतियोगिता भविष्यति । अतोऽन्य विश्वविद्यालयेषु या याः क्रीडा भवन्ति, अस्माकं छात्राणां तेषामभ्यासस्तु युक्त एव परमेकं कदापि न विस्मर्तव्यम् । अयं विश्वविद्यालयो भारतीय संस्कृतेरुद्धाराय प्रवृत्तः । भारते यत् श्रेष्ठतममासीद् यच्चास्मभिविस्मृतमुपेक्षितं वा तदेव श्रेष्ठतमरूपेण विश्वसविधे समुपस्थानस्य विश्वविद्यालयस्य लक्ष्यम् । अतोऽत्र विश्वविद्यालये भारतीय व्यायामविधानां क्रीडानां च कश्चिद् विशिष्टोऽभ्यासः कारयितव्यः । अस्माकं छात्रा मल्लविद्यायां धनुर्विद्यायां, मल्लस्तम्भे, यौगिक क्रियासु 'खो खो' 'कबड्डी' प्रभृतीषु क्रीडासु यथा विशिष्टमभ्यासं कर्तुं समर्थाः स्युस्तथा प्रयत्नो विधेयः । अत्रैतादृशः शिक्षकोऽपेक्ष्यते यो भारतीयव्यायामविद्यासु भृशं निपुणः स्यात् । तादृशो जनोऽन्वेष्टव्यः । मया च तेषामाज्ञां शिरसि धारयित्वा भारतीयव्यायामविद्यासु निपुणानां जनानां विषये ज्ञानं प्राप्तम् । अन्ते च भारतीयव्यायामविद्योन्नायकानां काशिव्यायामशालायाः सञ्चालकमहोदयानां परमादरणीयानां श्रीसत्यनारायणशर्मा महोदयानां सम्मत्याः काशिव्यायामशालायाः प्रमुखशिक्षकाः श्रीमन्तो जगन्नाथाचार्य महोदया मया भारतीयव्यायामशिक्षकपदाय श्रीमद्भ्यो झामहोदयेभ्योनिवेदिताः । प्रसन्नैश्च तैस्तेषां नियुक्तिः कृता । ते सततं भारतीय क्रीडाव्यायामयोरभ्युदयाय सन्नद्धा आसन् ।

श्रीमद्भिर्झामहोदयैर्विश्वविद्यालयस्य क्रीडाविभागायैकं बहुमूल्यं सूक्ष्मसमयसूचकं घटीयन्त्रं (Stop watch) प्रदत्तमस्ति, यत् प्रतियोगिताकाले सदा तेषां मूर्तिं मनस्यंकितां करोति । परं बहुमूल्यतम उपहारो यत्तैः प्रदत्त स तु क्रीडाभावना, भारतीय क्रीडाव्यायामयोरुत्कर्षसाधनाय प्रेरणा । सततमस्मासु स्नेहमयी भावना च । अतएव संस्कृतस्य छात्राविशेषतस्य क्रीडानुरागिनश्छात्रा मादृशास्तेषां स्नेहतरोश्छायायां प्राप्तसुखदविश्रामाश्चाध्यापकाः सदैव तान् संस्मरन्ति । किं बहुना—

यावत्संस्कृतछात्रेषु क्रीडाव्यायामचिन्तनम् ।
तावदादित्यनाथस्य नामसंस्मरणं भवेत् ।। इति शम् ।

शुभाशंसा

पण्डितश्री सिद्धेश्वर भट्टाचार्यः

इदं परमं प्रमोदमावहति यद् श्रीमताम् आदित्यनाथ-झा महोदयानां कृते अयम् अभिनन्दनग्रन्थः समर्पित आस्ते। प्रशंसास्पदम् इथं चेष्टा, विशेषतो निन्दकपरिपूरितेऽस्मिन् जगति यत्र कोऽप्यपरस्य प्रशंसां न सहते।

प्रथमतस्तावद् एकदेव विचारपदवीम् आरोहति। एतेन अभिनन्दनात्मकप्रयासेन किं फल सम्भावयिष्यते ? को वा तत्फलम् आत्मसात् कुर्यात् ? मम त्वेषा मतिः—आदित्यनाथास्त्वादित्यवदेव सर्वतः प्रकाशमानाः वरीवृत्यन्ते। विवस्वते दीपकदानवत् सोऽयं समारम्भो निष्फलप्राय एव। तर्हि कस्यार्थम् अयं प्रयासः। वयं तु ब्रूमः ये तावत् उदारमतय एवं उद्युक्ताः सन्ति, तेषामेवोत्कर्षार्थमयं समारम्भः फलवान्। तथाहि श्रीमद्भागवते—

> नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो
> मानं जनाद विदुषः करुणोवृणीते।
> यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
> तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः॥

श्लोकेऽस्मिन्नयं विचारः—साधारणो जनो यद् भगवतः सपर्यां विदधाति तेन भगवति कश्चित् सन्तोष आधीयते न वा ? यदि आधीयते, तर्हि एतदपि स्वीकर्तव्यं यद् एतादृशः सपर्यायाः प्राक् तादृश-सन्तोषविशेषस्याऽभावो भगवत्यविद्यत, यस्य निराकरणं सपर्ययाविहितामिति। किन्तु तादृश-पक्षस्वीकारे भगवत्य भाव एव पर्यवस्येत् ते न च परिपूर्णत्वं व्याहन्येत। यद्येतद्दोषमपाकर्तुं कथ्यते—यदस्माकं सपर्यया भगवतः कोऽप्युपकारो न भवतीति, तर्ह्यस्माकं सपर्या निष्फलैः एव पर्यवस्यति। एवम् उभयतः पाशारज्जौ श्रीमद्भागवतं समुद्घोषयति, यद् अस्माकं सपर्यया भगवताः समर्पितया ऽस्माकमेवोपकारः सञ्जायते। तथाहि—भगवति परिपूर्णतमे प्रत्यापादिता पूजा तच्चरणयुगलं सम्प्राप्य अस्मान् प्रत्येव प्रत्यावर्तते। तथा चास्माकमेवाभ्युदयो जायते। अत्र दष्टान्तः—दर्पणे मुखं प्रतिविम्वम्। इच्छा समुद्भूता—प्रतिबिम्बमुखे तिलकं दास्या-

मीति। तदर्थं बिम्बमुख एव तिलकदानमपरिहार्यम्। श्रीभगवान् अस्माकं सर्वेषां बिम्ब-भूत एव। तेनाऽस्मासु प्रतिबिम्ब भूतेष्वभ्युदयस्य प्राप्त्यर्थं तत्रैव भगवत्यर्घ्यदानं-शोभतेतराम्। तस्मात् पूजा न निष्फला, किन्तु अस्माकमेव आभ्युदयिकीति स्थितम्।

तथैव झा-महोदयानाम् अभिनन्दन परम्परयाऽस्माकमेव चेत उत्कर्षमापत्स्यते इति लोभेन वयं वर्तामहे।

झामहोदयैः साकं मम परिचये न घनिष्ठतापदवीं प्रापता वारद्वयं श्रीमद्भिर्मम सम्मेलनम् आसीत्। प्रथमतो यदा तत्रभवन्तो वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्थो-पकुलपति पदम् अधितिष्ठन्तो वाराणसीम् असेवन्त, तदा प्रसङ्गवशात् तद्दर्शनार्थं गत-वान् आसम्। प्रथमदर्शनेनैव श्रीमंताम् असाधारणं व्यक्तित्वम्, सौम्यदर्शनम्, चारु-भाषणम् च समुपगम्य परमा प्रीतिम् अलभे। आधुनिक जगति आधुनिक विद्याम् अधि-कृत्यापि श्रीमन्तः प्राचीसंस्कृतेः प्रतिरूपा एव प्रतिभान्ति स्म। कुलस्थमागत-संस्कृत-परम्परामपि तथैव तद्व्यक्तित्वे प्रतिबिम्बताम् अदृक्षम्।

तदनन्तरं प्रयागविश्वविद्यालयस्य सुवर्ण-जयन्ती समागता। प्रत्येकं शिक्षासंस्थानेभ्यः प्रतिनिधय उपस्थिताः। विस्तीर्णं सभामण्डपम्। सहस्रशः शिक्षाविदः, अध्यापका, द्विद्वरेण्याः छात्राश्च मण्डलीकृत्योपविष्टाः। मण्ड-पोपरिसंस्थानप्रतिनिधयोऽर्धचन्द्राकारेव विराजन्ते स्म। घटनाक्रमाद् झा-महोदयानां समीपमेव विश्वभारती- विश्वविद्यालयस्य प्रतिनिधित्वेनाहमप्युपाविशम्। सुपरिकल्पितकार्यक्रमात प्रत्येकं प्रतिनिधयोऽभिनदन्नं व्याकर्तुम् आरभन्त। प्रायश आङ्गलभाषयैव सर्वेषा वाणि चटुलतां गता। तदनन्तरं झा-मदहोया वाराणसेयसंस्कृत-विश्वविद्यालयस्य प्रतिनिधित्वेन सुललितसंस्कृतभाषाया स्वाभिनन्दनं व्याकुर्वन्। सर्वतो हर्षध्वनिरश्रूयप्त। तदनन्तरं मम वारः। शान्तिनिकेतनस्य गुरुदेवरवीन्द्रनाथप्रवर्तितया पद्धत्या स्वरचितश्लोकत्रयम् अहमप्यपपठम्। तुमुलो हर्षध्वनिः। किन्तु सर्वेषामुपरि झा-महोदयानां विकसितं मुखकमलं कदापि विस्मर्तुं नार्हामि। माघकवेः श्लोकमेकं किञ्चित् परावृत्त्य मम मनस्यभिमानप्रसूत उद्गारः समजनि—'व्यद्योतिष्ठ सभावेद्याम् असौ नर-शिखि-द्वयी' इति।

संस्कृतविश्वविद्यालयस्य प्रारम्भिकं रूपं सम्पाद्य श्रीमन्तोऽधुना भारतराज-धान्यां गुरुत्वपूर्णं प्रशासनपदम् अलङ्कुर्वाणां विराजन्ते। किन्तु यत्रपि तत्रभवन्तस्ति-ष्ठन्तु, संस्कृतस्य कृते तथा भारतीयसंस्कृतेः कृते श्रीमताम् अकुण्ठः सहयोगो दृश्यते। कृतज्ञताबुद्ध्या तदीयं कार्यकलापं स्मरन्तो वयं भगवतो गौरीशस्य चरणकमलयोः प्रार्थ-यामहे—श्रीमन्तः शतायुषो भूत्वा भारतस्य महिममयं स्वरूपम् एवं सर्वत्र प्रचारयन्तु; भारतजननी जगत्-सभायां श्रेष्ठं स्थानं लभतामिति।

**

कृतित्त्वम्

विहारसंस्कृतसमितेः समावर्तनमहोत्सवे मिथिलेशमहेश-रमेशव्याख्यानात्मकं दीक्षान्तभाषणम्

(३–५–५६)

अति महती खलु इयं परिषद् सपायताः। अत्र हि अनेकशास्त्राणाम् पण्डितप्रवराः प्रदेशस्य प्रतिकोणतः। ईदृश्यां महापरिषदि मादृशानां प्रवेशो मम दृष्ट्या दर्शकत्वातिरिक्तेन रूपेण कथञ्चिदपि नोचिताः। अतो दीक्षान्तभाषणकर्तृत्त्वेन उपस्थातुं विहारसंस्कृतसमितेः आदेशपत्रं यदाऽहमासादयं तदाऽऽत्मनस्तदनुगुणयोग्यतावैकल्यमाकलय्य प्रथमम् आदेशपालनस्य अशक्यताप्रदर्शनमेव, किन्तु सपद्यैव प्रदेशेन समित्या च सह आत्मनः पैतृकसम्बन्धस्य, गुरुजनानां समक्षाज्ञानगोपनमेव गुह्यम् इति नीतेश्च स्मृत्युपारोहेण आदेशपालनं करिष्यमाणतया व्यजिज्ञपम्। तदनुसारेणैव चाद्य भवतां पूज्यपुरुषाणां पुरस्तादुपस्थितोऽस्मि। किन्तु किञ्चद्वक्तुं चेष्टमानस्य मे दुर्बला वाणी तामेव विचित्रां दशामालम्बते या पद्येऽस्मिन् वर्णिता—

नाहूताऽपि पुरः पदं रचयति प्राप्तोपकण्ठं हठात्
पृष्टा न प्रतिवक्ति कम्पमयते स्तम्भं समालम्बते।
वैवर्ण्यं स्वरभङ्गमञ्चति बलान्मन्दाक्षमन्दानना
हा कष्टं, प्रतिभावतोऽप्यभिसमं वाणी नवोढायते॥

महाभागाः!

अद्य विहारसंस्कृतसमितेः स्नातकानां समावर्तने समवेतानामस्माकं मन्मतेनेदमावश्यकं कर्त्तव्यं यदस्माभिः तासां जनजिज्ञासानामनुसन्धानं समाधानं च सम्पाद्यं या स्वभावादेव साम्प्रतं समुत्तिष्ठन्ति। जनाः प्रायः प्रत्यवसरं पृच्छन्ति यत् 'अद्य संस्कृतं किमर्थमध्येतव्यम्', न खल्वेतत् सम्प्रति जीविकार्जने सहायकं, न वा कस्यचिन्नूतनज्ञानस्य आधायकम्। विद्या सा यया अर्थः, सुखं, यशो, नूतनवो बोधो वा सम्पद्येत, संस्कृतविद्या खलु नाधुना एतेषु कस्यापि प्रयोजनस्य सम्पादिका, किमुत, सर्वेषाम्। तथाहि पर्वं संस्कृतस्य लोकाश्रयो राजाश्रयश्च प्राप्त आसीत्। संस्कृतज्ञा

लोकतो राजतश्च अर्थोपार्जनं कुर्वन्ति स्म । परमद्य लोकस्य दृष्टिः परिवर्तिता, तस्य प्राचीना आकांक्षा : समाप्ताः, या च तस्य नवीना दृष्टिः । अभिनवाश्च आकांक्षा संस्कृतं तासां पूरणेऽक्षमम् । अतो लोकाश्रयस्तस्य नष्टः । राजानस्तु स्वयमेव समाप्ता इति तदाश्रयस्य काचित्कथैव नास्ति । इत्थं संस्कृतज्ञानां पुरातनानि अर्थार्जनद्वाराणि विशीर्णानि । इदानीं कियत्यः संस्कृतपाठशाला एव केवलं तेषां मुख्यानि जीविकाक्षेत्राणि । तासु च कतिपया अपहाय तावदपि वेतनं दुर्लभं यावत् व्यवस्थितेषु कार्यालयेषु निम्नकोटेः परिचारकाणामपि सुलभम् । अर्थोपार्जनस्य अन्यक्षेत्रेषु तेषां प्रवेशश्च अद्यापि पूर्ववदेव दुःशकः । अर्थाभावे च अर्थयुगेऽस्मिन् सुखस्य का नाम सम्भावना ? संस्कृताध्यनेन यशोलाभो भविष्यतीत्यपि नाशास्यम्, यतोऽधुनातनः शिक्षितो वर्गः संस्कृतपण्डितानां शिक्षितेषु गणनामेव न करोति । यदा च तान् शिक्षितानेव न मन्यते तदा स तेभ्यो यशो दास्यतीति का नाम प्रत्याशा ? संस्कृताध्यनेन कश्चिन्नूतनो बोधो लप्स्यत इत्यपि असंभाव्यम्, यतो हि ज्ञानस्य यावत्यः शाखाः सम्भवन्ति तासां सर्वासां भाषान्तरमाध्यमेन सम्प्रति यादृशो विपुलो विस्तारो विजृम्भते तादृशः संस्कृतवाङ्मये सम्भवतः कदापि नासीत् । इत्थमपेक्षितं किमपि प्रयोजनं सम्पादयितुमक्षमतया संस्कृताध्ययनम् अद्यत्वे अतीव अनावश्यकम् ।

सज्जनाः !

अयं किल ईदृशः सामयिको मौलिकश्च प्रश्नः, यस्य, समुचितं समाधानमन्तरा संस्कृतस्य पठनपाठनयोः प्रचार प्रसारो वा न कथञ्चिदपि सम्भाव्यः । यद्येवमुच्येत, यद् धर्मो हि मानवजातेः प्रथमः पुरुषार्थः । स एव मानवानां परमाभीप्सितयोः अर्थकामयोः मूलम् ।

यथोक्तं महर्षिणा व्यासेन—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न हि कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।।

वैशेषिकदर्शने महर्षिणा कणादेन कथितम् ।

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः,

तत्र कोऽभ्युदयः, किञ्च निःश्रेयसम् ? इति निरूपणप्रसङ्गे उपस्कारग्रन्थे शङ्करमिश्रेणाभिहितम् ।

"वस्तुतस्तु को धर्मः, किं लक्षणकश्चेति सामान्यतः शिष्यजिज्ञासायां यतोऽभ्युदयनिश्रेयसिद्धिरित्युपतिष्ठते । तथाच यतोऽभ्युदयसिद्धिर्यतश्च निःश्रेयःसिद्धिः तदुभयं धर्मः । एवं पुरुषार्थासाधारणकारण धर्मं इति वक्तव्ये परमपुरुषार्थयोः सुखदुःखाभावयोः विशेषतः

परिचयार्थमभ्युदयनिःश्रेससिद्धिरित्युक्तम् ।"

एतद् व्याख्यानानुसारेण सुखस्य दुःखाभावस्य वा यत् प्रधानं साधनं स धर्म इति सिद्धचति ।

तैत्तिरीयारण्यके (१०। ६३) उक्तम्

"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं
प्रजा उपसर्पन्ति । धर्मेण पापमपनुदन्ति,
धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ।"

वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषदि (३।४) प्रोक्तम्

"स चतुरः सृष्ट्वापि वर्णान् नैव व्यभवत्, तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत् धर्मम्, तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं, यद्धर्मः तस्मात् धर्मात् परं नास्ति ।"

अस्य व्याख्यानप्रसङ्गे पाराशरमाधवे उक्तम्

"परमेश्वरः प्रजा सृष्टापि तन्नियामकाभावात् कृतकृत्यतारूपं विभवं न प्राप्तवान् । ततो विचार्य नियामकत्वेन श्रेष्ठं धर्मम् अतिशयेन असृज, इति । अहो महदिदं धर्मस्य सामर्थ्यं, यत् क्षत्रियादिः उग्रो मारणे समर्थोऽपि धर्माद्भीतः करप्रदानाद्यनुपयोगिनं याचकविप्रादिकं न मारयति, प्रत्युत तस्मै धनं ददाति, भटाश्चातिशूरा धनुःखड्गादिधारिणो लक्षसंख्याका एकेन निरायुधेन स्वामिना अधिक्षिप्यमाणाः ताडचमानाः सन्तोऽपि स्वामिद्रोहात् बिभ्यति, ततो धर्मादपि उत्कृष्टं न किञ्चिन्नियामकमस्ति ।"

भगवता मनुना आदिष्टम्

धर्मं शनैः सञ्चिनुयात् वल्मीकमिव पुत्तिकाः ।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ।।
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ।।
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतम् एक एव च दुष्करम् ।।
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्टं लोष्ठसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा याति धर्मस्तमनुगच्छति ।।
तस्मात् धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ।।—मनु० ४

महाभारतस्य शान्तिपर्वणि धर्मविषये इत्थमुपलभ्यते—

धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम् ।
न तत्सेवेत मेधावी नहि तद्धितमुच्यते ।।

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ।।
शक्तिमनाप्यशक्तोऽसौ धनवानपि निर्धनः ।
श्रुतवानपि मूर्खश्च यो धर्मविमुखो नरः ।।
धर्मो माता पिता चैव धर्मो बन्धुः सुहृत्तथा ।
धर्मः स्वर्गस्य सोपानं धर्मात्स्वर्गमवाप्यते ।।
विद्या रूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगता ।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते ।।

श्रीमद्भगवद्गीतायां भगवता कृष्णेन सुस्पष्टमाख्यातम्—

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।"

सचायं महाफलो धर्मः स्वरूपसाधनाभ्यां संस्कृतवाङ्मये विस्तरेण वर्णितः । अतस्तस्य ज्ञानाय तत्र समाजस्य रतिप्रवृत्योरुपादनाय च संस्कृत वाङ्मयस्य पठनपाठनयोर्व्यापकसुव्यवस्थायाः सम्पादनमनिवार्यरूपेण आवश्यकम् ।

परमिदमपि मीमांस्यमानं नोपपद्यते । यतो हि धर्मज्ञानार्थमेव यदि संस्कृताध्ययनमपेक्षिष्यते तदा धर्मनिरपेक्षराज्यनिष्ठे वर्तमान गणतन्त्र भारते संस्कृतशिक्षायाः प्रोत्साहनं प्रशासनपक्षाद्भविष्यतीति सम्भावना सुदूरं परिहार्या । संस्कृताध्यनस्य धर्मज्ञानार्थत्वे न केवलं शासनस्य वर्तमाना नीतिरेव प्रतिकूला अपि तु विज्ञानप्रधानो वर्तमान युग एव प्रतिकूलः । अधुना हि मानवस्य वस्तुनिरीक्षणदृष्टिः नितान्तं परिवर्तिता । स खलु वैज्ञानिकेन परीक्षणविधाना प्रमाणितस्य वस्तुन एव सत्यतां श्रद्धत्ते, धर्मश्च वैज्ञानिकेन परीक्षणेन अस्तित्वं न लभते । अन्यच्च इदमस्ति, यत्साम्प्रतिको मानवः आत्मनो वर्तमानं जीवनमेव विश्वसिति, जीवनोत्तरे अस्तित्वे तस्य निष्ठा नास्ति, स्वकीयं वर्तमानं जीवनमेव लौकिकीभिः समृद्धिभिः सुखमयं चिकीर्षति । विज्ञानमेव च विविधसाधनामाविर्भाविन सर्वविधानां लौकिकसमृद्धीनां मूलमिति प्रत्यक्षसिद्धम् । अतः सुखस्य प्रत्यक्षं साधनम् अवधीर्य अप्रत्यक्षाय धर्माय को बुद्धिमान् अध्यवसायं विधास्यति ? तस्मात् सुनिश्चितमेतत् यदद्य संस्कृताध्ययनं धर्मज्ञानार्थतया लोकवृत्तेरास्पदं न भवितुमर्हति ।

अत्र ब्रूमः, सत्यमिदं, यत् साम्प्रतं संस्कृतस्य अर्थार्जिनौपयिकं रूपं नास्ति । आचार्यकक्षान्तम् अध्ययने आयुषः प्रायः समग्रं प्रथमं भागं व्यतिगमय्यापि संस्कृतस्नातका जीवस्य साधारणीनामावश्यकतानामपि पूर्तौ न क्षेमन्ते । आङ्गलभाषया शिक्षितो वर्गः संस्कृतज्ञवर्गम् अशिक्षितमिव अवमन्यते, लोकस्तन्नोचितं समाद्रियते, प्रशासनं च तन्निर्विवेकमुपेक्षते । अतः संस्कृताध्ययने न कश्चिदिदानीमुत्सहते । परमिदं विचारणीयं,

यत् किमयं संस्कृतस्य स्वकीयो दोषः ? किमियं संस्कृतस्य नैसर्गिक न्यूनता ! किं संस्कृतज्ञः अद्य इव सदैव अक्षमः, अपटुः, निर्बलः, निर्धनः समपेक्षितश्च अभूत ? किं तस्य सम्बन्धे मनोरथमुद्घोषः कदापि सत्यो नाभूत ।

सेनापत्यञ्च राज्यञ्च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ।।

इतिहासो ब्रूते, संस्कृतस्य अधुनातनी त्रुटिः न स्वाभाविकी । संस्कृतं हि पूर्वं न केवलं धर्मभाषा साहित्यभाषैव वाभूत, किन्तु बहुकालं लोकभाषा, शासनभाषा चाभूत । राज्ञो भोजस्य काले भारवाहोऽपि भाषते, भारो न बाधते राजन् यथा 'बाधति' 'बाधते' । तात्कलिकस्तन्तुवायोपि ब्रूते —

काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि
यत्नात् करोमि यदि चारुतरं करोमि ।
भूपालमौलिमणिमण्डितपादपीठ !
हे साहसाङ्क ! कवयामि वयामि यामि ।

मण्डनमिश्रस्य ग्रामस्था वारिवाहिन्यो महिला तदगृहस्थ मार्गं निर्दिशन्त्यः शङ्कराचार्यं ब्रुवन्ति ।

जगद् ध्रुवं वा जगदध्रुवं वा कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा अवेहि तन्मण्डनपण्डितौकः ।।
स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा अवेहि तन्मण्डनपण्डितौकः ।।

एवं चाणक्य-माधवप्रभृतयोऽत्यन्तं प्रामाणिकाः संस्कृतपंडिता बभूवुः । ये संस्कृतस्य चतुरस्रं गम्भीरञ्च पाण्डित्यं दधाना राज्यसञ्चालनस्य दुर्वहं दायित्वमपि परमेण नैपुण्येन निरवहन् ।

किमिदं संस्कृतस्य गौरवाय नालम् ? यत् वैदेशिकानां सुदीर्घशासनकाले सर्वविधायामुपेक्षायां सत्यामपि संस्कृतं न केवलं कथञ्चिदजीवत्, स्वात्मनः स्वाभाविकं माधुर्यं वा समरक्षत्, अपि तु वेदानाम्, उपनिषदाम्, पुराणानाम्, तन्त्राणाम्, रामायण-महाभारतयोः, दर्शनाना, काव्यनाटकानाञ्च वैषयिकमहत्त्वेन, शैलीसौन्दर्येण, भाषाऽऽकर्षणेन च आत्मनां महिमानमुपचिन्तयद् देशम् एकत्वशृङ्खलायां बद्ध्वा आत्यन्तिकविनाशात अत्रायत । वैदेशिकशासने भारतस्य प्रायः सर्वस्वमेव नष्टम् ? किं न नष्टस् इति चेदालो-

च्यते, तर्हि तस्य पुरातनी दृष्टिः, सनातनी संस्कृतिश्च बुद्धिपथमारोहतः, ये न नष्टे, इति वक्तुं शक्यते। ते कुतो न नष्टे इति चेदनुचिन्त्यते, तदा संस्कृतमेव तन्मूलतया समुपतिष्ठते। अतो गत (फरवरी) मासस्य त्रयोविंशे दिनाङ्के दिल्लीनगरे विज्ञानभवने आजादव्याख्यानमालायाः सातत्ये प्रधानमन्त्रिणा श्रीनेहरूमहोदयेन सर्वथा यथार्थमेवोक्तं यत् "संसारस्य जातीयेतिहासेषु कदाचिदेव कयाचित् भाषया तावन्महत्त्वपूर्णं कार्यं कृतं भवेत् यावत् संस्कृतभाषया भारतवर्षे कृतम्। संस्कृतम् उच्चविचारणामभिव्यक्तेः सर्वोत्तमस्य साहित्यस्य च माध्यमामत्रमेव नाविद्यत। किन्तु राजनीतिकदृष्ट्याविभक्तस्यापि भारतस्य एकत्त्वरक्षायाः महनीयं साधनमप्यवर्तत। सहस्रं वर्षेभ्यो लक्षाणां व्यक्तीनां जीवनक्रमे रामायणमहाभारतेऽनुस्यूते स्तः। यदा कदा इदमनुचिन्तयतो मे महत्कष्टं जायते यत् यदि अस्माकं जातिः, बुद्धविनयान्, उपनिषदः संस्कृतस्य महान्ति काव्यानि च व्यस्मरिष्यत् तदा अस्याः कीदृशं रूपमभविष्यत्? तदा इयं समूलं नष्टा तैः असाधारणैः गुणैः रहिता च अभविष्यत् यैरियं युगेभ्यो विश्रुता आसीत्। संस्कृतं विस्मृत्य भारतं भारतमेव नावर्तिष्यत।"

मान्याः!

एतावता अनुचिन्तनेन इदमेव फलति यदद्य संस्कृते या काचित् त्रुटिः परिलक्ष्यते, सा स्वाभाविकी नास्ति। संस्कृतवाङ्मयं सर्वथा सुसमृद्धं सर्वगुणसम्पन्नं च विद्यते। संस्कृतभाषायाः भावभिव्यञ्जनस्य नूतननिर्माणस्य च शक्तिः अद्यापि अक्षुण्णा असीमा च वर्तते। तन्माध्यमेन तत्तत्समये तैस्तैरस्मत्पूर्वजैः प्रदत्ताः ते ते संदेशा अधुनापि यथा पूर्वमेव सत्याः शाश्वताश्च।

अतो वैदेशिके शासने संस्कृतस्याया उपेक्षा अभूत। स्वतन्त्रे भारते यदि तस्या अनुवर्तनं न भवेत, यदि तस्मै समुचितं स्थानं दीयेत, तस्य शिक्षायाः सर्वः प्रबन्धः क्रियेत, तदध्येतृवर्गश्च प्रशासनेन यथान्यायमाद्रियेत तदा कियतैव कालेन संस्कृतं न केवलं पुरातन्या श्रियैव समुल्लभेत् अपि तु विपुलया युगश्रियोपि सम्यगवभासेत।

विद्वांसः!

यदिदमुच्यते, यदयं विज्ञानस्य युगः। इदानीं विज्ञानप्रभावेण मानवस्य दृष्टिदोषो विनष्टः। न कश्चिदधुना अन्धश्रद्धया धर्मं परलोकं वा स्वीकृत्य स्वकीयं वर्तमानम् उपेक्षितुमुत्सहते। सर्वो जनः वैज्ञानिकपद्धत्या प्रमाणितस्यैव वस्तुनः सत्यतां श्रद्धत्ते। तत्सर्वथा सत्यम्। इदमपि सत्यं, यदद्य विज्ञानस्य महिम्ना देशकालयोर्विप्रकर्षः समाप्ताः। स्वास्थ्यनैरुज्ययोर्नवनवानां साधनानामुद्भावनेन जनस्य जीवनमभिवर्धितम्। प्रभूतानां योग्यवस्तूनामुत्पादनेन संसारस्य सुखमयत्त्वमुद्योतितम्' शीतोष्णयोः नियन्त्रणेन तितिक्षाया महत्त्वमुन्मूलितम्। नूतनानां यातायातसाधनानां प्रकटनेन

समग्रे जगति सामीप्यमापाद्य विश्वबन्धुतायाः विकासस्य द्वारमुद्घाटितम्। बहुविधानि उपकारणानि निर्माय बलसाहसयोः संवर्धनेन लोकस्य दैवनिष्ठत्वं निराकृतम्। इत्थं विज्ञानस्य सामर्थ्यं सर्वथा अनिर्वाच्यम्। परमनेन सर्वेण सह इदमपि प्रत्यक्षसत्यं यद् विज्ञानप्रभावाणां सुखसाधनां बाहुल्येऽपि लोकः अद्य पूर्वापेक्षया सुखी शान्तश्च नास्ति। भयम्, अविश्वासः, आतङ्कश्च सर्वत्र बद्धमूलः। प्रभुत्वविस्तारभावनया समग्रं जगत् आक्रान्तम्। संघर्षानिलः सर्वत्र ज्वलनोन्मुखः विश्वं, प्रतिक्षणम् आसन्नप्रलयम्। अतो लोके साम्प्रतमियं चर्चा विश्रूयते यत् धर्मादिसम्बन्धे मनुष्यस्य पुरातनो विश्वासो बुद्धिविरुद्धः अन्धविश्वासो भवतु, मा वा भवतु, किन्तु नास्तिक्यशाणेनोत्कपितस्य शासकानां हस्त-गतीभूय विश्वस्मै अभिशापीभवतोविज्ञानस्य नेत्रे निमील्य संस्तवनं निस्संशयं बुद्धिविरुद्धः अन्धविश्वास एव। विश्वस्य नेतारो विद्वांश्च इदानीमनुभवन्ति यदस्य अनर्थकारिणः संघर्षस्य किं वास्तवं निदानम्, कश्च वास्तवस्तत्प्रतीकारोपायः? इत्येतदन्वेषणमेव अस्य समयस्य प्रथमं कर्त्तव्यम्।

तेऽनुभवन्ति यद् यदि मानवजातेर्दृष्टिर्भोगवाद एव केन्द्रिता भविष्यति, तत्समक्षं किञ्चिद्विशिष्टं लक्ष्यं, कश्चन विशिष्ट आदर्शो वा न भविष्यति तदा विश्वराष्ट्रेषु वर्धमानो मात्स्यन्यायो न कथमपि रोद्धुं शक्ष्यते। संहारकारिणामस्त्रशस्त्राणां निर्माण-प्रवृत्तिः न कथञ्चिदपि प्रतिरोद्धुं शक्ष्यते।

संसारस्य अस्यां भावभूमिकायाम् 'अद्य संस्कृतं किमर्थमध्ययेतव्यम्' इति प्रश्नस्य समाधानं सरलं सुस्पष्टञ्च। यतो भारतीयतत्त्वचिन्तकैः सुचिरं विचिन्त्य शतश्च परीक्ष्य तथ्यमिदं संस्कृतवाङ्मये पदे पदे प्रतिपादितमस्ति यत् केवलया भौतिकसमृद्ध्या केवलया विद्यया विषयनिष्ठया च मानवः सुखी शान्तश्च न भवितुमर्हति।

इयं धारणा यत् 'एतद्देहान्तमेव मानवस्य जीवनम्, एतत्पातोत्तरं स नाव-तिष्ठते, अस्माल्लोकात्परं न किञ्चिदस्ति, भौतिकसफलतातोऽतिरिक्तं किञ्चदपि काम्यं मनुष्यस्य नास्ति,' भारतस्य तत्त्वदर्शिनां मतेन मानवस्य हितावहा नास्ति। अस्याः समर्थनं संस्कृतवाङ्मयं नानुतिष्ठति।

> "अन्यत् श्रेयः अन्यदुतैव प्रेयः त उभे,ः नानार्थे पुरुषांसिनीतः।
> तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थात् य उ प्रेयो वृणीते॥
> न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
> अयं लोकः, नास्ति पर इति मानी पुनः पुर्वशमापद्यते मे॥"

तर्हि सुखं शान्तिश्च कस्य स्यात्? इत्येतदपि मृत्युः तत्रैव प्राह, यथा—

> "एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्याः।
> तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको वहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।"

तैत्तिरीयोपनिषद् आनन्दमीमांसाप्रसङ्गे शतं मानुषानन्दाः अकामहतश्रोत्रियस्य एकानन्देन तुल्या उक्ता; यथा—

"सैषा आनन्दस्य मीमांसा भवति, युवा स्यात् साधुयुवाऽध्यायकः, आशिष्ठो द्रविष्ठो वलिष्ठः तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्, स एको मानुष आनन्दः, ये ते शतं मानुषा आनन्दाः एक आनन्द श्रोत्रियस्याकामहतस्य ।"

छान्दोग्योपनिषदि सर्वाभ्यः अनात्मविद्याभ्यः असन्तोषं प्रकटयन् नारदः आत्मज्ञानोपदेशाय सनत्कुमारं प्रार्थयते, यथा—

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं सामवेदम्, आथर्वणं चतुर्थम्, इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्, पित्र्यम्, राशिम्, दैवम्, निधिम्, वाकोवाक्यम् एकायनम्, देवविद्याम्, ब्रह्मविद्याम्, भूतविद्याम्, क्षत्रविद्याम्, नक्षत्रविद्याम्, सर्पदेवजनविद्याम्, एतत् भगवोऽध्येमि । सोऽहं भगवो मन्त्रविदेव अस्मि नात्मवित् । श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः, 'तरति शोकमात्मविदिति, सोऽहं भगवः शोचामि । तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयत्विति ।"

बृहादारण्यके परिव्रजिष्यन्तं याज्ञवल्क्यं तत्पत्नी मैत्रेयी पृच्छति ।

यन्नु मे इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन
पूर्णा स्यात्, किं तेन अमृता स्याम ?
यदा च याज्ञवल्क्यमुखादिदं शृणोति यत्
"यथैव उपकरणवतां जीवतं, तथैव ते जीवितं
स्यात्, अमृतत्त्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन ।"

तदा तेन दीयमानां सम्पदं निःस्पृहं प्रतिषेधन्ती विस्पष्टं ब्रवीति—

"येनाहं नामृता स्यां, किमहं तेन कुर्याम्, यदेव
भगवान् वेद, तदेव मे ब्रूहीति"

—आत्मतत्त्वविवेकेउदयानाचार्येण उक्तम्—

"इह खलु निसर्गप्रतिकूलस्वभावं सर्वजन-
संवेदनसिद्धं दुःखं जिहासवः सर्वं एव
तद्धानोपायमविद्वांसोऽनुसरन्तश्च सर्वाध्यात्मविदेक-
वाक्यतया तत्त्वज्ञानमेव तदुपायमकर्णयन्ति"

योगभाष्ये महर्षिणा व्यासेन व्याहृतम्—

"तदस्य महतो दुःखसमुदयस्य प्रभव-
वीजमविद्या, तस्याश्च सम्यग्दर्शमभाव-
हेतुः, यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्,
रोगो, रोगहेतुः आरोग्यं, भैषज्यमिति।
एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव, तद्यथा
संसारः, संसारहेतुः, मोक्षः मोक्षोपाय इति।
तत्र दुःखवहुलः संसारो हेयः, प्रधानपुरुषयोः
संयोगो हेयहेतुः संयोगस्य आत्यन्तिकी
निवृत्तिहानन्, हानोपायः सम्यग्दर्शनम्।"

ब्रह्मसूत्रभाष्ये भगवत्पादैरभिहितम्—

"एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो
मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः
सर्वलोकप्रत्यक्षः, अस्यार्थहतोः प्रहाणाय
आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते।"

जैनदर्शने तत्त्वार्थसूत्रे—

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।
सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।
कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।
सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः।

इत्येतैः सूत्रैः आचार्येण उमास्वातिना आत्मविषयकमिथ्यादृष्टेः दुःखस्य आद्यमूलत्वं तत्परिपन्थिनः सम्यग्दर्शनस्य च तन्निवृत्तिहेतुत्वमभिहितम्।

बौद्धदर्शने—

'इदं खो पन भिक्खवे, दुक्खं, अरियसच्चं। जातिपि दुक्खा, जरापि दुक्खा, मरणम्पि दुक्खं, सोकपरिदेवदोमनस्सुपामासादि दुक्खा, अप्पयेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं संख्यित्तेन पञ्चूपादानक्खन्धधापि दुक्खा' इत्येवं समग्रस्य घटनाजातस्य दुःखरूपता प्रतिपादिता। ततः—

'इदं खो पन भिक्खवे, दुक्खसमुदयं अरियसच्चं यो यं तण्हा पोनब्भविका नन्दिरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी, सेयमीदम् कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा' इत्यादिशब्दैः तष्णायाः सर्वविधदुःखानां निदानत्वं निगदितम्। तदनु—

'इदं खो पन भिक्खवे, दुक्खनिरोधं अरियसच्चं, सो तस्यायेव तण्हाय असेस-विरागनिरोधो चागो परिनिस्सागो मुत्ति अनालयो' इत्येभिः शब्दैः तृष्णात्यागस्य दुःख-निवृत्तिहेतुत्वमुपवर्णितम् ।

सर्वक्लेशजननी तृष्णा कुतो हेतुरुद्भवतीति विचारयता नागार्जुनेन बोधिचर्या-वतारपञ्जिकायां प्रोक्तम्—

य पश्यत्यात्मानं तस्याहमिति शाश्वतः स्नेहः ।
स्नेहाद् गुणेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते ।।
गुरुदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनमुपादत्ते ।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत्तु संसारः ।।

नागार्जुनस्येयं दृष्टिः आत्मतत्त्वविवेकदीधितौ बौद्धपक्षमुपपादयता रघुनाथ-शिरोमणिना इत्थं समर्थिता—

"सर्व एव हि भोगभाजं स्थिरतमात्मानं मन्वानाः सुखादिकं कामयन्ते । यदाहुः—

सुखी भवेयं दुःखी वा मा भूवमिति तृष्यतः ।
यैवाहमिति धीः सैव सहजं सत्त्वदर्शनम् ।। इति ।
सत्त्वम्-आत्मा

कामायमानाश्च सुखादिकं विहितं निषिद्धं वा साधनमस्यानुतिष्ठन्तः कर्मा-श्यानाचिन्वानाः जन्मादिकमनुभवन्ति । यदि पुनरमी किमपि नाहम्, नाहमास्पदमस्ति किञ्चिदपि वस्तु स्थिरम्, विश्वमेव क्षणभङ्गुरमलीकं वेत्यवधारयेरन्, न किञ्चिदपि कामयेरन्, न चाकामयमानाः केचिदपि प्रवर्तन्ते, न चाप्रवर्तमाना अपि कर्माशयेन सीव्यन्ते, न चान्तरेण कर्माशयं सम्भवो भोगस्य ।"

एषां समेषां प्रसङ्गानां पर्यालोचनेन अयमेव निष्कर्षो निर्गलति यद् भारतस्य सुप्रसिद्धानां सर्वासां वैदिकजैनबौद्धविचारधाराणामनुसारेण विषयेषु अत्यासक्तिरेव रागद्वेषादिप्रभवस्य विश्वसंघर्षस्य मूलम्, अतो विश्वसंघर्षं समाप्य मानवजातेस्त्राणं यदि काम्यते तदा तस्या मनोमस्तिष्काभ्यां विषयाभिलाषाद्रेकस्य द्रागेव दूरीकरणमा-वश्यकम् । परमिदं तावत्कर्तुं न शक्यते यावत् तन्मूलभूतो मनुष्याणां स्वात्मगोचरो मिथ्याप्रत्ययो नापनीयते । स च प्रत्ययो बहुविधः, अनात्मवादिनां मतेन आत्मास्तित्व-प्रत्ययः, आत्मवादिनां मतेन च आत्मनास्तित्वप्रत्ययो देहादौ आत्मप्रत्ययो वा । स एव च मार्कण्डेयपुराणे अनेकानर्थफलकस्य महतोऽज्ञानतरोः रूपेण अभिवर्णितः । तथा हि—

अहमित्यङ्कुरोत्पन्नो ममेति स्कन्धवान्महान् ।
गृहक्षेत्रोच्चशाखश्च पुत्रदारादिपल्लवः ।।

धनधान्यमहापात्रो नैककालप्रवर्धितः ।
पुण्यापुण्याग्रपुष्पश्च सुखदुःखमहाफलः ॥
तत्र मुक्तिपथव्यापी मूढसम्पर्कसेचनः ।
विधित्साभृङ्गमालाढ्यो ह्यज्ञानमहातरुः ॥
संसाराध्वपरिश्रान्ता ये तच्छायां समाश्रिताः ।
भ्रान्तिज्ञानसुखाधीनास्तेषामात्यन्तिकं कुतः ?
यैस्तु सत्सङ्गपाषाणशितेन ममतातरुः ।
छिन्नोविद्याकुठारेण ते गतास्तेन वर्त्मना ॥
प्राप्य ब्रह्मवनं शीतं नीरजस्कमकष्टकम् ।
प्राप्नुवन्ति परां प्राज्ञा निर्वृ ति वृत्तिवर्जिताः ॥

अस्य अज्ञानतरोरुन्मूलनमुद्दिश्य अस्मद्देशस्य तत्त्वद्रष्टारः बहुपूर्वमेव आत्मनौ वास्तवस्वरूपपरिच्छेदाय महान्तं प्रयासमन्वतिष्ठन् । सोपानारोहणन्यानेन च न्याया-दिदर्शनानां भूमिकाक्रमेण सर्वोपप्लवविवर्जितम् एकात्मवादप्रासादमध्यरोहन् । फलतो भारतस्य इयमेव चिरपरीक्षिता सिद्धान्तदृष्टिः यद् भेददर्शनं दुःखस्य, अभेददर्शनं च तदभावस्य साधनम् । अत एव भगवद्गीतायां भगवता श्रीकृष्णेन—

सर्वभूतेषु मामेकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥

इति वचनेन सात्त्विकत्वोक्त्या एकत्वदर्शनं संस्तुतम् ।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥

इति वचनेन राजसत्वोक्त्या नानात्वदर्शनं च निन्दितम् ।

ईशावास्योपनिषदि

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

इत्येवं रीत्या एकात्मदर्शनस्य सर्वानर्थनिवर्तकत्वं निर्वर्णितम् । भारतीया नीतिरपि उपनिषदामिमं सिद्धान्तं परिपुष्णाति, यथोक्तम्—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरित्तानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

सहृदयाः !

भारतस्य चिरन्तन्याः परमार्थसत्याया अस्या आदर्शदृष्टेः पुनरुज्जीवनाय समग्रे जगति प्रसारणाय च संस्कृतशिक्षायाः प्रोत्साहनं प्रवर्धनं च, अत्यन्तमपेक्षितम् । स्वतन्त्र-भारतस्य जनता प्रशासनं च सत्यमिदं निर्विवादं स्वीकुरुतः । अत एव केन्द्रियशासनेन अखिलभारतीयं संस्कृतायोगं निर्माय तत्प्रतिवेदितेन पथा संस्कृतशिक्षायाः व्यापकप्रवन्धाय प्रयत्यते । उत्तरप्रदेशप्रशासनेन वाराणस्यां संस्कृतविश्वविद्यालयः स्थापितः । तेन च आत्मनः प्रथमवर्ष एव या वहुमुखी प्रगतिः कृता, विश्वसिमि, तां विज्ञाय भवन्तो भृशं सन्तोष्यन्ति । संस्कृतवाङ्मयस्य यासां शाखानां पठनपाठने वहोः कालात् उपेक्षिते, तासामध्ययनाध्यापनयोः प्रवन्धाय तत्र कतिपये विभागा उद्‌घाटिताः, अन्ये च अग्रिमवर्षेषु क्रमेण उद्घाटयिष्यन्ते । यासु वैदेशिक भाषासु संस्कृतसम्वन्धे महत्त्वपूर्णानि कार्याणि पूर्वं जातानि साम्प्रतञ्च जायन्ते, तासां शिक्षणव्यवस्थापि तत्र विहिता । वैदेशिकशासनकाले संस्कृतस्य पुरातनशैल्या यत् अनुसन्धानकार्यमुपेक्षितं निरुद्धं च, तस्य पुनः प्रवर्तनाय एकं बृहत् अनुसन्धानसंस्थानं प्रतिष्ठापितम् । संस्कृतविद्यार्थिनां लेखनप्रवचनयोः सामर्थ्या-भिवर्धनाय अनेकविधा उपाया उपक्रान्ताः । वेदेषु, उपनिषत्सु, पुराणेषु, तन्त्रेषु, योगेषु च ऐहलौकिकफलानामपि ईदृशीनामनेकविद्यानामुल्लेख उपलभ्यते, यासां गवेषणेन पठन-पाठनयोः प्रवन्धेन च पुनः प्रचारे कृते विद्यमानो विज्ञानयुगोऽपि नितान्तं चकितश्च-मत्कृतश्च भवितुमर्हति । वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयः तद्दिश्यपि यथासमयं यथा-साधनं च प्रयत्नं विधित्सति । संस्कृतशिक्षायाः कृते इदं शुभं लक्षणं यद् वाराणस्यां संस्कृतविश्वविद्यालयस्थापनानन्तरं देशस्य अन्येष्वपि कतिपयप्रदेशेषु संस्कृतविश्वविद्या-लयस्थापनायाश्चर्याः प्रचलन्ति । विहारप्रान्ते तु मन्ये, अग्रिमात् शिक्षासत्रादेव संस्कृत-विश्वविद्यालयः कार्यमारभेत । या मिथिला वेदोपनिषत्कालादेव सर्वविधानां संस्कृत-विद्यानां केन्द्रम् गौतमयाज्ञवल्क्यप्रभृतीनां वहुनां तत्त्वदर्शिपुरुषाणां साधनाभूमिश्च अविद्यत, यस्या महीपतेः राजर्षिजनकस्य विद्यात्यागयोः कीर्तिः औपनिषदैः ऋषिभिर-प्यगीयत । यत्र सीतासदृश्यः पुण्यनार्यः अजायन्त, यत्र गङ्गेशवाचस्पत्युदयनप्रभृतयो दार्शनिकाः, जयदेवविद्यापतिप्रभृतयो महाकावयश्च प्रादुरभवन्, यस्या विद्वद्धौतपरीक्षा वर्तमानयुगेऽपि समग्रे भारते सुप्रसिद्धा, तत्र संस्कृतविश्वविद्यालयप्रतिष्ठापने विलम्बो भवेदिति तस्या लोकप्रसिद्धगौरवस्य नितान्तं प्रतिकूलम् । अतः स्थान एव, वर्तमानेन मिथिलामहाराजेनात्मनो विशालं राजभवनं सुमहत्पुस्तकालयञ्च प्रदाय दरभङ्गानगरे संस्कृतविश्वविद्यालयस्थापनायाः मार्गः सुगमीकृतः । विहारसंस्कृतविश्वविद्यालयो वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयश्च ज्ञानविज्ञानयोरादानाभ्यामन्योन्याश्रयं समुपचिन्वन्तौ सम्पूर्णस्य जगतो भूयसे मङ्गलाय भविष्यत इति देशस्य दृढो विश्वासः ।

उज्जयिन्यामायोजिते कालिदासजयन्ती समारोहे भाषणम्

(२५-११-५८)

स्वकीयायाः विशिष्टसभ्यतायाः संस्कृतेश्च गौरवमावहत्सु विश्वस्य प्रायः सर्वेष्वपि देशेषु काले काले केचन महाकवयो नाट्याचार्याः दार्शनिकाश्चैवंभूता अवश्यं प्रादुरभवन् येषामकृत्रिमरसाभिरामाभिः कृतिभिः कलाभिश्च न केवलं तेषां देशविशेषाणां गौरवाभिवृद्धिः सञ्जाता अपितु तदनुयायिनी सर्वापि कृतिः प्रभाविता, अनुप्राणिता चाभूत । कालिदासः ईदृशेष्ववामरकविषु अन्यतमः इति सर्वैरपि विवेकशीलैः समीक्षकैः स्वीकृतम् । कालदासः नितरां प्रसादमय्या स्वकीयया मधुरया भाषया न केवलं काव्यस्य सहजानुरागिणामेव मनांस्यावर्जयितुं प्राभवदपि तु पुरोभागितां स्वीकुर्वतां तथा सहृदय धुरीणानां सुपंडितानाञ्चापि मनांसि सममेव व्यमोहयत् । अस्य कवेः प्रातिभस्य चमत्कारस्य विश्वविमोहनं प्रभावमनुगन्तुमक्षमाः केचन विद्वांसः कथामेकामेवंविधां कल्पितवन्तः यत् पूर्वं स्वभावमूर्खोऽयं जनः स्वीयेन उग्रेणतपसा भगवतीं महाकालीं सन्तोष्य नवरसरुचिरां निर्मितिं विधातुं वैदुष्यमवाप्तवान् । आख्यायिकाया अस्याः प्रामाण्यं विद्वांसोऽङ्गीकुर्वन्तु नवाङ्गीकुर्वन्तु नाम तथाप्येतत्सत्यमङ्गीक्रियत एव सर्वैर्यत् कालिदासः दैव्या प्रतिभया सम्पन्नः कविषु सर्वेषु मूर्धन्यः कविरासीदिति । महानयं प्रमोदावसरोऽस्माकं यदद्य वयमत्रैतादृशं सुकविं सत्कर्तुं समवेताः ।

विभिन्नप्रदेशीयैः भारतीयैः कालिदास आत्मनो देशस्य जातेश्च गौरवाधायक उद्घोषितः । केचन इमं बंगदेशीयम्, अपरे पुनः मैथिलम्, तथा केचिदान्ध्रदेशस्थमेवं काश्मीरकं चाप्याहुः । एवं विभिन्नवर्गीयैः विद्वद्भिः आत्मसात्कृतेनानेन विज्ञापनेन केवलम् एकमेव सत्यं सुनिश्चितं यत् कालिदासो निखिलस्य भारतस्य एक एव कविरासीन्नतु कस्यचन एकस्य प्रदेशविशेषस्य । कालिदासो हि भारतस्य प्रत्येकस्मात् क्षेत्रात् सुपरिचित आसीत्तथा ते ते प्रदेशास्तेन स्वयमेव तत्र तत्र गत्वा साक्षात्कृता आसन् । अतएव सः स्वीयासु सुमधुरासु रचनासु तेषां चित्रमयं सूक्ष्मतरं वर्णनं विधातुं साफल्यममाधितवान् । कालिदासीयो भारतवर्षः देशस्यास्य विप्रकृष्टतरामुत्तरसीमामभिव्याप्य दक्षिणयाः दिशः प्रकृष्टतरां सीमां यावत् सुविस्तृतो वर्तते । कुमारसंभवस्य प्रथमे सर्गे, मेघदूतस्य पंचाशत्तमे पद्ये तथा च रघुवंशीय चतुर्थसर्गस्यैकसप्ततितमेश्लोके हिमालस्य यादृशं वर्णनं

समुपलभ्यते तेन कवेः शैलास्यास्य विशिष्टं ज्ञानं निश्चेतुं शक्यते । रघोः दिग्विजयमुद्दिश्य रघुवंशस्य चतुर्थे सर्गे तथा इन्दुमत्याः स्वयम्वरप्रसंगे षष्ठे सर्गे च कविना अनेकेषां राज्ञां यादृशं वर्णनं कृतं तेनेदं निश्चितं ज्ञायते यत् कविरयं न केवलं भारतवर्षस्यैव उत्तरस्याः, दक्षिणस्याः, पूर्वस्याः पश्चिमायाश्च दिशो विषये ज्ञानवानासीदपि तु भारताद् बहिर्भूतानामपि देशानां तस्य प्रभूतं ज्ञानमासीत् । प्रसंगेऽस्मिन् रघुवंशस्य त्रीणि पद्यान्यत्र उद्ध्रियन्ते—

"अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु
द्वीपान्तरानीतलवंगपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ।"
"विनीताध्वश्रमास्तस्य वंक्षुतीरविचेष्टनैः
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धांल्लग्नकुंकुमकेशरान् ।"
"तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्
कपोलपाटनादेशि बभूव रघुवेष्टितम् ।"

केचिदत्र कपोलपाटलमिति पठन्ति किन्तु तन्न युक्तम् तथाहि, अत्र कपोलपाटनेन शोकाभिव्यक्तेः कश्चिन्नूतन एव क्रमो विवक्षतो विद्यते यो हि हूणेषु प्रचलितः श्रूयते । एवं चतुर्थे रघुः नौसाधनोद्यतान् बंगानुत्खाय तत्र जयस्तम्भं निचखानेति वर्णितं विद्यते तथा चाग्रे त एव बंगीयाः विजिताः राजानः आपादपद्मप्रणताः रघुं फलैः संवर्धयामासुरिति वर्णनमुपलभ्यते येन स्पष्टमेवानुमातुं शक्यते यत् कालिदासः कविकल्पनायामुत्कृष्टतमं स्थानं गृह्णन्नपि एतेषां दृश्यानां प्रत्यक्षदर्शितया वर्णनं कृतवान्नतु केवलया कविकल्पनया ।

पारम्परिकाः केचन विद्वांसः कालिदासम् उज्जयिन्याः नृपेण विक्रमादित्येन सह संयोज्य तत्र प्रमाणत्वेन विक्रमोर्वशीये विक्रमस्य नामग्रहणं तथा च रघुवंशस्य षष्ठे सर्गे समुपवर्णितमवन्तिनाथप्रसंगमुपन्यस्यन्ति । किन्त्वत्र नास्ति समेषां विदुषामैकमत्यम्, यतो हि कवेः काल विषये नाद्यापि कोऽपि सर्वसम्मतो निर्णयो विजृम्भते । ईसातः पूर्वं प्रथमशताब्द्याः प्रारभ्य तस्य मृत्योरनन्तरं शतकं यादवस्य महाकवेः स्थितिं यथामति कल्पयन्ति विद्वांसः । अस्तु नाम वैमत्यं कालविषयकं किन्तु नास्त्यस्मिन् विषये सन्देहावसरो यत् कालिदासः उज्जयिन्या सम्यक् परिचित् आसीत् तथा च तस्य हृदि नगर्या अस्याः कृते काचिद्पूर्वा एवानुरागमयी सुमधुरा कल्पना प्रतिष्ठिता अभूत् । प्रसंगेऽस्मिन् मेघदूतस्थं कालीदासीयं पद्यमिदं विशेषेण स्मरणीयमस्ति—

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः ।

विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ।।

एवं शिप्रायाः सरितः, महाकालाख्यस्य महतो देवस्य च रम्यतरं सुविस्तृतं वर्णनञ्चापि कवेरुज्जयिनीविषयकं ज्ञानमनुरागं च प्रकटयति ।

भवतु नाम महाकवेरस्योज्जयिन्या सह नैकट्येन दूरस्थेन वा सम्बन्धः किन्त्वत्र एकमपरमपि कालिदासविषये वक्तव्यं यत् कविरयं भारतीयायाः संस्कृतेः सर्वथा समर्थकः पोषकश्चासीदिति । तस्य काव्येषु नाटकेषु च सर्वत्रैव भारतीयायाः कलायाः तदनुरूपायाश्च सज्जायाः सम्यक् वर्णनमुपलभ्यते । द्वौ सुप्रसिद्धौ पुरातत्ववेत्तारौ कवेः वर्णनानुरूपमेव कलात्मकं वस्तुजातं समुपलभ्य तस्य वर्ण्यविषयस्य प्रामाण्यमुद्घोषितवन्तौ ।

अद्यावधि समुपलब्धाभिः कलाकृतिभिर्भारतीयानां प्रकृतिप्रणयस्य परिचयो लभ्यते । तथैव मेघदूत-कुमारसंभव-रघुवंशादिषु बहुवर्णितं प्रकृतिवर्णनं विमृश्य अस्य महाकवेः प्रकृतिविषयकः सिद्धान्तः स्पष्टमवगम्यते यत् "मानवः प्राकृतिकेषु दृश्येषु प्रकृत्या रमते, प्रकृतेरेवाङ्गभूतः सन् प्रकृतिमाश्रित्य परां प्रकृतिमापद्यते च" । अभिज्ञानशाकुन्तले शिवस्याष्टसु मूर्तिष्वन्यतमां प्रकृतिमुपवर्ण्य कविना स्पष्टमेव प्रकृतेरपूर्वः प्रभावो महिमा च प्रकटितः ।

भारतीया आर्या आदिकालादेव सत्यधना अभूवन् इति तथ्यं कालिदासकृतिषु बहुशः प्रतिपादितं विद्यते । रघुवंशस्य द्वितीय सर्गे गृहीतगोरक्षाव्रतस्य दिलीपस्य प्राणोत्सर्गेणापि गोरक्षया स्वव्रतपालनं, अस्यैव ग्रन्थस्य पंचमे सर्गे कौत्सस्य रघोश्च संवाद प्रभृतीनि कथानकानि भारतीयस्यार्यस्य आदर्शमेनं समर्थयन्ति । अभिज्ञानशाकुन्तले दुष्यन्तेन शकुन्तलायाः सखीनां पुरतः प्रतिज्ञातम् ।

परिग्रहबहुत्वेऽपि द्वे प्रतिष्ठे कुलस्य नः ।
समुद्ररसना चोर्वी सखी च युवयोरियम् ।।

चतुर्थस्याङ्कस्य प्रस्तावनानुसारं दुर्वाससः शापेन दुष्यन्तः शकुन्तलाप्रणयकथां विस्मरति, तथापि राजधानीमागत्य प्रतिहतायामपि स्मृतौ अनवहित एव स्ववचनं पालयति । तथाहि पंचमस्याङ्कस्य प्रारंभ एव हंसपदिकाया गीतव्याजेन दुष्यन्तं प्रति राजमहिष्या वसुमत्या उपालम्भो द्रष्टव्यः :

अहिणवमहुलोलुवो तुवं तह परिचुम्बिअ चूअमंजरि ।
कमलवसइमेत्तणिव्वुओ महुअर विह्मारिओसि णं कहं ।।
(अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूतमंजरीम् ।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम् ।।)

एवमेव मालविकाग्निमित्रे राज्ञोऽग्निमित्रस्य राजमहिषी धारिणीदेवी मालविकां प्रतिजानाति :—

"त्वं तावत् तपनीयाशोकस्य दोहदं निर्वर्त्तय। यदि स पंचरात्राभ्यन्तरे कुसुमं दर्शयति ततस्तुभ्यमभिलाषपूरयितृकं प्रसादं दास्यामीति।" अनन्तरं विज्ञायापि मालविकाया अग्निमित्रविषयकं प्रणयरहस्यं राजमहिषी स्ववचनपूर्तौ न लेशमपि विचिकित्सते, भवति च परिणीता मालविका सहाग्निमित्रेण।

अहिंसाप्रमुखै जैनसम्प्रदायस्य सिद्धान्तैः देशोऽयं निर्भरं प्रभावितोऽभूत्। निश्चितमेव भारतस्य पश्चिमो भागोपि, यत्र विद्वद्भिः कालिदासस्य वसतिः स्वीकृता, "अहिंसा परमोधर्मः" इति सिद्धान्तेन पूर्णतया प्रभावितोऽभूत। महाकविः कालिदासोऽपि सिद्धान्तेनानेन प्रभावितमात्मानं कुमारसंभवे दर्शयति। तथा हि ग्रन्थस्यास्य तृतीयसर्गस्य विंशतितमे श्लोके इन्द्रस्य मदनं प्रत्युक्तिर्द्रष्टव्या :—

सुराः समभ्यर्थयितार एते
कार्यं त्रयाणामपि विष्टपानाम्।
चापेन ते कर्म न चातिहिंस्रम्
अहो वतासि स्पृहणीयवीर्यः॥

रघुवंशस्य सप्तमे सर्गेऽपि रक्तपातं विनैव विजयस्यादर्शं प्रतिष्ठापयन् कविः अजविजयं वर्णयति, यत्राजेन संमोहनास्त्रस्य प्रयोगं कृत्वा रक्तपातं विनैव वैरिणो विजिताः। एवमेवान्यत्रापि कालिदासकृतिषु अहिंसाया आदर्शः प्रतिपादितः समर्थितश्चास्ति।

सत्येन अहिंसया सहैव त्यागस्यापि आदर्शो देशेऽस्मिन् विपुलां प्रतिष्ठामलभत। अत्रापि वयं कालिदासस्य आदर्शभारतीयतां पश्यामः। तथा हि रघुवंशस्य प्रथमे सर्गे महाकविः इक्ष्वाकुनरेशान् वर्णयति :—

"प्रजायै गृहमेधिनाम्" "वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्" इत्यादि। रघुवंशस्य चतुर्थे सर्गे रघुर्हि महेन्द्रनरेशं विजित्य तत्साम्राज्यं तस्मा एवं प्रत्यर्पयति। महाकवेरस्य कृतिषु न कुत्रापि साम्राज्यविस्तारेच्छया विजयो दृश्यते। विजयानन्तरं दिग्विजयी रघुः स्वपुत्रमजं राजसिंहासनेऽभिषिच्य स्वयं परिव्रजति। रघुवंशस्य प्रथमे सर्गे "यशसे विजिगीषूणामित्यादर्शोऽपि भारतीयनृपाणां निर्भरां त्यागवृत्तिमेव समर्थयति। राजमहिष्या धारिण्यास्त्यागादर्शस्तु पूर्वमेव वर्णितः। राजमहिषी ह्यत्र पुरूरवसमुर्वश्या सङ्गमय्य स्वकीयमपूर्वमौदार्यं त्यागं च प्रदर्शयति। अभिज्ञानशाकुन्तलस्य सप्तमेऽङ्के, यत्र महर्षेर्मारीचस्याश्रमे दुष्यन्तस्य शकुन्तलया पुनर्मेलनं वर्णितमस्ति, श्लोकेनैकेन कविः

दुष्यन्तमुखात् तदाश्रमवर्तिनां तपस्विनां वृत्तिमादर्शं च समुपस्थापयति :—

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये कांचनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी।

कुमारसंभवे तपस्विना शिवेन पार्वत्याः परिचर्यास्वीकरणं समर्थयता महाकविनोक्तम् :

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः'

स्वकीयं सर्वातिशायि प्रबन्धमभिज्ञानशाकुन्तलमुपसंहरतो महाकवेर्भरतवाक्यं तस्य चरमामाकांक्षामस्मत् समक्षमुपस्थापयति :—

"प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः
सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्।
ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ।।

पृथिव्यां प्रतिष्ठितेषु सर्वेषु देशेषु मूर्धन्यभूतस्यास्माकं महतो देशस्य भारतस्य संस्कृतेः सभ्यतायाश्च वास्तविकं प्रातिनिध्यं कुर्वतोऽस्य महाकवेर्वाणी, भारतीयानामन्येषां च हृदि स्नेहं सद्भावमैक्यमौदर्यञ्च प्रकटयतु येन मिथ्याचारस्य लोभस्य अनुदिनं वर्धमानस्य भेदभावस्य, द्वेषस्य च विनाशः स्यादिति भगवन्तं महाकालेश्वरं संप्रार्थ्य महाकवये स्वीयं श्रद्धांजलिं समर्प्य विरमामि।
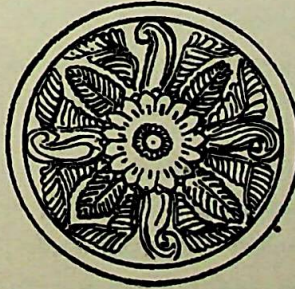
भारत धर्म-प्रचारक-मण्डलम्
लुधियाना (पंजाब) संस्थया समायोजितस्य
अखिल-भारतीय गीता-महा-सम्मेलनस्य
उद्घाटन-भाषणम्

मान्याः !

सुधाह्लादावगाहिनः परिषत्पतयः सज्जानाश्च ! भारतधर्मप्रचारक मण्डलेन समायोजितस्य पुण्यमयस्यास्यमहासम्मेलनस्योद्घाटनावसरं प्राप्य भृशमनुगृहीतोऽस्मि ।

भारतमिदं धर्म प्राणम् । यथा तेजः अनुष्णं, जलं वा अशीतं क्षणमपि आत्मनः अस्तित्वं साधयितुं क्षमं न भवति, तथैव इदमपि भारतवर्षं धर्मं विना क्षणमपि स्वकीयमस्तित्वं रक्षितुं न क्षममिति निश्चप्रचम् । अतो मण्डलेनानेन क्रियमाणमिदं धर्म प्रचारकार्यं स्थाने ।

धारणाद्धर्ममित्याहुः
धर्मोधारयते प्रजाः ।
धर्मो रक्षति रक्षितः ।
यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धि स धर्मः
अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ।
इत्याद्यनन्तवचनैः स्वरूपतः
सप्रयोजनत्वेन च ज्ञानोऽपि धर्मः ।
ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष नच कश्चिच्छृणोति मे,
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ।

इत्यनु सन्दधतांचिरादुपेक्षित इवाभाति ।

अतस्तत्प्रचार कार्ये वास्तविकतत्स्वरूपपरिज्ञाने च जननीव साहाय्यं कुर्वन्ती गंगेव स्मृतापि गीता तमोपहारिणी मनोहारिणी च वरीवर्ति । मन्ये मण्डलमिदं गीता-सम्मेलनमप्यायोजयत न केवलं स्वकीयं कर्त्तव्यं पालयति, प्रत्युत भारतीयानामस्माकं समुद्बोधनाय किमपि रमणीयं परमानन्दावाप्ति साधनमपि पुरः समुपस्थापयति ।

इदन्तु जानन्त्येव भवन्तो यन्मानवमस्तिष्कं स्वर्ग-नरकयोः एकमात्रं विद्यते साधनमिति ।

भारतीय मनीषिणां मार्मिको ऽयमुद्‌गारः चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय, वहति पापाय च इति ।

अर्थात् चित्तनदी गंगाऽपि विद्यते, मागधी कर्मनाशापि च । अस्याः स्वाभाविकः प्रवाहः संसारोन्मुखः । इमं प्रवृत्ति-प्रवाहं निवृत्तिपथं नेतुं विपरीता दिशः ऊर्ध्वरेतसो महर्षयः प्रादर्शयन् । नैसर्गिक प्रवाहस्य रोधः विपरीत-दिक् परिवर्तनं च सरलं कार्यं नास्ति । नदी विकरालं रूपं धत्ते, यस्याः सन्तरणाय भगवान् वेदः सततमस्मान् चेतयति—
"अश्मन्वती हीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः" (ऋ० वे० १०।५३।८)
अर्थात्—हे मित्राणि ! उत्तिष्ठत तथा सतर्को भूत्वा पाषाणमयीं प्रलयंकरीं वेगवतीं नदीं सन्तरतेति ।

अस्या बन्धो भग्नो भवितुं शक्नोति । संकटावस्था आगन्तुं शक्नोति । नाविकः विह्वलो भूत्वा—

'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' ।

इत्यस्य भाजनं भवितुं शक्नोति । संसारिणामस्माकं वस्तुस्थितिं चारु ब्रूते श्लोक-रत्नमिदम्—

"कुरंग मातंग मतंग भृंग—
मीना हताः पंचभिरेव पंच ।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यतां,
यः सेवते पंचभिरेव पंच ।।"

इमामध्यात्म विद्यां प्रतिपादयन्त्याः साक्षात् सच्चिदानन्द-श्रीकृष्णचन्द्र मुखार-विन्द-विनिर्गतायाः श्रीमद् भगवद्‌गीतायाः प्रयोजनं सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरमात्मकं परं निःश्रेयसमेव वरीवर्तीति विदन्त्येव भवन्तः ।

अज्ञानम् अज्ञानजन्य संसारश्च दुःखमुच्यते । अतः जन्म-मरण प्रवाहात्मक संसारस्य निवृत्तिरभीष्टा, परन्तु आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिः दुःखकारणस्य अज्ञानस्य निवृत्तिं विना न सम्भवति । निवृत्तस्य पुनरनुत्पादएव हि आत्यन्तिक-शब्दार्थः ।

ज्वरादीनि दुःखानि हि भेषज्यादिभिः निवर्तन्ते पुनरुत्पद्यन्ते च, इति न तैस्तेषां निवृत्तिरात्यन्तिकी ।

इत्थं कर्मोपासना ज्ञानमिति काण्डत्रयात्मिकाया गीतायाः समूल संसार वृक्षोच्छेदः प्रयोजनमिति मन्यामहे ।

अष्टादशाध्याय्या अस्याः प्रतिषडध्यायमेकैकं काण्डं लक्ष्यते। प्रथमे अन्तिमे च षट्के कर्मणो ज्ञानस्य च निरूपणं विद्यते। मिथोऽत्यन्त विरुद्धयोः कर्मज्ञानयोः समुच्चयो न सम्भवतीति मध्यमे षट्के भक्तिरूपासनात्मावर्णिता।

त्रयाणामेषां क्रमानुसारि-निरूपणस्येदं रहस्यम्। कुपितफणि फणच्छायामिव सुखद्योतिकां विजानतां दुःखत्रयदन्दह्यमान-मानसानां कृते नान्यत् तत्वज्ञानात्परं किमपि आत्यन्तिक दुःखत्रयनिवृत्ते ? साधनम्। तत्त्वज्ञानं चेत्थं संजायते। मुमुक्षुर्जीवः काम्य-निषिद्ध-कर्मणोः परित्यागपुरस्सरं निष्काम कर्मानुतिष्ठति। तेन च कर्मणा पापानि क्षीयन्ते, ततो विशुद्धे चित्ते भवति विवेकोदयः। संजाते ज विवेके क्रमशो भक्तिरूपजायते। भक्त्या प्रसादितेश्वराज्जोवाद् भगवतः परम-करुणया वैनतेयात् पन्नगा इव प्रत्यूहाः दूरतः पलायन्ते। ततः सर्व दोष विनिर्मुक्ते चित्ते वैराग्यमुपजायते, वैराग्यमुपगतस्य च ब्रह्मा-स्मीत्यादि महावाक्येन तत्त्वज्ञानोदयः। उदिते तत्त्वज्ञाने अविद्याया निवृत्तिः, ततो दुःखा-त्यन्त निवृत्तिरूपा मुक्तिरूप जायते। अतएव गीतायां प्रथमं कर्म मध्ये भक्तिमुपासनारूपां निरूप्यान्ते ज्ञानं न्यरूपयद् भगवान्।

गीताया व्याख्यानं रुचीनां वैचित्र्याद् अद्वैत-द्वैत-प्रभृतिवादिभिर्नाना कृतमिति जानन्त्येव भवन्तः। तेषु च व्याख्यानेषु वा प्रायः कर्मयोगः, भक्तियोगः ज्ञानयोगश्चेति त्रयो योगा निरूपिताः सन्तिः। तेषु कः योग शब्दार्थ इति जिज्ञास्यमानेन मयाझटित्येव विज्ञानं यद् योग शब्दार्थ उपाय इति। यतः कर्मोपासना-ज्ञानेषु प्रत्येकमपि भगवत्प्राप्तेरुपायः।

अत गीता सुधासु निमज्जतो मे स्फूर्तिजाता यद् योग शब्दार्थ स्त्रिषुनेकः प्रत्युत भिन्नः। 'योगः कर्मसु कौशलम्' इत्यनेन कर्मयोगे फल सम्बन्ध परिहार कुशलता योग शब्दार्थः। भक्तियोगे युनक्तीति व्युत्पत्या भगवत्सामीप्यादि प्रापको योग शब्दार्थः। तदुक्तं भगवता—

'ये भजन्ति तु मां भक्त्या,
मयि ते तेषु चाप्यहम्।'

ज्ञान योगे समता योग-शब्दार्थः। तदुक्तं भगवता—'समत्वं योग उच्यते' इति।

वस्तुतो ज्ञान समतैव गीतायाः प्रतिपाद्यं भवत्यस्माकमद्वैतवादे निरतिशय निष्ठा-वतां मते। अतएव—"विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।" इत्याह भगवान्। अत्र 'समदर्शिनः' इत्यस्य समान व्यवहारवन्तः इत्यर्थं केचन कुर्वन्ति, नैतदस्माकमभिमतं, किन्तु सर्वत्र भावैक्यमेव समदर्शिता, न तु-व्यवहारैक्यम्।

व्यवहारैक्य वादिनां तु जननी, दारा, भगिनी, प्रभृतिषु व्यवहारैक्ये महदनर्थ-मापद्यते।

कर्मयोगे कर्मपदेन न केवलं यागादिकं कर्म ग्राह्यं, प्रत्युत व्यावहारिकं सर्वमेव कर्म । यो यत्र कर्मणि भगवता नियोजितः तस्य तस्मिन्नेव कर्मणिफलसम्बन्ध-परिहारात्मा कुशलता योगः । तदुक्तं भगवता—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म फलहेतुर्भूमाते संगोऽस्त्वकर्मणि ।।
'आपूर्य माणमचल प्रतिष्ठं,
समुद्रमापः प्रविशन्तियत्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्ति माप्नोति न काम कामी ।'

तत्त्वमिदं यत् स्वक्षात्रं युद्ध-कर्म विहाय भैक्ष्य कर्म श्रेयो विजानन्तं पार्थं प्रति स्वकर्मणि एनं प्रवर्तयितुमेव गीतामुपदिदेश भगवान् इति तथ्यमनुसन्दधतो मे द्रागेव पुरस्फुरति । उक्तं च भगवता—

"नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत् ।"

जगद्गुरुः श्रीशंकराचार्यो प्याह—

"आत्मात्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम् ।
पूजाते विषयोपभोग रचना निद्रासमाधिस्थितिः ।।
संचारः पदयोः प्रदक्षिण विधिः स्तोत्राणि सर्वागिरो ।
यद्यत् कर्म करोमि ततदखिलं शम्भो ! तवाराधनम् ।।"
सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भाहि दोषेण धूमेनाग्नि रिवावृताः ।।
तमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यति शाश्वतम् ।।
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।।

इतीदमेव गीताया हृदयं प्रतिभाति। अत्र न केवलं सर्वे दार्शनिका विचाराः प्रतिपादिताः सन्ति, प्रत्युत लोक जीवनोपाया विश्वबन्धुत्व प्रभृतयः सिद्धान्ता अपि मंजु विवेचिताः सन्ति ।

बुद्धप्रभृतयोमहात्मानोप्येनामाश्रतिवन्तः इति लोकमान्य तिलक प्रभृतयः स्व-स्व-

गीता व्याख्यासु निपुणं प्रत्यपादयन् ।

अतएव सम्प्रदाय विशेषैरनाक्रान्ताया अस्या न केवलं स्वदेश स्वधर्मे एव प्रत्युत विश्वस्मिन् विश्वे निरुपमः समादरो दरीदृश्यते । मन्ये नास्तीदृशी भाषा यस्यां न भवेदस्या भारतीय दर्शन शास्त्र परिणतेरनुवादः ।

इदमेव सत्यमनुसन्धाय जेगीयते—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुख पद्माद् विनिःसृता ।।

इत्यादि पुण्यैः स्मरणैरात्मानं गीता-गौरव-गानेन कृतार्थयन्नहं तत्र भवतां भवता- मादेशमनुसृत्य महा सम्मेलनमिदमुद्घाटयामि । धन्यवादाः ।
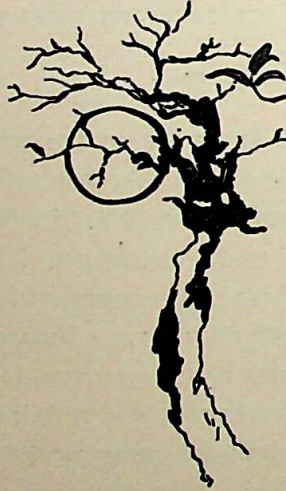
गौरवमयी जननी

छः स्नातकों का परिवार—महामहोपाध्याय डा० सर गंगानाथ झा और उनके पाँचों पुत्र,
दाहिनी ओर खड़े हुए डा० आदित्यनाथ झा
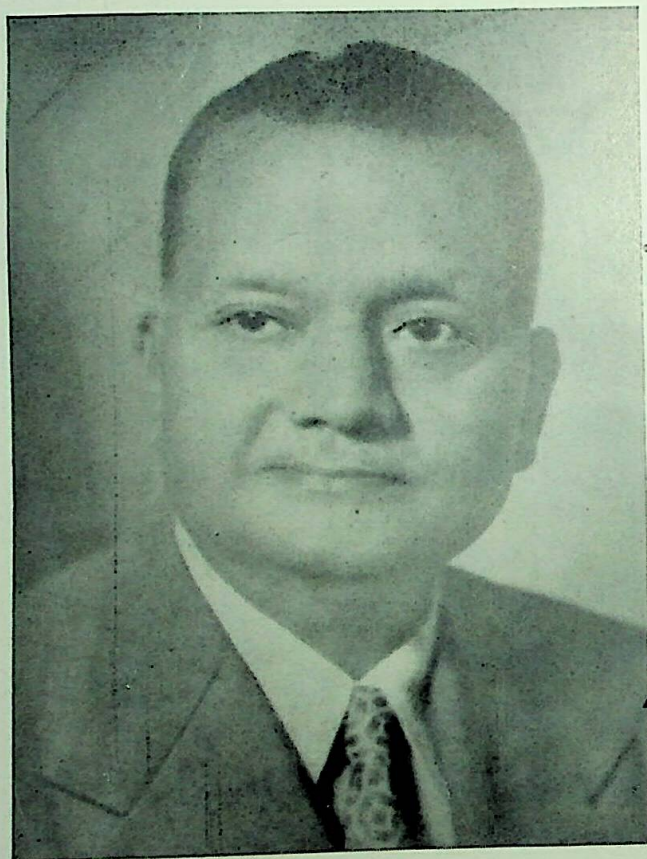
ज्येष्ठ भ्राता स्वर्गीय डा० अमरनाथ झा
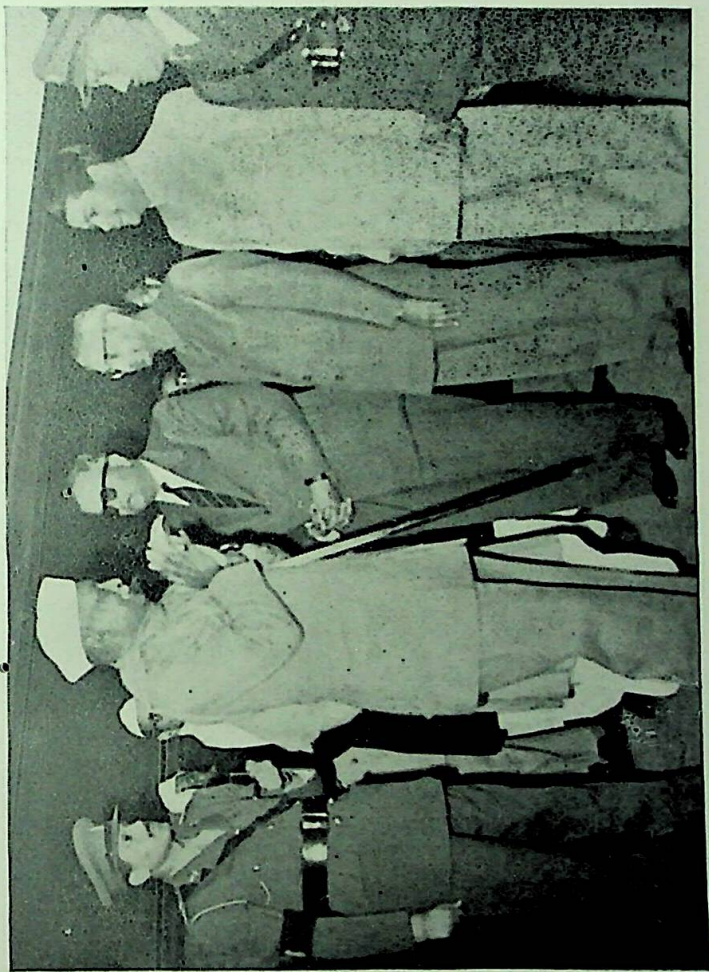
उत्तरप्रदेश के मुख्य-सचिव के नाते भारत गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद का स्वागत करते हुए
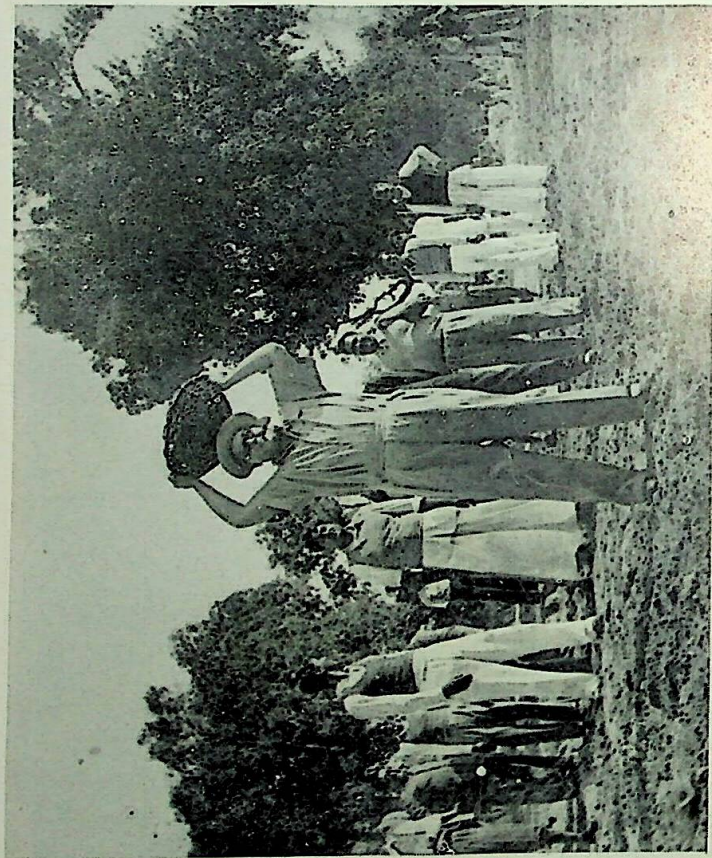
उत्तरप्रदेश के मुख्य सचिव—श्रमदान करते हुए (१९५३ ई०)

सूचना एवं प्रसारण सचिव के नाते—१००० किलोवाट, मिडियम वेव ट्रांसमीटर के लिए समझौता के समय भारत-सोवियत दल के मध्य में
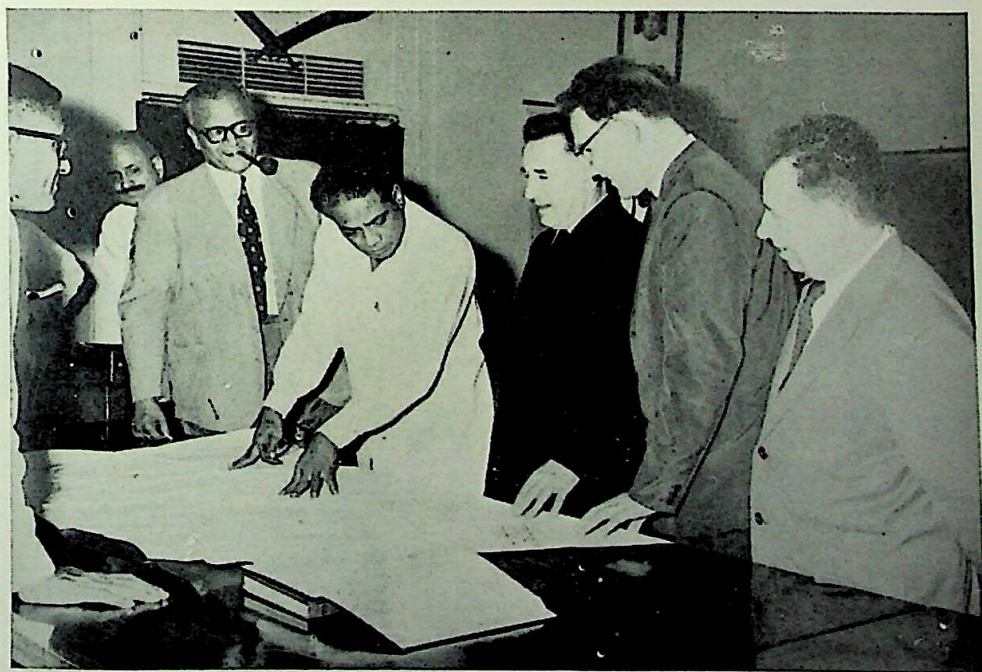
रक्षा-उत्पादन मंत्रालय के सचिव के रूप में सोवियत शिष्टमण्डल के साथ (१९६४ ई०)
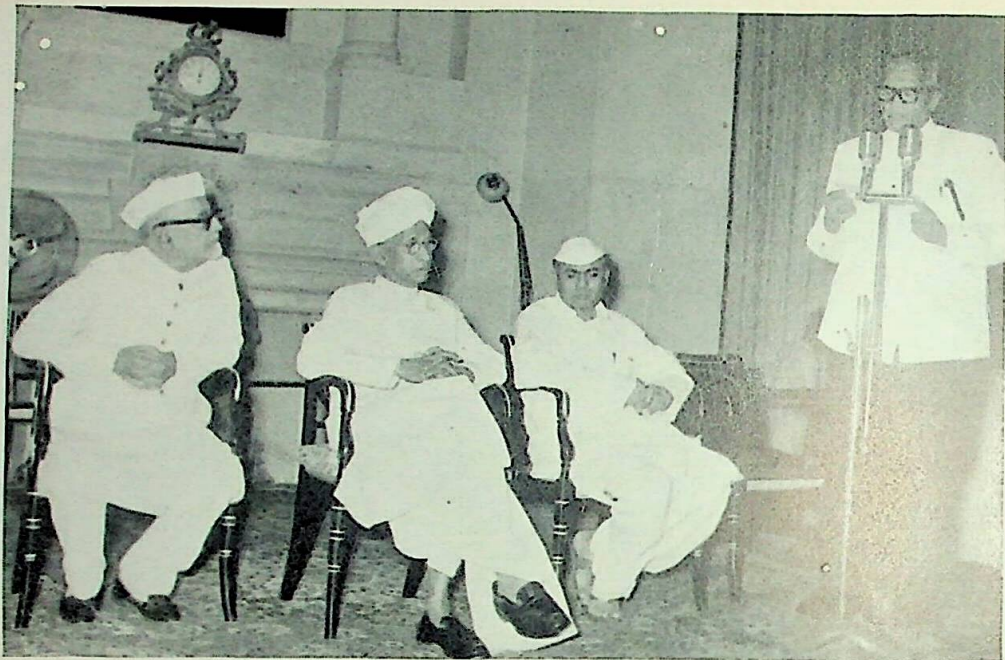
अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन की ओर से राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् के राष्ट्रपति पद से अवकाश ग्रहण करने के समय विदाई समारोह में भाषण देते हुए
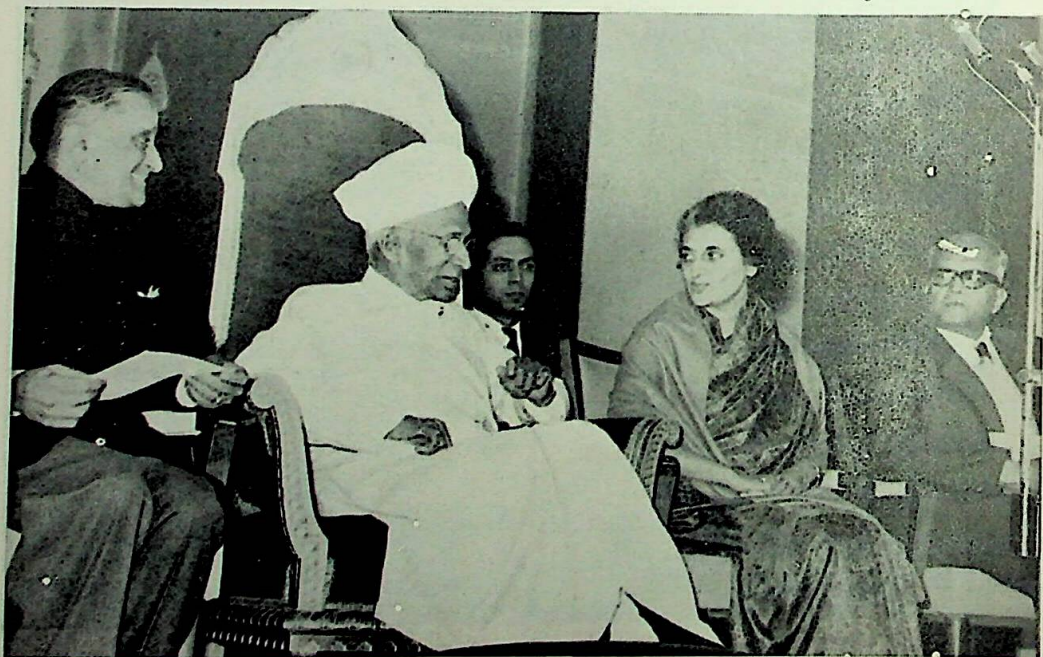
अन्तरराष्ट्रीय फिल्म समारोह के उद्घाटन के अवसर पर राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् तथा तत्कालीन सूचना और प्रसारण मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के साथ
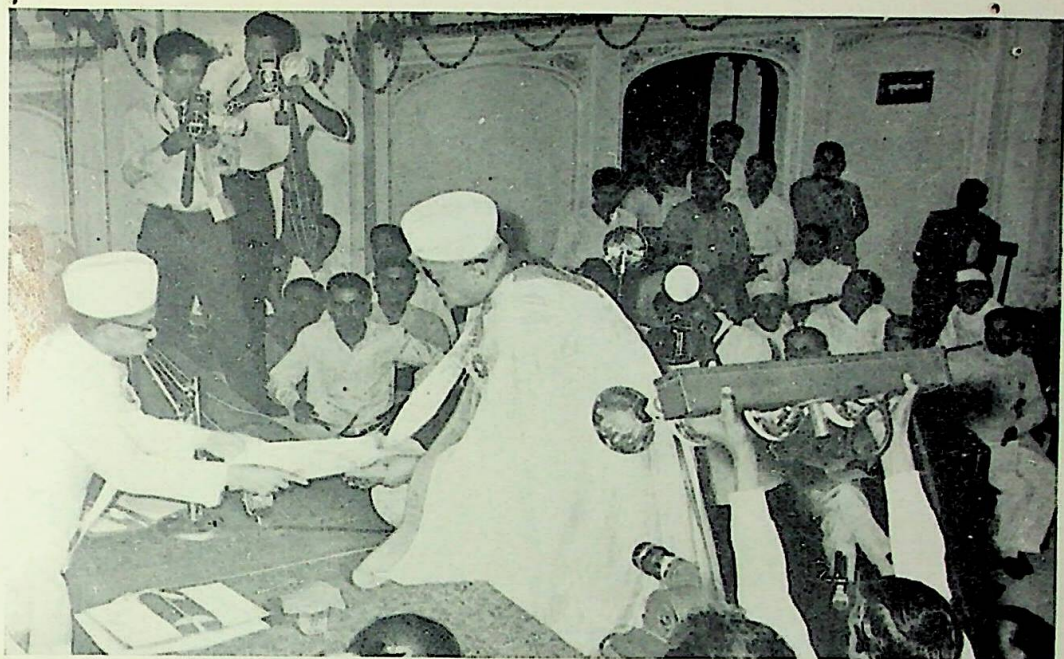
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से सम्मान ग्रहण करते हुए

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में—बायें से दूसरे डा० आदित्यनाथ झा

प्रसिद्ध कलाकार असित कुमार हल्दार के साथ

अन्तरराष्ट्रीय कुश्ती प्रतियोगिता में विजयी भारतीय पहलवान श्री विश्वम्भरसिंह का उत्साह-वर्धन करते हुए (साथ में उनके निजी सचिव श्री लक्ष्मीनारायण सकलानी भी हैं।)
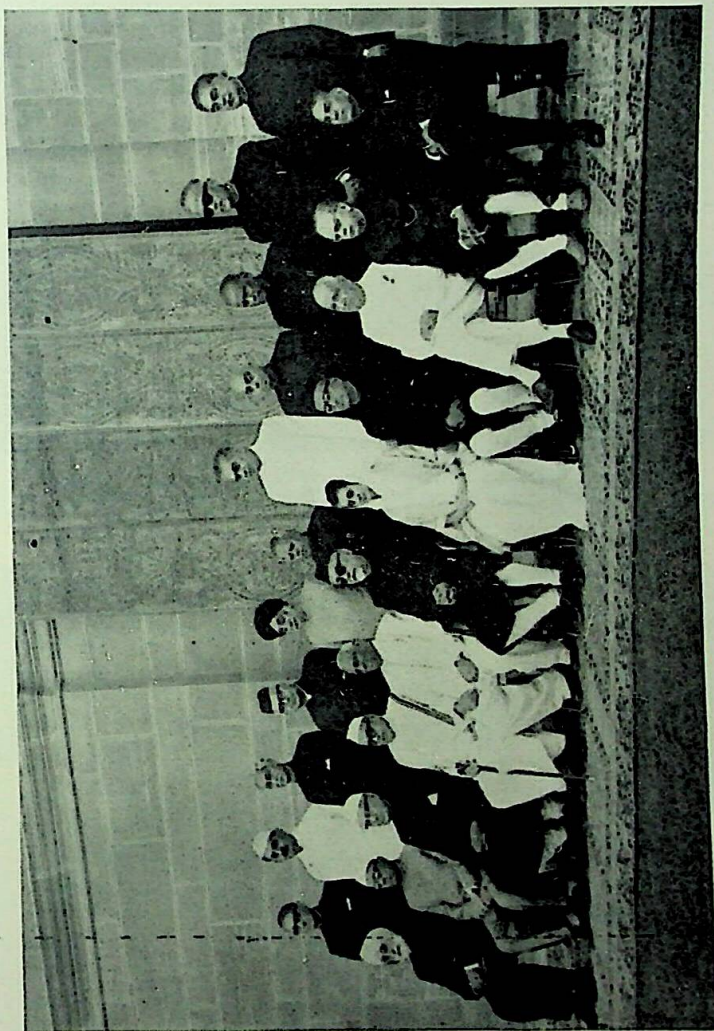
राज्यपाल-कान्फरेन्स में (१९६७ ई०)
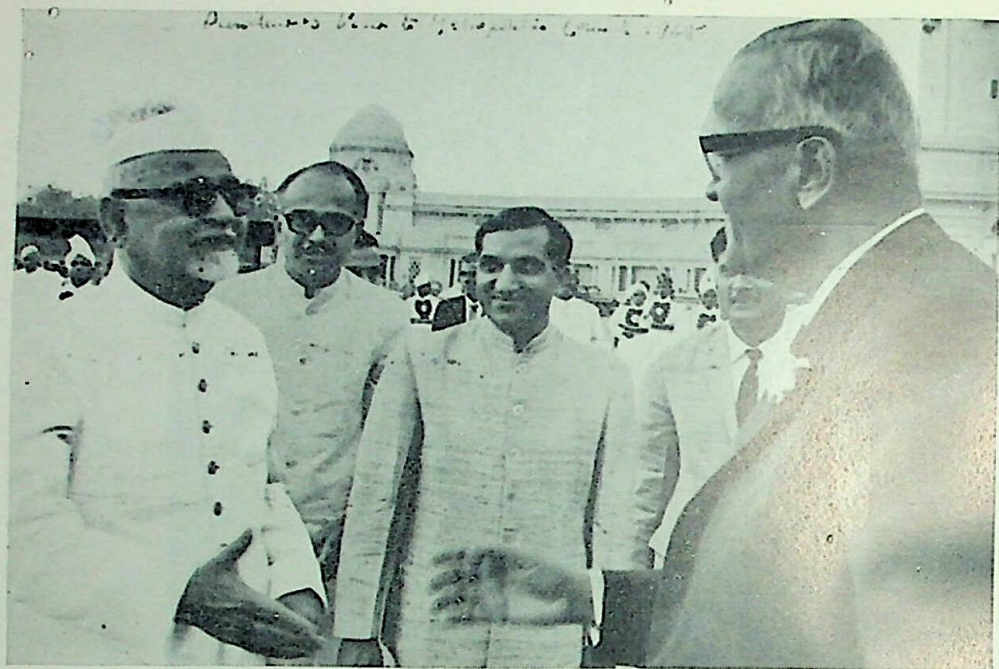
दिल्ली प्रदेश कार्यकारी परिषद् के साथ राष्ट्रपति डा० जाकिर हुसैन का स्वागत करते हुए
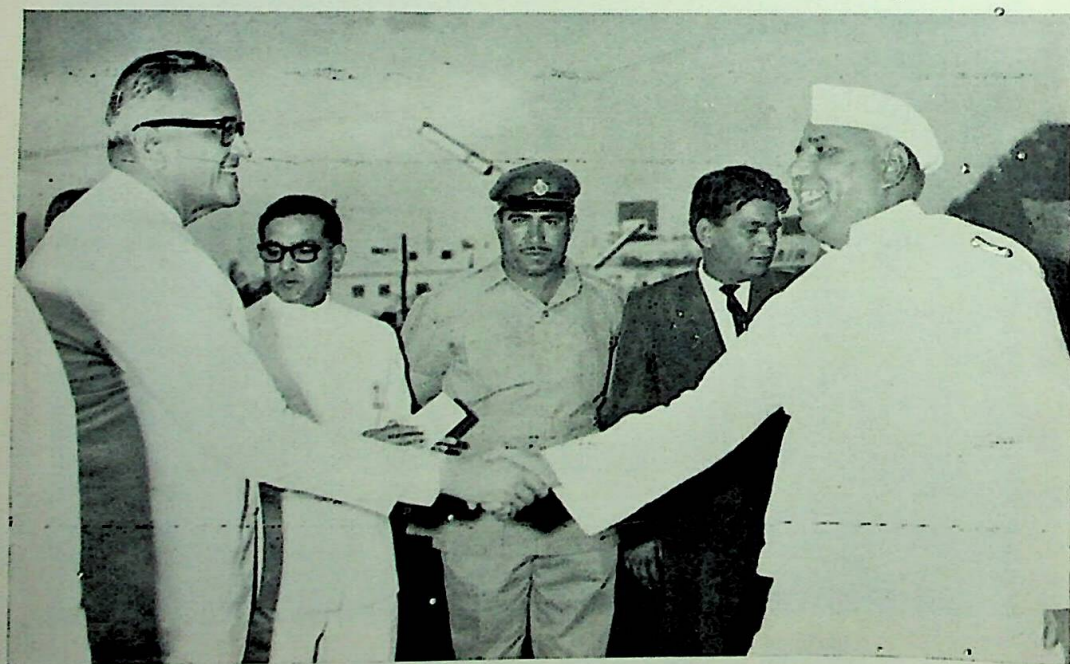
केन्द्रीय गृहमंत्री श्री यशवन्तराव चह्वाण का स्वागत करते हुए (१९६८ ई०)

उन्मुक्त हास्य में
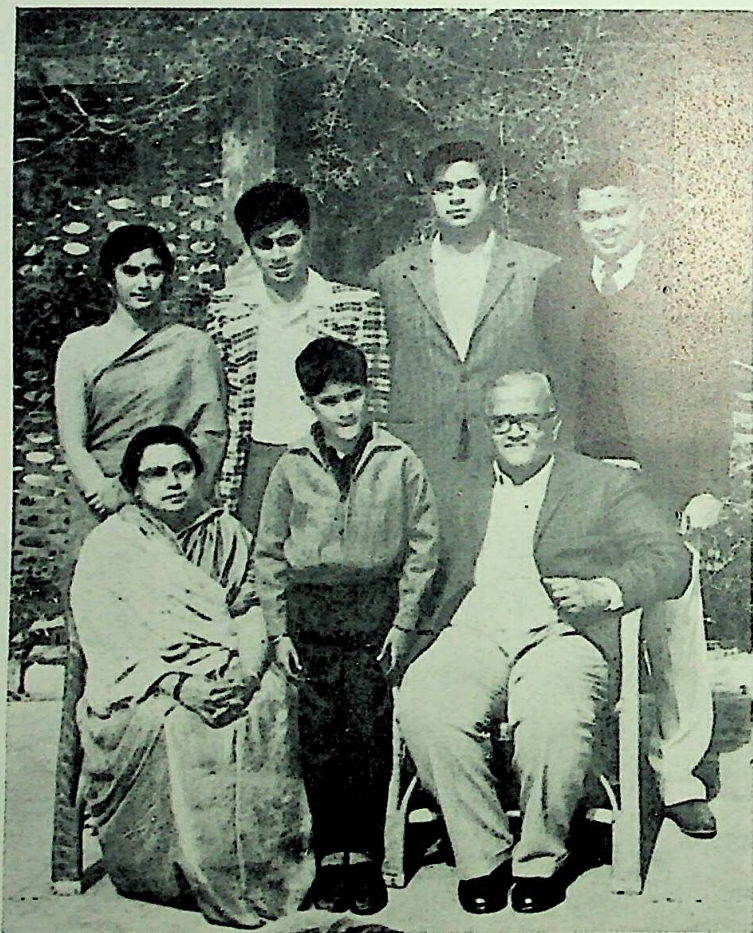
डॉ० झा अपने परिवार के बीच में

दफ़्तर में कार्य करते हुए

उपराज्यपाल का साप्ताहिक दरबार—दिल्ली निवासियों की बातें सुनते हुए

डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थः

अपराजिताशतकम्

श्रीरघुनाथशर्मा

घनरुद्धदुर्धरनिशाचरावलीकृतसंस्तुतिश्रवणहृष्टमानसा ।
रिपुदारदृग्द्रवदपारकज्जलप्लुतपादिका दिशतु मे जयं जया ।।१।।
घनशस्त्रसंप्रहरणव्यथाकथाकृतकीर्तिचन्दनललाटिका दिशाम् ।
रिपुदुर्यशोनिविडनीलशाटिकाः परिधापयत्वविनताऽपराजिता ।।२।।
घनदुर्मदव्यथितचित्तया यया दनुजावली दमनगोचरीकृता ।
अपराजिता मम रिपोः पराजयं विजयं च मे दिशतु सत्वरं जया ।।३।।
विजया करोतु मम मङ्गलं सदा दशमी दशा विशतु मामकं रिपुम् ।
मम सद्म संश्रयतु गीतकं सदा मम वैरिसद्म भजतां शिवागणः ।।४।।
गणनामतीतविपदोघवीचिकाभृशताडितो भजतु वैरिणां गणः ।
हिमवर्षभीषणतमःसमाकुलं कुलकन्यकाजनविवर्जितं जगत् ।।५।।
अपराजिते जननि ते विकस्वरं कमनीयकोकनदकान्तिधिक्परम् ।
नयनं विनीतयतु मे द्विषां गणं गणिकागणोपहसिताध्वदारकम् ।।६।।
रिपुकीकसप्रतिहतास्त्रटङ्कृतिप्रतिनादयन्त्यखिलदिङ्मुखानि सा ।
अपराजयं दिशतु मेऽपराजिता द्विषवृक्णवक्षसि समर्पिताङ्घ्रिका ।।७।।
गजयूथयूथपपदानि लीलया प्रतिगृह्य तैर्विनिहताखिलद्विषा ।
अपराजयं दिशतु मेऽपराजिता निजसंश्रितेषु करुणाकणाश्रिता ।।८।।
कलिकल्मषोत्थकलिवारणे परा वरवारणोद्धृतघटाम्बुभिः सुता ।
अपराजयं दिशतु मेऽपराजिता कलहंसशंसितगतिं समाश्रिता ।।९।।
गजमुद्गुजं सरथसारथिं हयान् युधि पत्तिसङ्घमविसह्यमोजसा ।
परिगृह्य या क्षिपति वक्त्रगह्वरे मम सत्वरं दिशतु सा जयं जया ।।१०।।
मम वैरिमानसमुपैतु संहतं परिमोहनं विधिषु भीषणं तमः ।
अपराजिते विजितवैरिवर्गके करुणामुदञ्चय समाश्रिते जने ।।११।।
विधिवन्दनीयपदपद्मगोयुगे विधिभालसल्लिपिविघट्टनापरे ।
गुणगौरि गौरि मम सीदतो मुखे करुणाप्लुतां दृशमुदञ्चयाम्बिके ।।१२।।

दनुजेरितेपुनिकरं निजायुधैर्विनिकृत्त्य कीर्तितनिजाभिधानया ।
यदु चेष्टितं समिति संस्मृतं शिवे तदु कर्म कारयतु मङ्गलं मया ॥१३॥
स्वजने सितं धवलचन्द्रसंनिभं दनुजेषु शोणितसमानवर्णकम् ।
दिविसत्सु संस्तुतिविकस्वरं शिवे वदनाम्बुजं तव दधातु मङ्गलम् ॥१४॥
दितिजावलीं युधि विजित्य लीलया दिविषत्सु भूतिमवधाय तद्धृताम् ।
जगतीविभूतिपरिवृद्धिकारणं मम विद्विषां दिशतु दारणं शिवा ॥१५॥
दिविसत्सु सत्सु विदधाति सन्नतिं दनुजेपुतद्विहतिसंविधायिनी
अपराजयं दिशति या पराजयं मम सा पराजयतु चण्डिका रिपून् ॥१६॥
दितिजान् विजित्य समरेऽक्षमावतो दिविसत्सु संदिशति या क्षमागुणान् ।
मुनिशक्तिसूनुनुतगौणगौरवा मम गौरवं दिशतु सत्वरं जया ॥१७॥
कृतकायकान्तिकमनीयताजुषो दितिजद्विषो विहितकर्मकान्तिका ।
विदधाति या विनयसंभृतश्रियो विजयं ममार्जयतु कान्तिरूर्जिता ॥१८॥
ग्रहगोलभासितविदूरदिक्तटां कटसंस्रवन्मददिशागजैः श्रिताम् ।
विचरद्विमानशतसंकुलां मुहुर्मम बुद्धिराश्रयतु मातरं दिवम् ॥१९॥
विचलद्विलोलवरवीचिवेल्लितः पयसां निधिः कटिविभूषणीकृतः ।
हिमविन्ध्यपर्वतयुगं यया कृतं कुचयुग्ममुद्दिशतु सा जयं जया ॥२०॥
धृतिरूपतोऽखिलमनोविधारणं विपदां निवारणमघौघतारणम् ।
ग्रहगोलभूमिभवगोलधारणं विधिरूपतो दिशतु मङ्गलं महः ॥२१॥
कुलकन्यकाजनसमर्चिताङ्घ्रिका कृतपादसंवरणसंवृतालका ।
मृदुभाषिणी सहजशीलशालिनी मम लज्जया दिशतु मङ्गलं जया ॥२२॥
गजगोकुलं वसु हिरण्यकं बहु प्रवितीर्य भूमिमथ सस्यशालिनीम् ।
विदधाति या परमपुष्टिमुष्टिका विपर्यीकृतां दिशतु सा जयं जया ॥२३॥
जयतादशेषतमसो विदारणं रविसूतमुद्गतमुपागतं मुहुः ।
द्विजदत्ततोयपरिसंगमस्फुरद्बहुवर्णकं विसृतमौपसं महः ॥२४॥
मथुरापुरीपरिसरं पुनानया परिसृप्य विन्ध्यवसतिर्यया श्रिता ।
वरवंशकंसनिधनाय दीक्षिता मम भिक्षिता दिशतु सार्यका जयम् ॥२५॥
दितिजार्द्रशोणितसमुक्षिताम्बिका विनिकृत्तदैत्यकरवृत्तकाञ्चिका ।
रिपुदारदारकमुखावलोकिनी करुणाकणं श्रयतु काऽपि चण्डिका ॥२६॥
अतिदूरदुर्गमदुरध्वदुर्गतिप्रतिषेधसिद्धकरुणार्णवाऽद्भुता ।
मम चित्तमाविशतु वित्तदायिनी शशिशेखरप्रणयपूर्णमानसा ॥२७॥
श्रुतिगर्भगीतमविगीतगौरवं दधती जनेषु जननी दयापरा ।
अनुरूपनिर्वचननामबोधिता मम योधितासुरगणा प्रसीदतु ॥२८॥

अरविन्दकेतनविभीतविश्वकृत् कृतसंस्तुतिश्रवणहृष्टमानसा ।
हरिहस्तकृत्तमधुकैटभासृजा परितर्पितावनिरुपैतु मे जया ॥२९॥
जगदम्बिके जननि ते पदाम्बुजं जडजीवजीवनविधानदीक्षितम् ।
मम मानसे वसतु निर्मले सदा परहंसवंशकमनीयकान्तिकम् ॥३०॥
परिभद्रकर्मपरिवर्द्धितश्रियो विदधाति या दितिजविद्विपः सुरान् ।
जगतः सुभद्रपरिवृद्धिकारणं मम भद्रिका दिशतु भद्रकं जया ॥३१॥
मदरक्तवक्त्रपरिचर्वितासुरा सुरसंस्तुतिश्रवणहृष्टमानसा ।
मम भद्रभाग्यपरिवृद्धिकारणं द्विपदारणं दिशतु भद्रकालिका ॥३२॥
परितो विसर्पदतिवेलवेल्लितव्यसनौघवारणपराक्रमोर्जिता ।
जयतादशेपपरिलब्धपालनप्रतिवेदिताखिलगुणा सदाऽम्बिका ॥३३॥
महिपासुरप्रमथनप्रसीदता प्रमथेशकेन मधुरं निरीक्षिता ।
मम भिक्षिता दिशतु भाग्यभूमिकाः परमेशभाग्यपरिणामिनी शिवा ॥३४॥
शयनीयशेपपरिमण्डलाश्रिता श्रुतकीर्तिताऽद्भुतकथं हरिं श्रिता ।
महनीयलोकमहिता महर्धिका मम विद्विपां दिशतु धिक्कृतिं शिवा ॥३५॥
रिपुसङ्घमुद्धतसुरंहसं प्रति प्रहितोग्रदूतमुखदिष्टवाचिका ।
शिवदूतिका विहतशत्रुसूतिका जयतादनाकृतिकरी द्विपां शिवा ॥३६॥
परमप्रचण्डरिपुचण्डमुद्धतं विनिकृत्तमुण्डमथमुण्डमुच्छ्रवाः ।
समितिञ्जयाऽहन् हतासुरद्विषं मम विद्विपो दहतु काऽपि कालिका ॥३७॥
चपला चलाऽचलविदारणादृता विशिखैर्विभीतरिपुवन्दिसंस्तुता ।
समरेऽमरध्वजिनिकामहाभयप्रतिघातिनी जयति काऽपि चण्डिका ॥३८॥
कृतशुम्भशुम्भमथनप्रहासिनी विहिते निशुम्भनिधने विकाशिनी ।
अभिधावदारहरणाय पाशिनी मम चित्तमाविशतु काऽपि शाकिनी ॥३९॥
शुचिशोणदृग्दशशतेन वीक्षितानसुरान् विशीर्णवरवारवाणकान् ।
विशिखैर्विमथ्य समरे सुरद्रुहो जयतादशेषसुरतोषिणी शिवा ॥४०॥
शतवार्षिकावनिविशोषविप्लुतप्रतिजन्तुजीवपरिपालनक्षमा ।
मुनिसंस्तुतिश्रुतिसमार्द्रया दृशा कृतशाकपालितजगत् प्रसीदतु ॥४१॥
अरुणासुरप्रमथनाय बिभ्रती भ्रमरावलीशतविभीषणं वपुः ।
मम मानसं श्रयतु काऽपि संस्मृता करुणाकरी करुणसंभृता शिवा ॥४२॥
भवनन्दिनन्दिवृषपृष्ठमाश्रिता वरशूलशूलितविपक्षपक्षिका ।
शिवशक्तिरासुरजयाय दीक्षिता मम शिक्षितासुरकुला प्रसीदतु ॥४३॥
परमं विधाय नरसिंहविग्रहं नखविक्षतासुरमहीशकीकसा ।
परिहृष्टकाशिपवगीतगाथिका सुरगाथकैर्नुतगुणा प्रसीदतु ॥४४॥

नखतुण्डखण्डितमहाहिमुण्डकप्रथितप्रभावविहगेन्द्रसंस्थिता ।
वरबाहुसंभृतगदासिचक्रका धृतशार्ङ्गिका दिशतु मे जयं जया ॥४५॥
दशनाग्रविधृतसशैलकाननावनिमण्डलेक्षितमहापराक्रमा ।
वरतुण्डखण्डितहिरण्यदृग्वपुर्मम मानसे वसतु कोलरूपिका ॥४६॥
जयतादशेषसुरतुष्टिकारणं भवपुष्टिहेतुरवनीविधारणम् ।
हुतहव्यभागनयनाय सत्वरं हुतभुक्प्रियापदनिवेदितं महः ॥४७॥
स्वधया ययाऽतिसुहिताः स्वधाभुजः परियन्ति पितृपरिपोषणे मतिम् ।
यजमानभूतिविभवादिकारणं द्विषदारणं दिशतु सा जयञ्जया ॥४८॥
परिपूतयज्ञजगतीषु धावतां धृतकच्छकं मतिमतां महर्त्विजाम् ।
महनीयशस्त्रपरिसंस्तुतिप्रथाकृतसंमदाऽवतु वषट्कृतिः शिवा ॥४९॥
सहसाऽप्सरोगणविशेषलीलया सहसा सुरेशगजगामिनी शिवा ।
मम मानसे वसतु नाकरूपिणी कृतनन्दनादिवसतिः परांम्बिका ॥५०॥
मम मन्दराद्रिपरिघूर्णनोच्चलत्पयसां निधेः पयस उद्गता सुधा ।
श्रयतान्मनो द्विजवितीर्णहव्यकप्रतिरूपिणी सुहितलेखिका शिवा ॥५१॥
कृतकादिविग्रहधरा पराक्षरा श्रितमात्रया विविधवाक्यरूपिणी ।
विदधाति या विधिनिषेधमुद्यता मम मानसं श्रयतु मातृका सदा ॥५२॥
लघुदीर्घसंप्लुतविभिन्नमात्रिकाश्रितवर्णवर्णितविभिन्नरूपिका ।
मम मानसे वसतु यूपरूपिणी लिखितप्रशस्तिवरधारिणी शिवा ॥५३॥
पदवाक्यमध्यभवमात्रिकाधिका मनसो जवेन निपुणं निरीक्षिता ।
मम विप्रकीर्णपदसन्धिकारणं द्विषदारणं दिशतु सत्वरं जया ॥५४॥
परजीवभेदमवधूय संस्थिता श्रुतिवाक्यवर्णितमहालयं श्रिता ।
सततप्रसर्पदसुघोषबोधिता जयतादभिन्नचितिरूपिणी शिवा ॥५५॥
द्विजदत्ततोयपरिपालितप्रभं रविमण्डलं श्रितवती सदा शिवा ।
जगतीस्थितिप्रभवकारणं परं मम मानसं श्रयतु शक्तिरद्भुता ॥५६॥
कृतबालपालनविशेषकीर्तिका कमनीयकान्तिरविमण्डलं श्रिता ।
रविषष्ठिका जयति तिग्मदीधितेः प्रलयावधिप्रकृतपुत्रपौत्रिका ॥५७॥
श्रितकामिनीकुलकलाभिरर्चिता रुधिराभचन्दनरसैः समुक्षिता ।
शिशुमारदुर्ग्रहदुरन्तकारिणी द्विषदारिणी दिशतु मे जयं जया ॥५८॥
प्रकृतिर्जगत्त्रयविभावने परा वरबुद्धिरम्बुजशयानसंस्फुरा ।
जडजीवविभ्रमविधानकारणं द्विषदारणं दिशतु सत्वरं जया ॥५९॥
सदसद्विवर्तविधितत्परा वरा चितिशक्तिरद्भुतभिदाभिदोज्झिता ।
सुरसङ्घशक्तिनिकरकरूपिणी जयतादशेषजगतीगता शिवा ॥६०॥

विधिविष्णुविश्वपतिवेदनोज्झितं परमं प्रभावमुपधाय संस्थिता ।
भवभूतये भवतु भव्यरूपिणी शमनाय चाशुभभयस्य चण्डिका ।।६१।।
सुकृतैकलभ्यपदपद्मया कृता परमा समृद्धिरसुरध्रगङ्गणे ।
असमृद्धिरासुरकुले कृतैनसि प्रथिता प्रसीदतु सदाऽऽर्यका जया ।।६२।।
कृतधीहृदब्जगहनेषु या मतिः सति पौरुषे परमशक्तिरूपिणी ।
कुलकन्यकाजनसमादृता त्रपा त्रसतां तनोतु रिपुतानवं जया ।।६३।।
अभिधानमानमतिगच्छदद्भुतं तव देवि रूपमपि वीर्यमश्रुतम् ।
चरितानि विस्मयकराणि ते मृधे मम मानसं परिपुनन्तु सत्त्वरम् ।।६४।।
प्रणते प्रसीदतु भवस्य कारणं त्रिगुणात्मिका गुणविभिन्नविग्रहा ।
सकलाश्रयाऽखिलजगत्स्वरूपिणी परिपातु पातुकभयात्पराम्बिका ।।६५।।
परमा जगत्प्रकृतिरादिवर्जिता परिभर्जितव्यसनवीजसंश्रिता ।
विधिसर्गसंविहितभूतपञ्चिका मम मञ्चिकां विशतु मानसीं शिवा ।।६६।।
गिरिजातनूजतनुमध्यविग्रहाऽऽग्रहशालिशीलदनुजेन्द्रदारिणी ।
मम वैरिदर्पमपहन्तु सत्वरं त्वरयाऽभिधावदरिवारिणी शिवा ।।६७।।
अवनीवनीगिरिसमन्विताऽमिता सततं दधाति जगदीशशक्तिका ।
जगतो भवस्थितिलयस्य कारणं द्विषदारणं दिशतु सत्वरं जया ।।६८।।
तपनोष्मतप्तमखिलं जगद् यया प्रविधीयते सरसमप्स्वरूपया ।
महनीयशक्तिरसुसर्जनोद्यता मयि जीवमर्पयतु जीववन्दिता ।।६९।।
दहनाश्रिता दहनशक्तिरद्भुता विधुमण्डले विविधशक्तिरूपिणी ।
रविमण्डलं श्रितवती सदाऽम्बिका मम कल्मषं दहतु तैजसी शिवा ।।७०।।
हृदि वातरूपमवधाय संस्थिता दिवि सर्वगोलकविधारणे परा ।
वरवंशहंसमिथुनं समाश्रिता जयताच्चतुर्मुखविभाविता शिवा ।।७१।।
कलिताखिला भवविभावने परा निविडान्धकारपरिभूतसंस्तवा ।
विदधाति याऽखिलविशेषमातृका मम मातृका भवतु सा पराम्बिका ।।७२।।
परमप्रसादमधिगम्य या भवोच्छेदभेदमधिकर्तुमीशिका ।
मम सम्मदं दिशतु सा पराम्बिका परसम्मदैकशरणं सदा शिवा ।।७३।।
परमा गतिः परमसंविदं श्रिता परमेण चापि तपसा समर्जिता ।
भवभूतशोकशमनी सदाशयं मम संश्रयत्वविनताऽपराजिता ।।७४।।
अतिरोषदोषपरिजोषशोषवन्निशितोग्रदन्तपरिदष्टदच्छदा ।
मम मानसं श्रयतु शत्रुसंहति प्रहतिप्रसाधितसुराङ्गना शिवा ।।७५।।
अयि भिन्नशत्रुगलसङ्कुलस्वनद्बहुलप्रधाररुधिरौघधायिनि ।
मम मानसे वस नितान्ततामसे महसा निजेन सहसा प्रकाशिनि ।।७६।।

अभिधाव धाव जय देवि सत्वरं मम सत्वरं जहि पराजये रिपुम् ।
अयि कालिके चलकपालकुण्डले करुणामुदञ्चय समाश्रिते जने ॥७७॥
गणगीतगौरवगुणे गणेश्वरप्रसवप्रसादितदितीजवैरिके ।
विजये यतस्व विजये ममाम्बिके कुलकन्यकाजनसमर्चिताङ्घ्रिके ॥७८॥
कृतकल्पकोटिविधिसर्गसम्भ्रमभ्रमदप्रशान्तमनसि श्रमाश्रिते ।
धृतपादिके दिश यमाय सत्वरं मम वैरिवर्गमुपसर्गमम्बिके ॥७९॥
कृतकालमेघवपुरस्त्रधारया परिपाविताखिलदितीजविग्रहा ।
मम विग्रहं हरतु दूरतः शिवा शिववक्षसि श्रिततडिद्गुणाम्बिका ॥८०॥
जय देवि भूमिधरवंशपावने प्रथितप्रभावपरिपूतदिक्तटे ।
कृतसर्गसंहरणताण्डवे शिवे जय जीव पालनसमुन्मुखे परे ॥८१॥
जय रक्तबीजवधविभ्यदामरप्रथमानभीतिपरिभञ्जनोद्यते ।
जयतात् किरातवपुरैशमाश्रिते जय शाम्भवि स्फुटितवंशविग्रहे ॥८२॥
अहिलासुरग्रहनिवारिविग्रहे ग्रहपातशातकपरासुविग्रहे ।
जय वैष्णवि प्रणतभीतिभञ्जिके जय पञ्चमञ्चसमुपाश्रिते शिवे ॥८३॥
जय नौनुवज्जनसुतानुसन्ततिप्रथने प्रसाधितपराक्रमाञ्चिते ।
जय कङ्कणाश्रितसुचारुदृक्शये जय वैरिवारणविदारिवीक्षिते ॥८४॥
जय कुण्डलीकृतकरालकार्मुके जय तोमरव्यसनवीतवैरिके ।
जय चन्द्रचामरसुचारुमूर्धजे जय तिग्मरश्मिवधुवह्निलोचने ॥८५॥
जय वीरवाललललनाशतावृते जय घोरवाशकशिवाभिसंस्तुते ।
जय रोषहुङ्कृतिनिवारितारिके जय पन्नगग्रथितमूर्धजे शिवे ॥८६॥
जय दृष्टिपातविनिपातितारिके जय दृष्टिपातपरिपालिताश्रिते ।
जय दृष्टिपातपरिहर्षितेशके जय दृष्टिपातकृतशक्तिसंस्तुते ॥८७॥
जय धूमधूम्रनिजमूर्धजावृते जय शत्रुशोणितसमुक्षिताम्बरे ।
जय मुण्डकुण्डलधरे परात्परे जय मुण्डकप्रतिसरप्रशोभिते ॥८८॥
जय विश्वसर्गकवलीक्रियाकृते जय कालिके प्रणतलोकपालिके ।
जय दग्धमारधृतनेमविग्रहे जय कार्तिकेयकृतसर्गशोभने ॥८९॥
जय माननोदनविनोदसन्नतप्रमथेशवन्दितपदारविन्दके ।
जय सङ्कुचत्सरसिजप्रभाभरप्रतिपन्थिपावनपदद्वयेऽम्बिके ॥९०॥
जय मादृशाज्ञजडजीनजीवनप्रतिभाविधानविसरद्यशःस्तवे ।
जय भक्तिभावभृतभक्तमानसप्ररुहत्पयोजनिभपादपावने ॥९१॥
जय देवि धाव जहि शात्रवानरं कुरु कल्मषप्रहतबान्धवानलम् ।
जय धेहि तेषु विपदोघभारकं प्रदिश त्वरस्व ननु तेषु मारकम् ॥९२॥

निशिताग्रशूलपरिशूलितानरं, कुरु तोमरग्रथितविग्रहानलम् ।
असिना विपाटितशरीरकानरं, गदया विपोथितकबन्धकानलम् ॥९३॥
कुरु शोणदृक्पतनपावितानरं, कुरु रोषहुङ्कृतिपराजितानलम् ।
कुरु अट्टहासविधिभीषितानरं, कुरु कान्दिशीककृतकर्षणानलम् ॥९४॥
कुरु काश्यपीकशिपुशायितानरं, कुरु काकतुण्डपरिखण्डितानलम् ।
कुरु जम्बुकीविकृतवक्त्रकानरं, कुरु वृद्धगृध्रपरिगर्धिकानलम् ॥९५॥
कुरु वासवाससविवर्जितानरं, कुरु गेहगेहपरियाचकानलम् ।
कुरु दीनदीनतरगर्हितानरं, कुरु पीनमीनकवलीकृतानलम् ॥९६॥
कुरु रोरुवत्तनयराविताnरं, कुरु दारदारकविमुक्तकानलम् ।
कुरु राजरोपपरिशोपितानरं, कुरुदैवदैवतविकर्शितानलम् ॥९७॥
जय चण्डिमण्डितनिजाश्रिताश्रये जय चण्डि खण्डितसुरारिशक्तिके ।
जय चण्डिदण्डितदलद्द्विपद्गणे जय चण्डिखण्डितपुरस्कृतस्तवे ॥९८॥
जय कालिके कृतकरालतालिके जय नृत्तवृत्तपरिवृत्तशालिके ।
जय भीतभक्तनिकुरम्बपालिके जय शस्त्रशस्तबहुशात्रवालिके ॥९९॥
जय धाव धावदरिवारवारिके श्रितभूमभूमिधरदारदारिके ।
जय पञ्जराश्रितकिशोरशारिके जय विद्विपद्दहरदेहदारिके ॥१००॥

इत्येतदाशुगं नाम स्तोत्रं परविदारणम् ।
यः पठेत् शतवारन्तु तस्य नश्यन्ति शत्रवः ॥१॥
एधन्ते संपदस्तस्य विपदो यान्ति सङ्क्षयम् ।
पुत्रपौत्रानुवृत्तिश्च यावदाचन्द्रतारकम् ॥२॥
परा विद्या परं ज्ञानं परमायुः परं यशः ।
परः प्रसादो मातुश्च सततं स्तुवतां नृणाम् ॥३॥

वेदस्वरूपविमर्शः

पूज्यस्वामिश्रीहरिहरानन्दसरस्वतीपादाः
प्रसिद्धकरपात्रस्वामिनः

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥"

इति सायणीयकृष्णयजुर्वेदभाष्यभूमिकोद्धृतप्रमाणोक्तरीत्या इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारयोरलौकिकोपायावेदकोऽपौरुषेयशब्दराशिर्वेदः । उञ्छादिगणीयान्तोदात्तवेदशब्दस्तु कुशमुष्टिवाचकत्वेन रूढः । वृषादिगणीयाद्युदात्तवेदशब्दस्तु पूर्वोक्तशब्दराशौ योगरूढः । स च मन्त्रब्राह्मणरूपः । 'मन्त्रब्राह्मणमित्याहुः' (बौधायन गृ० २।६२) 'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानि' (कौ० सू० १।३) 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आप० २४।१।३१) (का० प्रतिज्ञापरिशिष्टे १।१) जैमिनिरपि ब्राह्मणभागस्यापि वेदतां मन्यमानोऽपौरुषेयत्वाधिकरणे—'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या' इति सूत्रे एके नैयायिकादयो वेदान् सन्निकृष्टकालकृतान् मन्यन्ते यतस्ते पुरुषाणां कठकलापादीनां नाम्ना व्यवह्रियन्ते, इति सर्वस्य वेदभागस्य पौरुषेयत्वम् 'अनित्यदर्शनाच्च'। बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं०६।२) जननमरणवतामनित्यानां वर्णनदर्शनादनित्यत्वञ्चाशङ्क्यापौरुषेयत्वं नित्यत्वं चोत्तरैः सूत्रैः साधितवान् । तत्र 'बबरः प्रावाहणिरित्यादिब्राह्मणभागस्य यदि वेदत्वं नाभिमतं स्यात्तदा तत्सम्बन्धिशङ्कासमाधानं व्यर्थमेव स्यात् । अतएव पूर्वोत्तरमीमांसायां तद्भाष्यकारैः शबरशङ्करादिभिर्वार्तिककारैः, कुमारिलसुरेश्वरादिभिर्मन्वादिधर्मशास्त्रैः पुराणेतिहासादिभिश्च मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि भागयोर्वेदत्वं तादृग्वेदस्यापौरुषेयत्वं नित्यत्वञ्चाङ्गीकृतमिति, वेदप्रामाण्यमीमांसायां वेदस्वरूपप्रामाण्यनिरूपणपरे हिन्दीग्रन्थे च स्पष्टम् ।

पाश्चात्त्यास्तदनुयायिनो भारतीयाश्च यद्यपि वेदसाहित्यं सर्वापेक्षया प्राचीनं मन्यन्ते, तथापि तस्यापौरुषेयत्वं नित्यत्वमव्याहतप्रामाण्यञ्च नाङ्गीकुर्वन्ति, किन्तु तात्कालिकपरिस्थितिवर्णनपरमितिवृत्तोपयोगि मन्यन्ते । तत्तत्काले प्राकृतेषु पृथिव्यग्निसूर्यादितत्त्वेषु देवत्वमारोप्यार्यैर्या याः स्तुतयः प्रयुक्तास्ते मन्त्राः । तेषां सङ्ग्रहरूप ऋग्वेदः। गच्छति कस्मिंश्चित्काले तत्कुलीनैरेव महर्षिभिर्यजुर्वेदो रचितः । तदनन्तरम्ब्राह्मणभागानां निर्माणम् । तेषां निर्माणन्तु ईसवीयाब्दारम्भात् पूर्वं चतुःसहस्राब्दा-

नन्तरमेव इति तेषां मतसङ्ग्रहनिष्कर्षः। परं तदीयदृष्ट्यापि तन्न समीचीनम्, यतस्तैरेव इतः सहस्रद्वितयात्पूर्वं पतञ्जलिरासीदिति मन्यते। जैमिनिस्तु ततोऽपि प्राचीनः, ततोऽपि प्राचीनः कश्चिन्मीमांसाचार्य्यः काशकृत्स्निरासीत्। इति महाभाष्येण ज्ञायते "काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी" (पा० ४।१।१) पाणिनिसमकालेन कात्यायनेनापि स्वग्रन्थे काशकृत्स्निः स्मृतः—"सद्यस्त्वं काशकृत्स्नः" ४।३।१७। पाणिनिकालश्च तैरेव ईसवीयाव्दात्पूर्वं सप्तमी शती स्वीक्रियते। भारतीयैः कैश्चित् कलेरष्टम्यां शत्यां पाणिनिरासीदिति बहुभिः प्रमाणैः साधितम्। तथापि पाश्चात्यानां दृष्ट्यापि इतः सहस्रद्वितयाव्दात्पूर्वं काशकृत्स्निरासीदिति मन्तुं शक्यते। तेन च वेदकर्त्ता न श्रुतः। यदि ततः वर्षसहस्रात्पूर्वमपि वेदा रचिता अभविष्यन् कथन्नाम नास्मरिष्यन् तत्कर्तारं जनाः? किन्त्वपौरुषेयत्वमेव वेदानां मनुव्यासादिग्रन्थेषु प्रसिद्धमासीत्।

व्यासस्य युधिष्ठिरभीष्मादिसमकालत्वेनेतः पञ्चसहस्राव्दात् पूर्वमेव सत्त्वमभ्युपगन्तव्यम्। व्यासेन तु, 'अतएव च नित्यत्व'मिति सूत्रेण वेदानां नित्यत्वमपौरुषेयत्वञ्चोपगतम्। न च ब्रह्मसूत्रे बौद्धजैनखण्डनात्तत्कर्तुर्व्यासस्य बुद्धादर्वाचीनत्वं मन्तव्यमिति वाच्यम्, ब्रह्मसूत्रे गौतमबुद्धस्य नामानिर्देशेन तदर्वाचीनत्वानुपपत्तेः। बुद्धास्त्वनेके संजाता इति बौद्धजैनजातकेभ्यः स्पष्टमवगम्यते। लङ्कावतारसूत्रे तु रावणसमकालस्य रावणगुरोर्बुद्धस्य वर्णनमस्ति। एवमेव जैनागमेषु जैनसिद्धान्तस्याप्यतिप्राचीनत्वं वर्णितम्। तथा च तत्खण्डनेऽपि व्यासस्य गौतमबुद्धमहावीरादिभ्योऽर्वाचीनत्वन्न साधयितुं शक्यम्। मनुस्तु सृष्ट्यारम्भसमये प्रादुर्भूत इति। 'यद्वै मनुरवदत्तद्भेषजम्' इति श्रुतिस्मृत्यादिभिर्ज्ञायते। वेदस्य परमं प्रामाण्यं नित्यत्वञ्च सोऽप्यङ्गीकरोति। वेदेऽपि—'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इति वचनेन सृष्टिकर्त्तारं ब्रह्माणं परमेश्वरो विदधाति। तस्मै च वेदान् (नित्यसिद्धानेव) प्रहिणोति। ब्रह्मणो विधाताऽपि न वेदविधातेति स्पष्टं ज्ञायते। अतएव "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेद" इत्यादिना वेदस्य निःश्वासरूपत्वोक्त्याऽकृत्रिमत्वेन नित्यत्वमपौरुषेयत्वञ्च स्पष्टमुक्तम्।

कृष्णयजुःसंहितायाञ्च 'पूर्वे पूर्वेभ्यो वच एतदूचुः' इति रीत्या अविच्छिन्नाचार्यपारम्पर्य्यप्राप्त्या वेदलक्षणाया वाचोऽनादित्वमुक्तम्।

ऋग्वेदेऽपि 'तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया। वृष्णे चोदस्व सुष्टुति'मिति वेदलक्षणाया वाचो नित्यत्वमुक्तम्। जैमिनिरपि 'उक्तन्तु शब्दपूर्वत्व'मिति (१।१।२९) सूत्रेण गुरुपारम्पर्येणैव वेदानां प्राप्तिमभ्युपैति। भट्टपादोऽपि—

'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा'॥

(श्लोक वा० ३६६) इति तदेवाभ्युपैति।

ये नैयायिकादयः पौरुषेयत्वमप्यङ्गीकुर्वन्तीति तेऽपीश्वरकर्त्तृकत्वेन तत्प्राहुर्न जीवकर्त्तृकत्वेन ईश्वरश्च प्रतिकल्पं सृष्ट्यादौ वेदान् सृजति। तत्रापि यथा प्रतिकल्पं ब्रह्महत्यानर्थकरी वाजपेयराजसूयाश्वमेधादयश्च कल्याणकरा एव, तथैव वेदा अपि पूर्व-कल्पीयानुपूर्वीसदृशानुपूर्वीमत्त्वेन पूर्वकल्पसदृशा एवेति, न तन्मतेऽपि तेषामप्रामाण्य-शङ्का। मीमांसकरीत्या तु यद्यपि लौकिकशब्दसन्दर्भस्य कर्त्तुरुपलम्भात् पौरुषेयत्वमेव तथापि वेदेषु यत्नेनान्वेषणेऽपि कर्त्तुरनुपलम्भाद् गवादिशब्दानामिव कर्त्तुरभावनिश्चयेन वेद-वाक्यानामप्यपौरुषेयत्वमेवाङ्गीकर्त्तव्यम्। न चैतदसङ्गतमुत्सर्गस्य सापवादत्वेन दोषा-भावात्। यद्यपि जीर्णकूपादिकर्त्तुर्विस्मरणमुपपद्यते, तथापि गुणवृद्ध्यादिसंज्ञाकर्त्तुः पाणिन्यादेरिव वेदकर्त्तुरवश्यस्मर्त्तव्यत्वे सत्यपि स्मरणाभावेनासत्त्वमेव मन्तव्यम्।

नहि जीर्णकूपकर्त्तृस्मरणमन्तरा कूपव्यवहारो बाध्यते। अदेङादिषु गुणवृद्ध्या-दिव्यवहारस्तु पाणिन्यादिस्मरणमन्तरा नोपपद्यत एवातो न तत्र विस्मरणमुपपद्यते। तथैव वेदतदर्थानुष्ठानपारम्पर्यस्याविच्छेदेन तत्कर्त्तुः सत्त्वे तस्यावश्यस्मर्त्तव्यता स्यात्, तत्प्रामाण्यस्य तदाप्तत्वनिश्चयाधीनत्वात्। तथात्वेऽपि तदस्मरणात्कर्त्तुरभावेनापौरुषेयत्वं वेदानाम्।

यदि च विस्मरणमुपपद्येतापि तथापि प्रमाणमन्तरेण तत्कर्त्ता न सिद्ध्यत्येव। विद्यमानस्यानुपलम्भे सत्यपि यथा विना प्रमाणेन शशविषाणो न साधयितुं शक्येत तथैव वेदकर्त्ताऽपि प्रमाणमन्तरेण न साधयितुं शक्यः। अतएव पौरुषेयत्ववादिष्वपि कर्त्तृ-सम्बन्धे नैकमत्यम्। कैश्चिदीश्वरः कर्त्ता, कैश्चिद्धिरण्यगर्भः कैश्चिदृषयः कैश्चिद्भाण्ड-धूर्तनिशाचराः इति बहुधा विगानदर्शनात्। नहि भारतादिवत्सकर्त्तृकत्वनिश्चये तदुपपद्यते।

मुक्तकश्लोकानामस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वेऽपि सम्प्रदायविच्छेदान्नापौरुषेयत्वम्। सम्प्र-दायविच्छेदे सति अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वेन वेदानामपौरुषेयत्वमेव। नित्यत्वापौरुषेयत्वबोध-कानि प्रमाणानि तदेव साधयन्ति।

यद्यपि मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च बहूनामृषीणां राज्ञामन्येषाञ्च पुरुषविशेषाणां देशविशेषाणां गिरिनद्यादीनाञ्च नामानि चरितानि च श्रूयन्ते, तथापि न तैर्वेदानाम-नित्यत्वं पौरुषेयत्वञ्च सिद्ध्यति, तद्वर्णनस्याख्यायिकारूपत्वेन सुखावबोधार्थं पर्यव-सायित्वात्। यद्यपि लोके घटनापूर्वकस्तद्वृत्तोल्लेख इत्युत्सर्गः, तथापि वेदे न तथा, किन्तु शब्दपूर्विका घटना इत्यपवादः। जानाति, इच्छति, अथ करोति इति रीत्या ज्ञानेच्छा-पूर्वकत्वमेव सर्वकार्यणामिति, निश्चप्रचम्। तत एव कुलालोऽपि ज्ञात्वेच्छया घटं करोति। ज्ञानञ्च शब्दानुविद्धमेव—'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते' इति वाक्यपदीयोक्तेः। तथैव परमेश्वरस्यापि सृष्टिर्ज्ञानपूर्विका। ज्ञानञ्च शब्दानुविद्धम्। तथा च विश्वसृष्टिहेतुभूतेश्वरीयज्ञानानुविद्धशब्दविशेषाणामेव वेदत्वम्। तेषाञ्च

सृष्टेरपि प्राचीनता सुतरां सिद्धयति । अतएव—प्रजापतिरीश्वरो वा शब्दपूर्विकामेव सृष्टिं रचयति। 'स भूरिति व्याहरत्तस्माद् भुवमसृजत्, असृग्रमिति मनुष्यान्, इन्दव इति देवान्' 'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् । वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः" ।(विष्णु पु० ५।१।६२)इति श्रुतिस्मृतिभ्यः । तस्मान्नित्या श्रुतिरेव तत्तन्नामरूपधारिणी तत्तदाख्यायिकाभिस्तांस्तानर्थानवबोधयति । केचित्पुरुषाः केचिद्राजानः काश्चिद् घटनाश्च सृष्टेः शब्दपूर्वकत्वन्यायेन तदनुरूपा एव जायन्ते । न तु ते शब्दा घटनापूर्वकाः किन्तु घटना एव शब्दपूर्विकाः । अतएव प्रमाणान्तरसिद्धार्थाभिधायिका आख्यायिका अनुवादिन्यः, प्रमाणान्तराविरुद्धतदसिद्धार्थाभिधायिन्यस्तु भूतार्थवादिन्यः। तद्विरुद्धवादिन्यस्तु गुणवादिन्य एवेति । 'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते । भूतार्थवादस्तद्धानाःदित्यर्थवादत्रैविध्यमुत्तरमीमांसकैरभ्युपेयते ।

स चापौरुषेयो वेदश्चतुर्विधः—ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्च । तत्र छन्दोबद्धा मन्त्रा ऋचः । छन्दोहीना गद्यात्मका अर्थवशेन विभज्यमाना मन्त्राः यजुष्पदवाच्याः । ऋक्षु गीयमानो गानविशेषः सामपदाभिधेयः । छन्दोबद्धा ऋग्विशेषा एव अथर्वाङ्गिरसमन्त्राः । ऋङ्मन्त्राणां बाहुल्यं यस्मिन्वेदे स ऋग्वेदः । यजुषां प्राधान्यं यस्मिन् स यजुर्वेदः । साम्नां बाहुल्येनाम्नानं यस्मिन् स सामवेदः । एवमथर्वाङ्गिरसां मन्त्राणां यत्र बाहुल्यं स मन्त्रब्राह्मणात्मकः शब्दराशिरथर्ववेदः । ऋगादिशब्दैर्मन्त्रा एवाख्यायन्ते । ऋग्वेदादिशब्दैस्तु मन्त्रास्तद्ब्राह्मणसमुदायाश्च अभिधीयन्ते । अतएव 'महतो भूतस्य निःश्वसितं यदृग्वेदो यजुर्वेद'—इति ऋगादिभिः सार्धं पृथक् पृथक् वेदशब्दनिर्देशः । अन्यथा ऋग्यजुःसामवेदा इत्युच्येत । पृथक्त्वे तु ऋचां प्राधान्यं यस्मिन्निति मध्यमपदलोपिसमासविवक्षया मन्त्रब्राह्मणसमुदायस्य ग्रहणार्थमिष्यते प्रत्येकं वेदशब्दप्रयोगः । अतएव पूर्वमीमांसायां द्वितीयाध्याये तृतीये पादे विचारितम्, 'उच्चैः ऋचा क्रियते, उपांशु यजुषा, उच्चैः साम्ना, (ऐ० ब्रा० ५।५।५) इत्यादिवाक्यविहितानामुच्चैस्त्वादीनामृङ्मात्रधर्मत्वमथवा ऋग्वेदादिविहितकर्मधर्मता । तत्र ऋगादिशब्दानामपि ऋग्वेदादिपरत्वं बहुत्र श्रुतम् । इति तदाह भगवान् भाष्यकारः—"ऋगादयः शब्दाः शक्नुवन्ति वेदमभिवदितुम्—ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते, यजुर्वेदे तिष्ठति मध्येऽह्नः । सामवेदेनास्तसमये महीयते, वैदेरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः' (तै० ब्रा० ३।१३।९) अत्र ऋक्शब्दं द्वौ वेदशब्दौ च सङ्कीर्त्य चतुर्थे पादे वेदैरिति बहुवचननिर्देशेनोपसंहारादृक्शब्दस्यापि ऋग्वेदपरत्वमेव निश्चीयते । "त्रयी विद्याख्या च तद्विदि" (जैमिनि ३।३।५) इत्यत्रार्थेन सार्धं यस्त्रीन् वेदानधीते स त्रयीविद्यः । त्रयीशब्देन ऋक् साम यजूंषि इति त्रयो वेदाः उच्यन्ते । तद्विदि त्रयीविद्याख्या युज्यते । इति भाष्येण ऋगादिपदानां मन्त्रब्राह्मणात्मकवेदपरत्वमेव स्पष्टं ज्ञायते यदि त्रयीशब्दस्य मन्त्रमात्रपरत्वं स्याद्यदि च 'त्रयो वेदा अजायन्त' इति ब्राह्मणस्थवेदशब्दस्य च मन्त्रमात्रपरत्वं सूत्रभाष्य-

काराभ्यामभिप्रेतं स्यात्तर्हि सिद्धान्ते ऋग्वेदादिविहितकर्ममात्राङ्गत्वमुच्चैस्त्वादीनां ताभ्यां सिद्धान्तितं कथं संगच्छेत ?

यद्यपि ऋगादिशब्दानां तत्तल्लक्षणमन्त्रमात्रपरत्वमेव । तथात्वे च उच्चैस्त्वादीनां मन्त्राङ्गत्वमेव स्यात् । सिद्धान्ते ऋग्वेदादिविहितकर्मणामुच्चैस्त्वादिनाऽनुष्ठानं सम्मतम् । तेषां कर्मणां विधानञ्च ब्राह्मणैरेव न मन्त्रैरिति ऋगादिशब्देन ब्राह्मणसहितस्य वेदमात्रस्याग्राह्यत्वे तन्नोपपद्येत । तस्मादुपक्रमन्यायेनात्र 'त्रयो वेदा अजायन्त' इत्युपक्रमानुसारेणोपक्रमे वेदपदनिर्देशेनाप्यजहल्लक्षणया ऋगादिशब्दैर्मन्त्रमात्रवाचकैरपि मन्त्रविशिष्टस्तत्तद्वेद एव गृह्यते । तथा च वेदनिगमच्छन्दःश्रुत्याम्नायत्रय्यादिशब्दैर्मन्त्रब्राह्मणात्मकोऽपौरुषेयः शब्दराशिर्गृह्यते । ऋगादिशब्देन मन्त्रा एव । ब्राह्मणारण्यकशब्दैर्ब्राह्मणभागः । उपनिषदस्तु क्वचिन्मन्त्ररूपाः क्वचिद्ब्राह्मणरूपाः । प्रमाणबलात्क्वचिदृगादिशब्दो लक्षणया वेदपरः । क्वचिच्च छन्दःशब्दो मन्त्रमात्रपरः ।

"भरद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्यमुवास । तं जीर्णिंस्थविरं शयानं इन्द्र उपव्रज्योवाच—भरद्वाज ! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमनेन कुर्य्याः ? ब्रह्मचर्यमेतेन चरेयमिति होवाच । तं ह त्रीन् गिरिरूपान् दर्शयाञ्चकार । तेषामेकैकमुष्टिमुपाददे । स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य । वेदा वा एते । अनन्ता वै वेदाः । एतद्वै त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः" (तै० ब्रा० ५।१०।११।३।४)

इति रीत्या यद्यप्यनन्ता वेदास्तथापि मानवबुद्धिग्राह्याणामेव वेदानां शाखाभेदा गणिताः । तथा च चतुर्धा विभक्तवेदराश्यन्तर्गता ऋग्वेदादयोऽपि बहुशाखाभेदभिन्नाः—"एकशतमध्वर्य्युशाखाः । सहस्रवर्त्मा सामवेदः । एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् । नवधा आथर्वणो वेदः ।" (महाभाष्ये पस्पशाह्निके) अनेकशाखोपबृंहितस्य सर्वस्यैव वेदस्य नित्यत्वमत एव 'ऋग्वेदस्य प्राथम्यं तत्र दशममण्डलस्यार्वाचीनत्वमित्यादि कुकल्पना प्रमाणशून्यैव' ।

यद्यपि ऋग्वेदेषु सामान्यपुरुषबुद्धयगोचरा बहवश्च वैज्ञानिका लोकोपकारका अप्यर्था आनुषङ्गिकतया वर्णितास्तथापि ऐहिकामुष्मिकाभ्युदयपरमनिःश्रेयसौपयिकतया धर्मब्रह्मप्रतिपादन एव वेदानां मुख्यं तात्पर्यम् । ऋग्मन्त्रसंहितायां यद्यपि यागादिसम्बन्धिनो होतृ-होम-यूपाद्यनेके शब्दा आयान्ति तथापि तत्र यागविधानतत्स्वरूपेतिकर्तव्यतादिकं न प्रतिपादितम् । ब्राह्मणभागानां धर्मस्वरूपगमकत्वं मन्त्रभागानान्तु तादृशधर्मसम्बन्धिद्रव्यदेवताप्रकाशकत्वम् । तत्रापि ऋक्संहितायां समाम्नातानां मन्त्राणां प्रायशः तत्तत्सोमयागाद्यङ्गभूतेन्द्राग्न्यादिदेवतासम्बन्धिशस्त्रादौ याज्यानुवाक्यादौ चोपयोगः ।

यजुर्वेदविहितयागापेक्षितशस्त्रतदङ्गादियावदपेक्षिताङ्गकलापसमर्पक एको भागः ऋग्वेदे एकैका शाखा । एकैकोऽपि भागः स्वस्मिन् समग्र एवेति न भागान्तरमपेक्षते । तेन यथा भारतरामायणादौ पर्वसर्गादिकमेकैकं न समग्रं भवति । न तथाऽत्र

शाखाशब्दोऽवयववाची किन्तु शाखानां शाखान्तरनैरपेक्ष्येण यावदपेक्षितार्थबोधकत्वात् सामग्र्यमेवाभिधत्ते। अतएव एकैकशाखाध्ययनेनैव "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (शतपथ ११।३।८।३) इत्यध्ययनविधेश्चारितार्थ्यं भवति। स्वपरम्परागता एकैका शाखा अध्येतव्या मीमांसकाभिमतस्तदर्थः। अन्यथा सर्वशाखोपबृंहितस्य वेदस्यैकस्मिन् जन्मन्यध्ययनासम्भवात् वैयर्थ्यमेव तद्विधेः स्यात्। तेन यथा रामायणं सप्तकाण्डेषु भारतञ्चाष्टादश पर्वसु पर्याप्तम् न तथा एकविंशत्यां शाखासु ऋग्वेदत्वं पर्याप्तम् किन्तु एकस्यामेव शाखाया तत्पर्याप्तम्। यथा रामकथा वाल्मीकीयादिनानाभेदभिन्ना तथैवानादिसिद्धा वेदा अपि अनेकभेदभिन्नाः। व्यासपैलादीनान्तु विभागकर्तृत्वमेव न रचयितृत्वम्। तेन यदुक्तम् "व्यासाद् बहवः शिष्या ऋग्वेदादीनधीत्य बहून् स्वशिष्यानध्यापयामासुः। तेनाध्यापनेन क्वचित् क्वचिद् मन्त्राणां वैपरीत्यं न्यूनाधिकभावः पदान्यथाभावश्च जातः" इति, तन्न, तथात्वे तेषु वेदत्वस्यैव लोपप्रसङ्गात्। ततो यथेदानीमेकैकां शाखां मात्रामात्रस्याप्यपरित्यागेन वैदिकाः पठन्ति, स्वरवर्णाद्यन्यथात्वेन भेदस्य घातकत्वोक्तेः।

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्"। इत्युक्तेः। गुरुमुखादधीतान् मन्त्रानन्यथयितुं न केषाञ्चिदपि सामर्थ्यम्। तस्मादनादीन्येव सर्वशाखीयानि मन्त्रब्राह्मणानि। ऋग्वेदस्य शाखाचतुष्टयमेवेदानीमुपलभ्यते। शाकली, आश्वलायनीया, शाङ्खायनीया, वाष्कलीया च।

यत्र मण्डलसूक्तादीनां विभागः कृतः सा शाकलीसंहिता। यत्राध्यायवर्गादीनां विभागः सा वाष्कलसंहिता। मन्त्रेषु अल्पीयानेव भेदः, ऐतरेयं कौषीतकीति ब्राह्मणद्वयं सर्वथा भिन्नमेवोपलभ्यते। क्वचिच्च शाखान्तरोक्तानामङ्गानां शाखान्तरेऽप्युपसंहार उक्त इत्यपि पूर्वोत्तरमीमांसयोः स्पष्टम्। अतएव स्वस्वशाखीयकल्पसूत्राध्ययनेनैव स्वाध्यायाध्ययनसामग्र्यमपेक्षितोपसंहृतानामपि मन्त्राणां तत्रोक्तत्वात्।

ऋग्वेदसंहिताग्रन्थः— 'अग्निमीले पुरोहित'मिति आरम्य "यथा वः सुसहासति" इत्यन्तमष्टकाण्डैर्दश मण्डलैश्चतुष्षष्टयध्यायैश्चतुःषष्टिप्रपाठकैः पञ्चाशीत्यनुवाकैः ईषदधिकसहस्रसूक्तैः ईषदधिकद्विसहस्रवर्गैः ईषदधिकाभिर्दशसहस्रसंख्याभिः ऋग्भिश्चोपेतः। सेयं शाकली संहिता। ब्राह्मणग्रन्थस्त्वस्य लुप्त एव। आश्वलायनीया शाखाया ऐतरेयब्राह्मणमारण्यकञ्चोपलभ्यते। संहिता च लुप्ता। शाङ्खायनीयशाखाया अपि शाङ्खायनं ब्राह्मणमुपलभ्यते, न संहिता। शाकली संहितैव सर्वैस्तैः पठ्यते। पद्धतिग्रन्थेषु वाष्कलसंहितायाः केचिन्मन्त्राः लभ्यन्ते। यजुर्वेदस्तु कृष्णशुक्लभेदेन द्विविधः। वैशम्पायनस्य व्यासशिष्यस्य बहवो याज्ञवल्क्यादयः शिष्या यजुर्वेदमधीयाना आसन्। केनचित् कारणेन गुरोः पापं किञ्चित् संलग्नं तदपनोदनार्थं गुरुणा मदर्थं यूयं व्रतं चरतेत्याज्ञप्ताः। याज्ञवल्क्येन तु गुरो किमेभिः

वराकैरहमेव व्रतं चरिष्यामीत्युक्तम्। ततश्चान्यशिष्यावमानजनकेनाभिमानपूर्णवाक्येन रुष्टो गुरुः मत्तोऽधीतं त्यजेत्युक्तवान्।

याज्ञवल्क्यस्तु ततोऽधीतं यजुरुद्गीर्य भगवन्तमादित्यं तपसा सन्तोष्य वाजि-रूपधरेण तेनोपदिष्टान्ययातयामानि नित्यान्येव यजूंषि वैशम्पायनसम्प्रदायेऽनुपलब्धानि लब्धवान्। लब्ध्वा च शिष्यानध्यापयामास।

"आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते।"

(शत० १४।७।५।३३)

एवं स्थितः स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात् प्रसादितः॥

(भागवते १२।६।७३)

याज्ञवल्क्येन वान्तानि कृष्णानि तानि तित्तिरा भूत्वा ऋषयो जगृहुस्तेन तैत्तिरी-याणि च प्रसिद्ध्यन्ति। अन्ये तु मन्त्रब्राह्मणयोः सङ्कीर्णत्वात् कृष्णत्वम् विविक्तत्वात् शुक्लयजुर्वेदस्य शुक्लत्वम् इति मन्यन्ते।

कृष्णयजुर्वेदे तिस्रः शाखा उपलभ्यन्ते। तासु मन्त्रब्राह्मणयोर्विभागो न दृश्यते। संहितायामेव प्रथमं मन्त्राम्नायस्तस्मिन्नेव प्रपाठके ब्राह्मणमप्याम्नातम्। क्वचित् प्रपाठकान्तरे काण्डान्तरे च। यद्यपि तैत्तिरीयशाखायां संहिता ब्राह्मणमिति भागद्वयमस्ति तथापि मन्त्रब्राह्मणविभागो नास्ति। ब्राह्मणेऽपि बहवो मन्त्रा ब्राह्मणानि च बहूनि संहिताभागे दृश्यन्ते। तत एव संहितामन्त्राणामाधिक्यादेव। ब्राह्मणभागो ब्राह्मणानामा-धिक्यादेव। तत एव संहिता ब्राह्मणमिति व्यवहारः। अवशिष्टशाखाद्वये मैत्रायणीसंहिता, कठसंहिता इति संहिताभाग एवोपलभ्यते, न ब्राह्मणभागः।

संहितयोस्तु मन्त्रा ब्राह्मणानि च सङ्कीर्णान्येव। बहुष्वंशेषु स्वरूपतो विषयतया चोभयोः सादृश्यम्। तैत्तिरीयसंहिता तु ताभ्यां न सदृशी। तैत्तिरीयसंहितायां सप्त-काण्डानि ब्राह्मणे काण्डत्रयम्।

संहितायां चतुश्चत्वारिंशत् प्रपाठकाः अनुवाकाश्च एकपञ्चाशदुत्तरषट्श-तानि। ब्राह्मणे पञ्चविंशतिप्रपाठकाः, अष्टोत्तरत्रिशतानि अनुवाकाः।

काठकसंहितायां तं तं विषयमवलम्ब्य स्थानकनाम्ना विभागः। यथा पुरोडाश-स्थानकं, अध्वरस्थानकम् इति। तानि अष्टादश। मैत्रायणीसंहितायां चत्वारि काण्डानि, चतुःपञ्चाशत् प्रपाठकाश्च। तैत्तिरीयशाखायाम् आरण्यकभागे द्वादशप्रपाठकाः। तत्रैव प्रपाठकत्रये काठकपदाभिधेयमिति पारम्पर्यम्। इतरशाखाद्वये आरण्यको नोपलभ्यते।

शुक्लयजुर्वेदे तु काण्वी माध्यन्दिनीति भेदेन शाखाद्वयमुपलभ्यते। उभयोरपि शतपथसंज्ञकं ब्राह्मणं पृथग् उपलभ्यते, माध्यन्दिनीये चतुर्दशकाण्डानि। अष्टोत्तर-षष्टिप्रपाठकाः। षट्त्रिंशदुत्तरचतुःशतं ब्राह्मणानि। एकोनाशीत्युत्तरमेकसप्ततिशतं

कण्डिकाः । काण्वे सप्तदश काण्डानि । चतुरुत्तरशतमध्यायाः । पञ्चत्रिंशदुत्तरचतुःशतं ब्राह्मणानि । षडुत्तरमष्टषष्टिशतं कण्डिकाः ।

सामवेदस्य सहस्रशाखाभेदभिन्नत्वेऽपि साम्प्रतं तिस्रः शाखाः कौथुमी, जैमिनीया, राणायनीया उपलभ्यन्ते । सामवेदे चतुर्विंशत्युत्तरमष्टादशशतं मन्त्राः सन्ति । तत्र छन्दः-संहिता उत्तरसंहितेति भागद्वयम् । पूर्वार्चिकोत्तरार्चिकमित्यपि तयोरभिधानम् । गीतिः सामेति रीत्या ऋक्षु साम गीयते । गानसमये मन्त्राणां स्वरूपपरिवर्तनं भवति । सामवेदे ताण्ड्य-षड्विंश-मन्त्र-दैवत-आर्षेय-सामविधान-संहितोपनिषद्-वंश-जैमिनीयनामभिरष्टौ ब्राह्मणानि प्रसिद्धानि । ताण्ड्यमेव सर्वापेक्षया बृहत्तस्यैव महाब्राह्मणं प्रौढब्राह्मणं, पञ्चविंशब्राह्मणमित्यपि नाम ।

अथर्ववेदे--पैप्पलादसंहिता, शौनकसंहिता चोपलभ्यते । मुद्रितायां शौनक-संहितायां विंशतिः काण्डानि । एकोनषष्ट्युत्तरसप्तशतानि सूक्तानि सप्तसप्तत्युत्तर-मेकोनषष्टिशतानि मन्त्राः । गोपथाभिधानं ब्राह्मणमेकमेव । बौधायनापस्तम्बादिभिः सूत्रकारैस्तत्र तत्रोद्धृतानि पैङ्गायनी (आप शौ० ५।१।१८) शैलाली (आप०६।७।४) शाठ्यायनि (शां० भा० ३।३।२५) काठक (म० भा० ७।१।१३) मैत्रायणी (बौ० श्रौ० ३०।८) जावाल (शां० भा० ३।४।२) खाण्डिकेय (भाषि० सूत्र ३।२४) औखेय (भा० सू० ३।२६) हारिद्रविक (ऋग्वेद भा० ५।४०) कङ्कातिब्रा० (आप० श्रौ० १४।२०।४) गालवब्रा० (महाभा० १।१।३४) माल्लवि (महाभा०४।२।१०४) शाठ्यायन (ऋक् सर्वानुक्रमणी ३।३२) रोरुकी (गो० गृ० ३।२।५) तुम्बुरुब्रा०, आरुणेयब्राह्मणं (महाभा० ४।२।१४) सौलभब्रा० (म०भा० ४।२।६३) पराशरब्रा० (तंत्रवा० चौखम्बा पृ० ६६४) भाषा शरावि (द्राह्यायण शौ० सू० ८।२।३०) कापेयब्रा० (सत्याषाढ सू० १०४) इत्यादीनि बहूनि ब्राह्मणानि लुप्तान्येव । मौक्तिकोपनिषदुक्तानां केषाञ्चिद् ब्राह्मणानामुपनिषदंशा उपलभ्यन्ते ।

मन्त्रब्राह्मणात्मके वेदराशौ ब्राह्मणभागस्य कर्मस्वरूपबोधकत्वम् । तदपेक्षित-द्रव्यदेवताद्यङ्गकलापविधायकत्वम्, मन्त्राणाञ्च विहितकर्मस्तावकत्वं कर्मस्वरूपमात्र-बोधको विधिरुत्पत्तिविधिः, कर्मसम्बन्धिद्रव्यदेवतादिविधायको विधिः गुणविधिः । फल-सम्बन्धमुखेनाधिकारबोधकोऽधिकारविधिः । तत्राप्यपूर्वनियमपरिसङ्ख्याभेदेन तिस्रो विधाः । निन्दाप्रशंसापरकृतिपुराकल्पभेदेनार्थवादोऽपि चतुर्विधः ।

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः ।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना ॥
उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु ।
एतद्वै सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम् ॥

(शा०भा० २।१।८)

इति प्रकारान्तरेण दशविधं ब्राह्मणम् । यस्य मन्त्रस्योच्चारणानन्तरमेव कर्म क्रियते स करणमन्त्रः । यथा याज्यापुरोनुवाक्यादिकम् । कर्मानुष्ठानसमकालमेव पठ्यते स क्रियमाणानुवादिमन्त्रः । यथा युवा सुवासा (ऋ० ३।८।४) इत्यादि । कर्मसमनन्तरं यः पठ्यते सोऽनुमन्त्रणमन्त्रः यथा 'एको मम एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि ।'

(शत० ब्रा० १।५।५।७)

यजमानेन द्रव्यत्यागात्मके यागे कृते समनन्तरं पाठ्यः "आशासने मयीदमिति यजमानो जपति" (का० श्रौ० ३।४।१८) इत्यादि विहितः सन्निपत्योपकारको मन्त्रो जपमन्त्रः ।

पूर्वोक्तानां त्रयाणामनुष्ठेयार्थप्रकाशकत्वरूपं दृष्टं प्रयोजनं मन्त्राणाम् । यद्यपि ब्राह्मणवाक्यैरपि तत्स्मरणं सम्भवति, तथापि मन्त्राणां कर्मसु विनियोगात् मन्त्रैरेव द्रव्य-देवते स्मर्त्तव्ये इति नियमादृष्टमपि तत्प्रयोजनम् । तैरेव द्रव्यादिस्मरणं युक्तम् । जप-मन्त्राणां तु अदृष्टमेव प्रयोजनम् । धर्मब्रह्मबोधकत्वेनैव वेदानां मुख्यं प्रामाण्यमुक्तम् ।

कर्मोपासनयोरुभयोरपि धर्मेऽन्तर्भावः । वेदवाक्यैः कर्मोपासनस्वरूपमवगम्य तदनुष्ठानम् । तेन पुण्यापूर्वाद्यपरपर्यायमदृष्टमुत्पद्यते । तेन तत्तत्फलप्राप्तिः श्रवणमनन-निदिध्यासनैर्जातमपरोक्षसाक्षात्काररूपं ब्रह्मज्ञानन्तु सकलानर्थनिवृत्तिपूर्वकपरमानन्द-प्राप्तिफलकत्वेनादृष्टानपेक्षमेव फलजनकम् ।

तत्र ऋक्संहितादिभिर्न कर्म तदङ्गादिबोधनं किन्तु ब्राह्मणैरेवेत्युक्तमेव । मन्त्राणां शाब्दिका अर्थाश्च कैमर्थ्याकाङ्क्षावशात् द्रव्यदेवताप्रकाशन एव पर्यवस्यन्ति । ऐहिका-मुष्मिकविविधपदार्थज्ञानानि तु आनुषङ्गिकाण्येव । यद्यपि ब्राह्मणैः साङ्गोपाङ्गमेव धर्म-स्वरूपं प्ररूप्यते तथापि मन्दमतीनां विप्रकीर्णेभ्योऽर्थवादबहुलेभ्यो विधिभागेभ्यः कर्म-स्वरूपावबोधो दुर्गमः ।

शाखान्तरेष्वपि बहून्यङ्गान्याम्नातानि । यानि स्वशाखायां नोपलभ्यन्ते तत्र शाखान्तरीयाणां कियतामङ्गानामुपादानं कियताञ्च त्याग इत्येतद्विवेचनमपि दुःशकम् । तत्रैव मीमांसयोरुपयोगः । तथापि अनुष्ठानोपयोगि कर्मस्वरूपज्ञानाय कल्पसूत्राण्य-पेक्षितानि । तस्मात् मीमांसाविचारितैर्मन्त्रब्राह्मणैर्निश्चितार्थानामनुष्ठानापेक्षितक्रमेण व्यवस्थापनं कल्पसूत्राणां प्रयोजनम् । तदनुयायिन्यश्च पद्धतयो भवन्ति । अतएव मन्त्र-ब्राह्मणकल्पसूत्रमीमांसापेक्ष एव वेदार्थः प्रसिद्ध्यति । सायणादिभिस्तदनुसार्य्येव वेदार्थो व्याख्यातः ।

वेदपारायणं तद्विधाश्च

श्रीगोपालचन्द्र मिश्रः

उपक्रमः

पारायणं नाम ग्रन्थस्याद्याक्षरमारभ्यान्त्याक्षरं यावत् प्रयोगविधिमनुसृत्य साम्प्रदायिकविधया पठनम्। तथा च—पारायणमिति पारिभाषिकः शब्दः। स च 'आवर्त्तनम्', 'पाठः' इत्यादिशब्देभ्योऽसाधारणं भावं बिभर्ति।

पारायणशब्दः प्राप्ताधिकारस्य विधिनाऽधीतग्रन्थस्य साम्प्रदायिकविधया कृत्स्नमावर्तनं बोधयति। ग्रन्थस्य चाधीतिर्गुरुमुखोच्चारणानुच्चारणेन भवतीति मीमांसाशास्त्रे स्पष्टम्। ततश्च गुरुसम्प्रदायादधीतवेद एव पारायणेऽधिकारी सिद्ध्यति। परं वेदाध्ययने प्राप्ताधिकारोऽपि त्रैवर्णिको यदि १. अभिभावकप्रेरणानुपलब्धेः, २. गुर्वनुपलब्धेः, ३. वातावरणविरहाद्, ४. अध्ययनसमये प्रमादित्वात्, ५. असामर्थ्याद्वा गुरुशिष्यसम्प्रदायादध्ययनं न प्राप्नोति, तथापि स तादृशम् (सम्प्रदायादधिगतविद्यं) अधिकृतं पुरुषं नियुज्य पारायणं कारयति चेत् प्रयोजककर्तृत्वं दक्षिणादानाच्च पारायणफलं प्राप्नोत्येवेति निर्विवादम्।

तदेतत्पारायणं दृष्टादृष्टार्थं भवति। विषयज्ञानविशेषाक्षरसमूहस्मरणरूपदृष्टप्रयोजनोपलब्धेर्दृष्टार्थत्वम्, ऋषि-वचनेषु पारायणफलश्रुतेरदृष्टार्थत्वम्। तथा चैतत्पारायणं सम्प्रति पौरुषेयापौरुषेयग्रन्थानामुभयोर्भवति। तत्र पौरुषेया ग्रन्थास्त्रिविधास्तावत् सम्प्रति पारायणे समाद्रियन्ते—

प्रथमे—आर्षाः, षडङ्ग–स्मृति–वाल्मीकीयरामायण–महाभारत–पुराणोपपुराणादयः।

द्वितये—भाक्ताः, तेऽपि देवानुगृहीतभक्तजनैः १. विनिर्मिताः, २. संगृहीताः, ३. निर्दिष्टाश्चेति त्रिविधाः। तत्र—

विनिर्मिताः—तुलसीकृतरामायणादयः।

संगृहीताः—महावाणी (निम्बार्कसम्प्रदाय) ग्रन्थप्रभृतयः।

निर्दिष्टाः—हिन्दीसूर्यपुराण-सन्तोषीव्रतकथाप्रभृतयः।

त्रितये—स्वश्रद्धेयाः, येषु ग्रन्थेष्वात्मनो हितकर्तृत्वेन श्रद्धा प्रादुर्भवति ते स्वश्रद्धेयाः। यथा—सुभाषितादिग्रन्थाः। एतद्ग्रन्थपारायणे न दृष्टादतिरिक्तं फलं भवितुमर्हति, साम्प्रदायिकविधानानुपलब्धेः। स्वसंस्कारकर्तृत्वाच्चात्र स्वश्रद्धेयेषु परकर्तृकत्वं सम्भवति।

अपौरुषेयस्तावद् एक एव वेदशब्दाभिधेयो ग्रन्थराशिः। तदेषु पौरुषेयापौरुषेयग्रन्थपारायणेषु पौरुषेयग्रन्थानां विधिरत्र न विषयीभूतः। अत्र त्वपौरुषेयस्य वेदशब्दाभिधेयस्य ग्रन्थराशेरेव पारायणविधा वर्ण्यन्ते।

वेदपारायणम्

वेदास्तावच्चत्वारः प्रसिद्धाः, ऋग्यजुःसामाथर्वसंज्ञकाः। चतुर्ष्वपि वेदेषु सन्ति बह्व्यः शाखाः। ताः सर्वाः समानवेदसम्बन्धिन्यः शाखाः सम्भूय नैको वेदः, किन्तु सर्वाः शाखाः प्रत्येकं वेदः। ततश्चैकस्याः शाखायाः पारायणं तद्वेदपारायणं भवति। अधीतवेदः स्वयम्, वेदाध्ययनाधिकारी वा त्रैवर्णिकः पुरुषः स्वस्यासामर्थ्येऽन्येन सम्प्रदायात्समधीतवेदेन आत्मीयां शाखां कृत्स्नतया सकृत् सविधि पठति पठनं कारयति वा तदेतदेकशाखीयं पारायणं निर्विशेषणं 'वेदपारायणम्' इत्याख्यायते।

यद्यपि वेदो मन्त्रब्राह्मणोभयात्मकः। परं पारायणे उभयविधे वेदभागे केवलं मन्त्रात्मकतया समादृतस्य संहिताभागस्यैव पारायणं शिष्टैः क्रियते, पारायणविधौ संहितादेवताभ्य ऋषिभ्य एव होमतर्पणयोर्दर्शनात्, आर्षशिक्षापार्षदादिग्रन्थेषु संहितात्मकमन्त्रभागस्यैवाध्ययनधर्मनिर्देशात् 'कालिन्दी संहिता ज्ञेया' इत्यादिशिक्षासु, 'एषा हि संहिता देवैः सर्वब्रह्ममयी' (स्मृता) इति ऋग्विधाने गायत्रीप्रकरणे संहिताया एव प्राशस्त्यदर्शनात्, 'सर्वसंहितया प्रत्यृचं होम आज्येन तिलेन वा', इत्यादिषु संहिताया (मन्त्रशब्दसमादृतवेदभागस्य) एव विनियोगदर्शनात्।

तस्यैतस्य संहिताभागात्मकस्य वेदपारायणस्य संख्याविशेषकृतस्य फलमेवं पारायणविधिसूत्रे स्मर्यते—

"पारायणेन विधिना वेदमधीयीत तस्य तपःपूतो वेदो भवति, मनःशुद्धिश्च भवति। द्वाभ्यां पारायणाभ्यामृत्विग्भिश्च योजन इहाधीते अनृतेभ्यः प्रमुच्यते। त्रिभिर्बहुभ्यः पातकोपपातकेभ्यः, शूद्रायां रेतः सिक्त्वा गङ्गासु निमज्जँश्च भवति। चतुर्भ्यः शूद्रान्नभोजनात्, तत्सेवनात्, तत्स्त्रीसेवनाच्च। पञ्चभिरयाज्ययाजनात् पूतो भवति, अग्राह्यग्रहणाद् ग्राह्याग्रहणाद्, अभ्यासोपासनाच्च। षड्भिर्ब्राह्मणस्य लोहितकरणात्, स्त्रीलोहितकरणात्, पशुहननात् सुवर्णस्तेयात् पतिसंप्रयोगाच्च। सप्तभिः प्राजापत्यानां हीनाचरणाद् यज्ञोपवेधनाच्च। अष्टभिश्चान्द्रायणस्यान्तराचरणाद् गुरुतल्पगमनाद् रजस्वलागमनाच्च। नवभिः सुरापानात्। दशभिरश्रोत्रिययाजनाद्, असोमपानाद्, अन्याय-

तश्च धनोपार्जनात् । एकादशभिर्ब्राह्मणहननाद्, गर्भहननात् पूर्वजन्मेहजन्मकृतैः सर्वैः पापैः प्रमुच्यते स्वर्गं लोकं गच्छति, पितॄन् स्वर्गं लोकं गमयति, अग्निष्टोमादीन् क्रतून् यजति, तैः क्रतुभिरिष्टं भवति" इति ।

शाखापारायणम्

सामान्याद् वेदपारायणादस्तीतरत् शाखापारायणं नाम । यत्र तु मन्त्रब्राह्मणोभयभागात्मकस्य वेदस्य पारायणं क्रियते, तदा तस्य 'शाखापारायणम्' इति शिष्टैः संज्ञा क्रियते । अत्र ब्राह्मणशब्देनैवारण्यकस्य ब्राह्मणान्तर्गतोपनिषदां च व्यवहारः । मन्त्रे च ब्राह्मणान्तर्गतस्योपनिषद ईशावास्यादेः संग्रहः ।

त्रिवृत्पारायणम्

यत्र च स्वशाखीयमन्त्रगणस्य संहितापाठः, पदपाठः, क्रमपाठ इति त्रितयमावर्त्यते, तत्र 'त्रिवृत्पारायणम्' इति शास्त्रविदां व्यवहारः । तस्य च फलमेवं याज्ञवल्क्यः कथयति—

यथा महाह्रदं प्राप्य क्षिप्तो लोष्ठो विनश्यति ।
एवं दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥
कालिन्दी संहिता ज्ञेया पदमुक्ता सरस्वती ।
क्रमेणावर्तिता गङ्गा शम्भोर्वाणी तु नान्यथा ॥ इति ।

विकृतिपारायणम्

यत्र तु संहितामन्त्रगणस्य सर्वस्य जटाद्यष्टविकृतिषु सम्भावितानां विकृतीनां कृत्स्नः पाठः क्रियते तत्र 'विकृतिपारायणम्' इति व्यवहारः । विकृतिपारायणस्य फलं मनःशुद्धिर्ज्ञातिश्रैष्ठ्यं पङ्क्तिपावनत्वं च । तच्च सर्वदुष्कृतविनाशमन्तरा न सम्भवतीति समस्तदुरितक्षयनिवृत्तिपूर्वकं पङ्क्तिपावनान्तं फलं विकृतिपारायणस्य भवति । यथा चोक्तं वराहपुराणे—

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः ।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः ॥
जटादिविकृतीनां ये पारायणपरायणाः ।
महात्मानो द्विजश्रेष्ठास्ते ज्ञेयाः पङ्क्तिपावनाः ॥ इति ।

विकृतिविशेषपारायणम्

यत्र तु केवलामेकामेव विकृतिं पर्ययन्ति, तत्र तत्तद्विकृतिविशेषणेन पारायणशब्दं

प्रयुञ्जते 'जटापारायणम्', 'घनपारायणम्' इत्यादि। चरणव्यूहे एवंविधं विकृतिपारायण-मेवाभिलक्ष्य चतुष्पारायणमुक्तमस्ति। परमधुना प्रायो 'जटापारायणं, घनपारायणम्' इत्युभयमेव प्रचलति। केरलदेशे च रथपारायणनाम्ना दण्डपारायणं विशेषविधयानुति-ष्ठन्ति।

चतुर्वेदपारायणम्

यत्र तु चतुर्णामेव एकैकाः शाखाः पारायणीकृता भवन्ति तच्चतुर्वेदपारायणं नाम। तत्रोपलब्धासु शाखासु एकैकस्य वेदस्य एकैकस्याः शाखायाश्चयनं द्विधा भवति स्वपरिग्रहतया, स्वात्मतन्त्रतया च। स्वस्य यजमानस्य या पितृपितामहपरम्परागता शाखा सा स्वशाखा। सा शाखा एकं वेदमाख्याति। यदि तया शाखया सोमयागादिश्रौतं वेदत्रितयसाध्यं कर्म क्रियेत तर्हि स्वातिरिक्तयोरन्ययोर्वेदयोरेकैका काचन शाखा समा-श्रीयते, वेदत्रयनिष्पाद्यत्वात् कर्मणः। तत्रान्यवेदीयशाखापरिग्रहविचारे स्वशाखीय-पूर्वजनसमादृता पूर्वाचार्यैः सङ्केतिता वा तत्तद्वेदशाखा गृह्यते। यथा—माध्यन्दिनीय-शाखीयो यजमान ऋग्वेदसम्बन्धिनीं शाङ्खायनीयाम्, सामवेदीयां कौथुमीं च शाखामाश्र-यति। एवं तैत्तिरीयेष्वापस्तम्बशाखीयाः कृष्णयजुर्वेदिन ऋग्वेदे आश्वलायनीयां साम्नि कौथुमीं च परम्पराप्राप्तां शाखां सङ्गृह्णते। तथैवाश्वलायनशाखीय ऋग्वेदी महाराष्ट्र-देशीयः शौनकशाखीयत्वेन प्रसिद्ध ऋग्वेदी यजुर्वेदे बोधायनीयां सत्याषाढीयां वा शाखां साम्नि कौथुमीं च शाखामालम्बते। साम्नि जैमिनीयशाखापरिग्रहः केरलेष्वेवेति कथ-यन्ति। अयमेव समपेक्षिताङ्गकलापपरिपूरणाय वेदान्तरीयशाखास्वीकारो याज्ञिकेषु शाखापरिग्रह इत्युच्यते। अथर्ववेदे तु सर्वोऽपि जनः शौनकशाखामेव परिगृह्णाति, अन्यस्या अथर्ववेदशाखायाः पैप्पलादीयायाः पूर्णतया अनुपलब्धेः। एवं च सोमयागादि-वेदत्रयनिष्पाद्ये कर्मणि त्रयाणां वेदानां याः शाखाः समाद्रियन्ते, तासामथर्ववेदे शौनक-शाखायाश्च पारायणं चेत् क्रियेत तदा तत् 'स्वपरिगृहीत चतुर्वेदपारायणम्' भवति।

यदा च स्वेच्छया, स्वपरिगृहीतवेदशाखाध्यायिनामनुपलब्धेर्वा चतुर्णामपि वेदानामेकैकां शाखां स्वमनसा निश्चित्य पारायणं प्रवर्त्तयति, तदा तत् स्वात्मतन्त्रं चतुर्वेदपारायणं सम्पद्यते।

चतुर्वेदपारायणमिदं सम्प्रति नैकः कर्तुं प्रभवति। नहि कश्चनैकः साम्प्रदायिक-विधया चतुरोऽपि वेदान् सम्पूर्णतया गुरुमुखादधीतेऽभ्यस्यति वा। तथा हि गुरुमुखोच्चा-रणानूच्चारणात्मकाध्ययनसंस्कृतस्यैव वेदस्यादृष्टोत्पादकत्वात्, इतरस्य (गुरुमुखात् साम्प्रदायिकविधयाऽनधीतवेदस्य) तु यथालिखितपाठकत्वेन निन्दितत्वात्, कुतीर्थगत-वेदस्याध्ययननिन्दनाच्च।

ये तु केचनाधुना पुस्तकाश्रयेण चतुर्वेदपाठिनस्ते सम्प्रदायादनधीतसस्वरवेदा

यथावदविगीतशिष्टसमनुगृहीतसाम्प्रदायिकक्रमेण विरहिता वेदाक्षरवाचका एव। अद-सीयमावर्तनं न वेदपारायणशब्दवाच्यं भवितुमर्हतीति याज्ञिका अभिप्रयन्ति।

उपसंहारः

एवं विभिन्नसंज्ञाभिः प्रसिद्धं वेदशब्दराशेः पारायणं विशेषतः—

१. वेदपारायणम् २. शाखापारायणम् ३. त्रिवृत्पारायणम् ४. विकृतिपारायणम् ५. विकृतिविशेषपारायणम् ६. चतुर्वेदपारायणम्।

इति षड्विधं सम्प्रति साम्प्रदायिकेषु समुपलभ्यते। सोऽयं पारायणविधया स्वयं नियोजितवेदविद्द्वारा वा समाराधितो वेदः सर्वस्यापि मनोरथं भारतीयसंस्कृतेश्च संवर्द्धनं विदधातीति सर्वेषां न तिरोहितम्। परमधुना सर्वोऽपि भारतीयो जनो यथाकथञ्चिद् व्यवहारमात्राश्रयो वेदाभ्यासे वैदिकेषु सस्वरं मूलाक्षरधारकेषु विद्वत्सु च श्रद्धां रक्षायत्नं चाविचारयन् स्वीयमक्षयं निधिमुपेक्षते। क्रमेण चानेनास्माकं भारतीयानां का गतिर्भविष्यतीति मनुवचनानि परिशीलनायोपस्थापयामः—

अनभ्यासाच्च वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥
वेदानभ्यसनाच्चैव ब्राह्मणादर्शनेन च।
वृषलत्वं गता ह्येता इमाः क्षत्रियजातयः॥
योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ इति।

एवं च सति सर्वैरपि लोकहितैषिभिर्भारतीयतायाः संरक्षणाय, स्वस्य पातित्यनिवारणाय, वेदप्रचाराय च स्वाधिकारानुरूपं वेदपुरुषः समाराध्यः प्रार्थनीयश्च—

सर्वे श्रद्धां धारयेयुर्वेदे वेदविदि ध्रुवाम्।
रक्षाप्रयत्नो वेदानामभ्यासश्च भवेद्यथा॥ इति।

येन च वयं भारतीयाः—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥
इत्याशिषः सफलयेम इति शिवम्।

बौद्धधर्मस्य वेदमूलत्वम्

श्रुतिशीलशर्मा

प्राचीनपरम्परया वेदानां सर्वविद्यानिधानत्वम् अभिमतं सकलविदुषाम्। सर्वज्ञात् परब्रह्मण उद्गतत्वाद् वेदानां सकलविद्यास्थानत्वं ननु सन्देहातीतम्। वेदाः खलु परमात्मनो ज्ञानमयं तप इत्युच्यन्ते। अथ च 'सर्वज्ञानमयो हि सः' इति श्रुतेर्वचनप्रामाण्यात् सर्वज्ञपरमात्मनः प्रकाशनभूतानां वेदानां सर्वविद्यामूलत्वे कः सन्देहः। यथा चाह भगवान् शङ्कराचार्यः स्वशारीरकभाष्ये 'शास्त्रयोनित्वात्' इति वेदान्तसूत्रे भाष्यं कुर्वाणः—

"महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति।"

एवम् अभिमते सति, एतदप्यवश्यं मन्तव्यं यदुपनिषदादिषु, अथ च तत्पश्चाद्भावेषु दर्शनादिशास्त्रेषु ये सिद्धान्ताः प्रकटीकृताः तत्तद्दर्शनकारैः, तेषां सर्वेषां मूलं वेदेष्वेव वर्तते इति। अथ च ये कथयन्ति, यद् वेदाः खलु भौतिकवादिनः, वेदेषु अध्यात्मविषयकं नास्ति किञ्चित्। वेदानां भौतिकवादस्य प्रतिक्रियास्वरूपं अध्यात्मविषयपराणाम् उपनिषदां रचना सञ्जाता। उपनिषत्प्रतिपादिताः सिद्धान्ताः सर्वथा नवीनाः, न च ते उपलभ्यन्ते वेदेषु इति[1]। तैः किल डॉ० कुमारस्वामिमहोदयैर्लिखितमेतद् वचनं द्रष्टव्यम्।

"उपनिषत्सु प्रतिपादिताः सिद्धान्ता वैदिकर्षीणाम् अविज्ञाता एवासन्निति मन्तुं नाहं समर्थः"।

कथयति च **एडवर्डकार्पेण्टर**नामा पाश्चात्यमनीषी—

"यतो हि त एव वेदप्रतिपादिताः सिद्धान्ताः परम्परयाऽस्माकं हस्तगता जाताः, न केवलं पौरस्त्यदेश एव, अपि तु शॉपेनहावर-ह्वाइटमेन-प्रभृतीनां पाश्चात्यदेशदार्शनिकानामपि त एव वैदिकसिद्धान्ता दर्शनानां धर्माणां चानुक्रमेण हस्तगता अभवन्, अतो वेदानामनन्तरं नवीनदार्शनिकसिद्धान्तोत्पत्तेः कल्पनाऽपि

---

१. प्रा० दे० द० वाडेकर; गीता—ए फ्रेश स्टडी।

दुरूहैव ।[1]

अथ च यदि वेदानाम् अन्तिमभागा एवोपनिषद इति स्वीक्रियते, तर्हि यत् किमपि उपनिषत्सु प्रतिपादितं, तत् सर्वं वेदेष्वस्त्येव । अतो भारतीयदर्शनपरम्परायां यानि बौद्धजैनादिदर्शनानि नास्तिकरूपाणि मन्यन्ते तेषामपि मूलं वेदेषु यद्युपलभ्यते तर्हि किमाश्चर्यम् । अस्मिन् लेखे बौद्धधर्मप्रतिपादिता विचारा वेदेषु वर्तन्ते न वेति विचार एव मुख्यमुद्देश्यम् ।

महात्मा बुद्धो वेदाश्च

प्रायः सर्वेषां विदुषामिदमेव मतं यद् महात्मा बुद्धो वेदविरोधी नास्तिकश्चासीदिति । परमिदं मतमसमीचीनम् । महात्मबुद्धप्रतिपादिता विचाराः खलु वैदिकधर्मप्रतिपादितानां सिद्धान्तानामानुकूल्यं भजन्ते । तदूर्ध्वं तदनुयायिभिर्बौद्धदर्शने वेदविरोधिसिद्धान्ताः समावेशिताः । ते वेदविरोधिनो नास्तिकाश्च सञ्जाताः । परं बौद्धधर्मसंस्थापको बुद्धो नासीद् वेदनिन्दको वैदिकधर्मविरोधी वा, नापि वा नास्तिकः । 'स वेदज्ञानां विषये दत्तसमादर आसीत् । लिखति स सुत्तनिपाते—"मनुष्या इन्द्रियाधीनाः भूत्वा उच्चावचावस्थां प्राप्नुवन्ति, परं विद्वांश्च वेदैः समेत्य धर्मं नोच्चावचं गच्छति भूरिप्रज्ञः[2] ।" अन्यच्च 'एवं पि यो वेदगु भावितत्तो'[3]; 'यदन्तगु वेदगु यञ्ञ काले'[4]; 'विद्वांश्च सो वेदगू नरो इध'[5] इत्यादि स्थलेषु दृश्यमानं वेदगुपदं 'वेदज्ञ' इति शब्दस्य निदर्शकम् । कथयति च बुद्धमीमांसाकारः योगिराजः स्व-'बुद्धमीमांसा'-ग्रन्थे—

> "त्विश्य जातके वेदाध्ययनं बौद्धगृहस्थानां कृते अवश्यकरणीयत्वेन लिखितं वर्तते ।"

अतः प्रतीयते यन्महात्मा बुद्धो नासीत् वेदविरोधी न वा हिन्दुधर्मविरोधी । तस्य प्रयत्नाः हिन्दुधर्मस्य पुनरुत्थानार्थम् एवासन् । यथा हि लिखति रॉइस डेविड्सनामा पाश्चात्यविपश्चित्—

---

१. A new philosophy we can hardly expect or wish for since the same germinal thought of the Vedic authors have come all the way down history, even to Schopenhauer and Whiteman inspiring philosophy after philosophy, religion after religion. (Edward Carpenter : Art of Creation)

२. सुत्तनिपात; ७९२

३. उपर्युक्त, ३२२

४. उपर्युक्त, ४५८

५. उपर्युक्त, १०६०

"बुद्धः हिन्दुधर्मविरोधी आसीदित्याकारकं एकं कुमतं प्रचलितमस्ति। तन्न समीचीनम्। गौतमस्य जन्म, पालनं पोषणं सर्वं भारतभुवि एवाभवत्। तस्य विरोधस्तु तत्कालीनरूढधर्मेण एव आसीत्। परं मुख्यतः तस्य उद्देश्यस्तु हिन्दुधर्माभ्युत्थान-मेवासीत्"[1]।

स हिन्दुधर्मस्य पुनरुद्धारकः आसीत्। तस्मिन् समये यज्ञादिकेषु पशुहिंसा या समवर्तत, सा च धर्मस्य नाम्ना एव क्रियते स्म, अतः स्वभावतः एव दयालुः स एनां पशुहिंसां न सेहे, अतः सः तत्काले प्रतिष्ठितस्य हिंसाधर्मस्य विरोधमकरोत् इति तु स्वाभाविकमेव। यथा चाह मोनियर विलियम्समहोदयोऽपि—

> "हिन्दुधर्मः बौद्धधर्मेऽपि निहितः वर्तते। बुद्धस्योद्देश्यः हिन्दुधर्मस्य विनाशकरणं नासीत्, अपितु तद्गतदोषाणामुच्चाटनमेवासीत्"[2]।

एवं सत्यपि बुद्धस्य महात्मनः नास्तिकत्वं वेदविरोधित्वं विद्वद्भिः संस्थापयितुं प्रयत्नः क्रियते इति किमु वक्तव्यम्।

बौद्धसिद्धान्तानां वेदमूलत्वम्

भारतीयदर्शनानाम् इतिहासे बौद्धदर्शनस्य महत्त्वपूर्णं स्थानं विद्यते। बौद्धधर्मस्तु पूर्वं नीतिशास्त्रात्मकः आचारशास्त्रात्मको वा आसीत्, परमनन्तरमाध्यात्मिकसंस्पर्शनेन सोऽपि दर्शनेष्वेकतमोऽभवत्। तदस्य दर्शनस्य हीनयानमहायानभेदेन शाखाद्वयं समभवत्। तदपि शाखाद्वयं पुनर्विभक्तम्। हीनयानस्य वैभाषिकसौत्रान्तिकौ महायानस्य च माध्यमिकयोगाचारौ इति सर्वमपि बौद्धदर्शनं चतसृषु शाखासु विभक्तम्।

एतासु शाखासु माध्यमिकयोगाचारयोः सिद्धान्ताः वेदेषु सुस्पष्टा एव दृश्यन्ते। सृष्टेः प्रागवस्थावर्णनविषये छान्दोग्योपनिषदि इदं स्पष्टीकृतं वर्तते यत्—'असदेवेदमग्र

---

१. One misconception is the prevelent notion that Gautama was an enemy of Hinduism. This is not the case. Gautam was born and brought up and lived and died a typical Indian. He had lent little quarrel with the religion, that did prevail. His purpose was to build it (Hinduism) up, to strengthen it, not to destroy it. (Budhism. P. 182)

२. Hinduism was, therefore, contained in the Dharma of Buddhism and the great object of Gautam's advent was not to uproot the old religion, but to purify it from error and restore it. (Buddhism. P. 206)

आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्। तस्मादसतः सज्जायत"[1]।

सृष्टेः प्रारम्भावस्थायां यदि तत्र किञ्चित् अवर्तत, तर्हि तत् असत् एव। अस्मात् असत एव सर्वमिदं प्रकटीभूतम्। अयम् असद्वाद एव बौद्धदर्शनस्य माध्यमिकशाखायां शून्यवादः संजातः। माध्यमिकानुसारं यदिदं बाह्यजगत् अन्तर्जगत् वा सर्वम् असत्, अतः सर्वं शून्ये एव अवस्थितं वर्तते। यत्किमपि वयं पश्यामः सर्वं तत् असदेव। यदि सर्वम् असत्, तर्हि किमिव इदं सदिव प्रतिभाति ? उच्यते तावदियम् अविद्याया माया। अविद्यया प्रभावितः मनुष्यः सर्वं सदिव पश्यति। अतः शून्यम् एव अन्तिमं तत्त्वम्। किमिदं तत्त्वं शून्यं नाम ? ब्रूते नागार्जुनः—

न सन्नासन्न सदसन्न नाप्युभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः[2]॥

शून्यं न सत्, नाप्यसत्, न च उभयात्मकं, नाप्यनुभयात्मकम्, अतः इदं तत्त्वं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तम्। अनिर्वचनीयमिदम्। वेदान्तिनां माया अपि एवं प्रकारिका एव। यथा अविद्यां मायां निर्वक्ति सदानन्दः स्व-'वेदान्तसारे'—

"अविद्या नाम सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति वदन्ति।"

अद्वैतवादिनां माया-अविद्या अपि सत्, असत् सदसत्, न सदसत् इति चतुष्कोटिविनिर्मुक्ता।

इदमेव अविद्यातत्त्वं शून्यतत्त्वं वा वैदिकपरिभाषायाम् असत् इति कथ्यते। इदम् असत् शून्यं वा सृष्टेः प्रागवर्तत, अस्मादसत एव सर्वं जगदिदं प्रसूतम्। यथोक्तं ऋग्वेदे—

"देवानां पूर्व्ये युगे असतः सदजायत"[3]। अस्मिन्मन्त्रे भाष्यं कुर्वाणः आचार्यसायणः आह—

"देवानां पूर्व्ये युगे आदिसृष्टावित्यर्थः तेषामुपादानकारणात् असतः नामरूपादिवर्जितत्वेन असत्समानात् परब्रह्मणः सकाशात् सत् नामरूपादिविशिष्टं अजायत प्रादुरभूत्।"

अस्याः सृष्टेः प्राक् नामरूपादिगुणविरहितं तत्त्वमासीत्, तदेव ब्रह्म। एतद् ब्रह्म अस्य नामरूपादिसहितस्य जगतः उपादानकारणमासीत्। यथा चोक्तं तैत्तिरीयसंहितायाम्—

"इदं वा नैवाग्रे किंचनासीत्"[4]।

---

१. छान्दोग्योपनिषद्; ६।२।१
२. माध्यमिककारिका; १।७
३. ऋग्वेद; १०।१२६।२–३
४. तैत्तिरीयसंहिता; २।२।६।१

अतः सृष्टेः पूर्वावस्थायां तत्र नासीत् किञ्चन, तस्मात् शून्यत एव सर्वं प्रादुरभूत्। यद्यपि आसीत् तत्र परब्रह्म, परं तदपि गुणविरहितत्वात् शून्यसममेव। इदं ब्रह्म ऋग्वेदे व्योमशब्देन सम्बोधितं वर्तते[१]। व्योम तु अवकाश एव शून्यं च। इदं व्योम एव सर्वतः प्राक् समवर्तत सृष्ट्यादौ। किं रूपम् इदं व्योम ब्रह्म वा? प्राह ऋषिः—"नासदासीत् नो सदासीत्"[२]।

नेदं ब्रह्म सत्, नैवासत्, इदं निर्द्वन्द्वात्मकं तत्त्वम्। अत्र बीजं वर्तते बौद्धदर्शनप्रतिपादित-शून्यवादस्य। अयं सदसद्भाव एव माध्यमिकशून्यवादस्य प्रवर्तकः। यथाह डॉ० आर० डी० रानाडे स्वग्रन्थे—

"अत्र (सदसद्भाववर्णनप्रसङ्गे) एतादृशस्य सिद्धान्तस्य मूलमस्ति, यः अनन्तरं बौद्धदर्शने शून्यवादरूपे सुविस्तृतरूपेण विकसितोऽभवत्। आचार्यशङ्करोऽपि समर्थयति यदयं वादः शून्यवादिनां सृष्टेः पूर्वावस्थायां सदभावात्मकं सिद्धान्तं प्रबलयति"[३]। इति।

सृष्टेः प्रागभावावस्थायां सर्वं तमसा आच्छादितमासीत्। अतः सर्वमविज्ञातमिव आसीत्। इदं भौतिकात्मकं जगत् तुच्छ्येन छन्नमासीत्, तच्च तपसा प्रकटीकृतम्। एतत्सर्वं वर्णनं नासदीयसूक्ते कृतं वर्तते। अत्र तुच्छ्य इति शब्दः शून्यस्य निदर्शकः। सर्वं तुच्छ्येन इति शून्येन आच्छन्नमासीत्। अत्र तुच्छ्य इति पदं गुणाकृतिविरहितं वस्तुतत्त्वं निर्दिशति इति डॉ० मुंशीराम शर्मा[४]। एवं वेदगत असद्वाद एव माध्यमिक-शाखायां शून्यवादरूपेण विस्तृततया स्थानमभजत।

ऋग्वेदे योगाचारसिद्धान्ताः

माध्यमिकानां मते सर्वं शून्यं वर्तते, परं योगाचाराणां मते सर्वमेव प्रज्ञानमयम् एतेषां मतानुसारं बहिर्जगतः सत्ता तावदेव यावदस्माकं प्रज्ञानस्य सत्ता वर्तते। यदा वयं

---

१. ऋ०; १।१६४।३९ऋचो अक्षरे परमेव्योमन्–

२. ऋ०; १०।१२९।१

३. We have to understand that a reference was made here to a doctrine which was to become a full fledged in the later denial of existence and the maintainence of a void in Buddhist literature. Shankara in his Commentary states that this may refer to the doctrine of the Buddhist, who said that Sadabhava alone existed before the creation of anything.

(Survey of Upanishhadic Philosophy. P. 180)

४. वेदार्थचन्द्रिका; पृ८ ९७

किमपि प्रत्यक्षीकर्तुमभिलषामः, तदास्माकं प्रज्ञानं तद्वस्तुनः रूपं धारयति, अत एव तस्य प्रत्यक्षं भवति। एतत् जगत् प्रज्ञानस्य प्रतिबिम्बम्। एतद्दर्शनं पाश्चात्यदार्शनिके क्षेत्रे बर्कलेनाम्ना दार्शनिकेन समुपस्थापितम् परं भेदस्तु एष एव यत् बर्कलेमहोदयः एकस्मिन् नित्यतत्त्वे श्रद्दधाति, परं योगाचाराः न विश्वसन्ति तस्मिन्। तदयं प्रज्ञानवादोऽपि ऋग्वेदे उपनिषदि च समुपलभ्यते। ऐतरेयोपनिषदि अभिहितं वर्तते—

"इमानि पञ्चभूतानि पृथ्वी वायुराकाश आपो ज्योतींष्येतानि यत्किञ्चेदं सर्वं तत्र प्रज्ञाननेत्रं, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्। प्रज्ञानं ब्रह्म"[1]।

एतदेव प्रज्ञानम् ऋग्वेदे यज्ञ इति पदेन अभिहितं वर्तते। ऐतरेयोपनिषदनुसारं प्रज्ञानस्य नामधेयेषु क्रतुरपि एकं नामधेयं वर्तते। क्रतुश्च यज्ञस्य पर्यायः। अयं क्रतुः यज्ञो वा ऋग्वेदानुसारं सर्वस्य जगतः मूलकारणम्। यथोक्तं ऋग्वेदस्य पुरुषसूक्ते—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये[2]।

तस्माद्यज्ञरूपात् प्रज्ञानरूपाद्वा परब्रह्मणः पशवः अजायन्त। एतत्सर्वं विज्ञानार्थं ब्रह्मणा प्रज्ञानं रचितं—'सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय', मनुष्यः यथा स्यात्तथा एतत्सर्वं विजानीयादिति कृत्वा प्रज्ञानोत्पत्तिः कृता।

एवं माध्यमिकयोगाचारप्रतिपादितसिद्धान्तानां बीजम् ऋग्वेदे दृश्यते। एवमेव बौद्धदर्शनप्रतिपादितानाम् अनात्मवादक्षणिकवादादिवादानामपि बीजम् ऋग्वेदे वर्तते। परं विस्तरभिया तन्नात्र प्रदर्शितम्। इति शम्।

१. ऐतरेयोपनिषद्; ३।३
२. ऋग्वेद; १०।९०।८

पुरुषमेधयज्ञः

श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसाद त्रिपाठी

बहवो ह्येवं विदन्ति यत्—यथा, अश्वमेधे यज्ञे, अश्वस्य पशोः संज्ञपनं[1] विधाय तदीयानां जौहवादीनामङ्गानां[2] होमैः स यज्ञः सम्पाद्यते, तथैव पुरुषमेधयज्ञेऽपि पुरुषं पुरुषान् वा संज्ञप्य (मनुष्यान् प्राणवियोगानुकूलव्यापारविशेषैः शस्त्राघातं विनैव मारयित्वा) तदीयैरङ्गैः पुरुषमेधयज्ञोऽयं सम्पाद्यत इति। एतद्धि बहवो ब्रुवते लिखन्ति च। पुरा वैदिकसभ्यतायां पुरुषमेधयज्ञे नरमेधयज्ञेतिनाम्नापि लोके ख्याते यागेऽस्मिन् मनुष्या मार्यन्ते स्म, तदीयैरङ्गैर्होमोऽपि तत्र क्रियते स्म, इत्यनेके समुद्घोषयन्ति। कालवशाद्

---

१. शस्त्राघातं विनैव प्राणवियोगानुकूलव्यापारविशेषैर्यज्ञार्थं पशोर्जीवोत्क्रामणं (पशुमारणमिति यावत्) संज्ञपनं नाम।

२. "हृदयं जिह्वां क्रोडꣳ सव्यसक्थिपूर्वनडकं पार्श्वे यकृद्वृक्कौ गुदमध्यं दक्षिणा श्रोणिरिति जौहवानि"। (का० श्रौ० सू० ६।७।६ पृ० २२९)।

हृदयादीनि जुह्वामवदानयोग्यानि प्रधानयागसाधनानि। तत्र क्रोडं=वक्षोभुजान्तरम्। सव्यस्य बाहोः प्रथमं नडकमंसादधो वर्तमानम्। पार्श्वे द्वे=सव्यं दक्षिणं चैकैकं त्रयोदश त्रयोदशवङ्क्र्यात्मकम्। वङ्क्र्यो=वक्राणि पार्श्वास्थीनि। वृक्कौ=कुक्षिस्थौ गोलकौ। एतानि जुह्वामवदेयानि। (सरला वृत्तिः)

"दक्षिणा सक्थिपूर्वनडकं गुदतृतीयाणिष्ठꣳ सव्याश्रोणिरित्यौपभृतानि"

(का० श्रौ० सू० ६।७।६ पृ० २०९)

दक्षिणबाहोः प्रथमनडकमंसादधो वर्तमानं गुदस्य आन्त्रस्य योऽतिकृशस्तृतीयो भागः, सव्या कटिः, इति त्रीण्युपभृत्सम्बन्धीनि स्विष्टकृदवदानानि। एतानि अभञ्जन् पशुदेहात् पृथक् कृत्वा गृह्णीयात्। (सरला वृत्तिः)

"वर्षिष्ठमुपयड्भ्यः" (का० श्रौ० सू० ६।७।८ पृ० २२९)

यदतिस्थूलं गुदतृतीयं तदुपयड्ढोमार्थमवद्येत्। (सरला वृत्तिः)

देशे तादृशानां वैदिककर्मणां वर्तमानायां ह्रासदशायामस्यां प्रयोगरूपेण तेषां दर्शनावसरस्यानुपलब्धेः, उद्घोषोऽयं भूयोभूयो जनचर्चाया विषयीभूय प्रायः प्रामाणिकतां भजमान इवास्ते। किन्तु भ्रममूलकोऽप्रामाणिकोऽयमुद्घोषः। यतो हि कस्मिंश्चिदपि वेदे कस्याञ्चिदपि वेदशाखायां कस्मिंश्चिदपि श्रौतसूत्रे वा तथोक्ते पुरुषमेधयज्ञे पुरुषसंज्ञपनस्य (मनुष्यमारणव्यापारविशेषस्य) उल्लेखो नास्ति।

पुरुषमेधो हि—

"स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं[1] दर्शपूर्णमासौ[2] चातुर्मास्यानि[3] पशुः[4] सोमः"

इत्यत्र निर्दिष्टस्य सोमस्य (सोमयज्ञस्य)[5] यानि विविधानि रूपाणि सन्ति,

---

१. अग्न्युद्देश्येन सायंप्रातः क्रियमाणो होमविशेषोऽग्निहोत्रं नाम। तत्र पय आज्यादीनि बहूनि द्रव्याणि ऋत्वङ्गतया समाम्नातानि, किन्तु पय एवात्र मुख्यं होमद्रव्यमस्ति, आज्यादीनि तु गौणानि सन्ति। अग्निहोत्रशब्दोऽयं तत्प्रख्यन्यायेन कर्मनामधेयमस्तीति पूर्वमीमांसायाम् (१।४।४) निर्णीतम्।

२. इमौ च यागविशेषौ यथाक्रमममायां पूर्णिमायां चोभौ भवतः। अमायां पूर्णिमायां चानुष्ठेयत्वात् कर्मणोरनयोर्दर्शपूर्णमासाविति संज्ञा। अत्रामायां त्रयः पूर्णिमायां च त्रयः, उभयत्र मिलित्वा षड्यागा भवन्ति। उभयत्र मिलित्वा यागषट्कर्माणि। इदमेकमेव कर्म दर्शपूर्णमासपदवाच्यमिति तत्त्वम्। अस्य दर्शपूर्णमासकर्मणः पूर्णं स्वरूपं का० श्रौ० सू० २-३ अध्याययोः विवृतमस्ति।

३. चतुर्षु मासेष्वनुष्ठेयत्वाच्चातुर्मास्यानीति कर्मविशेषाणां संज्ञा। अत्र वैश्वदेवम्, वरुणप्रघासाः, साकमेधाः, शुनासीरीयम् चेति चत्वारि पर्वाणि भवन्ति। अस्य पूर्णो विधिः का० श्रौ० सू० पञ्चमाध्याये द्रष्टव्यः।

४. पशोर्वपाहृदयजिह्वादीनां होमविशेषैः सम्पाद्यो यागविशेषः पशुयागः। पशुयागस्य सर्वेऽपि धर्मा निरूढपशुबन्धाख्ये पशुयागे का० श्रौ० सू० षष्ठेऽध्याये निर्दिष्टाः विवृताश्च सन्ति (तत्र प्रतिसंवत्सरं वर्षतौ नित्यकर्तव्यत्वेनायं निरूढपशुयागो विहितोऽस्ति) किन्तु नायं यागः पशुयागानां प्रकृतिभूतः। श्रुत्यनुसारेण ज्योतिष्टोमाङ्गभूताग्नीषोमीयपशुयाग एव सर्वेषां पशुयागानां प्रकृतिरस्ति।

५. अत्र कस्माच्चित् पुरुषात् सोमलतां क्रीत्वा ततो रसं निष्कास्य तेन रसेन होमः क्रियते, अतो विभिन्नक्रियाकलापसहितोऽयं यागविशेषः सोमयज्ञेति नाम्ना समाख्यायते। अस्य (सोमयागस्य) १. अग्निष्टोमः, २. अत्यग्निष्टोमः, ३. उक्थः, ४. षोडशी, ५. वाजपेयः, ६. अतिरात्रः, ७. अप्तोर्याम इति सप्त संस्था मुख्याः सन्ति। एवमेव विभिन्ननामभिः ख्याताः सहस्रशः सोमयज्ञाः शास्त्रनिर्दिष्टा विराजन्तेतमाम। तेषां सर्वेषां सोमयागानां प्रकृतिरग्निष्टोम सोमयाग एवास्ति।

तेष्वेव रूपेष्वेको रूपविशेषोऽस्ति । यागोऽयं (पुरुषमेधः) अतिष्ठाकामनया क्रियते। भूतान्यतिक्रम्य यत् स्थानं तदेव अतिष्ठा, तस्या अतिष्ठायाः कामनायां सत्यां पुरुषमेध-यज्ञोऽयमनुष्ठीयते, किन्तु तत्र सर्वे नाधिकृताः सन्ति। अस्य पुरुषमेधयागस्य ब्राह्मण-राजन्या एवाधिकारिणो नान्य इति । अतिष्ठाकामाभ्यां ब्राह्मण[1]राजन्याभ्या-मेवानुष्ठातुं शक्यते । अत्र यागे त्रयोविंशतिदिनानि यावत् प्रतिदिनं दीक्षा[2] भवति, ततो द्वादशदिनानि यावत् प्रतिदिनमुपसदिष्टिः[3]। ततः परं पञ्च दिनानि यावत्

अस्यैव (अग्निष्टोमयागस्यैव) सर्वे धर्मा उत्तरेषु सकलसोमयागेषु प्रवर्तन्ते। यज्ञा-यज्ञियाख्येनाग्निष्टोमनाम्नाऽस्य यज्ञस्य संस्था (समाप्तिः) भवति, अतो यागोऽय-मग्निष्टोम इत्युच्यते। अत्र यागे मुख्या षोडश एव ऋत्विजो भवन्ति, येषां वरणं यागादौ विधाय तैः सर्वाः क्रियाः साध्यन्ते ।

"षोडशर्त्विजो ब्रह्मोद्गातृ-होत्रध्वर्युब्राह्मणाच्छंसि-प्रस्तोतृ-मैत्रावरुण-प्रतिप्रस्थातृ-पोतृ-प्रतिहर्त्रच्छावाक-नेष्ट्रग्नीत्-सुब्रह्मण्य-ग्रावस्तु-दुन्नेतृन् वृणीते" (का० श्रौ० सू० ७।१।७) ।

इमे षोडशाप्यृत्विजो गणचतुष्टयेन विभक्ताः सन्तो यज्ञकार्यं निर्वहन्ति ।

यथा—

(क) अध्वर्युगणः—१. अध्वर्युः, २. प्रतिप्रस्थाता, ३. नेष्टा, ४. उन्नेता ।

(ख) ब्रह्मगणः—१. ब्रह्मा, २. ब्राह्मणाच्छंसी, ३, पोता, ४. अग्नीत् (आग्नीध्रः) ।

(ग) होतृगणः—१. होता, २. मैत्रावरुणः (प्रशास्ता), ३. अच्छावाकः, ४. ग्रावस्तुत् ।

(घ) उद्गातृगणः—१. उद्गाता, २. प्रस्तोता, ३. प्रतिहर्त्ता, ४. सुब्रह्मण्यः ।

१. "पुरुषमेधस्त्रयोविंशतिदीक्षोऽतिष्ठाकामस्य" (का० श्रौ० सू० २१।१।१), "ब्राह्मण-राजन्ययोः" (का० श्रौ० सू० २१।१।२; शतपथ १३।६।१ पृ० १२६) चापि द्रष्टव्यम् ।

२. एकस्मिन् दिने कर्त्तव्यतया विहिता नियमविशेषा दीक्षाशब्देनोच्यन्ते। दीक्षा-स्वरूपविज्ञानार्थं (का० श्रौ० सू०) ७।२।५ तः ७।५।११ सू० पृ० २४७ तः२६० यावद् द्रष्टव्यम्।

३. "प्रणीताद्युपसत्" (का० श्रौ० सू० ८।२।१६) इत्यत्र निर्दिष्टं प्रणीतादीति शब्दोपलक्षितवाचस्पतिसम्प्रैषमारभ्य क्रियमाण आज्यद्रव्यकाग्निसोमविष्णु-प्रधानदेवताकहोमप्रभृतिधर्मवदिष्टिविशेष उपसदिष्टिः । अस्याः स्वरूपं का० श्रौ० सूत्रे ८।२।१६-३६ पृ० २८०-२८३ स्थले द्रष्टव्यम ।

प्रत्यंह सुत्या[1] भवति । एवं हि २३+१२+५=आहत्य चत्वारिंशद् दिनैरयं पुरुषमेधयज्ञः सम्पन्नो भवति। अत्र सर्वत्र सुत्यासु नियमेन यूपैकादशिनी[2], पत्नीयूपः,[3] उपशययूपश्च[4] भवति। ऐकादशिनाः पशवोपि नियमत एव विहिताः सन्ति। उक्तानि ५ सुत्यादिनान्येत्र पुरुषमेधयज्ञस्य प्रधानदिनानि सन्ति । एषु पञ्चसु सुत्यादिनेषु प्रथमे पञ्चमे च दिनेऽग्निष्टोमसंस्थाकः सोमयागः, द्वितीये चतुर्थे च दिने उक्थसंस्थाकः सोमयागः, तृतीये दिनेऽतिरात्रसंस्थाकः सोमयागश्चानुष्ठीयते । यथाह भगवान् कात्यायनाचार्यः—

"अग्निष्टोमावन्तरेणातिरात्र[5] उक्थपक्षः" (का० श्रौ० सू० २१।१।३)

---

१. यस्यां क्रियायां सोमलताऽभिषूयते सा सुत्या। अस्याः स्वरूपं का० श्रौ० सू० ९। १-५ कण्डिकासु विवृतमस्ति। सोमलता सम्प्रति भारतदेशे नोपलभ्यते अतः तत्स्थाने पूतिकासंज्ञकं लतान्तरमेवाभिषूय कार्यं चाल्यते। सोमलतास्वरूपम्—

श्यामलाऽम्ला च निष्पन्ना क्षीरिणी त्वचि मांसला।
श्लेष्मला वमनी वल्ली सोमाख्या छागभोजनम् ॥

इत्यादिना आयुर्वेदशास्त्रेणावगन्तव्यं भवति। नेदानीमस्माकमक्षिगोचरेयं लता।

२. विशेषविधिना सम्पादितः काष्ठस्तम्भविशेषो यूपो नाम। अस्य स्वरूपादिज्ञानार्थं का० श्रौ० सू० ६।१।३-३२ तथा ६।२।७-२१ एवं ६।३।१-१६ पृ०२१२-२२० तथा का० श्रौ० सू० ८।८।१-२७ पृ० ३०८-३१२ द्रष्टव्यम्। प्रधानपशूनां बन्धनार्थं य एकादश यूपा भवन्ति ते सम्भूय 'यूपैकादशिनी' इतिनाम्ना व्यपदिश्यन्ते। तत्र प्रतियूपमेकैकः पशुर्बद्धो भवति, एवं सम्भूय पशवोऽप्येकादश यूपैकादशिन्यां भवन्ति। ते चापि 'ऐकादशिनाः' इत्युच्यन्ते।

३. शालाद्वार्येव निखातः पञ्चहस्तः पात्नीवतपशुबन्धनार्थो यूपः पत्नीयूप इत्युच्यते (का० श्रौ० सू० ८।८।३७ पृ० ३१४ स्थले द्रष्टव्यं स्वरूपम्)। अत्र पत्नीयूपे त्वाष्ट्रः पशुर्बध्यते, 'त्वाष्ट्रः पशुः पत्नीयूपे' (का० श्रौ० सू० ८।६।१। पृ०११४) इति वचनात्।

४. यूपैकादशिन्या सह द्वादशो यूपः सकलोऽतष्टः, अतिशयेन महतो दक्षिणयूपाद्दक्षिणं भूमौ स्थाप्यते न च निखन्यते, स एव यूप उपशययूप इत्युच्यते। अस्य प्रयोजनं च आपस्तम्बश्रौतसूत्रे—"आरण्यं पशुमाखुं वोपशये निर्दिशेत्" (आप० श्रौ० सू० १४।७) इत्युक्तम्। (का० श्रौ० सू० ८।८।२२ टीका पृ० ३१२)।

५. [अग्निष्टोमौ, अन्तरेण] अग्निष्टोमयोर्मध्ये [उक्थपक्षः] उक्थ्यौ पक्षाविवोभयतो वर्तमानौ भवतो यस्यामतिरात्रस्य स उक्थ्यपक्षः (अतिरात्रः) अतिरात्रसंज्ञको यागो विधेय इति सत्रार्थः (का० श्रौ० सू० २१।१।३ सरलावृत्तिः)।

एवं हि प्रथमदिने अग्निष्टोम[1]नामकः सोमयागः, द्वितीयदिने उक्थ[2]नामकः सोमयागः, तृतीयदिनेऽतिरात्र[3]नामकः सोमयागः, चतुर्थदिने पुनरुक्थनामकः सोमयागः, पञ्चमदिने च पुनरग्निष्टोमनामकः सोमयागो भवति । पशवोऽप्येकादशैकादश[4] प्रतिदिनं भवन्ति, ते चैकैकरूपेण प्रतियूपं यथा स्युस्तथा नियुज्यन्ते । क्षत्रियकर्तृके पुरुषमेधयागे दक्षिणा चाश्वमेधवद् भवति । अश्वमेधयागे दक्षिणात्वेन पूर्वं दिग्विजयसमये प्राचीदिक्तो यद् धनमवाप्तं भवति, तत् त्रेधा विभज्यते । एको भागो होत्रे दीयते । तथैव याम्यदिग्लब्धधनस्य तृतीयांशो ब्रह्मणे, प्रतीचीदिगवाप्तधनस्य तृतीयांशोऽध्वर्यवे, उत्तरादिग्लब्धधनस्य तृतीयांश उद्गात्रे च प्रदीयते । अवशिष्टं च यद् अंशद्वयं तत् तथैवानन्तरयोः सुत्यादिवसयोस्तेभ्य एव होत्रादिभ्यो यथापूर्वं प्रदीयते । तत्र (अश्वमेधे) अह्नां त्रिसंख्यत्वात् प्रतिदिनं तृतीयस्तृतीयोंऽशो दक्षिणात्वेनोक्तोऽस्ति, किन्त्वत्र (पुरुषमेधयज्ञे) सुत्यादिनानां संख्यापञ्च अस्ति, अतः (अह्नां पञ्चसंख्याकत्वात्) प्राच्यादिदिगुत्पन्नस्य द्रव्यस्य पञ्चभागान् विधाय प्रतिदिनं पञ्चमः पञ्चम एव भागो दक्षिणात्वेन तथैव यथाक्रमं प्रदीयते, तथा तत्र (अश्वमेधे) भूमि-पुरुष-ब्राह्मणस्वदक्षिणा न दीयते । तादृशी दक्षिणा तत्र निषिद्धास्ति[5] । परमत्र (पुरुषमेधे) तु दक्षिणात्वेन पुरुषा अपि प्रदीयन्ते ।

---

१. प्रगीत्यधिकरणीभूतर्क्संख्यावाची स्तोमशब्दः । स चात्र लक्षणया तत्सम्बद्धयज्ञायज्ञियाख्यस्तोत्रविशेषकरणकस्तुतिपरो ज्ञेयः । अग्नेः स्तोमः स्तुतिर्यस्मिन् सोऽग्निष्टोमः । अग्निस्तुतिसम्पादकेन यज्ञायज्ञियनामकेन स्तोत्रेण संस्था (समाप्तिः) यस्य सोऽग्निष्टोमः । अयं च यज्ञः "स प्रथमः सोमानाम्" (सत्याषाढ श्रौ० ७।१) इति सूत्रात् प्रथमः सोमयागः सर्वसोमयागप्रकृतिः ।

२. उत्थाप्यते सोमोऽनेनेत्युक्थ्यः । उक्थ्यनामकानि (अग्निष्टोमेभ्यो द्वादशस्तोत्रेभ्य उपरितनानि त्रीणि) स्तोत्राणि यस्मिन् यज्ञे स उक्थ्यः । तेनोक्थ्यसंस्थाके सोमयागेऽत्र पञ्चदशस्तोत्राणि तावन्त्येव शस्त्राणि भवन्ति ।

३. उक्तोक्थ्यस्तोत्रानन्तरं यत्र षोडश्याख्यं स्तोत्रं क्रियते, स षोडशिसंस्थाकः सोमयागः, यत्र च षोडशिस्तोत्रानन्तरमतिरात्रसंज्ञकानि सामानि गीयन्ते सोऽतिरात्रसंस्थाकः सोमयागः कथ्यते ।

४. "ऐकादशिनाः सुत्यासु पशवो भवन्ति" (शत० ३।६।१ पृ० १२८) इति श्रुतेः ।

५. "विजयमध्याद्धोतुः प्राची दिग् दक्षिणा ब्रह्मणोऽध्वर्योः प्रतीच्युद्गातुरुदीची तृतीयतृतीयमन्वहं ददाति भूमिपुरुषब्राह्मणस्ववर्जम्" (का० श्रौ० सू० २०।४।२७ पृ० १८७) अश्वमेधे यथा भगवान् रामोऽपि—

होत्रेऽददाद् दिशं प्राचीं ब्रह्मणे दक्षिणां प्रभुः ।
अध्वर्यवे प्रतीचीं च उदीचीं सामगाय सः ।। (भा० ९।११।२)

'सपुरुषमश्वमेधवद्दक्षिणा' (का० श्रौ० सू० २१।१।१४ पृ० १९६) इति वचनात्।

ब्राह्मणकर्तृके पुरुषमेधे तु सर्वस्वमेव दक्षिणा भवति। पुरुषमेधस्य कर्त्रा ब्राह्मणेन सर्वस्वमेव दक्षिणात्वेन दातव्यमित्येवं विधिरस्ति। अतः पुरुषमेधे ब्राह्मणेन सर्वस्वं तथैव विभज्य प्रदीयते।

'सर्वस्वं ब्राह्मणस्य' (का० श्रौ० सू० २१।१।१५) इति वचनात्। अत्र (पुरुषमेधे) सुत्यायास्तृतीये दिने।

अतिरात्रसंस्थे दिवसे

यूपैकादशिन्यां प्रतियूपं त्वेकैकम् ऐकादशिनं पशुं मध्यमे च पुनर्यूपे ब्राह्मणादीन् (ब्रह्मणे ब्राह्मणं० वा० सं० ३०।५ तः। प्रकामोद्यायोपसदम्० ३०।९ इत्यन्तान् उक्तान्) अष्टाचत्वारिंशत्संख्याकान् पुरुषांश्च नियुज्य इतरेषु दशसु यूपेष्वपि एकादशैकादश पुरुषास्तथा पुनश्च द्वितीये यूपे षड्विंशतिः पुरुषा नियुज्यन्ते, तेन मिलित्वा सर्वे ४८+(११×१०=११०)+२६=१८४ चतुरशीत्युत्तरशतं पुरुषा यूपेषु निबद्धा भवन्ति। एतेऽत्र यूपेषु निबद्धा चतुरशीत्युत्तरशतं पुरुषा एव 'पुरुषमेधः' इति यज्ञ-विशेषवाचकसंज्ञायाः प्रवृत्तिनिमित्तभूताः सन्ति, किन्त्वेतेषां तत्र (पुरुषमेधयज्ञे) संज्ञपनं (शस्त्राघातं विना प्राणवियोगानुकूलव्यापारविशेषैर्मारणमिति यावत्) न भवति, प्रत्युत यूपेषु निबद्धान् तान् पुरुषान् ब्रह्मा पुरुषेण नारायणेन[1] अर्थात् नारायणपुरुषदृष्टेन षोडशर्चेन सहस्रशीर्षा (शु० य० वा० सं० ३१।१-१६) इत्यनुवाकेन पुरुषसूक्तेतिनाम्ना ख्यातेन मन्त्रसमूहेन नारायणात्मना भावयित्वा स्तौति। परमपुरुषनारायणात्मना ध्यानसमय एवोक्तपुरुषसूक्तमन्त्रान् ब्रह्मा पठति। पुरुषसूक्तमिदं तदर्थमेव प्रवृत्तमस्ति। ब्रह्मणे ब्राह्मणं (वा० सं० ३०।५-२२) इत्यत्र प्रोक्ता ब्राह्मणादयो ये पशवः पुरुषमेधरूपस्य परमात्मनोऽवयवाः सन्ति, तेषामवयवी पुरुषो यो ह्यव्यक्तमहदादिविलक्षणश्चेतनः

आचार्याय ददौ शेषा यावती भूस्तदन्तरा।
मन्यमान इदं कृत्स्नं ब्राह्मणोऽर्हति निःस्पृहः॥ (भाग० ९।११।३)

१. नियुक्तान् पुरुषान् ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारायणेनाभिष्टौति सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादित्येतेन षोडशर्चेन षोडशकलं वा ऽइदँ सर्वँ सर्व-म्पुरुषमेधः सर्वस्याप्त्यै सर्वस्यावरुद्ध्याऽइत्थमसीत्थमसीत्युपस्तौत्येवैनमेतन्महय-त्येवाथो यथैष तथैनमेतदाह तत्पर्यग्निकृताः पशवो बभूवुरसंज्ञप्ताः॥"
(शत० १३।६।२।१२ पृ० १३४)।

अस्य भाष्ये—
नारायणार्थं सूक्तमेवेदं नारायणमिति सायणः (१३५ पृष्ठे)।

'पुरुषान्न परं किञ्चित्' इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धः सर्वप्राणिसमष्टिरूपो ब्रह्माण्डदेहो विराजाख्योऽस्ति, स एव परमपुरुषो नारायणोऽत्र सूक्ते स्तूयते।

ततः सर्वान् पुरुषान् जीवत एव उत्सृजति '''तत्पर्यग्निकृताः पशवो बभूवुरसंज्ञप्ताः' (शत० १३।६।२।१२ पृ० १३४) इति श्रुतेः। पुरुषोत्सर्गानन्तरं यासां देवतानां कृते पुरुषा निबद्धा भवन्ति, ताभ्यः सर्वाभ्यो देवताभ्य आज्यस्यैकैकाहुतिर्दीयते[1]।

अन्ते च कर्त्ता आत्मनि (स्वशरीरे, आस्ये) अग्नी[2] समारोप्य 'अद्भ्यः सम्भृतः' (वा० सं० ३१।१७–२२) इत्युत्तरनारायणेनानुवाकेन[3] भगवन्तं भुवनभास्करं सूर्यनारायणं समुपस्थाय पश्चादनवलोकयन्नेवारण्यं गच्छति, यावज्जीवं तत्रैव वसति, पुनः कदाचिदपि ग्रामं नागच्छति। वानप्रस्थो भवतीत्यर्थः।

अथवा यदि ग्रामवासस्येच्छा[4] भवति, तदा अरण्योरेवाग्नी (नात्मनि) समारोप्य सूर्यमुपस्थाय स्वगृहमागच्छति। इदमेव संग्रहेण पुरुषमेधयज्ञस्य स्वरूपमस्ति। पूर्णं स्वरूपं तु संहिताब्राह्मणकल्पसूत्रैरेव बोद्धुं शक्यते। पुरुषमेधयज्ञप्रतिपादकानां तत्तद्ग्रन्थानां परिशीलनेन सुस्पष्टं निर्विवादं चैतदवगतं भवति यत् पुरुषमेधयज्ञे पश्वतिरिक्तेषु पशुवद्यूपनियुक्तेषु पुरुषपशुषु कस्यचनैकस्यापि पुरुषस्य वधः, कस्यचन पुरुषावयवस्यावयवांशस्याप्युपघातो वा न भवति। अश्वमेधप्रभृतिपदघटकेन यज्ञशब्दापरपर्यायभूतेन मेधशब्देन पुरुषशब्दयोगः (पुरुषमेध इति यावत्) न पुरुषस्य साक्षाद् हवनादिकर्मनिर्देशकः, अपितु वस्तुतः पुरुषसंयोग प्राधान्यावेदक एव। अतो लोके नरमेध इति नाम्नापि प्रसिद्धे पुरुषमेधयज्ञे कथमपि पुरुषाहुतेः पुरुषसंज्ञपनस्य (पुरुषमारणस्य) शङ्का नोचिता। पुरुषेण साक्षात् नारायणेन दृष्टोऽयं पुरुषमेधयज्ञो ब्राह्मणेन राजन्येन चातिष्ठाकामेन तथा ब्राह्मणेन गृहं परित्यज्य वनगमनकामनायां गृहात् प्रव्रजनकालेऽपि समनुष्ठीयते स्म, यथोक्तं भगवता

---

१. 'अथ हैनं वागभ्युवाद। पुरुष मा सन्तिष्ठिपो यदि सँस्थापयिष्यति पुरुष एव पुरुषमत्स्यतीति तान्पर्यग्निकृतानेवोदसृजत्तद्देवत्या ऽआज्याहुतीरजुहोत्ताभिस्ता देवता ऽअप्रीणात्ता ऽएनम्प्रीता ऽअप्रीणन्त्सर्वैः कामैः'।

(शत०१३।६।२।१३ पृ०१३४)।

२. गार्हपत्याहवनीयाग्न्यभिप्रायेणात्र द्विवचनं ज्ञेयम्।

३. नारायणार्थः 'अद्भ्यः सम्भृतः' (वा० सं० ३१।१७–२२) इत्यनुवाको नारायणः। स पूर्वस्मात्. नारायणात् (सहस्रशीर्षेति० ३१।१–१६ वा० सं०) अनुवाकात् पुरुषसूक्तेति नाम्ना प्रसिद्धात्) उत्तरः, अतएव उत्तरनारायणः इति शतपथ-१३।६।२।२० सायणभाष्ये।

४. 'ग्रामे वा विवत्सन्नरण्योः' (का० श्रौ० सू० २१।१।१८)।

श्रीमनुना—

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।
आत्मन्यग्नी[1] समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥
(मनु० ६।३८)

अत्र ब्राह्मणस्य गृहात् प्रव्रजनकाले या प्राजापत्या इष्टिरुक्तास्ति सा इयमेव पुरुषमेधाख्येष्टिः (यज्ञः) अस्ति। पुरुषमेधयज्ञे प्राजापत्याः पशवो भवन्त्यतस्तदुपलक्षितत्वेन पुरुषमेधो हि प्राजापत्या इष्टिः, प्राजापत्ययज्ञविशेषोस्ति। उक्तञ्चैतत् का० श्रौ० सू० २१।१।१७ कर्कभाष्ये।

इति शम्।

१. गार्हपत्याहवनीयेत्यग्निद्वयाभिप्रायेणात्र द्विवचनम् 'अग्नी' इति ज्ञेयम्।

ऋग्यजुस्सामवेदेषु दृष्टाः रुद्रसूक्तमन्त्राः

पी० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री

इदानीं दक्षिणभारतप्रदेशे जपेषु होमेषु च ऋग्वेदीयैः प्रायः ऋग्वेदीयरुद्रः, यजुर्वेदीयैः- यजुर्वेदरुद्रः, सामवेदीयैः सामवेदरुद्र एव पठ्यते। तथैव प्राचीनैः कृतो वा, वेदत्रय- गतरुद्रमन्त्रपठनं कृतं वा इति भवतिसंशयः। तत्संशयस्य कारणमत्र विचार्यते—'मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकम्'। इत्यादियजुर्वेदमन्त्रैः ईप्सितार्थप्रतिबन्धकानां निराकरणं प्रार्थ्यते इति प्रतिभाति।

आ ते पितर्मरुतां सुम्नमेतु मा नः सूर्यस्य सन्दृशो युयोथाः।

अभि नो वीरो अर्वति क्षमेत प्रजायेमहि रुद्र प्रजाभिः॥

त्वादत्तेभी रुद्र शंतमेभिः हातं हि मा अशीय भेषजेभिः। (२ अष्टके ७, १६)

इत्यादि ऋग्वेदगतमन्त्रैः ईप्सितार्थः प्रार्थ्यते। सामवेदरुद्रान्ते स्थितानां देवव्रतसाम्नां त्रयाणां गानेन अधोनिर्दिष्टं फलं जायत इति सामविधानब्राह्मणे प्रतिपादितम्। तथा हि — सम्प्राप्ते भये मार्गे प्रयोगमाह—प्रतिभये अध्वनि देवव्रतमाद्यं गीत्वा मध्यममा- वर्तयेत्, गतेऽध्वनि उत्तमं समापयित्वा विरमेत्।

तेन ऋग्वेदीयैः यजुर्वेदीयैः सामवेदीयैश्च स्वकर्मसु वेदत्रयगतरुद्रपठनं यदि क्रियते तत् श्रेयस्करमिति मे मतिः। तथैव प्राचीनैः कृतं स्यात् यतः तैः निखिलवेदाध्ययनं कृतमिति 'वेदान् अधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्' इति धर्मशास्त्रकारैरुक्तम्॥
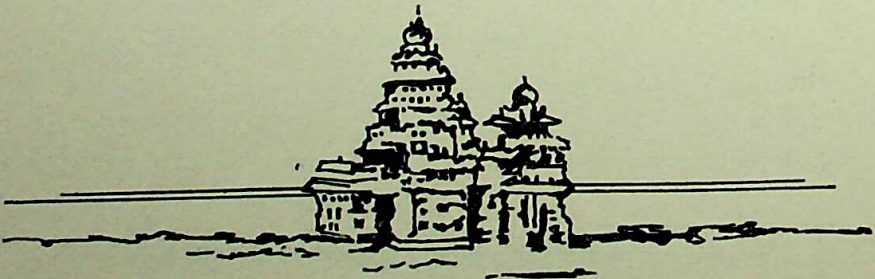
डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थः

योगरहस्ये समाधितत्त्वविमर्शः

आदित्यनाथो गुणिनां गुणज्ञो विद्वान् समर्थो निपुणः प्रशस्तः।
पुण्यप्रकर्षात्पदवीं महार्हां प्रहूयतेऽधिष्ठित आदरेण ॥१॥

बुद्धिर्यथा कर्म यथा समुच्चैस्तथा कुलं श्रोत्रियमस्य पुंसः।
पिताऽपि देवेषु समर्चनीयः श्रीजाह्नवीनाथ इति प्रतीतः ॥२॥

प्रशासतां भारतभूमिमग्र्यामन्वेषयन्ती गुणगौरवाढचम्।
यमाप्य दृष्टिः परिपूर्णकामा वभूव सोऽयं सततं समर्घ्यः ॥३॥

तं क्लेशकर्माशयविप्रयुक्तं श्रीशंकरं विश्वगुरुं प्रणम्य।
वितन्यते योगवियोगभूती रामेण पातञ्जलयोगभूतिः ॥४॥

॥ समाधितत्त्वविमर्शः ॥

पातञ्जलाङ्घ्रिकमलं विमलं नितान्तं लीलाकरं सकलशोकसमूहनाशम्।
योगानुशासनरसालतरुं विशालं मोक्षाख्यमुख्यफलदं नितरां नमामि ॥५॥

चित्तस्य वृत्तेरवरोध एव योगः समुक्तः खलु योगतन्त्रे।
सञ्जायते योगसमुद्भवेऽस्मिन् निजे स्वरूपे स्थितिरात्मनश्च ॥६॥

सत्यां निरोधस्थितिशून्यवृत्ता वात्मस्वरूपं सदृशञ्च वृत्तेः।
क्लेशेन युक्ता रहितापि वृत्तिः पञ्चप्रकारा भवति द्विधेयम् ॥७॥

उक्तं प्रमाणञ्च विपर्ययश्च विकल्पनिद्रास्मृतयस्तथैताः।
तत्र प्रमाणं वचनानुमानं प्रत्यक्षमित्याकलितं मुनीन्द्रैः ॥८॥

यथार्थभिन्ना विपरीतबुद्धिर्विपर्ययत्वेन सुकीर्तितास्ति।
ज्ञानं विकल्पो विषयाद्विहीनं ज्ञानेन शब्दस्य समं समुक्तः ॥९॥

अभाववुद्धेरवगाहिनी या वृत्तिस्तु सा कथ्यत एव निद्रा ।
यदानुभूतस्य च वस्तुनः स्याज्ज्ञानं तदा सा स्मृतिरीरितास्ति ।।१०।।

अभ्यासवैराग्यत एव तस्या वृत्तेर्निरोधो भवितुं सुशक्तः ।
स्थैर्याय चित्तस्य महान् प्रयत्नोऽभ्यासः समुक्तः खलु योगशास्त्रे ।।११।।

दार्ढ्याय दीर्घक्षणसेवितस्स सत्कारसेवा परिपोषितश्च ।
सातत्यसाहित्यरसान्वितो हि व्युत्थानसंस्कारवशं न याति ।।१२।।

श्रुतेऽथ दृष्टे समवस्तुजाते वैराग्यमुक्तं यदि जीर्णतृष्णम् ।
चित्तं भवेत्ख्यातित एव पुंसो गुणेषु तृष्णाविरहः परं तत् ।।१३।।

आनन्दतर्कानुगमाद्विचाराऽस्मिताभिसम्बन्धत एव योगः ।
प्रज्ञातनाम्ना व्यपदिष्ट आस्ते मुक्तिस्पृहैर्लालित एष पन्थाः ।।१४।।

विरामवुद्धचभ्यसनं यदीयावस्थास्ति पूर्वा च तथास्ति चित्ते ।
संस्कारशेषः कथितस्ततोऽन्यो योगः सदा साधक सङ्घसेव्यः ।।१५।।

विधूतदेहप्रकृतिस्थितीनां योगो भवप्रत्यय ईरितोऽस्ति ।
श्रद्धा च वीर्यं स्मरणं समाधिः प्रज्ञा परेषां क्रमशः प्रसिद्धचेत् ।।१६।।

येषां भवेत्साधनतीव्रवेगस्तेषां द्रुतं सिद्धचति साध्ययोगः ।
मृदुत्वमध्यत्ववहुत्वयोगाद् विशेषभेदो भवतीह तन्त्रे ।।१७।।

भक्त्येश्वरस्यापि समाधियोगः सिद्धिं समासादयतेऽतिशीघ्रम् ।
क्लेशाद्विपाकाशयकर्मतश्चास्पृष्टः पुमानीश्वर ईरितोऽस्ति ।।१८।।

तत्रेश्वरे राजत एव वीजं सर्वज्ञतायाश्च तथा महीयः ।
गुरुः समेषामपि पूर्वजानामस्तीश्वरो नास्ति तु कालमाप्यः ।।१९।।

तद्वाचकोऽस्ति प्रणवस्तदर्थं विचिन्तयेत्तस्य जपोऽपि कार्यः ।
ततो भवेद्विघ्नविनाश एव तथान्तरात्मावगमोऽपि वाच्यः ।।२०।।

व्याध्यादयस्ते नव सन्ति विघ्नाश्चित्तस्य विक्षेपविधानदक्षाः ।
दुःखादिपञ्चापि सहैव जाता भिन्नान्तरायाः कथितैस्तथैभिः ।।२१।।

एतद्द्विधाविघ्नविनाशहेतोरेकस्य तत्त्वस्य पुनः पुनः स्यात् ।
अभ्यासकार्यं च भवेदवश्यमेकाग्रता संशय एव नात्र ।।२२।।

मैत्र्यादिभावेन मनोऽमलं स्यात् प्राणस्य विच्छर्दनधारणाभ्याम् ।
इत्थं प्रवृत्तिर्विषयेण युक्ता मनःस्थितेर्बन्धनकारिणीयम् ।।२३।।

ज्योतिष्मती वा ननु शोकशून्या मनःस्थितौ बन्धनमादधाति ।
एवं विरक्तं विषयी करोति चित्तं च यत्तल्लभते स्थिरत्वम् ।।२४।।

स्वप्नस्थितेर्ज्ञानिकरञ्च निद्राज्ञानस्थितेर्लम्बनकारकञ्च ।
चित्तं स्थिरं स्यात्तु समीहितस्य ध्यानाद् भवत्येव मनः स्थिरं तत् ।।२५।।

अणोः परत्वात्परमं महत्त्वं यावद् भवेदस्य वशीकृतित्वम् ।
स्थिरस्य चित्तस्य च योग्यतेयं ज्ञातुं सदा शक्यत एव सर्वैः ।।२६।।

वृत्तिक्षये स्फटिकवद् विमलं मनस्तद् ग्राह्ये ग्रहीतरि तथाग्रहणे समस्मिन् ।
तत्स्थं तदाकृतिगतं प्रभवेद् यदा हि प्रज्ञातयोग इति संकथितस्तदा सः ।।२७।।

ज्ञानार्थशब्दात्मविकल्पमिश्रो वितर्कयुक्तः कथितः समाधिः ।
लुप्तस्मृतावर्थविभासमात्रं समाधिरास्ते ननु निर्वितर्कः ।।२८।।

एतद्द्वयेनैव विचारयुक्तो विचारशून्यश्च समाधिरुक्तः ।
सूक्ष्मार्थको यावदलिङ्गमास्ते सूक्ष्मार्थता स्पष्टतया समुक्ता ।।२९।।

त एव बीजेन युतः समाधिर्यतो हि तत्रास्ति च चित्तवृत्तिः ।
स्वच्छे समाधौ सति निर्विचारेऽध्यात्मप्रसादं यतयो लभन्ते ।।३०।।

ऋतम्भरा बुद्धिरुदेति तत्र नृणां समाधिस्थितमानसानाम् ।
श्रुतानुमानोद्भवबुद्धिभिन्ना विशेषतश्चेयमहोऽस्ति बुद्धिः ।।३१।।

संस्कार आस्ते च तदुद्भवोऽन्यः संस्कारवन्धी खलुमुक्तिदोऽयम् ।
तस्यापि रोधे सकलोऽपि रुद्धस्तदा च निर्बीजसमाधिरुक्तः ।।३२।।

।। समाधितत्त्व-विमर्शः समाप्तः ।।

।। अथ साधनतत्त्वविमर्शः ।।

आद्यं तपः स्वाध्ययनं द्वितीयं तथेश्वरस्य प्रणिधानमेतत् ।
त्रयं क्रियायोगतया प्रदिष्टं कैवल्यकामाय च चित्तशुद्ध्यै ।।१।।

एतत्क्रियायोगतया समाधेः सिद्धिस्तथा क्लेशगणस्य हानिः ।
रागास्मिताद्वेषनिवेशरूपाः क्लेशा अविद्याः कथिताश्च पञ्च ।।२।।

युताः प्रसुप्तादिदशाभिरेते क्लेशा अविद्यां प्रविहाय शेषाः ।
स्वीकुर्वते क्षेत्रमिमामविद्यामस्या यतः सर्वजगद्विलासः ।।३।।

अनित्यतत्त्वेषु च नित्यबुद्धिः शुचित्वबुद्धिस्तु तथाऽशुचित्वे।
दुःखे सुखं चात्ममतिस्त्वनात्मतत्त्वेऽनुभूतिस्त्वियमस्त्यविद्या ॥४॥

दृश्ये तथा द्रष्टरि भेदभावाभावो विभासेत तदास्मितास्ते।
रतिः सुखे वा सुखदेऽस्ति रागो द्वेषोऽरतिर्दुःखकरे च दुःखे ॥५॥

स्वभावसिद्धाद् मरणादहोभिर्विवेकशीलेऽपि निवेश एषः।
क्लेशा यदा सूक्ष्मदशां गताः स्युर्हेयास्तदा ते दृढसाधनेन ॥६॥

तद्वृत्तयो ध्यानविनाशयोग्या जनौ परत्रेह च भोगयोग्यः।
कर्माशयः क्लेशविनिर्मितोऽस्ति तस्मादयं क्लेशगणो विनाश्यः ॥७॥

मूलं च यावत् परिणामजात्यायुर्भोग एतत्त्रयमस्ति तावत्।
ते ह्लादतापौ च फलन्ति काले पुण्यस्य पापस्य च कारणत्वात् ॥८॥

विपाकदुःखं परितापदुःखं संस्कारदुःखं सकलप्रतिष्ठम्।
विरोधतो वृत्तिषु तद्गुणानां विवेकिनः सर्वमहोऽस्ति दुःखम् ॥९॥

अनागतं दुःखकुलं यदस्ति तस्यैव नाशः करणीय आस्ते।
द्रष्टुश्च दृश्यस्य च योग एव हेयस्य दुःखस्य हि हेतुरुक्तः ॥१०॥

प्रकाशकार्यस्थितिशीलमास्ते भूतात्मकं वा करणस्वरूपम्।
इत्थं च दृश्यं प्रतिभाति लोके प्रयोजनं यस्य च मुक्तिभोगौ ॥११॥

सत्त्वादिकानां प्रसृतां गुणानामुक्ता विशेषादिचतुष्प्रभेदाः।
विकारशून्योऽपि दृशिस्वरूपो द्रष्टानुकूलः खलु बुद्धिवृत्तेः ॥१२॥

दृश्यस्वरूपं ननु द्रष्टृहेतोर्नष्टं कृतार्थं प्रति नाशशून्यम्।
दृश्यं तदास्ते च यतः परस्य कृतार्थता हीनतमस्य तुल्यम् ॥१३॥

स्वस्वामिशक्त्योर्निजरूपलब्ध्यै योगोऽस्त्यविद्या ननु तस्य हेतुः।
तस्या अभावादथ योगहानिर्हानञ्च तद्द्रष्टुरहो विमुक्तिः ॥१४॥

विवेकिनः सप्तविधा च बुद्धिः प्रान्तस्थिता तस्य विमुक्तिदास्ते।
योगाङ्गशीलादशुचित्वनाशो ज्ञानञ्च यावत् प्रविवेकबुद्धिम् ॥१५॥

अष्टाङ्गयोगः कथितो यमादिर्यमोऽप्यहिंसादिकपञ्चभेदः।
जात्यादिसीमाविरहा यदा तेऽहिंसादयः स्युर्ननु सार्वभौमाः ॥१६॥

महाव्रतं संकथितास्तदानीं शौचादयः स्युर्नियमाश्च पञ्च।
वितर्कबाधा समुपागता चेत् कृत्या च तत्र प्रतिपक्षचिन्ता ॥१७॥

हिंसादयः संकथिता वितर्काः स्वयं कृता वाऽथ परैः कृता वा।
समर्थिता लोभविमोहरोषैर्न्यूनाधिकाः सन्ति च मध्यमाश्च ॥१८॥
दुःखाद्यनन्तं फलमुद्गिरन्ति विचार इत्थं प्रतिपक्षभावः।
प्रतिष्ठिता यस्य भवेदहिंसा तत्सन्निधौ मुच्यत एव वैरम् ॥१९॥
प्रतिष्ठितं सत्यमहो यदि स्यात् क्रियाफलस्याश्रयता तदा स्यात्।
अस्तेयभावो दृढतां गतश्चेदुपस्थितं सर्वविधं सुरत्नम् ॥२०॥
पूर्वाश्रमश्चेद् दृढतां गतः स्याद् वीर्यस्य लाभः सुतरां सुसिद्धः।
प्रतिष्ठितः स्यादपरिग्रहश्चेज् जानाति वृत्तं जननान्तरीयम् ॥२१॥
शौचाज्जुगुप्सा भवति स्वदेहे तथान्यसंसर्गविमुक्तिवाञ्छा।
सत्त्वस्य शुद्धिः ससुखं मनश्चानन्यत्वमेवं वशतेन्द्रियाणाम् ॥२२॥
अथात्मसाक्षात्करणार्हता च पञ्चात्मकैतत्फलमस्ति शुद्धेः।
सन्तोषतः सौख्यमनुत्तमं स्यात् तपः प्रभावान्मलनाश एव ॥२३॥
ततः शरीरस्य तथेन्द्रियस्य सिद्धि लभन्ते ननु योगयुक्ताः।
स्वाध्यायतोऽधिश्रित इष्टदेवः समाधिसिद्धिः प्रणिधानतः स्यात् ॥२४॥
तदासनं कथ्यत एव योगे स्थिरश्च यः स्यात्तु सुखोपवेशः।
प्रयत्नशैथिल्यत एव सिद्धस्तथेश्वरे ध्यानतया ध्रुवं स्यात् ॥२५॥
द्वन्द्वस्य तस्मान्न भवेत्प्रभावः सिद्धासने श्वासगतेर्विलोपः।
प्रश्वासगायाश्च गतेर्यदा स्यात् प्राणायतिः सा तु तदा प्रतीता ॥२६॥
बहिर्गताभ्यन्तरगा च वृत्तिः स्तम्भा तथा वृत्तिरिमाः सुपुष्टाः।
देशेन कालेन च संख्यया च भवन्ति दीर्घा अथ ताश्च सूक्ष्माः ॥२७॥
त्यागो बहिर्गस्य तथान्तरस्य यदा ध्रुवं स्याद्विषयस्य तस्य।
प्राणायतिः कालकृता चतुर्थी ततः प्रकाशावरणस्य नाशः ॥२८॥
मनोऽर्हता स्यान्ननु धारणासु समेन्द्रियाणां विषयाद्विरक्तिः।
चित्तस्वरूपानुकृतिश्च प्रत्याहारस्तदाधीनतमेन्द्रियाणि ॥२९॥

॥ साधनतत्त्व-विमर्शः समाप्तः ॥

॥ अथ विभूतितत्त्वविमर्शः ॥

आभ्यन्तरे कायगते प्रदेशे चित्तस्य बन्धो ननु धारणास्ति।
तत्रैकताना यदि चित्तवृत्तिर्ध्यानं तदा संकथितं मुनीन्द्रैः ॥१॥

ध्येयप्रतीतिर्यदि केवलास्ति ध्याने च चित्तं निजरूपहीनम् ।
ध्यानं तदैवास्ति समाधिरेवमुक्तं त्रयं संयम एकगं चेत् ॥२॥

प्रज्ञाप्रकाशोऽस्ति जयेन तस्य तथा क्रमाद् भूमिषु तत्प्रयोगः ।
पूर्वेभ्य एतत्त्रयमन्तरङ्गं निर्बीजदृष्टया बहिरङ्गमेतत् ॥३॥

व्युत्थानसंस्कारपराभवश्च निरोधसंस्कारसमुद्भवश्च ।
निरोधसंस्कारवशञ्च चित्तं निरोधगोऽयं परिणाम उक्तः ॥४॥

संस्कारतस्तस्य सुशान्तवाहश्चित्तस्य सर्वार्थगवृत्तिनाशः ।
ध्येयस्य वृत्तिर्यदि चेदुदेति समाधिगोऽयं परिणाम उक्तः ॥५॥

शान्तोदिते चाथ ततस्तु वृत्ती यदैकतां ते वृणुतस्तदा स्यात् ।
एकाग्रतायाः परिणाम एष इत्थं समुक्तं परिणामजातम् ॥६॥

एतेन भूतेषु तथेन्द्रियेषु धर्मा व्यवस्था परिणाम उक्तः ।
कालत्रयान्तर्गतधर्मवर्गे व्याप्तस्तु यः संकथितः स धर्मी ॥७॥

क्रमान्यता हेतुतया प्रदिष्टा विभिन्नतायां परिणामगायाम् ।
अनागतं ज्ञानमहो च भूतं यमात्त्रये स्यात्परिणामरूपे ॥८॥

शब्दार्थधीनां ननु संकरोऽस्ति परस्पराध्यासबलादतश्च ।
तेषां विभागेषु हि संयमेन ज्ञातं समप्राणिगतं वचश्च ॥९॥

संस्कारसाक्षात्करणाद् यतीनां जन्मान्तरज्ञानमुदेति सम्यक् ।
प्रत्यक्षमन्यस्य यदास्ति चित्तं ज्ञानं तदा स्यात्परचित्तबन्धी ॥१०॥

किन्त्वस्ति सालम्बनमेव तन्नो यतेर्हि चित्तं विषयात्प्रमुक्तम् ।
कायस्य रूपे खलु संयमेन तद्ग्राह्यशक्तेरुदिते निरोधे ॥११॥

चक्षुःप्रकाशस्य विसम्प्रयोगे स्वान्तर्हिता योगिजना भवन्ति ।
सोपक्रमं वै निरुपक्रमञ्च कर्मद्वयं तत्र तु संयमेन ॥१२॥

ज्ञानञ्च मृत्योरथवा ह्यरिष्टात् संजायते योगिजनस्य सम्यक् ।
भवन्ति मैत्र्यादिषु सद्बलानि बलेषु हस्त्यादिबलानि सन्ति ॥१३॥

आलोकविन्यासबलात्प्रवृत्त्याः सूक्ष्मं विदूरं व्यवधानयुक्तम् ।
ज्ञातं भवेद् वस्तु तथा च सूर्ये स्यात्संयमाज्ज्ञानमहो जगत्याः ॥१४॥

चन्द्रे यदा भवति संयमनं ध्रुवं स्याज् ज्ञातं स्थितेरुडुगणस्य तदा च सम्यक् ।
ऋक्षे च संयमविधेः करणाद् ध्रुवाख्ये ज्ञानं गतेरुदितमस्ति समस्तभानाम् ॥१५॥

स्यात् संयमो यदि च नाभिगते च चक्रे ज्ञानं स्थितेस्तु वपुषः प्रभवत्यवश्यम् ।
एवञ्च संयमविधिर्निजकण्ठकूपे नोत्पद्यते कथमपि क्षुदहो पिपासा ॥१६॥

स्थैर्यं प्राप्यत एव संयमविधिश्चेत्कूर्मनाड्यां भवेन्-
मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनमहो संप्राप्यते संयमात्।
सर्वं ज्ञानमुदेति योगिहृदये ज्ञानात्सदा प्रातिभा-
च्चित्संवित्प्रभवत्यलं हृदि यदा विद्येत तत्संयमः ॥१७॥

ज्ञानाभेदः प्रभवति यदा भिन्नयोः सत्त्वपुंसो-
र्भोगः प्रोक्तो विमलमतिभिर्योगयुक्तैस्तदायम्।
भिन्ने स्वार्थेऽमलमतिमतां विद्यमाने परार्थात्
पुंसो ज्ञानं प्रभवति सदा संयमात्सत्यमेतत् ॥१८॥

जायन्ते प्रातिभाद्या विमलमतिमतां सिद्धयः षट् तु तस्माद्
विघ्नास्ताः समाधौ परमिह कथिताः सिद्धयो व्युत्थितौ च।
शथिल्याद् बन्धहेतोः प्रचरणविधेर्वेदनाच्चेतसो हि
देहे देशे परेषां प्रभवति च तथा लीलया सम्प्रवेशः ॥१९॥

उदानवायोर्विजयेन पङ्के पयस्यसङ्गोऽस्ति च कण्टकादौ।
तथा गतिः प्राप्यत एव चोर्ध्वं जयात्समानस्य च देहदीप्तिः ॥२०॥

श्रोत्राकाशगते सुसंयमविधेः श्रोत्रञ्च दिव्यं भवेत्
सम्बन्धे नभसीत्थमेव गमनं स्याद् व्योमकायस्थिते।
तूले संयमनात्तथा च लघुनि स्याद् व्योमपृष्ठे गतिः
प्रोक्तं सर्वमिदं सुसंयमविधेरस्मिन् फलं शासने ॥२१॥

अकल्पिता वृत्तिरहो बहिर्या महाविदेहा व्यपदिश्यते सा।
ततः प्रकाशावरणस्य नाशः सुनिश्चितोऽस्त्येव न संशयोऽत्र ॥२२॥

स्थूलादिपञ्चस्वपि भौतिकीषु दशासु वै भूतजयो यमेन।
ततोऽणिमाद्युद्भवकायसम्पत् तद्धर्मबाधाविरहत्रयं स्यात् ॥२३॥

रूपञ्च लावण्यमहोबलञ्च दम्भोलिदार्ढ्यञ्च शरीरसम्पत्।
सर्वेन्द्रियेष्वत्र जयः समुक्तो ग्रहादिपञ्चस्वपि संयमाद्वै ॥२४॥

मनोजवित्वं च तथा शरीरं विनापि शक्तिर्विषयानुभूतेः।
जयः प्रधानस्य ततस्त्रिधेयं सिद्धिर्यतीनां कथितात्र शास्त्रे ॥२५॥

अन्यत्वभावस्य हि सत्त्वपुंसोर्ज्ञानञ्च यस्यास्ति स सर्वभावे।
स्वामित्वमाप्नोति तथा च सर्वं जानात्यहो साधकमाननीयः ॥२६॥

कैवल्यमुक्तं खलु तद्विरक्तेर्दोषस्य बीजक्षय एव कृत्स्ने।
आह्वानतो देवगणस्य कार्या नाहंकृतिस्तत्र न सङ्गभावः ॥२७॥

अनिष्टमास्ते करणादवश्यं क्षणे तथा तत्क्रमसंविधाने ।
कृतं भवेत्संयमपालनञ्च विवेकजं ज्ञानमवश्यमुक्तम् ॥२८॥

जात्या न देशेन च लक्षणेन ययोर्द्वयोरस्ति च भेदबुद्धिः ।
तयोस्तु भेदः प्रतिपद्यते च समानयोर्ज्ञानित एव तस्मात् ॥२९॥

संसारतस्तारकमक्रमञ्च तथा च सम्यग् विषयं समस्तम् ।
जानाति यत्तज्जनितं विवेकाज्ज्ञानं समुक्तं ननु योगशास्त्रे ॥३०॥

समानभावेन यदा विशुद्धिः संजायते तत्र हि सत्त्वपुंसोः ।
कैवल्यमायाति तदा वरेण्यं विरम्यते प्रोच्य विभूतिभागम् ॥३१॥

॥ विभूतितत्त्वविमर्शः समाप्तः ॥

॥ अथ कैवल्यतत्त्वविमर्शः ॥

जन्मौषधिभ्यां तपसश्च मन्त्रात् समाधितः सिद्धय उद्भवन्ति ।
एकापरस्यां परिवर्तते च जातिः प्रकृत्याः परिपूरितत्वात् ॥१॥

प्रयोजकं नो प्रकृतेर्निमित्तं परं ततः क्षेत्रियवद्विभेदः ।
रोधस्य सञ्जायत एव सत्यं कर्त्तव्य आस्ते न हि संशयोऽत्र ॥२॥

सर्वाणि चित्तानि विनिर्मितानि भवन्त्यहो केवलमस्मितायाः ।
प्रयुङ्क्त एकं विमलञ्च चित्तं प्रवृत्तिभेदे खलु चित्तसङ्घम् ॥३॥

अनाशयं ध्यानजमस्ति तत्र योगस्थितानां द्विविधञ्च कर्म ।
अशुक्लमेकं परमस्त्यकृष्णं त्रिधा भवेत्कर्म परं परेषाम् ॥४॥

ततो वासना व्यक्ततामेति तेषां विपाकानुकूला हि साधारणानाम् ।
न जात्या न देशेन कालेन नो वा भवेद्रोध ऐक्यात्स्मृतेः संस्कृतेश्च ॥५॥

अनादिता तत्स्थितवासनानां यतो हि नित्यत्वमथाशिषोऽस्ति ।
हेत्वादिभिस्तच्चिरसंचितत्वादेषामभावे तदभाव उक्तः ॥६॥

समस्तधर्मस्य हि कालभेदात् स्वरूपतो भावि च भूतमास्ते ।
व्यक्तः स सूक्ष्मश्च गुणात्मरूपस्तत्त्वेऽखिले यत्परिणाम एकः ॥७॥

वस्त्वेकतायामपि चित्तभेदस्तस्मात्तयोरस्ति विभक्तमार्गः ।
न चैकचित्तस्य वशंवदं तद् वस्त्वस्ति चेत्का गतिरस्ति तस्य ॥८॥

वस्तूपरागान्ननु चित्तभूमौ ज्ञातं भवेद्वस्तु तदन्यथा नो।
ज्ञाता सदास्त्येव च चित्तवृत्तिः पुमानहो यत्परिणामशून्यः ॥ ९ ॥

स्वाभासमास्ते न हि तद् यतो हि दृश्यं समुक्तं खलु योगशास्त्रे।
तथैककाले ह्युभयस्वरूपं ज्ञातुं न शक्नोति कदापि कोऽपि ॥१०॥

चित्तान्तरं दृश्यमहो यदा स्यात् तदानवस्था स्मृतिसङ्करश्च।
चित्तेः क्रियासङ्गविवर्जितायास्तदभेदलब्धौ निजबुद्धि धीः स्यात् ॥११॥

द्रष्टा च दृश्येन यदोपरक्तं तदाखिलार्थं प्रभवेच्च चित्तम्।
परार्थमास्ते बहुवासनाभिश्चित्रञ्च संहत्य पिधानतस्तत् ॥१२॥

विशेषदर्श्यात्मगभावभावः सर्वप्रकारेण निवृत्तिमेति।
विवेकनिम्नं समुदेति चित्तं कैवल्यहेतोः समये च तस्मिन् ॥१३॥

तदन्तरालेऽन्यपदार्थबुद्धिः संस्कारतः स्याज्जननान्तरेभ्यः।
क्लेशप्रणाशोऽस्ति यथा तथैषां विनाश उक्तः खलु योगयुक्तैः ॥१४॥

विवेकबुद्धावपि यस्य रागः स्यान्नो तदा तस्य विशेषदृष्टेः।
ख्यातेर्विवेकस्य महान् समाधिनाम्ना प्रसिद्धोऽस्ति च धर्ममेघः ॥१५॥

क्लेशस्ततः कर्म च नाशमेति तदा मलादावरणाच्च मुक्तम्।
ज्ञानं भवेत्पूतमनन्तमस्माज् ज्ञेयञ्च वस्त्वस्ति समस्तमल्पम् ॥१६॥

ततः कृतार्थत्ववतां गुणानां क्रमः समाप्तः परिणामजः स्यात्।
यो वै क्षणानां प्रतियोगिरूपः क्रमः स उक्तः परिणामनिष्ठः ॥१७॥

पुरुषार्थविहीनगुणस्य यदा विलयो निजकारण एव भवेत्।
अपवर्ग उदेति तदा ह्यथवा निजरूपमिता चितिशक्तिरहो ॥१८॥

कैवल्यकौशल्यकथां समाप्य श्रीतार्किकं न्यायगुरुं प्रणम्य।
विधेर्विधानं परमं विशालमादित्यनाथं परिशीलयामि ॥१९॥

॥ कैवल्यतत्त्वविमर्शः समाप्तः ॥

स्वात्मनः स्वरूपप्रतिष्ठा

(काचित् कौलिकी दृष्टिः)

महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराजः

अनादिप्रवृत्तया श्रीभगवतस्तिरोधानशक्त्या स्वात्मायं विगलितमहिमा पशुभावमापद्य 'जीव'नाम्ना प्रसिद्धिं गतः । आणवादिमलत्रयेण समावृत्तोऽयं मितप्रमाता कालचक्रे पतितः स्वकर्मवशात् संसरन् योनेर्योन्यन्तरं गच्छन् सुखदुःखे अनुभवति । देह-पुर्यष्टक-प्राण-शून्यानि आत्मत्वेन मन्यमानोऽयं जाग्रदादिकां तां तामवस्थामनुभवति । अनुभूयमानः संसारोऽयं सुदीर्घविकल्परूपोऽविद्यासम्बन्धवशात् कालराज्ये सम्भवति । अज्ञानान्धस्य संसरणशीलस्यास्य समुद्धरणं कथं भवेद् इति शास्त्रेषु पक्षभेदानाश्रित्य विविधा विकल्पाः प्रदर्शिताः । स्वात्मस्वरूपविषयिणीं दृष्टिमुपाश्रित्य दर्शनानां विभिन्नाः सरणयः प्रसृताः । तत्रास्माभिः कौलिकीं काञ्चिद् दृष्टिमवष्टभ्य स्वात्मनः पशुत्व-निवृत्तिपूर्वकपूर्णत्वाधिगमविषये संक्षेपेण किञ्चिद् निवेद्यते ।

कुलमते तावत् स्वात्मस्वरूपं परशिवात्मकं पूर्णाहन्तामयं स्वातन्त्र्यसारं च भूयो-भूय उद्घोष्यते। अस्यैव समुद्धारप्रकारोऽत्रापेक्षितः। उद्धारकृत्यमिदं श्रीभगवतः परमानुग्रहसापेक्षम् । अकुलाख्यो निस्तरङ्गबोधसमुद्रः सद्गुरोः करुणाकटाक्षपातावसरे किञ्चिन्मात्रया तरङ्गितो भवति। तदानीं तस्मिन् बोधसमुद्रे स्पन्दरूपा काचिदूर्मिरुन्मिषति। गुरुकर्तृकप्रबोधनकाले शिष्यस्य चेतसि सा पतति । अयमेव व्यापारोऽनुग्रहनाम्ना शक्ति-पातनाम्ना च विद्वत्सु प्रसिद्धः। जीवस्य दृष्टिरज्ञानप्रभावात् स्वभावतो विकल्पकलुषिता भवति। प्रागुक्तचिदूर्मिस्पृष्टा दृष्टिरियं पातमात्रेणैव स्वकार्यं साधयितुं प्रवर्तते। स्वकार्यं चास्याः ग्रास एव कालस्य, यत्प्रभावेण विकल्पानां प्रसरो भवति। कुलमतानुसारेण काल-ग्रासे सम्पद्यमाने जीवस्य दृष्टितो विकल्पजालं तिरोधातुमारभते। विकल्पतिरोधाने संवृत्ते जीवस्य प्रमेयगता शुद्धिः संजायते । प्रमेयशुद्धिरियं जीवस्याध्यात्ममार्गे महतीं प्रगतिं सूचयति। इत्थं श्रीमता शङ्कराचार्येण प्रोक्तं विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यमपि माया-प्रभावेण बाह्यवत् प्रतीयते। परन्तु श्रीगुरुकृपया मायायास्तिरोधाने सति तत् स्वात्मा-न्तर्गतमाभाति । इयमेव प्रक्रिया प्रमेयशुद्धिनाम्नाऽभिधीयते। अतो बहिः प्रतीयमानस्य विश्वस्यान्तरवभासनमेव प्रमेयशुद्धेस्तात्पर्यम् । अस्यां शुद्धौ सद्गुरोः कृपालेशेन सम्पन्नायां

विश्वमन्तरेवाभासते, न तु बहिः। देहात्मबोधे विगलित एवं भवति। चिच्छक्तेः प्रबोधस्येदमेव महत् फलम्। तत्र सर्वादौ स शक्तिर्विश्वमन्तराकर्षति। विश्वस्यान्तरानयनमेव बिन्दोर्व्यापारः, बहिः प्रसरस्तु वैसर्गिकी क्रिया।

अस्मिन् व्यापारे यादृशी संवित्प्रक्रिया क्रमशो भवति सा संक्षेपेण विविच्यते। अस्मिन् काले स्वात्मा देहात्मबुद्धिमुपाश्रित्य ग्राहको भूत्वा ग्रहणाख्यकरणेन बहिःस्थं ग्राह्यं गृह्णाति। अर्थात् इन्द्रियेण विषयं गृह्णाति तदा तस्य भोगः सम्पद्यते। विषयभोगद्वारा यदा संविदस्तृप्तिर्भवति तदा विषयभोगक्रिया निवर्तते। ज्ञानं पुनः रागात्मकं भवति, स्वात्मरूपेण साक्षात्कारोऽपि जायते। परा शक्तिः विषयभोगमपि निर्विकल्परूपेणैवानुभवति, न तु जीववत् सविकल्परूपेण। अयमनुभव एव चिद्देव्या द्वितीयो विकासः। इयमेव दशा कुलमार्गिणां वरिवस्या (उपासना) रूपेणोपवर्ण्यते। पशुभोगाद् व्यावृत्त ईदृशो भोगो वीराणामेव सम्भवति। पशुस्तावज् जाग्रदादिविषयान् परस्परं पृथक्तयानुभवति, वीरस्तु चिच्छक्तेरुन्मेषवशात् तुरीयानन्दरूपेण सममेव भुङ्क्ते। 'त्रितयभोक्ता वीरेशः' इति शिवसूत्रस्यैतदेव तात्पर्यम्। अस्मिन् विषये कस्यापि महतः पुरुषस्य वचनं स्मर्यते, तद्यथा—

तत्तदिन्द्रियमुखेन सन्ततं युष्मदर्चनरसायनासवम्।
सर्वभावचषकेषु पूरितेष्वापिबन्नपि भवेयमुन्मदः॥

एतादृशो भोग एव श्रीभगवतो विशिष्टार्चनतया विद्वद्भिः स्तूयते। सर्वे भावाश्चषकतुल्याः पूजारसस्वरूपं च आसवोपमम्। भावचषकेषु तेन रसेन पूरितेषु ज्ञानिनां भक्तानां च पानं भवति तदुत्थ उन्मादश्च।

वस्तुत एतद्दृष्ट्या चक्षुषा यद् रूपदर्शनम्, श्रोत्रेण यत् शब्दश्रवणं तत् सर्वमपि भगवदर्चनमेव। एवं सर्वैरपि इन्द्रियैः तत्तद्विषयग्रहणं भगवदर्चनमेव। ईदृशो विषयभोग एव वीरसाधकानामुपासनरूपेण परिगणितो भवति। जाग्रदादिष्ववस्थात्रयेषु सर्वदैव ईदृशी पूजा सम्भवति। दुर्बलचेतोभिः पामरजनैरेतादृशमर्चनं विधातुं न शक्यम्। अत्रापि भगवता श्रीशङ्करेण मानसपूजास्तोत्रे यदुक्तमासीत् तत् सर्वथा संगच्छते—

"यद् यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।" इति।

विषयभोगान्ते यदा तृप्तिः संजायते, तदा स्वत एव चित्तमन्तर्मुखं भवति। ततो हि विषयभोगक्रियायां समाप्तायां करणेश्वर्यस्तृप्ता भवन्ति। तदनन्तरं स्वत एव चिदाकाशरूपं भैरवाख्यं स्वनाथमालिङ्ग्य तेन सह तास्तादात्म्यरसमनुभवन्ति। यावत्कालमिन्द्रियाणां विषयभोगविषये निराकाङ्क्षत्वं नोत्पद्यते, तावत् तेषां चिदाकाशनाथेन आलिङ्गनं कदापि न सम्भवति। सर्वमिदं स्पष्टमेवानुभूयते।

इन्द्रियेभ्यो विषयभोगतृष्णायामनपगतायां श्वासोच्छ्वासक्रिया सर्वासु नाडीषु (७२०००) यथापूर्वं चलत्येव। तस्मिन् काले द्वादशान्तद्वये गमागमो भवति। पवनस्या-

न्तर्गत्या अन्तर्द्वादशान्ते प्रवेशो लयश्च भवति, बहिर्गत्वा च बाह्यद्वादशान्ते प्रवेशो भवति लयश्च। द्वादशान्तद्वयमेव संघट्टस्थानम्। तत्रैव वायोः स्थिरता सम्भवति। तदेवमन्तर्बहिश्च वायुसंचारस्य विरतिर्भवति। इतः परं द्वादशान्तद्वयस्य सर्वथा सम्बन्धने जाते परप्रमातृभावः क्षणमात्रमुन्मीलति। प्रमाणप्रमेयसन्धिस्थानेऽप्येतदनुरूपमेव परप्रमातृदशानुभवनं संजायते। इयं परप्रमातृदेवी परासंविद्रूपैव, नात्र कश्चित् सन्देहः। उन्मिषिता सा देवी तदानीं मितप्रमातुः स्वरूपं स्वात्मतेजसा स्वस्वरूपे विलापयति।

एतत्प्रभावेणैकतः प्राणापानक्षोभः शाम्यति, अन्यतश्च मनसः संचारोऽपि सम्यग्रूपेण निवर्तते। इयं दशा यथा शान्ता, तथैव सर्वथा निर्विकल्पा चेति स्पष्टम्। अत्र चन्द्रसूर्ययोरुभयोरप्यस्तगमने सिद्धे स्थितिरियं प्रलीनशशिभास्कररूपस्य चिदाकाशस्य समरूपतायां पर्यवस्यति। तथा चेयं योगिनामाध्यात्मिकी 'शिवरात्रिः' इति वर्ण्यते।

एतां दशामतिक्रम्य कथञ्चिदुत्थान एकतः स्वरूपावरणमन्यतः स्वरूपोन्मीलनमुभयमपि संभाव्यते। अत्रैव परास्थितिमभीप्सूनां योगिजनानां महती परीक्षा संनिहिता भवति। अत्र मानमेयादिकं किमपि नास्ति, प्राणापानादिकमपि निवृत्तम्। यथा मनस्तदानीं शान्तम्, तथा प्राणादयोऽपि शान्ता एव। यथा ज्ञानज्ञेयभावस्याभावस्तथैव चलाचलभावस्यापि।

अत्र योगिभिर्निरन्तरं स्वरूपानुसन्धानं विधेयम्। शिवसूत्रेषु 'उद्यमो भैरवः' इति सूत्रेण तथैव निर्देशः कृतः। दशेयम् 'अनाख्या'नाम्ना योगिसम्प्रदायेषु प्रसिद्धा। स्वरूपोन्मीलनानन्तरं स्वरूपानुसन्धाने विद्यमाने, अत्र प्रवेशमात्रेणैव महाव्योमात्मकः स्वरूपविकासो जायते। चिदाकाशे स्थितिरियमेव। अनाख्यादशायां योगिनः स्वात्मबोधे स्थितिरावश्यकी। तदानीं स्वरूपावरणमपगच्छति निरावरणप्रकाशश्चाविर्भवति। अस्यां स्थितौ स्वात्मविमर्शस्य नितरामावश्यकत्वम्।

अत्र स्वात्मानुसन्धानं किमर्थमिष्यत इति चेद्, अनेनानुसन्धानेनैव शङ्कानिवृत्तिः सम्भवतीति ज्ञेयम्।

अस्यां स्थितौ विकल्पात्मकमखिलं जगद् अन्तर्मुखं भूत्वाऽन्तर्विलीयते। केवलमेतावन्मात्रमेव न भवति, क्रमशः परप्रमातृदशाऽपि समुन्मीलति। अस्मिन् समये चराचरस्य ग्रासो भवति। तदानीं स्वरूपस्मरणे विहिते महामाया निवर्तते। संसारचक्रं स्वात्माग्नावभेदज्ञाने परिणमते। इतः परं स्वरूपगोपनं निवृत्तं भवति। इयं स्थितिः 'भावसंहार' नाम्ना योगिषु प्रसिद्धा। 'उन्मना'नाम्नीयं दशा तन्त्रवित्सु प्रसिद्धा। अत्र निर्विकल्पकमात्मसंवेदनं विराजते। अत्र भावमयविश्वस्य निवृत्तिर्भवति। एतावत्पर्यन्तमूर्ध्वगतिर्यदा सम्पद्यते, तदा सम्यक् प्रमेयोच्छेदो घटते। अस्मिन् समये भेदज्ञानं तिरोभवति। हेयोपादेयबुद्धिरपि लीयते। इयं किल निर्विकल्पा स्थितिः शङ्काकल्पनादिपरिहीना।

एवं सत्यपीयं स्थितिः पूर्णाहन्ताकोटौ परिगणिता न भवति, संस्कारसत्त्वात्।

संस्कारातिरोधान इदन्तालेशो वर्तत एव । एतादृश्यां स्थितौ 'मयेदमभेदेनावभासितम्' इत्याकारको विमर्शो योगिचेतसि प्रादुर्भवति । संहारावस्थायामपि संस्कारवशात् संहारस्य परामर्शः कथमप्यनुवर्तत एव ।

इतः परं संस्कारोऽपि विनिवर्तते । तेन सह कालस्य कलनमपि । यावत् संस्कारोऽनुवर्तते, तावत् कालोऽपि कथञ्चिदनुवर्तते कलयति च । संस्कारनिवृत्तौ त्वहम्भावे कालकलितत्वाभावात् स्वाभाविकताऽऽविर्भवति । 'सर्वं खल्वहमेव' इति परामर्शोऽपि स्वात्मैकरूपेण शिवस्यैव पूजनम् । एतादृशीं पूजामधिकृत्य आचार्योत्पलेनाभिहितम्—

> तामगाधमविकल्पमद्वयं स्वस्वरूपमखिलार्थघस्मरम् ।
> आविशन्नहमुमेश सर्वदा पूजयेयमभिसंभवाय च ।।

भगवत्याः संविन्महादेव्या इतोऽपि परतः स्वात्मप्रकाशो विद्यते, यत्र विभिन्नरूपाणां विकासः तेषां स्वात्मस्वरूपे विलयनं च भवति । अयमपि संहारः । परन्तु अयं प्रागुक्तभावसंहाराद् गूढतरो विलक्षणश्च । भावसंहारस्तावत् प्रमेयसंहारः, अयन्तु प्रमाणसंहारः । कल्पान्ते प्रमेयसंहारो भवति । महाकल्पान्ते प्रमाणसंहारश्च । एषा स्थितिः महाकल्पसदृशी ज्ञेया । अस्यां स्थितौ प्रज्वलितचिदनले निखिलप्रमेयप्रमाणानां विलयो भवति ।

अत्र द्वयी संहारभूमिः—एका प्रमेयगता, द्वितीया च प्रमाणगता । उभयत्रापि शङ्कोदयः सम्भवति । पूर्वस्यां भूमौ शङ्कानिवृत्तिः स्वप्रयत्नेन भवति । स्वप्रयत्नाभावे तु शङ्कानिवृत्तेरभावात् पतनं घटते । उत्तरस्यां भूमावपि शङ्कोदयः सम्भवतीति सत्यम्, परन्तु तत्र शङ्कानिवृत्तिः स्वत एव संपद्यते । कर्तव्यादिविचार एवात्र शङ्कापदस्य तात्पर्यं ज्ञेयम् । एतावति सिद्धेऽपि प्रमेयाणां जीवनी शक्तिर्द्वादशेन्द्रियरूपेण तिष्ठत्येव । द्वादशेन्द्रियात्मकः सूर्योऽहङ्काररूपे परमादित्ये लीनो भवति । अहङ्कारोऽयं प्रमातृरूपो ज्ञेयः । अस्यैव नामान्तरं 'भर्गशिख' इति ।

परस्याः संविदोऽष्टाभी रूपैः शब्दादिविषयरसाः स्वात्मस्वरूपे विलीना भवन्ति । एतावत्पर्यन्तं निखिलकलानामुपसंहारो भवति, एकाममृतां कलां विहाय । अमारूपेयं परमा कला शिवकला पराप्रमातृरूपेति ज्ञेयम् ।

परमादित्योऽयं मितप्रमातैवेति स्मरणीयम् । यद्यप्येतदनन्तरं मितप्रमातुरुत्कर्षो भवति कालाग्निरुद्ररूपेण, तथाप्ययमपि प्रमाता मित एव । अतः पशुत्वं किञ्चिन्मात्रयाऽत्रापि विद्यत एव । अस्यां स्थितौ विषयाणामिन्द्रियाणां च संस्कारलेशोऽपि नावशिष्यते । अत्र यत् तत्त्वमवशिष्यते तत् तु विकल्पहीनमतीन्द्रियं प्रकाशरूपमिति ज्ञेयम् ।

रुद्रदशायाः समाप्तौ भैरवदशा समुदेति । भैरवोऽयं महाकालरूपो यत्र परासंविदो महाकालीरूपं शक्तिरूपेण विजृम्भते ।

महाकालः खलु पञ्चकृत्यकारीति सत्यम्, परन्तु निरपेक्षतया स किमपि कृत्यं न करोति। स्वयं भगवत्या जगदम्बाया नियोगादेव स सर्वं कृत्यं करोति, स्वातन्त्र्याभावात्।

अत्र महति तेजसि यावत्यो मिताहन्ता दग्धा भवन्ति, एका पूर्णाहन्तैवाक्षुण्णा तिष्ठति। मिताहन्तास्तावद् देहाहन्ता, प्राणाहन्ता, पुर्यष्टकाहन्ता, शून्याहन्तादिरूपाः। एतासां दाहान्ते केवला विश्वाभेदमयी पूर्णाहन्तैव विराजते।

अत्रैव योगी परमशिववद् भवति, परन्तु व्यापिनीकलया पञ्चकृत्यानि करोति। इतः परं महाभैरवदशा समायाति। स्थितिरियं महाकालस्याप्यूर्ध्ववर्त्तिनीति ज्ञेयम्। अत्र सर्वे संस्काराः शान्ताः। अत्रैव स्वात्मसंवेदनं परां कोटिमवाप्नोति। अत्र महाकाल्यप्यकुले प्रवेशोन्मुखी भवति। अत एवेयं दशा 'अकाल-कलिता' इति भण्यते। योगिनोऽत्र समना-भूमौ प्रवेशो जायते। अत्र सृष्टिसंहारात्मकः कालो न विद्यते, साम्याख्यः कालस्तु विद्यत एव। कालोऽत्राकालवद् यत्रानन्तकालोऽपि क्षणरूपेणैव प्रतीयते।

न सदा न तदा न चैकदेत्यपि सा यत्र न कालधीर्भवेत्।
तदिदं भवदीयदर्शनं न च नित्या न च कथ्यतेऽन्यथा॥

इतः परं या अन्तिमा दशा सैव क्रमविकासस्योत्तरावधिर्भवति। स्थितिरियं परमशिवदशेत्यागमविद्भिः ख्यायते। अत्रैव स्वात्मस्वरूपं परिपूर्णमहिम्ना परमार्थरूपेण भ्राजते। अत्रैव च परस्याः संविदः स्वरूपं साक्षात् क्रियते। देवीयं युगपदेव पूर्णा च कृशा च युगपदेवोभयरूपा चानुभयरूपाऽपि। इयं समस्तपदानां (प्रमेयादीनां) समस्तचक्राणां च (सृष्ट्यादीनां) विकासरूपा, अतएव पूर्णा। यदा पुनः सा पदानि चक्राणि च स्वात्म-स्वरूपे लीनानि करोति, तदा सा कृशा। तदानीमेव सा 'कालसंकर्षिणी' इति नाम्ना ख्यायते। अस्यां परमस्थितौ क्रमो न विद्यते, न च यौगपद्यमपि। क्रमेण सहाक्रमस्य कोऽपि सम्बन्धो नास्ति। क्रमविधाने देव्याः क्रमविकासो जायते। अस्य विकासस्य प्रभावेण प्रमेयादयः क्रमशः स्वात्मसंवित्तिरूपेण भासन्ते। इदमेव परमं पदम्, यतः परतरं किमपि नास्ति। अत्रैव स्वात्मनः स्वरूपप्रतिष्ठा।

स्वतन्त्रकलाशास्त्रे रसब्रह्मवादः

डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय

अस्मिन् स्वल्पे लेखे रसब्रह्मवादस्य दिग्दर्शनमात्रं कर्तुं शक्यते । अतोऽस्य विषयस्य अंशचतुष्टयमात्रं संक्षेपेण व्याख्यास्यते ।

१. पाश्चात्त्येषु ईस्थेटिक्सइति नाम्ना प्रसिद्धो विषयः न साहित्यिकसमालोचनामात्रम्, न सौन्दर्यदर्शनमात्रम्, नापि रसवादमात्रम् ।

२. एतद्विषयविषयिणीनां पाश्चात्त्यविचारधाराणां भारतीयाभिस्तुलना ।

३. स्वतन्त्रकलाशास्त्रशब्दार्थविवरणम् ।

४. काव्यकलाजन्योऽनुभवः ।

ईस्थेटिक्स-शब्दार्थविवेचनम्

'ईस्थेटिक्स'इति नाम्ना पाश्चात्त्येषु प्रसिद्धाद् विषयात् साहित्यिकसमालोचनेति सौन्दर्यदर्शनमिति रसवाद इति वा भारते विश्रुतस्य विषयस्य को भेद इति प्रथमं स्पष्टीकार्यम् । यत इमे शब्दा एकार्था इति बहूनां भ्रमः । सत्यं त्विदं यत्पाश्चात्त्येष्वपि' ईस्थेटिक्स-लक्षणविषये मतभेदः । केचन सौन्दर्यदर्शनमिति लक्षयन्ति । तत्रापि सौन्दर्यविषये मतभेदः । केचन प्रकृतिगतं कलागतं च सौन्दर्यं लक्ष्यतया स्वीकुर्वन्ति । अपरे तु कलागतमेव सौन्दर्यं लक्ष्यमिति मन्वते । एवञ्च सौन्दर्यशब्दार्थविषयेऽपि मतभेदः । केचनेन्द्रियसुखदं सुन्दरम् इति मतमवलम्बन्ते । अपरे मनस आत्मनो वा सन्तोषप्रदं आनन्दजनकं वा सुन्दरमिति मतमुपस्थापयन्ति । कलागतसौन्दर्यमेव लक्ष्यमिति मन्वानेष्वपि मतभेदः । केचन सर्वाः कलाः लक्ष्याः, अपरे तु उपयोगिकलानां स्वतन्त्रकलाभ्यो भेदं व्यवस्थापयन्तः स्वतन्त्रा एव कलाः लक्ष्या न तूपयोगिन्य इति सिद्धान्तं स्थापयन्ति । इदं दर्शनमात्रमित्यपि मतं बहव आधुनिकाः पाश्चात्त्या न स्वीकुर्वन्ति । विज्ञानप्रधानेऽस्मिन् युगे विज्ञानदृष्टिकोणादिमं विषयम् अधीयानाः इदं विज्ञानस्यैका शाखेत्यूरीकुर्वन्ति ।

एतद्विषयविषयिणीनां पाश्चात्त्यविचारधाराणां भारतीयाभिस्तुलना

जर्मनदेशीयेनैकेन विद्यार्थिना वोंगाटननाम्ना डाक्टरोपाधिप्राप्त्यर्थं लिखिताय स्वपुस्तकाय **'ईस्थेटिका'** इति नाम प्रदत्तम्। अयं शब्दः ग्रीक्-भाषायाः 'ईस्थेटिकस'-इति शब्दस्यापभ्रंशरूपः। तस्मिन् पुस्तके प्रयुक्तस्य ईस्थेटिकइत्यस्य लक्षणं ददता तेनोक्तम्—"इदम् ऐन्द्रियक-निर्विकल्प-प्रत्यक्षस्य विज्ञानम्" स्वविचारञ्च स्पष्टीकुर्वता तेन निगदितम् इदं विषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्यानां तासां वेदनानां विज्ञानम्, या भाषायां संपूर्णतया प्रकटयितुं नैव शक्यन्ते। 'ईस्थेटिक' इति शब्दे एतच्छब्दाभिधेयस्य विज्ञानत्वद्योतकं सकारं संयोज्याऽधुना 'ईस्थेटिक्स' इति शब्दः प्रयुज्यते।

वोंगाटनमहोदयानाम् अध्ययनं साहित्याश्रितमासीत्। तैः साहित्यश्रवणजन्याया वेदनाया अनुभवस्य वा मनोवैज्ञानिकं विश्लेषणं कर्तुं प्रयत्तम्। एतत् कुर्वता तेनेदमुपलब्धं यदियं वेदनाऽयं वाऽनुभवः सांसारिकेभ्योऽनुभवेभ्यो विलक्षणः। न च साधारणलोकप्रचलितभाषायामस्य संपूर्णतया प्रकटनं शक्यम्। इत्थं महता प्रयासेन तैस्तदेवोपलब्धं यदस्माकं साहित्यविद्भिः ध्वनिसिद्धान्तस्थापकस्यानन्दवर्धनाचार्यस्य समयात् स्वीक्रियते। यथाहुः—

> उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
> शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयो भवेत्॥ इति।

जर्मनदेशीयाः सुविख्याता दार्शनिकाः काण्ट-इतिनाम्ना प्रसिद्धा एतस्य विषयस्योपरि स्वीयदार्शनिकदृष्ट्या लिखन्तः **'क्रिटीक आफ जजमेण्ट'** इति नाम्नि पुस्तके 'ईस्थेटिक्स' एकं दर्शनमिति मतं प्रकटयन्ति स्म। इन्द्रियसुखदवस्तुनः सौन्दर्यानुभवजनकाद् वस्तुनो भेदं स्थापयन्ति स्म। सौन्दर्यानुभवं कालाद्यनवच्छिन्नं मन्वते स्म। सौन्दर्यानुभवं कालाद्यनवच्छिन्नं प्रतिपादयद्भिस्तैः तदैव पाश्चात्त्येषु प्रकटीकृतं यद् भारतेऽभिनवगुप्तपादैः बहुकालपूर्वं संस्थापितमासीत् काव्यनाट्यजनितानुभवविषये।

अनन्तरं जर्मनदेशीयेन अतीवप्रभावशालिना दार्शनिकेन हेगल महाभागेन स्वीये **'फिलासफी आफ फाइन आर्ट्स'** इति नाम्नि त्रिभागे महति ग्रन्थे उपयोगिनीनां कलानां सुन्दरकलानां च पारस्परिको विभागः कृतः। काव्य-संगीत-वास्तु-मूर्ति-चित्रकलाः सुन्दरकलाः, एतद्भिन्नाश्च उपयोगिन्यः कला इति उद्घोषितम्। कलानुभवे विषयविषयिणावुभावपि व्यक्तित्वविधायकांशैर्देशकालादिभिः शून्यौ भवतः, कलाकृतिश्च कलाकारे एकां प्रकृतिदत्तां 'जिनियस' इत्यभिधेयां विलक्षणशक्तिमपेक्षते। कलानुभवितरि चापरा प्रकृतिदत्ता विलक्षणा शक्तिः 'टेस्ट' इति नाम्नी परमावश्यकीत्यादि सविस्तरं प्रतिपादितम्। इदं सर्वं दशमशताब्द्यामभिनवगुप्तपादैर्भरतकृतस्य नाट्यशास्त्रस्योपर्यभिनवभारतीनाम्नीं

टीकां लिखद्भिः सुस्पष्टीकृतमासीदिति तु साहित्यविदो भवन्तो जानन्त्येव ।

तथा हि यदिदं साहित्यकलानुभवस्य कालाद्यनविच्छिन्नत्वप्रतिपादनं यच्च विषय-विषयिणोरुभयोरपि व्यक्तित्वविधायकांशराहित्यस्वीकरणं तद् भारतीयैः प्रतिपादितस्य साधारणीभावस्य प्रतिध्वनिमात्रम् । काश्मीरिको वेदान्तमतानुसारी भट्टनायको हि प्रथमं रसानुभवे विषयविषयिणोरुभयोरपि साधारणीभावो भवति, स च भावकत्व-भोजकत्व-नाम्नीभ्यां काव्यभाषाशक्तिभ्यां जन्यत इति मतमुपस्थापयति स्म । तदनन्तरं काश्मीरिक-शैवाद्वैतप्रतिपादको महामाहेश्वरोऽभिनवगुप्तपादाचार्यः शैवाद्वैतस्य आभासवाद प्रक्रिया-ऽनुसारेण प्रेक्ष्यप्रेक्षकयोः काव्य-तद्रसयित्रोश्च साधारणीभावो भवतीतिस्पष्टीकृत्य भावक-त्व-भोजकत्वनाम्न्यौ भट्टनायकाभ्युपगते शक्ती अनावश्यके इत्युद्घोषितवान् ।

यत्किञ्चित् 'जिनियस' इतिनाम्ना पाश्चात्त्येषु प्रसिद्धं तत्सर्वम् अभिनवगुप्तस्वी-कृत प्रतिभाख्य कविशक्त्यन्तर्गतमेव । यथाह लोचने—

प्रतिभाऽपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, तस्या विशेषो रसावेश वैशद्यसौन्दर्यकाव्य-निर्माणक्षमत्वम् इत्यादि ।

प्रतिभायाः भर्तृहरि-भट्टतोत-राजशेखरादिदृष्टिकोणेभ्यो विशिष्टं प्रतिपादनं मयाऽभिनवगुप्त इतिनामकस्य स्वीयपुस्तकस्य द्वितीयसंस्करणे कृतमिति नेहाधिकमुच्यते ।

यच्च किंचित् 'टेस्ट' इति शब्देन पाश्चात्त्यैरुच्यते तदपि सर्वम् अभिनवगुप्त-लक्षितसहृदयतान्तर्गतमेव । यथाह लोचने परात्रिंशिकाविवृतौ च—

येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवन-योग्यता ते हृदयसंवादभाजः सहृदयाः । यथोक्तम्—

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः ।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ।। इति ।

परात्रिंशिकाविवृतौ तु मनोवैज्ञानिकदृष्ट्या समधिकं विशदीकृतं सहृदयतायाः स्वरूपम् । यथाह—

एकेनैव च रूपाद्यन्यतमेन उद्रिक्तप्राक्तनवलोपबृंहितस्य सर्वविषयकरणीयोक्त-क्षोभकरणसमर्थत्वम् ।............तथा च तद्वीर्यानुपबृंहितानाम् अविद्यमानतयाविध-वीर्यविक्षोभात्मकमदनानन्दानां पाषाणानामिव रमणीयतरतरुणीरूपमपि नितम्बिनीवदन-घूर्णमानकाकलीकलगीतमपि न पूर्णानन्दपर्यवसायि । यथा यथा च न बृंहकं भवति तथा तथा परिमितचमत्कारपर्यवसानम् । सर्वतो ह्यचमत्कारे जडतैक । अधिकचमत्कारावेश एव वीर्यक्षोभात्मा सहृदयतोच्यते ।

अद्यत्वे तु योरोपीयदेशेष्वमेरिकादेशेषु च ईसापूर्व-पञ्चमशतकादारभ्य ईसवीय-विंशतिशताब्दपर्यन्तं यत्किञ्चित्तद्देशीयैर्विभिन्नकलागतसौन्दर्यविषये प्राकृतिकसौन्दर्य-

विषये च सॉफिस्ट-गार्जियस-सॉक्रेटीस-प्लेटो-अरिस्टॉटल-प्लोटाइनस-लाक-बार्क्ले-ह्यूम-डेकार्ट-कांट-हेगल-शोपनआवर-क्रोचे इत्यादिभिर्लिखितं तत् सर्वं 'ईस्थेटिक्स-इतिहास-लेखकैः ईस्थेटिक्स-इतिहासपुस्तकेषु संगृह्यते ।

मेक्समूलरादीनाम् इदं मतं पठित्वा यद् भारतीया एतद्विषये किमपि न जानन्ति मन्मनसीदमायातं यत् संस्कृतपुस्तकान्यधीत्य विभिन्नकलाविषयिण्यो भारतीयविचार-धारास्तथा संकलनीयाः, आङ्गलभाषायां भारतीय–विदेशीयविचारधारयोः साम्यं तथा करणीयं येनायं वैदेशिकानां भ्रमो दूरीभवेत् । इदं च तैः समवगतं स्याद् यत् पाश्चात्य-देशेषु काचन सौन्दर्यविषयिणी विचारधारा नास्ति या भारते न प्रवहति स्म ।

स्वतन्त्रकलाशास्त्र-शब्दार्थविवरणम्

'ईस्थेटिक्स' इति शब्दार्थे मया स्वतन्त्रकलाशास्त्रम्-इति शब्दः प्रयुज्यते । एवं कुर्वतो ममायमाशयः । शास्त्रम् इति शब्द एतदर्थे प्रयुज्यते येनेदं प्रकटीकृतं स्यात्, यत् कलाविषयः भारते न केवलं दार्शनिकदृशाऽधीतः, अपितु वैज्ञानिकदृष्ट्यापि । यतो हि शास्त्रशब्दो दर्शनविज्ञानसाधारणः, अस्य शिक्षणोपायार्थत्वात् । संस्कृतवाङ्मये द्व्यशी-त्यधिकाः पञ्चशतकलाः परिगणिताः । अतो भारते विदितानां कलानां संख्या चतुःषष्टि-रेवेति न भ्रमितव्यम् । वात्स्यायनात् पूर्वभावी बाभ्रव्यः पाञ्चालः कलानां सर्वतः प्रथमं मूलकलास्वन्तरकलासु च विभागं कृतवान् । तन्मतानुसारेण मूलकलाश्चतुःषष्टि-संख्याकाः । अन्तरकलानां संख्यात्वष्टादशाधिकं पञ्चशतम् । यथाह—'आस्वेवान्तर-निविष्टानामन्तरकलानामष्टादशाधिकानि पञ्चशतान्युक्तानि' इति का० सू० ३२ । ताश्च कला अन्यैर्द्विविधाः स्वीकृताः उपयोगिन्यः स्वतन्त्राश्च । उपयोगिन्यः कलास्ता यास्तानि वस्तून्युत्पादयन्ति, यानि सांसारिकजनानां सुखं वर्धयन्ति । यथा वस्त्रनिर्माणाद्याः कलाः । स्वतन्त्रास्तु ताः कलाः, याः परं तत्त्वं परं ब्रह्म वा तादृशेनेन्द्रियग्राह्यरूपेण प्रेक्षकस्य पुर उपस्थापयन्ति यादृशेन सहृदये प्रेक्षके परब्रह्मास्वादसविधः, तद्रूपो वानुभव उद्भाव्यते । एवंविधाः कलास्तिस्रः काव्यकला, संगीतकला, वास्तुकला च । यतः भारतीयैः शास्त्रकारै-रेतासु तिसृस्वेव कलासु परब्रह्मास्वादजनककृत्युत्पादनशक्तिः स्वीकृता, नेतरासु । एवं, च, स्वतन्त्रकलाशास्त्रं तच्छास्त्रं यस्य विषयः स्वतन्त्रकलानां दर्शनं विज्ञानं च ।

स्वतन्त्रकलानां विज्ञानम् अस्य शास्त्रस्य विषयः यतो भारते इमाः कला विषय-रूपेण पर्यालोच्यन्ते । एकस्याः कलाकृतेर्विषयरूपेण पर्यालोचने तस्या विभिन्नांशेषु विश्ले-षणं क्रियते, तेषां पारस्परिको भेदः प्रदर्श्यते, तेषां पारस्परिकः संबन्धो निर्धार्यते । स्वतन्त्र-कलावैज्ञानिको न केवलं कलाकृत्युत्पादनार्थमुपयुक्तान् विभिन्नसमवायिकारणान् आश्रित्य कलाः परस्परतो भिन्नतया गणयति, अपित्वेकस्या कलायाः बह्वीः कृतीः पर्यालोच्य तासां पर्यालोचितवैलक्षण्यानुसारेण ताः विभिन्नवर्गेषु वर्गीकरोति ।

अपरञ्च, स्वतन्त्रकलाशास्त्रं स्वतन्त्रकलाविज्ञानम्। यत इदं स्वतन्त्रकलोद्भावितमनुभवं मनोवैज्ञानिकरीत्या विश्लेषयत्यधोलिखितेषु विभिन्नांशेषु।

(अ) प्रतिभावतः कलाकर्तुः सहृदयस्य प्रेक्षकस्य वा व्यक्तित्वं विश्लेषयन् प्रदर्शयति कलाकर्तुः प्रेक्षकस्य वा व्यक्तेः साधारणलौकिकव्यक्तेः कानि वैलक्ष्याणि।

(आ) कलानुभवस्य विभिन्नेषु स्तरेषु इन्द्रियबोधस्वतन्त्रोल्लेख-स्वात्मविस्मृति-साधारणीभावादिषु प्रतिभा-सहृदयत्वादीनां सहयोगेनाऽनुभवविषयस्य मानसी मूर्तिः कथं संवर्धत इति स्पष्टीकरोति।

(इ) न्यायदिशा कलानुभवस्य सत्य-मिथ्या-संशय-प्रत्यभिज्ञादिरूपेभ्योऽनुभवेभ्यः वैलक्षण्यं साधयति।

(ई) इन्द्रियसुखजननोपदेशप्रदानालौकिकानुभवोत्पादनादिरूपान् कलाकृत्युद्देश्यान् विवेचयति।

(उ) सकारणोपन्यासमिदं हृदयङ्गमीकरोति यत् कलाकृतिर्नानुकरणं नेन्द्रजालं न च भ्रामकं वस्तु।

(ऊ) साहित्यकलाप्रसङ्गे व्यञ्जनाशक्तिम् अभिधा लक्षणा तात्पर्यशक्तिभ्यो भिन्नां व्यवस्थापयति मनोवैज्ञानिकरीत्या।

(ऋ) नाटकं चाक्षयं प्रकृतिकार्यावस्थादिगतचतुःषष्टयङ्गेषु विश्लेषयति, वर्गीकरोति च नायकादीन् तेषां भाविक-चारित्रिकादिवैलक्षण्यानुसारेण। एभिः कारणैः स्वतन्त्रकलाशास्त्रं विज्ञानम्।

परं स्वतन्त्रकलाशास्त्रं दर्शनमपि। यत इदं कलाजनितमनुभवं दार्शनिकरीत्या विवृणोति। यतश्च तिसृणां साहित्यसंगीतवास्त्वभिधानां कलानां शास्त्रकारा इदं मतमवलम्बन्ते यत् कलाकृतयस्तदभ्युपगतं ब्रह्म प्रदर्शयन्ति। तथा च त्रयः कलासिद्धान्ताः भारते विश्रुताः—

रसब्रह्मवादः, नादब्रह्मवादः, वास्तुब्रह्मवादश्च।

तत्र रसब्रह्मवाद उपनिषत्समयेऽपि प्रचलित आसीत्, यथा स्पष्टीभवति 'रसो वैः सः' इत्याद्युपनिषद्वाक्येभ्यः। नादब्रह्मवादो वैयाकरणस्फोटवादप्रभावितेन शार्ङ्गदेवेन स्वीयसंगीतरत्नाकरे सुप्रतिपादितः। भोजेन स्वीयसमराङ्गणसूत्रधारे वास्तुब्रह्मवादः स्थापितः—'वास्तुब्रह्म सदा विश्वं व्याप्नोति सकलं जगत्' इत्यादि वदता। इत्थं स्वतन्त्रकलाशास्त्रं दर्शनमपि। एतावद् मया इमां भ्रान्तिं दूरीकर्तुमुक्तं यत् साहित्यिकसमालोचनामात्रं सौन्दर्यदर्शनमात्रं वा 'ईस्थेटिक्स'पदवाच्यम्।

वैज्ञानिक-साहित्यिक-समालोचनाविषये वक्तव्यमिदम्—वैज्ञानिकदृष्टया संस्कृतसाहित्यग्रन्थानां विश्लेषणं कुर्वद्भिः सप्तसाहित्यिकतत्त्वानि लक्षणाऽलङ्कार-

गुणदोषरीतिध्वनिरसरूपाण्युपलब्धानि। लक्षणालङ्कारयोर्भेदो भरतेन स्वीकृतः। तेन चत्वार एवालङ्काराः स्वीकृताः। लक्षणानि तु षट्त्रिंशत्। लक्षणालङ्कारगुणवृत्तीनां न मौलिको भेदः। अध्येतृसौकर्यार्थमेवायं विभागः कृतः। अलङ्कारगुणादयः कविप्रतिभोत्थापितस्याऽलौकिक-मानसचित्रस्य भाषायां चित्रणस्योपायाः।

दोषाणां काव्यतत्त्वेषु गणनम् असंगतम् इत्याक्षेपस्य समाधानमभिनवगुप्तपादैरेवं कृतम्—

न वै दोषा दोषा न च खलु गुणा एव च गुणाः।
निबद्धः स्वातन्त्र्यं सपदि गुणदोषान् विभजते॥
इयं सा वैदग्धी प्रकृतिमधुरा तस्य सुकवेः।
यदत्रोत्पादादप्यतिसुभगभावः परिणतः॥

इदं पद्यम् अभिनवगुप्तपादैः स्वीयात् **पुरोरवविचारात्** स्वीयायां घटकर्परकुलकनामकस्य **कालिदासीयकाव्यस्य** टीकायाम् उद्धृतम्। साहित्यिकसमालोचनाया आदर्शोऽभिनवगुप्तपादानां घटकर्परकुलकटीकायाम् उपलभ्यते।

काव्यकलाजन्योऽनुभवः

दार्शनिकदृष्ट्या काव्यनाटकोद्भावितमनुभवं विवेचयद्भिर्विभिन्नैर्भरतकृतनाट्यशास्त्रटीकाकारैर्विभिन्नानि मतान्युपस्थापितानि। श्रीशङ्कुको रसानुभूतिरनुमितिजन्येति प्राच्यन्यायानुसारेण प्रत्यपादयत्। एतन्मते विभावानुभावव्यभिचारिभ्योऽनुमितः स्थाय्येव रसः। तदनन्तरभावी कश्चन भ्रान्तिरियमित्युद्घोषयत्। वेदान्तानुसारी भट्टनायकः काव्यभाषाया भावकत्व-भोजकत्वनाम्न्यौ द्वे स्वतन्त्रे वाद्यन्तरानभ्युपगते शक्ती अभ्युपगत्य प्रेक्ष्यप्रेक्षकयोः साधारणीभावजन्येयमिति मनुतेस्म। एतन्नये रसास्वादो ब्रह्माऽऽस्वादसहोदरः। सहोदरता चास्मिन्नंशे। जीवब्रह्मणोर्वास्तविकमैक्यम्। भेदस्तु मायीयावच्छेदककृतः। साधारणीभावे संजाते मायीयावच्छेदकभ्रंशाद् जीवो ब्रह्मैव भवति, तथापि ब्रह्मण इयान् भेदस्तिष्ठत्येव यद्रसास्वादकाले उद्बुद्धः साधारणीकृतः स्थायी जीवात्मानमुपरञ्जयत्येव।

अभिनवगुप्तस्तु काश्मीरिकाद्वैतशैवदृशा रससिद्धान्तं स्थापयन्नद्वैतशैवप्रक्रियया प्रेक्ष्यप्रेक्षकयोः साधारणीभावो भवतीति प्रदर्शयन्, भावकत्व-भोजकत्वशक्त्यभ्युपगमो व्यर्थ इति सिद्धान्तयन्, रसानुभवे स्तरत्रयमूरीकरोति। तन्मतानुसारेण प्रथमे स्तरे प्रस्ता-

वनागतगीताऽऽतोद्यचर्वणाविस्मृतसांसारिकभावतया विमलमुकुरकल्पीभूतनिजहृदयः प्रतिभाशाली सहृदयो दृश्यदर्शनध्वनियुक्तश्रव्यश्रवणानन्तरं स्वप्रतिभया कविमनोगतचित्र-सदृशं विभावानुभावव्यभिचारिणां देशकालव्यक्तिविशेषसम्बन्धशून्यं चित्रं स्वान्तःकरणे चित्रयति। वासनारूपेण स्थितस्य विभावादिसमुचितस्य स्थायिभावस्य जागरणात् तेन च सहविभावानुभावव्यभिचारिभावानां पानकरसन्यायेन संमिश्रणादभिव्यक्तं रसमनु-भवति च।

द्वितीये स्तरे सहृदयचेतसश्चर्व्यमाणरससारग्रहणपरत्वाद् अपासितविभावादिः स्थाय्येव चर्वणापात्रम्। यतोऽप्रधाने वस्तुनि न कस्यचित् संविद् विश्राम्यति, अप्रधान-वस्तुप्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यवविश्रान्तत्वात्। अतो विभावानुभाव-वर्गे स्थायिना संमिश्रितेऽपि स्थाय्येव चर्व्यते। यथाह अभिनवगुप्ताचार्यः—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः,
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविततमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा,
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति॥

इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्त-द्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते। तस्यां च 'यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद् भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव, परं देशकालाद्यनालि-ङ्गितम्। तत एव 'भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा' इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःख-सुखादिकृतहानादिबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः।

(अ० भा०, भा० १ पृ० २८०)

तृतीये तु स्तरे विषयविषयिरूपं द्वैतं सर्वथा व्यपगच्छति, संविदः पूर्णतयाऽन्त-र्मुखीभूतत्वाद् विषयतयाऽवभासमानस्योद्बुद्धस्य स्थायिनोऽपि वासनायां प्रतिमज्जनात्। एवं चाभिनवगुप्तमते तृतीयस्तरे रसानुभवः परमानन्दानुभवो व्यतिरेकतुरीयातीतसमाधा-वनुभूयमानादनुभवादभिन्नः, सर्वस्यापि वैषयिकज्ञानस्य वासनायां निमग्नत्वाच्छुद्धस्य संविदात्मन आनन्दरूपे स्वस्वरूपे भानाच्च। यथाह प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिन्याम्—

"मधुरादिरसास्वादे तु विषयस्पर्शव्यवधानम्, ततोऽपि काव्यनाटकादौ तद्व्यवधान-शून्यता, तद्व्यवधानसंस्कारानुवेधस्तु तत्रापि। परन्तु तथोचितव्यवधानांशतिरस्क्रिया-सावधानहृदया लभन्त एव परमानन्दम्"। इति।[1]

---

१. प्र० वि० वि०, भा०, २ १७८-१७९

तथा चाभिनवभारत्याम्—'अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशङ्का'[1] इति।

इत्थम् अभिनवगुप्तप्रतिपादित-रसब्रह्मवादानुसारेण रसास्वादोऽन्तिमस्तरे न ब्रह्मास्वाद सहोदरः, यथा भट्टनायकमते, न रत्याद्यवच्छिन्नाया भग्नावरणायाश्चितोऽनुभवः, यथा पण्डितराज जगन्नाथनये, नापि भग्नावरणचिद्विशिष्टस्य रत्यादेरनुभवः, यथा रसगङ्गाधरकारोऽभिनवगुप्तमतं बुध्यते स्म, अपितु निरवच्छिन्न परमानन्दास्वाद एव।

१. अ० भा०, भा० १, पृ० २९३

परब्रह्मणो निर्गुणत्वं सगुणत्वं वा ?

श्री व्रजवल्लभशरण

शान्तिकान्तिगुणमन्दिरं हरिं, स्थेमसृष्टिलयमोक्षकारणम् ।
व्यापिनं परमसत्यमंशिनं नौमि नन्दगृहचन्दिनं प्रभुम् ।।

अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकस्य चराचरात्मकनिखिलविश्वस्य निमित्तोपादानैकहेतोः सर्वाधारस्य श्रीसर्वेश्वरस्य निःश्वासभूतेषु वेदेषु तदर्थप्रतिपादकेषु श्रीमद्भागवतादिपुराणेषु गीतामन्वादिस्मृतिषु महाभारतादीतिहासग्रन्थेषु सर्वत्र ब्रह्मणः सगुणत्वप्रतिपादकानि बहूनि वाक्यानि समुपलभ्यन्ते । क्वचित् क्वचिच्च निर्गुणत्वबोधकान्यपि वचनानि विद्यन्त इति नाविदितं विपश्चिताम् ।

यद्यपि भगवदवतारेण श्रीकृष्णद्वैपायनेन सत्यवतीनन्दनेन श्रीमद्व्यासदेवेन स्वकृतब्रह्मसूत्रेषु विवादोऽयं निर्णीतस्तथाऽपि तद्भाष्यकर्तृषु तद्विषये वैमत्यं विद्यत एवाधुनाऽपि । तदनुभूय जिज्ञासेयं सम्भवति यदनयोः कतरद् वास्तविकमिति ।

ब्रह्मजीवप्रकृतीति तत्त्वत्रयं सर्वशास्त्रसम्मतम् इत्येतद्वेदान्तसूत्राणां प्रायः सर्वं एव व्याख्यातारः स्वीकुर्वन्ति, तस्यैव तत्त्वत्रयस्य स्वरूपादिविवेचनं हि सर्वस्य शास्त्रस्य मुख्यः प्रतिपाद्यविषयः । तत्तत्त्वत्रयमिति भगवदुक्तिरियं स्पष्टयति—

क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः, परमात्मेत्युदाहृतः ।। गीता० १५।१६

दृश्यमानं चराचरात्मकमिदं विश्वं तस्य परमात्मन एकपादविभूतिराख्यायते, 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि०' (यजु० ३१।२); छा० उ० ३।१२।६) इत्यादिश्रुतिभिरुभयविभूतिमत्त्वं ब्रह्मणः स्पष्टतरं द्योत्यते । अस्याविष्कर्ताऽपि परमेश्वर एव, इत्येतदपि 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छां० ६।३।३) 'स ईक्षाञ्चक्रे०' (ऐ० ६।३), 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० २।६) इत्यादिषु बहुषु श्रुतिवचनेषु निर्धार्यते । अचिन्त्यविचित्ररचनात्मकस्य जगतो यः कर्ता सोऽज्ञोऽल्पज्ञो वा भवितुं नार्हति अपितूपादानगोचराऽपरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमान् सर्वज्ञ एवैवंविधे महति कर्मणि समर्थः, इत्यपि । 'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।' (मुं० १।१।९) इत्याद्युपनिषद्वचनेषु निर्णीयते ।

'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे० ६।८) इत्यादिश्रुतयस्तस्य ज्ञानबलक्रियादिसर्वशक्तिसम्पन्नतां समर्थयन्ति। 'अस्य महतो भूतस्य निश्श्वसितम्' (बृ० ४।५।११) इत्यादिश्रुतिभिस्तस्य श्वासप्रश्वासयुक्तदिव्यविग्रहमत्त्वं प्रतिपाद्यते। 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' (यजु०) इत्यादिभिश्च करचरणमस्तकादियुक्तत्वम्, 'अग्निर्मूर्धा-चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ' (मुं० २।१४) इत्यादिभिश्च तस्य सेन्द्रियत्वं द्योत्यते। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (श्वे० ३।८), "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्' (मुं० ३।१२) इत्यादिभिस्तस्य दिव्यरूपवत्ता प्रतिपाद्यते। 'य आत्माऽपहतपाप्मा०' (छान्दोग्यो०)इत्यादिश्रुतयः परमात्मनो विग्रहस्याजरामरत्वं प्रतिपादयन्ति। 'स एव सर्वेश्वरः' (बृ० ४।४।१२), 'एष सर्वेश्वरः०' (माण्डू० ३।६) इत्यादिभिः सर्वशासकत्वम्, 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च०' (का० १।२।२४) इत्यादिभिश्च तस्य भोक्तृत्वं सर्वोपसंहारकत्वं च प्रतिपाद्यते। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति०' (श्वे० ३।८) इत्यादिश्रुतिभिस्तज्ज्ञानस्य मुक्तिप्रदत्वम्, 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इत्यादिभिश्च मुक्तप्राप्यत्वम्, 'जक्षन् क्रीडन् रममाणः सह ब्रह्मणा विपश्चितः' इत्यादिभिश्च मुक्तानां तेन सह क्रीडनादिकं प्रतिपाद्यते।

इत्थञ्च सर्वाधार ईक्षणकर्ता सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् वेदात्मकश्वासप्रश्वासयुक्त-दिव्यविग्रहवान् आदित्यवत्तेजोरूपः क्षुत्तृट्शोकमोहजरामरणाद्यस्पृष्टः सर्वशासको वेदैकगम्यो मुक्तप्राप्यः, तैः सह क्रीडनशीलः परमात्माऽस्ति, तस्य सगुणत्वं च निश्चितम्।

अथ च, 'यतो वाचो निवर्तन्ते०' (तै० २।६) इत्यादिभिस्तस्यावाच्यत्वम्, यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनिरुक्ते० (तै० २।७) इत्यादिभिरदृश्यत्वानिरुक्तत्वम्, 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (का० १।३।१२) इत्यादितो नीरूपत्वादिकम्, 'अप्राणो ह्यमना शुभ्रम्०' (मुं० २।१।२) इत्यादिभिर्मनःप्राणरहितत्वम्, 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्०' (मुं० १।१।५) 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' (श्वे० ४।१०) इत्यादिभिश्च परमात्मनोऽदृश्यम-ग्राह्यत्वं निष्कलत्वं निष्क्रियत्वं च प्रतिपाद्यते। तदित्थमुभयविधत्वमेव ब्रह्मणो निगमागमेषु समुपलभ्यते। सर्वैरप्याचार्यैरनयोः परस्परविरुद्धात्मकभावयोरविरोधप्रकारमन्विष्य व्यवस्था कृता।

तत्र भगवता श्रीसुदर्शनावतारेण श्रीनिम्बार्काचार्य्येण निर्गुणत्वप्रतिपादक-वाक्यानां मायिकगुणनिरपेक्षत्वे तात्पर्यमवधारितम्। अर्थात् तस्य गुणशक्तिरूपविग्रहकर-चरणावयवादयो न प्राकृतिकाः, अपि तु सर्व एव दिव्याः, "आप्रणखात् सुवर्णम्" इत्यादि-श्रुतिबलात्। एतदेवोद्दिश्य—

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' इत्यादिश्रुतयः परब्रह्मणोऽपाणिपादत्वेऽपि वेगेन गमनं सुदृढं ग्रहणम्, अचक्षुष्मत्त्वेऽपि सर्वावलोकनम्, अकर्णत्वेऽपि दूरातिदूरस्य श्रवणञ्चेति विरोधाभासमप्यविरुद्धं संगिरन्ते।

इत्थमेव श्रुतिप्रतिपादितानामदृश्यत्वादिधर्माणां व्यवस्था भवितुमर्हति। तस्य

दुर्दर्शमेवादृश्यत्वम्—'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्' (का० १।२।१२) 'शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः०' (का० २।७)इत्यादिश्रुतिभ्यः। सूक्ष्मबुद्धयस्तु पश्यन्त्येव—'दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या' (का० ३।२।१) इत्यादिश्रुतेः। सूक्ष्मबुद्धयो जना अपि तत्कृपयैव तद्दर्शनं कर्तुं शक्नुवन्ति, न तु स्वकीयसूक्ष्मबुद्धिबलेनैव, एतदेवोक्तं 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (मुं० २।३) इत्यादिश्रुतिपूगेन।

मुक्तोपसृप्योऽपि स एव 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मुं० ३।२।८) इत्यादिश्रुतेः। तस्यैव परमं साम्यं संप्राप्य मुक्तजनास्तेन सह रमणादिकं कुर्वन्ति—'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति०', 'जक्षन् क्रीडन् रममाणः सह ब्रह्मणा विपश्चितः' —इत्यादिश्रुतिषु स्पष्टमेतत् सर्वं प्रतिपाद्यते।

यदि चेन्निर्गुणशब्दः सर्वगुणविहीनार्थं वदेत्, तर्हि तादृक्पदार्थस्य शून्यकल्पत्वमेव प्रसज्ज्येत, तत्तु वेदविरुद्धैः सुगतादिभिरेव स्वीक्रियते, न तु केनापि वैदिकमतावलम्बिना। वैदिकैस्तु समेषामेव वेदवाक्यानां समबलत्वमङ्गीक्रियते, तेन न केनाऽपि कस्यचिद्वाक्यस्य बाधप्रसक्तिः। प्रकरणवशादपि प्रबलत्वनिर्बलत्वे, मुख्यत्वगौणत्वे कामपि क्षतिं न कुरुतः, यतो हि सर्वे शब्दाः स्वस्वप्रकरणे स्वार्थे च मुख्या अत एव प्रबला एव, न कस्याऽपि निर्बलत्वं न गौणत्वम्। एतदर्थमेव भगवता श्रीनिम्बार्काचार्येण स्वकृतवेदान्तपारिजातसौरभाख्ये ब्रह्मसूत्राणां सूक्ष्मवृत्तौ ब्रह्मणः सगुणनिर्गुणत्वरूपस्य वास्तविकत्वं स्वाभाविकत्वञ्च प्रतिपादितम्। न तयोः सगुणनिर्गुणयोर्विभिन्नत्वमपि त्वेकत्वमेव। प्रतिज्ञातमेतत् कण्ठतः—वेदान्तकामधेनुभूताया दशश्लोक्याश्चतुर्थपद्येन—

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्मपरं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥

तदेव च परं ब्रह्म पुंस्त्रीवृद्धकुमारकुमारीति सर्वरूपं सर्वपदवाच्यम्—

'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी' (श्वे० ४।२)इत्यादिश्रुतिभिः प्रतिपाद्यते। तच्च यथेच्छं शरीरादिसम्बन्धादेव—'नैव स्त्री न पुमानेष०'(श्वे० ५।१०) इति श्रुतेः। युगलात्मकं तु सार्वदिकम् नित्यञ्च, तथैव सखी सहस्रादिपरिकरम् वैभवादिकञ्चापि—इत्यत्राचार्योक्तिरियम्—

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा, विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखीसहस्रैः परिसेवितां सदा, स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम्॥
(वे० का० दशश्लोक्याः श्लो० ५)

तदेव च युगलात्मकं ब्रह्म जनैर्नितरामुपासनीयमिति श्रीसनकादिमुनिभिरुपदिष्टं तत्त्वं परम्परागतमाचार्यवर्येण सम्प्राप्तमिति तैरेवाचार्यवर्य्येण प्रतिज्ञातम्—

उपासनीयं नितरां जनैः सदा, प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं, श्रीनारदायाऽखिलतत्त्वसाक्षिणे ।।
—वे० का०, दशश्लोक्याः ६ श्लो० ।

एकस्यैवैतत् सर्वमंशभूतमस्ति, अंशांशिनोश्च न सर्वथा भिन्नत्वम्, नापि सर्वथाऽभेदः, अंशत्वांशित्वधर्मभेदात् । अतः कारणकार्यात्मकयोरंशांशिनोरात्माऽत्मीययोर्विश्वम्भरविश्वयोर्भेदाभेद एव सम्बन्धः, स च स्वाभाविकः । सतो ब्रह्मणः कार्यभूतत्वादिदं दृश्यमानं जगदपि सत्, चेतनस्य जीवस्य तु सत्त्वं निर्विवादम् । एतत्सिद्धान्तसमर्थकाः श्रीनिम्बार्काचार्या ब्रह्मसूत्राणां व्याख्यातृषु प्राचीनाः । नैतन्मतं साम्प्रदायिकविदुषामेव, अपित्वाधुनिकशोधपरायणा अपि भाण्डारकरादीनामनुमानं निरस्य श्रीशङ्करतः पूर्ववर्तित्वं स्वीकुर्वन्ति, ईसवीयपञ्चमशताब्द्यां चैतत्कृतां पारिजातसौरभवृत्ति समर्थयन्ति । एतेषां पट्टशिष्यश्रीनिवासाचार्यैः कृतं वेदान्तकौस्तुभभाष्यमपि तत्समसामयिकं, भट्टभास्कराचार्यस्तस्य पङ्क्तिमक्षरशः समुद्धृत्यालोचितवान् ।

श्रीशङ्करावतारेण भगवता श्रीशङ्कराचार्येण त्वेकमेवाद्वितीयतत्त्वं पारमार्थिकमङ्गीकृत्य तदितरस्य सर्वस्य मिथ्यात्वं प्रतिपादितम् । तच्च नित्यमुक्तशुद्धात्मकं ब्रह्म निर्गुणमेव, न तस्मिन् परब्रह्मणि कोऽपि धर्मः, न ज्ञानम्, न शक्तिः, न कर्तृत्वम्, न भोक्तृत्वम्, केवलं सत्यं ज्ञानम् अनन्तं प्रकाशस्वरूपमात्रमेव तत् । गुणशक्त्यादयस्तु सर्वे मायिकाः, मायासम्प- र्कात् परब्रह्मणः प्रतिबिम्बभूते शबलब्रह्मणि जीवे चैव ते वर्तन्ते । माया तु न सती नासती सदसद्भिन्ना, निर्वचनानर्हत्वादनिर्वचनीयेति वदन्ति । प्रतिबिम्बादीनां बिम्बतोऽभिन्नत्वादभेदसिद्धान्तमेव ते स्थापयन्ति । भेदबोधकवेदवाक्यानि तेषां मते निर्बलानि । अभेदबोधकवाक्यैस्ते बाध्यन्ते ।

अत्र भट्टभास्कराचार्यः प्रत्यवतिष्ठते । भेदस्य मिथ्यात्वं ते नैव स्वीकुर्वन्ति । औपाधिको भेदः, अभेदश्च वास्तविक इति औपाधिकभेदाभेदसम्बन्ध एव तेषां राद्धान्तः । श्री शङ्कराचार्याणां मायावादस्य निरासार्थमेव तेषां भाष्यावतार इति तैरेव प्रतिज्ञातम् ।

श्री यामुनरामानुजाचार्यादयस्तु मायाजीवौ विशेषणभूतावित्यङ्गीकृत्य विशिष्टाद्वैतमतं स्थापयन्ति । श्रीमध्वाचार्याश्च सर्वथा भेदवादिनः, श्रीविष्णुस्वामिवल्लभाचार्यादयश्च शुद्धाऽद्वैतं वदन्ति, सर्वेऽप्येते ब्रह्मणो निर्गुणत्वं निराकृत्य सगुणत्वमेवाङ्गीकुर्वन्ति ।

वस्तुतः शाब्दिकप्रक्रियातो निर्गुणशब्दस्य गुणशून्यत्वबोधकत्वं नैव सिद्ध्यति । तथाहि, 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इत्यनेन 'निरादय उपसर्गा क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्यन्तशब्दैः सह समस्यन्ते' इति नियम्यते । तत्र च निस्त्रिंशशब्द उदाहृतः—'निर्गतस्त्रिंशेभ्योऽङ्गुलिभ्यो यः स निस्त्रिंशः, त्रिंशदङ्गुलादधिको यष्टिविशेषः' इति तत्तात्पर्यम् । एवमेव निराकारनिर्गुणनिर्विशेषादयो बोध्याः । सर्वान् आकारान् विशेषान् गुणान्

अतिक्रम्य यो वर्तते स एव निराकारः, निर्गुणः, निर्विशेषश्च ।

निराकारशब्दवाच्यं ब्रह्म सर्वेभ्य आकारेभ्यो बृहद् इत्येतत् सहस्रशीर्षेति पुरुषसूक्तमन्त्रे 'स भूमिं सर्वतः स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' इत्यनेनोत्तरार्द्धेन स्पष्टमेवोक्तम् । दशाङ्गुलमित्यस्य सायणादिवेदभाष्यकारैरनन्ताङ्गुलमित्युपलक्षितम् इति व्याख्यानं कृतम् । अतएव प्राकृतिकगुणानतिक्रम्य यद् वर्तते तदेव निर्गुणम् । न तु गुणरहितम् । अन्यथा सर्वाधारत्वोक्तिर्विरुद्धयेत ।

एकस्यैव परब्रह्मणो निर्गुणत्वसगुणत्वम् 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इत्यस्मिन् यजुर्वेदीयमन्त्रे सुस्पष्टम् । अत्र पादस्याप्युपलक्षणत्वमेव, यत्सर्वाधारस्यांश मात्र एवैतत्सर्वं प्राकृतिकं जगत् वर्तते । अन्यत् त्रिपादात्मकं तु दिव्यमतएव निर्गुणं निगद्यते । एकपादविभूतिमत्त्वं सगुणत्वं त्रिपादविभूतिमत्त्वं निर्गुणत्वमिति वक्तुं शक्यते । इत्थञ्चैकस्य सगुणत्वनिर्गुणत्वे इति श्रुतिसिद्धान्तस्तद्वयाख्यातृभिराचार्यैः समर्थितः ।

एषैव प्राचीना धृतिरुत्तरोत्तराविर्भूतैर्विचारकैः स्वस्वाभिप्रायेणाङ्गीकृता । केनचित् सगुणत्वमेव केनचिच्च निर्गुणत्वमेव । वस्तुतस्तूभयविधत्वमेव शास्त्रसम्मतमिति प्रतिपादितं पूर्वाचार्यचरणैः—

> निर्गुणं तदिति वैदिकं वचोऽविद्यया त्वयि विशेषणाऽसहे ।
> वस्तुतोऽखिलविशेषसागरे, नो विरुद्धमिति तावदस्तु मे ।।

विशिष्टाद्वैत-रामानन्दमतयोः साधर्म्यवैधर्म्यविचारः

विद्यामार्तण्ड माधवाचार्य

यादृशं ब्रह्म यो वाऽहं यदिदं येन ज्ञायते ।
.वन्दे तं चेतनं तत्स्थं सर्वेशं च ततः परम् ॥१॥

बलभद्रमहं सेवे सर्वकल्याणकारकम् ।
कल्याणोऽपि यमाराध्य लोके कल्याणदोऽभवत् ॥२॥

सर्वदेवमयं वेदं सर्वशाखाप्रवर्तकम् ।
सत्सम्प्रदायसम्पूज्यं प्रणौमि परमेश्वरम् ॥३॥

कृष्णद्वैपायनो मेऽत्र ध्येयः किं न तथा भवेत् ।
चतुर्धा व्यस्य यो वेदं ब्रह्मसूत्राणि निर्ममे ॥४॥

श्रुतीनामन्वयः सूत्रे यथा सम्यक् प्रकाशते ।
तथा तत्सम्प्रदायानां, भारतेऽस्मिन् प्रकाशताम् ॥५॥

ज्ञात्वा वेदान्तसिद्धान्तान्, शाखीयान् सूत्रशोधितान् ।
विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तिमतैक्ये मतिमाद्रिये ॥६॥

आसीत् पुरा विभवानां निधिः, जागतिकसम्पत्तिपरिपूर्णम्, लौकिकचिन्ताविनिर्मुक्तम्, पारलौकिकपदार्थचिन्तनपरम्, सर्वाभ्युदयानां परां काष्ठां समुत्तीर्णमिदं भारतम् ।

तदा समधिगतसर्वार्थाः प्रायतन्त खल्वाध्यात्मिकान् विषयान् अधिकर्तुं भारतीयाः । अधिचक्रुश्च तान् स्वानुभूतिसहकृतेन वैदिकेन मार्गेण । भारतेऽध्यात्मविचारपरम्परा सनातनकालादेव प्रवर्तिता । भारतीयेष्वविद्यन्त स्वात्मारामा बहवः । अधुनाऽपि न जहात्यात्मारामता भारतीयान् ।

अन्येषां त्वत्र का वार्ता । सर्वेश्वरोऽपि समये समये समाधिस्थः स्वात्मरतो ह्येव विचार्यते ।

प्राप्नुवन् परमगुरोः परमेश्वरात् परमर्षयोऽध्यात्मविद्याम् । सैव च परम्परया वेदान्ताचार्यैः समधिगता । इदं सर्वमध्यात्मं तत्त्वत्रये समाहितम् ।

भगवन्तौ श्रीरामानुजाचार्यरामानन्दाचार्यौ द्वावपि तत्त्वत्रयवादिनौ विद्येते इति सुस्पष्टं प्रतीयते तयोर्भाष्ये । तद्भाष्ये दृष्ट्वा कोऽपि निश्चिनुयाद् यदेतौ तत्त्वत्रयाद् व्यतिरिक्तम् अन्यत् किमपि तत्त्वं न मन्येते ।

अनयोर्भाष्ये समीचीनतया 'यादृशं ब्रह्म, यादृशोऽहम्, यादृशं चेदं परिदृश्यमानं जगत्' इति सर्वं विचारितम् । अधिगतं चैताभ्यामिति भाष्ये मत्वा प्रतीयते ।

तथा च 'कीदृशं ब्रह्म, कोऽहम्, किमिदं दृष्टिसम्मुखे परिदृश्यमानं जगत्' इत्येतान् एतत्सम्बन्धिनोऽन्यांश्च प्रश्नान् तादृशा महापुरुषा एव श्रोतॄणां सर्वां शङ्कां निराकृत्य व्याख्यातुं शक्नुवन्ति, ये सर्वसाधनसम्पन्नाः सर्वतो विरता निष्कामा विद्वांसः पुरुषाः सन्ति ।

परञ्च बहुकालात् परतन्त्रे सर्वतः शोषिते क्षुत्पिपासातुरे देशे रोगाक्रान्तैः परप्रेष्यैर्जनैरेतादृशाः प्रश्नाः कदापि न क्रियन्ते, नापि निरूप्यन्ते च । नाप्ययम् एतादृशो विषयः, यत् कोऽप्यत्र सर्वसाधारणोऽधिकृतो भवेत् । पृच्छेन्निरूपयेद् वा ।

अत्र अधिकारागमार्थम्, अष्टांगयोगः साध्यते, क्रियायोगाश्च सम्पाद्यन्ते । दासानुदासता च प्रार्थ्यते सर्वेशस्य ।

यदि परमेश्वरस्य कथमपि विशेषानुग्रहो भवेत्तदा तु परिश्रमं विनाऽपि लभ्येत दिव्यदृष्टिः, ततोऽपि किमपि नावशिष्येत । श्रूयते भगवतः कृष्णस्य विशेषानुग्रहाद् अर्जुनो महाभारते प्राप्तवान् दिव्यदिष्टे तां दृष्टिम् । यथावच्चान्वभवत् सर्वं तत्त्वजातम् ।

अन्यथाऽत्र यो वाऽतीन्द्रियोऽर्थः, स तु लौकिकैः प्रमाणैः कथमपि न लभ्यते ज्ञायते च । तं तु विवेकिनः श्रद्धालवो जना भगवतो जगदीश्वरस्य श्वासप्रश्वासरूपिणो वेदादेव विदन्ति । अतो महात्मानो वेदं ज्ञातुं प्रयतन्ते प्रयत्नादवगच्छन्ति च ।

वेदश्च पुरा भगवतो विश्वेश्वराच्चतुर्मुखेन ब्रह्मणा प्राप्तो महर्षिभिर्धृतः, सर्ववेदमयः, सर्वविद्यारत्नाब्धिः परब्रह्मस्वरूपो भोगमोक्षप्रदो वर्तते । तस्य साहाय्यं प्राप्यैवाऽध्यात्मनिष्ठा महात्मानोऽतीन्द्रियान् अर्थान् अवगच्छन्ति । अत एव च अतीन्द्रियेऽर्थे वेदस्यैव प्रामाण्यं स्वीक्रियते ।

वेदानुकूलतया चान्यानि प्रमाणानि प्रमाणपदवीमारोहन्ति, न तु वेदप्रतिकूलानि । अत एव सर्वे सम्प्रदाया आर्येषु वेदमाश्रित्यैव प्रवर्तिताः । अत्र वेदो न अतीन्द्रियेऽर्थे एव प्रमाणम्, प्रत्युत देशधर्मसमाजानामपि सर्वाः प्रवृत्तय वेदाविरुद्धा एव प्रावर्तन्त । सर्वत्र विजजृम्भे वेद एव चैकाकी पूर्वकाले अखिलेऽपि भूमण्डले सर्वेषां सर्वविषयेषु सर्वस्वी ।

तथा चाद्य भारतेऽन्यादृशीं दशां गते, प्रसृते च सर्वत्र अज्ञानान्धकारे, अपवारिते च सर्वतो वैदिके धर्मेऽपि तत्त्वविचारकाः पाश्चात्त्या विद्वांसोऽपि सर्वेभ्योऽपि धार्मिकग्रन्थेभ्यो वेदमेव प्राचीनतमं मन्यन्ते । मानयिष्यन्ति च ते विशेषज्ञानोदये नित्यमपि ।

वेदस्य यस्मिन् भागे तत्त्वत्रयं निरूपितं स उपनिषन्नाम्ना व्यवह्रियते। उपनिषदो बह्व्यः। एकाकिनो वेदात् कथं बह्व्य उपनिषदः सम्भूताः कुतो वेति प्रश्ने तु शाखोद्भवं स्पृशेद् बुद्धिः।

सृष्टिकालादारभ्य आद्वापरान्तवर्तिचक्रवर्तिश्रीशान्तनुसमयाद् द्वापरान्तकालाद् ऋग्यजुस्सामाथर्वसमन्वित एक एवासीद् वेदः। तस्मिन् समये भगवान् कृष्णद्वैपायनो विश्वस्य भविष्यं पर्यालोच्य लक्षणतः संलक्ष्य ऋगादीन् संहृत्य तेषां चतस्रः संहिताश्चक्रे। कालक्रमाच्च सामवेदः सहस्रवर्त्मा जातः। नवाधिकशतवर्त्मा च यजुर्वेदः। ऋग्वेदस्य-एकविंशतिसंख्यकाः शाखा अभूवन्। अथर्ववेदस्य च पञ्चाशत्संख्यकाः शाखा बभूवुः। चतुर्णां वेदानां प्रतिशाखम् एकैकोपनिषच्च बभूव। समये चोपनिषदां संख्याऽपि शाखा-सदृशी जाता। इदानीं द्वादशाधिकशतसंख्यकानां चोपनिषदाम् एका पुस्तिका निर्णयसा-गरात् प्रकाशिता वर्तते। काश्चिद् भूषिताश्च भाष्यैः।

वेदान्तशब्दस्य मुख्यावृत्तिरुपनिषत्स्वेव वर्तते। तासां तद्गतविषयाणां च सम्बन्धाद् अन्येऽपि वेदान्तशब्देनोच्यन्ते। वेदान्तशब्दवाच्यासूपनिषत्सु च प्रायशस्तत्त्व-त्रयबोधका मन्त्रा ब्राह्मणानि च विद्यन्ते। वेदमन्त्रेषु ये विषयाः कठिना दृष्टास्ते तत्र सरलीकृताः, तेषु बुद्धिग्राह्यतां च सम्पाद्य निरूपिता महर्षिभिः। कालक्रमाद् उपनिषदोऽपि दुर्बोधा जाताः। ताः सरलतया ज्ञापयितुं व्यासाद्यैर्ब्रह्मसूत्राणि निर्मितानि। कृष्णद्वैपाय-नानामग्रे एव च तच्छिष्यो बौधायनीं ब्रह्मसूत्रवृत्तिं रचयामास। अत एव निश्चीयते यद् बौधायनीवृत्तिर्व्यासभावानुसारिणी इति। परञ्च, विचिकित्सा नात्रापि विश्रान्ता। पुनरपि काठिन्यस्य काठिन्ये वा दृष्टिभेदादर्थभेदस्य कालः समुपस्थितः। ततश्च समये समये महापुरुषाः स्वस्वदृष्टयनुसारेण तत् काठिन्यं निराकर्तुं स्वस्वभाष्यं रचयामासुः।

तत्तद्भाष्यकाराणां च दृष्टिभेदादेव अभेद-भेद-भेदाभेद-विशिष्टाभेद-शुद्धाभेदादि-वादाः सम्भूताः। परञ्च तत्त्वत्रयमाश्रित्यैव सर्वे वादाः प्रवर्तिताः। केचन। भाष्यकारा एकस्यैव परमतत्त्वस्य परब्रह्मणः पारमार्थिकीं सत्तां स्वीकृत्यान्ययोर्जीवजगतोर्व्याव-हारिकीमेव सत्तां मन्यन्ते। अत्र ते सूर्यस्य देदीप्यमानैः किरणैः शुक्तौ दूरतः प्रतीयमानं रजतं दृष्टान्तीकुर्वन्ति। तेषां मतेन प्रतीतिमात्रमेव रजतस्य सत्ता अतएव च तेऽनिर्वच-नीयख्यातिवादिनः प्रोच्यन्ते।

रामानुजीयरामानन्दीयादिवैष्णवानां मते तु पञ्चीकरणप्रक्रियया सर्वत्र भूतेषु भौतिकेषु च सर्वत्र भूतानां विद्यमानत्वात्, साधनसामग्रीवशेन सर्वत्र सर्वं प्रत्येतुं शक्यते। अत एव च सर्वं विज्ञानं यथार्थकं भवति। सदेव च सर्वत्र ख्यायते नासन्नानिर्वचनीयं च। यथाऽन्यैर्वेदान्ताचार्यैर्ब्रह्मसूत्राणां भाष्यं निर्मायाऽऽचार्यपदवी प्राप्ता, तथैव च रामानुज-रामानन्दैरपि ब्रह्मसूत्रस्य स्वस्वभाष्यं कृत्वाऽऽचार्यपदवी प्राप्ता नान्यथा।

मदीये भाष्ये व्यासमतमेव तत्त्वत्रयप्रतिपादने संगृहीतं स्यान्न तु किमपि चान्य-दिति विचार्यैव व्यासान्तेवासिनो बोधायनस्य वृत्तिमनुसृत्यैव च श्रीभाष्यं प्रणीतं श्रीरामानुजाचार्यैः। यादृग् श्रीभाष्यं विद्यते तस्यैव प्रायो लघुरूपम् आनन्दभाष्यं दृश्यते। परं च प्रायशो रामानन्दभाष्ये भगवतो रामस्यैव परतत्त्वप्रतिपादने वैशिष्ट्यं प्रतीयते नान्यत्र।

भगवता रामानुजाचार्येण तत्त्वत्रयप्रतिपादने ख्यातिवादेऽपि च भगवतो व्यासस्य योगसूत्रभाष्यमेवानुकृतम्। योगसूत्रे विभूतिपादे चतुर्दशसूत्रभाष्ये 'सर्वं सर्वात्मकम्' इत्युक्तम्। अतएव च भगवान् रामानुजाचार्यः—'सर्वं विज्ञानजातं यथार्थं मत्वा भ्रमं निरास्यत्'। सांख्ये 'कारणभावाच्च सत्कार्यम्' इति; तथा योगभाष्ये—'व्यपेतमप्यस्ति, विनाशप्रतिषेधात्' इत्यतीतकार्यमपि सत् प्रतिपादितम्। सत्ख्यातिवादं स्वीकुर्वतोर्द्वयोर-प्याचार्ययोर्मते योगस्थं व्यासमतं स्वत एव स्वीकृतं भवति।

यथा जैनदर्शने 'जीवमजीवं द्रव्यम्' इति द्रव्यं प्रोक्तम्, यथा वा सांख्ययोगयो-र्विविधधर्माश्रितम् एकमेव द्रव्यं वर्तते, तथैव रामानुजीयेऽपि मते धर्मितयैकस्यैव द्रव्यस्य प्राधान्यं वर्तते। तत्राद्रव्यत्वेनोक्तानां सत्त्वरजस्तमसां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां शक्ति-संयोगयोश्च आधारो द्रव्यमेव वर्तते। तत्र एते सर्वे द्रव्यधर्मा एव सन्ति। बुद्धिरपि च सात्त्विकी स्वीक्रियते। द्रव्यं चात्र जडचेतनभेदाद् द्विविधम्। प्रकृतिकालौ च जडस्य भेदौ। पराक्प्रत्यग्भेदाद् अजहद्द्रव्यमपि द्विविधम्। नित्यविभूतिधर्मभूतज्ञानभेदाच्च पराक्चेतनमपि द्विविधम्। एवं च प्रत्यक् चेतनमपि जीवेश्वरभेदाद् द्वैविध्यं भजते। इदं सर्वं प्रबन्धग्रन्थेषु च सुस्पष्टम्। अविरुद्धं च रामानन्दमतात्।

तथा चान्यदर्शनोक्ताः पदार्था अत्रैव संविलीयन्ते। विलीनीकरणं च स्पष्टतया प्रबन्धग्रन्थेषु प्रतिपादितम्। अन्ततो गत्वेदं द्रव्यमपि 'भोक्तारो भोगा नियन्ता' इति त्रिष्वेव पदार्थेषु विश्राम्यति। अतएव श्रीभाष्ये आनन्दभाष्ये च बहुषु प्रबन्धग्रन्थेषु वैष्णवसम्प्र-दायेषु चात्र—

"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा,
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा,
ज्ञाज्ञौ द्वौ ईशानीशौ।"

इत्येतादृश्यो बह्व्यः श्रुतयः प्रमाणत्वेनोपन्यस्ताः। एते त्रयोऽपि पदार्था नित्य-संयुक्तास्तिष्ठन्ति, कदापि कथमपि च न वियुज्यन्त इति सर्वं जिज्ञासाधिकरणे च सुस्पष्टम्।

त्रयाणां तत्त्वानां सत्ता

इदं तत्वत्रयमस्वीकुर्वतामपि मते वर्तते। तथा च—

"अशेषविशेषप्रत्यनीकं चैतन्यं ब्रह्म एव एकं वस्तु ततोऽन्यन्नास्तीति कथयताम्—तादृशस्य एकस्यापि विवर्तौ जगज्जीवौ व्यवहारदशायां तु कदाप्यसत्तया न प्रतीयेते। व्यवहार एतादृशो बलवान् विद्यते यत् परमार्थदशायामपि भवति। मुक्तिमापन्नयोरपि शुकवामदेवयोर्विषये—'एतौ मुक्तौ संसाराद्' इति व्यवहारात् तयोः सत्त्वदर्शनात्। मुक्तिदशायामपि तयोः सत्तां विना 'तौ मुक्तौ' इति व्यवहर्तुं न शक्यते। अतो मुक्तोऽप्यस्ति। एवञ्च, यथा सुषुप्तिसमाध्यादौ लीनस्यापि जीवस्य पृथक् सत्ताऽनुमीयते, तथैव लयमुक्तावपि व्यवहारात्, मुक्तस्य सत्ताऽनुमेया। चेतनस्तु विशेषानुभवायैव ब्रह्म सम्पद्यते। अतो भोक्तारो जीवाः, 'भोग्या विषयादयः, प्रेरको नियन्ता च परमेश्वरः' इति त्रय एव पदार्थाः सर्वत्र विजृम्भन्ते।

अत्र परमपुरुषः परमेश्वर एव त्रिषु पदार्थेषु मुख्यः। स्वेतरयोर्द्वयोरपि चेतनाचेतनयोरधिपतिर्नियामकश्च। तथा च स देदीप्यते—'सकलविशेषाश्रितोनिश्शेषदोषप्रतिद्वन्द्विसकलगुणगणाकरो जगतो जन्मादीनां निमित्तोपादानकारणम्, साकारो दिव्यातिदिव्यदेहो विविधशक्तिसमन्वितः स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणो निरस्तसमाभ्यधिककल्पनः सर्वगतः सर्वव्यापकः सर्वज्ञः सच्चिदानन्दः त्रिविधपरिच्छेदातीतः 'सर्वशुभकर्माराध्यः स्वलीलोपयुक्तसमस्तचेतनाचेतनवस्तुजातशरीरतया च तदात्मभूतः परमकरुणाकरः स्वाश्रितवत्सलश्च।'

रामानुजीये मते एतादृशो विष्णवाख्यः परवासुदेवो नारायणो वर्तते। रामानन्दीये मते तु सीतापतिर्भगवान् श्रीरामचन्द्र एवैतादृशः।

तथा च सृष्टेः कर्तृत्वेन विभूषिता औपनिषदाः सर्वा आख्याः, रामानुजमते श्रीमन्नारायणचरणे एवं रामानन्दीये मते श्रीमद्रामचरणारविन्दे च तद् वाचकतया अन्विता भवन्ति। एकत्र मते नारायणो भगवान् वैकुण्ठाधिपतिः, अन्यत्र च भगवान् रामः साकेताधिपतिः।

एकत्र च 'ध्येयो नारायणः सदा' अन्यत्र च 'ध्येयो राम एव'। इत्थं द्वयोर्मतयोरुपास्यभेदः। अयमेको महान् भेदः।

श्रीमन्नारायणस्वरूपम्

श्रीमन्नारायणस्वरूपं भागवते तृतीयस्कन्धे पञ्चदशाध्यायेऽष्टत्रिंशच्छ्लोकादारभ्य पञ्चचत्वारिंशश्लोकपर्यन्तं सनत्कुमारैरूपवर्णितम्। भगवन्नारायणविग्रहस्य संस्थानविशेषश्च पराशरेणापि विष्णुपुराणे वर्णितः। तथा च आलवन्दारस्तोत्रे—

—'कदा पुनः शङ्खरथाङ्गकल्पकः, ध्वजारविदाङ्कुशवज्रलाञ्छनः।
त्रिविक्रम ! त्वच्चरणाम्बुजद्वयं मदीयमूर्धानमलङ्करिष्यति ॥'

इत्यादिभिः श्लोकैः श्रीरामानुजाचार्याणां परमगुरवः श्रीयामुनाचार्याः स्तुति-व्याजादवर्णयन्। एतेषामत्रत्याः केचन श्लोकाः काव्यप्रकाशे चोदाहृताः। पुराणेषु श्वेत-द्वीपवासी भगवान् नारायणो बहुशः स्तुतः। नारायणोपनिषदि नारायणमन्त्रस्तस्य महिमा च प्रोक्ता। एवमेव च त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्यपि नारायणस्य महिमा विद्यते। महोपनिषदि च 'एको ह वै नारायण आसीत्' इति नारायणात् सर्वस्य उत्पत्तिरुक्ता।

भगवान् श्रीरामः

श्रीरामपूर्वतापिन्युपनिषदि—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ, परं ब्रह्माभिधीयते ॥ इति।

श्रीराम एव नित्यानन्दश्चिदात्मा परब्रह्माभिधान उच्यते। अत एव च—

'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः' इति रामशब्दस्य व्युत्पत्तिः क्रियते। निर्विकल्पे समाधौ योगिनः सच्चिदानन्दे रामे एव रमन्त इति सर्वत्र प्रसिद्धम्।

अध्यात्मरामायणे बालकाण्डे रामहृदये प्रथमे सर्गे भगवता शिवेन श्रीरामस्य महिमा—

रामः परात्मा प्रकृतेरनादि-
रानन्द एकः पुरुषोत्तमो हि।
स्वमायया कृत्स्नमिदं हि सृष्ट्वा,
नभोवदन्तर्बहिरास्थितो यः ॥
सर्वान्तरस्थोऽपि निगूढ आत्मा,
स्वमायया सृष्टमिदं विचष्टे ॥

इत्यादिभिः श्लोकैरुपवर्णितः। तथा च मङ्गलं कामयमाना द्वात्रिंशत्संख्यका उप-निषदोऽपि परमपुरुषस्य श्रीरामचन्द्रस्यैव चरणौ ध्यायन्ति।

सर्वव्यापकस्यापि सर्वेश्वरस्य लोकः

स च तैत्तिरीयोपनिषदि ब्रह्मानन्दवल्ल्यां 'परमव्योम' शब्देन प्रतिपादितः। छान्दोग्ये अष्टमाध्याये पञ्चमे खण्डे 'ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि' इति च परब्रह्मणो लोकः साक्षाच्छब्दोपात्तः।

एवमेव च—नित्यविभूतिः, त्रिपाद्विभूतिः, परमपद्म, परमव्योम, परमाकाशः, अमृतम्, नाकः, अप्राकृतलोकः, आनन्दलोकः, वैकुण्ठलोकः, अयोध्यादिनामानि यत्र तत्र परमेश्वरलोकस्यैव श्रूयन्ते ।

तथा च—अन्तर उपपत्तेः, स्थानादिव्यपदेशाच्चेत्यादि सूत्रस्थशाङ्करभाष्यादपि परमेश्वरस्य भक्तानुग्रहार्थं लोकोऽस्ति इति प्रतीयते । तथा च, परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ४।३।११ 'इत्यत्र आनन्दभाष्ये'—'परब्रह्मणः सत्यसंकल्पस्य च तादृशाः स्वेच्छाविरचिता अप्राकृताश्च दिव्यलोकाः' इति प्रोक्तम् । अत्र बहुवचनं भक्तभावसापेक्ष्यम् ।

अयं परब्रह्म लोके विशुद्धसत्त्वमयः, पञ्चमहाभूताहङ्कारमहदव्यक्तरूपिसप्तावरणमय्यायाः प्रकृतेः परः । प्रकृतिब्रह्मलोकयोर्मध्ये विरजानाम्नी नदी वर्तते । तां तीर्त्वैव च भगवल्लोको लभ्यते । 'विरजां मनसाऽत्तीत्य' इति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि विरजा नदी श्रूयते । इमां च कृपालवो गुरवस्तारयन्ति । अतएव च योगिषु भक्तेषु च गुरुकृपाया महत्त्वम् । गुरव एवामानवाः पुरुषाः ।

भागवते तृतीयस्कन्धे पञ्चदशाध्याये वैकुण्ठो वर्णितः । बहुषु पुराणेषु च विस्तरेण प्रतिपादितः । साम्प्रदायिका अपि बहवो ग्रन्था वैकुण्ठं वर्णयन्ति । तेषां सारं गृहीत्वा दिव्यसूरिचरितनामके महाकाव्ये—

अस्ति प्रशस्तमहिमा वैकुण्ठोऽकुण्ठवैभवः ।
लोको लोकोपकारार्थो नाकौकोभिर्नमस्कृतः ।।
यमूचुर्निगमा नित्यं परमव्योमनामकम् ।
यदन्ते दिव्यतटिनी विरजा नाम विश्रुता ।।

इति वैकुण्ठलोको निरूपितः । वैकुण्ठलोके च वैकुण्ठपुरी वर्तते । सा भगवतः पुरी कथमपि कदापि केनापि जेतुं न शक्या विद्यते । अत एव चापराजिता कथ्यते । अनया बुद्धेर्व्यक्तिः प्रतीयते । भाति च त्रिविधैर्मणिगणैः कलशैः सहस्रावरणैः सेवायातैरब्विभिः संवीतेव । यथा भगवतो विष्णोर्दिव्यवनमालाढ्या मणिभासुरा मुक्तावलीवृता श्रीमती उरस्थली भाति तथैव चेयं वैकुण्ठपुर्यपि विभाति । इत्थंभूतमहिममण्डितयाऽनया सह कोऽपि योद्धुं न शक्नोति । अत एवेयम् अयोध्येति कथ्यते । दिव्यसूरिचरितेऽन्यदप्येतादृशं वर्णनं यत्र तत्र लभ्यते ।

त्रयाणामपि पर्यायवाचित्वम्

अयोध्यापुरी, अपराजितापुरी, वैकुण्ठपुरी चेति त्रयोऽपि शब्दाः, एतेषां शब्दानां

वाच्या पुरी चैकैव। तथा च छान्दोग्येऽष्टमाध्याये 'अपराजिता पूर्ब्रह्मणः' इत्युक्तम्। अथर्ववेदे दशमे काण्डे च ब्रह्मपुरी अयोध्या च वर्णिते।

दिव्यसूरिचरिते च—

तत्र तेजोमयी काचिद् नगरी शाश्वताकृतिः।
शंसन्ति सन्तः सार्था याम् अयोध्यामपराजिताम्॥

इति तिसृणामपि एकत्वमुक्तम्। अतोऽपि निश्चीयते यद् एकस्या एव त्रिभिर्नामभिर्निर्देशः। सम्भवेच्चैकस्यैव परमेश्वरस्य शक्त्या एकस्या एव मुक्तिनगर्या विभिन्ननामभिर्निर्देशः। भक्तानां भावानुसारिणी च विभिन्ना प्रतीतिः। इयं मुक्तिपुरी दिव्यायुधादिभिर्वृतैः कुमुदादिभिर्द्वारपालैः परिरक्षिता देदीप्यते। अस्यां च चण्डादिप्रभृतिभिर्द्वारपालैरारक्षितः श्रीमद्दिव्यालयोऽस्ति। अस्मिंश्च महामण्डपो मण्डितः। मण्डपे च सिंहासनमास्ते। तस्मिँश्च शेषपर्यङ्कः। पर्य्यङ्के च श्रीभूनीलादेवीसहितो भगवान् नारायणो विराजते। एतास्तिस्रो महिष्यः केषाञ्चिन्मते ईश्वरकोट्यां कुत्रचिच्च दिव्यसूरिकोट्यां गण्यन्ते।

अत्र सर्वाः पदार्था भगवदुपकरणरूपिणः सन्तो भगवन्तमुपसेवन्ते। तथा च तत्र भगवतो नारायणस्य कौस्तुभ-श्रीवत्स-गदा-पाञ्चजन्य-शार्ङ्ग-कौमोदिकी-कौमोदिक्यावरक-चक्र-शर-वनमाला-रूपतामापन्नाः क्रमशः पुरुष-प्रकृति-महत्, सात्त्विकाकार-ज्ञान-अज्ञान-मनो-दशेन्द्रिय-सूक्ष्मस्थूलभूता अलङ्कुर्वन्ति परवासुदेवं श्रीमन्नारायणम्। चिनोति च भगवान् स्वोपकरणान्यपि तत्त्वेभ्य एव, कस्यापि एवं कुत्रापि त्रितो भिन्नस्य च वस्तुनोऽभावात्।

द्वयोरेकत्वम्

यथा विभिन्नैर्वैकुण्ठादिशब्दैरेक एव लोको निगद्यते, यथाऽयोध्यादिशब्दैश्चैकैव पुरी प्रतिपाद्यते, तथैव रामवर्णनेन नारायणवर्णनेन चैक एव परमपुरुषो वर्ण्यते। रामनारायणयोर्द्वयोरेकत्वात्। तथा च श्रीमद्वाल्मीकिरामायणे उत्तरकाण्डे चतुरधिकशततमे सर्गे 'महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः' इति चतुर्मुखो ब्रह्मा श्रीराममाह।

यथा च कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि श्री-भू-नीलादेवीनां पर्यङ्के भगवता सह स्थितिः प्रतिपादिता, तथैव च सीतोपनिषदि श्री-भू-नीलादेवीनां सीतात्मकत्वं प्रतिपाद्यते। अतो निश्चीयते यद् श्री-भू-नीलारूपिणी भगवती सीतादेवी। एतास्तिस्रो देव्यश्च सीतारूपा एव। तथा चैकैव कुत्रचित् त्रिरूपधारिणी, कुत्रचिच्चैकमेव रूपं धारयति चैका।

परमपुरुषः स्वसङ्कल्पानुविधायिभिर्दिव्यसूरिभिः सहैव यत्र कुत्राप्यवतरति। अवतरन्तं च भगवन्तं दृष्ट्वा ते तत्सेवार्थं सेवायोग्यं रूपं धारयन्ति। स्वधामागमनकाले

तैः सहैव हरिः स्वलोकमागच्छति ।

एवं च प्रयाणसमये रामे चक्रादियुते चतुर्भुजे च यथाः—

शेषो बभूवेश्वरतल्परूपः सौमित्रिरत्यद्भुतभोगधारी ।
बभूवतुश्चक्रधरौ च तुल्यौ, कैकेयिसूनुर्लवणान्तकश्च ।।
सीता हि लक्ष्मीरभवत् पुरेव, रामो हि विष्णुः पुरुषः पुराणः ।
सहानुजः पूर्वशरीरकेण, बभूव तेजोमयदिव्यमूर्तिः ।।

भगवान् लक्ष्मणोऽपि दिव्यभोगधारी शेषः सम्पन्नः । भरतो दिव्यचक्ररूपतां प्राप्तः। शत्रुघ्नश्च शङ्खो जातः। एते त्रयो लक्ष्मणभरतशत्रुघ्ना रामे नित्यामयोध्यां गते च स्वकीयपूर्वरूपाणि प्राप्य रामसेवायां रता बभूवुरित्यध्यात्मरामायणीय उत्तर-काण्डस्य नवमसर्गे स्पष्टम् । लक्ष्मणादीनां शेषादिदिव्यसूरिताप्राप्तिं दृष्ट्वा निश्चीयते यद् रामो न नारायणाद् भिन्नः, नापि नारायणो रामाद् भिन्नः ।

इत्थं च नित्यमुक्ता दिव्यसूरयोऽपि हरिसेवार्थं यान्ति, आयान्ति च हरिणा सह समये-समये । आगत्य च नित्यं धाम हरिमेव सेवन्ते । कदाचित् तु वैकुण्ठोऽप्यवतरति, यथा-ऽणुभाष्ये । रामान्नारायणस्य नारायणाद् वा रामस्योपासनाप्रकारभेदाच्च भेदोऽवभासते न तु तत्त्वदृष्ट्या । एवमेव सर्वे वैष्णवा एकमेव परमेश्वरमुपासते स्वस्वभावानुसारेण । अत एव कबीरोऽपि—

'कुत आयातौ द्वौ जगदीशौ,
एकं जगन्न भर्तारौ द्वौ,
स्यातां तथा न चेशौ ।'

इत्येकमेव जगदीश्वरं स्वीकरोति । वस्तुतश्च सर्वेषाम् एक एवेश्वरः ।

तस्य परमेश्वरस्य प्रकाराः

सर्वेषु वैष्णवसम्प्रदायेषूपास्यन्ते । ते च परव्यूह-विभव-अन्तर्यामि-अर्चावताररूपा विष्वक्सेनसंहितायां स्वयमेव भगवता प्रोक्ताः ।

अचर्चयन् सर्वे भाष्यकारा व्यूहान् वेदान्तब्रह्मसूत्रे द्वितीयाध्याये द्वितीयपादे उत्पत्त्यधिकरणे च ।

तथा च, एक एव निरञ्जनो ज्ञानस्वरूपो भगवान् परवासुदेवो जीवमनोऽहङ्कारान्, क्रमशः सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपेणाधितिष्ठति सृष्टचर्थम् तथा च, ऐश्वर्यवीर्याभ्यां प्रद्युम्नः, शक्तितेजोभ्यामनिरुद्धः, ज्ञानबलाभ्यां च संकर्षणः सम्पन्नः । एभिः षड्भिर्गुणैश्च

सम्पन्नो भगवान् वासुदेवः । उपासनायामेषामुपयोगो भवति। एतानुपास्य परोपासनायामधिक्रियते च ।

विभवाः

विभवाः परमेश्वरस्य अवताराः कथ्यन्ते। विभवत्वं च नाम तत्तत्सजातीयरूपेण तत्तस्य प्राकटचम् । भूमिभारापनोदार्थं नास्तिकेभ्यश्च स्वास्तित्वख्यापनार्थं भक्तानां विनोदार्थं च परमेश्वरः स्वेच्छयाऽवतरति ।

परमकारुणिको भगवान् अमृतमन्थनाय कूर्मः, भूम्युद्धरणाय वराहः, शरणागतरक्षणाय नृसिंहः, देवसत्त्वरक्षणाय वामनः, दुष्टशासकनिग्रहाय परशुरामः, धर्ममर्यादारक्षणाय श्रीरामः, प्रलम्बादिनिरसनाय बलभद्रः, मोक्षोपायप्रदर्शनार्थञ्च श्रीकृष्णोऽभूत् । भविष्यति कल्किः कलेः कल्मषमोचनाय ।

एते अवतारा वेदेष्वपि प्रसिद्धाः, अवताराणां विषये वैदिकानि प्रमाणानि मया दयानन्दतिमिरभास्करस्य संशोधने प्रदर्शितानि । तानि ततोऽनुसन्धेयानि ।

इतिहासपुराणेषु च मुख्यतयाऽवताराणां चरित्राणि वर्णितानि, तानि च श्रद्धालवो भागवता नियमपूर्वकं शृण्वन्ति पठन्ति च ।

एतेषु दशावतारेषु मर्यादापुरुषोत्तमो भगवान् श्रीरामचन्द्रः लीलापुरुषोत्तमो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रश्चेति द्वौ विशेषतया पूज्येते सर्वत्र वैष्णवसम्प्रदायेषु ।

दिव्यसूरयोऽपि स्वस्वावतारे एतावेव विशेषतया अमंसत । कुलशेखरसूरिर्दशावतारेषु दशस्यन्दननन्दसून्वोरेव भक्तिं चक्रे। गोदाऽपि कृष्णस्य चरितं श्रुत्वा विस्मिता जाता । गोपिकाभावमास्थाय चरङ्गिणं पतिं चक्रे । एतादृशैरुदाहरणैर्निश्चीयते यद् आल-वालेष्वप्यासन् केचन रामकृष्णयोरपि परमभक्ताः । रामानन्दीयेन भागवतेन तुलसीदासेन—

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं, सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं, नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥

एतादृशो भगवान् रामो ध्यातो नमस्कृतश्च । एवञ्च यस्य सम्प्रदायस्य मतेऽस्मिन् लोके यादृशी मुक्तिपुरी वर्तते, तस्य सम्प्रदायस्य विरजायाः परे पारेऽपि तादृश्येव मुक्तिपुर्यस्ति। एवञ्च, योऽत्र यादृशं ध्यायति, तादृशमेव स तत्र प्राप्नोति ध्यातुम्। तथा च, येषां मते यादृशं वृन्दावनं गोकुलं वाऽत्र वर्तते, स तादृशं तन्मुक्ति-

लोकेऽपि प्राप्नोति । तथा च ये—

"ध्यास्याम्यहं कदा नु व्रजगह्वरे भ्रमन्तम् ।
ऐकान्तिकं व्रजेशं नवमल्लिकाः स्पृशन्तम् ॥१॥
उन्मत्तभृङ्गमालाः, मालाः सुगन्धिलग्नाः ।
राजोत्पलं सुरम्यं, बहुवारमुत्कलन्तम् ॥२॥
त्यक्त्वा सगर्वगोपीः, या प्रेयसी गृहीता ।
सौन्दर्यगर्वितां तां, व्याजाद् वने त्यजन्तम् ॥३॥
आहूय भानुकन्याकूले रसेश्वरीं ताम् ।
सन्तर्प्य रासगोष्ठ्यां, मुग्धामनो हरन्तम् ॥४॥
सक्तोऽपि निर्मलोऽसि, रक्तोऽपि न च्युतोऽसि ।
त्वं ब्रूहि मित्र कोऽसि, पार्श्वे च मां वसन्तम् ॥५॥

एतादृशं कृष्णं ध्यायन्ति, ते समये स्वमुक्तिधामरूपं वृन्दावनं गत्वा, रासगोष्ठ्यां पश्यन्तीदृशमेव श्रीकृष्णम् ।

विभवभक्ता भाष्यकाराः स्वस्वाभीष्टविभवावतारमेव परं ब्रह्म मत्वा तत्रैव श्रुतीनां समन्वयमकार्षुः । दृश्यते च तेषां भाष्ये । ममापि च सकृष्णो बलदेव एव सर्वस्वम् । रेवती च तस्य शक्तिः ।

अर्चावतारः

ये च जनाः कथमपि न संग्रहणे संयातास्तान् संग्रहीतुम्, संसारार्णवे सर्वतो निमग्नान् जनांश्चोद्धर्तुं समये समये गृह्यते भगवता पुरुषोत्तमेनार्चावतारोऽपि ।

पुराऽनाक्रान्तेऽपि भारते, अनेका मूर्तयो यज्ञकुण्डाद् भूमितश्च समये समये स्वयं समुत्पन्नाः श्रूयन्ते । उपनिषत्स्वपि श्रूयते यत् तिष्ठन्ति काश्चन मूर्तयो भूम्यां देवैः प्रपूजिताः । एतेऽवतारा अर्चार्थं प्रभवन्ति । अत एव अर्चावतारा निगद्यन्ते ।

नातिकालो व्यतीतः, भगवतां कल्याणदेवानां सम्मुखेऽर्चावतारो बलभद्रोऽपि विभवोऽभूत् । भक्तानाम् एतादृश्योऽनेकाः कथा विद्यन्ते । श्रूयन्ते च भक्तिग्रन्थेषु ।

प्राणप्रतिष्ठाऽथवा भक्तानामेकाग्रताऽऽकर्षते मूर्त्तौ भगवन्तम्, अत्र च स्थिरा दृष्टिरपि सहायिका भवतीत्यपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ३।२।३ इति सूत्रभाष्ये सर्वत्र स्पष्टम् ।

अन्तर्यामी भगवान्

सर्वेषां चेतनाचेतनानामन्तःप्रविश्य यमयति शास्ति च तान् । अत एव च

'अन्तः प्रविश्य शास्ता जनानाम्' इति श्रुतयो व्याहरन्ति। अयमेव वैष्णवानामन्तर्याम्य-वतारः। तथा च, शरणागतवत्सलो भक्तजनप्रियो भगवान् प्रारब्धवशात् स्वर्गनरकादीन् अनुभवतां स्वकीयानां जनानां हृदि संस्थितो ध्याने चानुभूयमानः सन् सुखयति च तान् सर्वदा रक्षति च। योगिनोऽपि तं समाधावनुभवन्ति। हृद्गतोऽपि तद्गतदोषैर्न स लिप्यते। 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यादिश्रुतयो निर्लिप्ततामेव तस्य प्रतिपादयन्ति।

तथा च, स एव जीवान्तर्यामितया चोपास्यते। कुत्रचिच्च जीवतया जीवस्य प्रिय-तया च चिन्त्यत उपास्यते च। अन्ये तु जीवस्य प्रेयस्त्वेनापि तमुपदिशन्ति। इत्थं चान्तर्यामी भगवान् सर्वत्र सर्वैश्च पूज्यते। प्रतीकोपासनादिषु चास्यैव पूजा भवति। निर्गुणनिरा-कारोपासका अपि चिन्तयन्ति हृदये तमन्तर्यामिणम्। स एवान्तर्यामी मूर्तौ प्रतितिष्ठति।

तथा चात्र—

दयालो! भावनोच्छिष्टात्, पदार्थात् पूज्यसे न त्वम्।
ततश्चोद्धृत्य पुष्पाणि निकेतं ते प्रविष्टोऽहम्॥१॥

कली सर्वा प्रफुल्ला वीक्ष्य मां ते नेत्रयोर्ध्याने।
सरोजानां समूहं नेत्रतश्चोन्माय तुष्टोऽहम्॥२॥

श्रुतिस्त्वां वक्ति छान्दोग्ये, महार्हं पुण्डरीकाक्षम्।
अतस्तेऽङ्घ्रेः समं पद्मं चात्र संयोज्य हृष्टोऽहम्॥३॥

गुणी वा निर्गुणी वोभौ, नासि चैकत्र निर्णयः।
त्वया सर्वं हि त्वं सर्वः, सर्ववेदान्तनिष्ठोऽहम्॥४॥

कृपा त्वेतादृशी कार्या त्वया मय्याशु गोविन्द!।
यया यास्यामि ते पारं तमोब्धेरर्थकृष्टोऽहम्॥५॥

स एवात्र छान्दोग्यश्रुतिप्रोक्तः पुण्डरीकाक्षः प्रार्थितः यमादाय श्रीरामानुजा-चार्याः श्रीभाष्यं व्यरचयन्। ततश्च विशिष्टाद्वैतपराण्यन्यानि भाष्याणि जातानि। सर्वत्र विशिष्टाद्वैतेष्वित्थमेव परतत्त्वं वर्णितम्। पुण्डरीकशब्दस्य व्याख्यैव श्रीभाष्यनिर्माणे कारणीभूता।

भोक्ता जीवश्च

अहं शब्दबोध्यो नित्यो भोक्ता ज्ञाता ज्ञानाश्रयः कर्ता भगवतश्शेषः पराधीनो विधेयश्च स्वयं प्रकाशोऽनन्तोऽणुः प्रतिशरीरं भिन्नोऽपि शरीरसम्बन्धी नाना, अनादि कर्म कृताविद्या कृता चित्संसर्गात् संसारी चेतनश्च।

एतादृशो जीवो विविधेभ्यो योगेभ्यः परमपुरुषानुग्रहलब्धदिव्यदृष्टेश्च साधकैः-

रनुभूयते च हृदि। हृत्संसर्गादेव चाङ्गुष्ठमात्रो नान्यथा।

अत्र च कोऽहमिति प्रश्ने जीवात्मैव निरूपणीयो भवति। कस्याऽहमिति प्रश्ने च परमेश्वरस्याऽहंशरीरभूतः, अत एव च तच्छेषः, तदङ्गभूतश्च। अत एव च सप्रकारस्य सलोकस्य च परमेश्वरस्य निरूपणानन्तरमद्य चेतनो जीवात्मा निरूप्यते।

जीवात्मानस्त्रिविधाः

केचन बद्धाः, केचन मुक्ताः केचन पुनर्नित्यमुक्ताः। ये च नित्यमुक्तास्तेऽत्र दिव्यसूरयोऽभिधीयन्ते। तत्र ब्रह्माण्डान्तर्विवर्तमानाः साशयाः सर्वे जीवाः सर्वत्र बद्धा एव सन्ति। क्लेशमूलकं कर्माशयमतीर्त्वा कोऽपि न मुच्यते। यदा कर्माणि क्षीयन्ते तदैव च मुच्यते नान्यथा।

बद्धेष्वपि न सन्ति सर्वे समानाः। अत्र केचन शास्त्राज्ञां शिरोभिर्धृत्वा जीवनं यापयन्ति। तदन्ये तु तमोयोनयोऽज्ञानग्रस्ता न शास्त्रवश्या भवितुमर्हन्ति। ते च यथेष्टं विहरन्ति। शास्त्रवश्येष्वपि केचिद् वर्णाश्रमोक्तं धर्मं पालयन्तो मुक्तिमिच्छन्ति। तदन्ये च धर्मार्थकामान् कामयन्ते।

मुमुक्षुष्वपि बहवः प्रकृतितत्कार्यविमुक्तं प्रत्यगात्मानमनुभूय कैवल्यमिच्छन्ति। अन्ये तु परमपदम्। परमपदाभिलाषिष्वपि केचन भक्ताः केचित् तु प्रपन्ना भवन्ति। वेदोक्तायां तु भक्तौ त्रैवर्णिका एव अधिक्रियन्ते नान्ये। परञ्च, प्रपत्तौ तु सर्वेषां जीवानामधिकारः। तथा च—

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः।
अर्चनीयश्च सेव्यश्च पूजनीयश्च माधवः॥

इति श्रीभाष्ये भीष्मपर्वणश्चोद्धृतम्। इदं सर्वमानन्दभाष्येऽपि चेत्थमेव। तथा च—

'अहं तवैकश्चरणारविन्दयोः, दासानुदासो भवितास्मि भूयः'।

इति कथयतां को वा त्याजको भवेत्। 'तवाऽस्मि' इति वदन्तम् कोऽपि न परित्यजति। सर्वेऽङ्गीकुर्वन्ति। अत्र सर्वेश्वरस्य तु का कथा। स त्वङ्गीकुर्यादेव।

शरणागतां द्रौपदीं परिरक्षितुं तत्क्षणं वस्त्रावतारो गृहीतः। तवास्मीति याचमानाय विभीषणाय भगवान् रामस्तदात्व एवाभयं ददौ। तिर्यग्योनिमापन्नो गजेन्द्रोऽपि भगवन्तं प्रपद्य तत्क्षणमेव ग्राहान्मुक्तः। अत एव भगवान् प्रपन्नपारिजातो मतः। अतोऽहमपि तमेव शरणं प्रपन्नः।

इति सर्वं वेदान्तब्रह्मसूत्रस्य भाष्ययोः स्पष्टम्। तत्र भक्तिप्रपत्तिभेदाः स्पष्टतया उक्ताः, तयोरधिकारिणश्च आसुषुम्णानाडीप्रवेशात्। सर्वेषां मते अखिलानां संसार-

पतितानां जीवानां जन्ममरणं समानमेव इति सर्वत्र सुस्पष्टम् ।

मुक्ताः

ये वारमेकं मृत्वा पुनर्नामृपत सन्ति ते मुक्ताः । अत एव सर्वे परमार्थविद-स्तादृशीमेव मृतिमाकाङ्क्षन्ति, यतः पुनरागमनं भवेत् । परञ्च कुतोऽपि नैतादृशी मृति-र्लभ्यते सुषुम्णाप्रवेशं विना ।

तथा च ये, वस्तुतः शरणागता भक्ता सर्वतोभावेन प्रपन्ना वा सन्ति, ते प्रारब्धं परिसमाप्य सुषुम्णां प्रविश्य देवयानेन पथा दिव्यलोकान् गत्वा, अन्ते च प्रकृतिवैकुण्ठसीमा-परिच्छेदिकां विरजां तीर्त्वैव मुक्ता भवन्ति । मुक्तिं गमिष्यन्त्यन्येऽपि चेत्थमेव । तथा च--

"यातना तनुमह्लाय चेतनानां निमज्जताम् ।
हृत्वा स वासनां दत्ते पञ्चोपनिषदाकृतिम् ॥"

विरजैव स्वस्यां निमज्जतां चेतनानां यातनातनूमपहृत्य पंचोपनिषदाकृतिं ददाति। अत्रागत्य च यातनादेहोऽन्तं गच्छति । एताः पञ्चोपनिषदो रामानुजसिद्धान्तसारे विस्त-राद् गदितास्ततोऽवगन्तव्याः ।

विरजारामेषु वृक्षादिरूपधारिणो दिव्यसूरयः स्वच्छायाभिः पुष्पैः फलैश्च मुक्ता-नुपकुर्वन्ति । तत्र चाग्नेरैरंमदीयसरस्तीरेऽश्वत्थो वर्तते । तत्र च तच्छायायां भगवदा-ज्ञप्तानामप्सरसां पञ्चशतानि भूषाचूर्णाञ्जनक्षौममालाभिर्मुक्तानुपकर्तुं तिष्ठन्ति सत्कु-र्वन्ति च ।

इत्थं सर्वत्र सत्कृताः, पदे पदे च विशेषतामापन्ना मुक्ताः क्रमशस्तत्रागच्छन्ति, यत्र च भगवान् सभार्य आस्ते । तत्र च 'कस्त्वमिति पृष्टो ब्रह्मप्रकारोऽस्मि' इति वदति । श्रुत्वा प्रसन्नो भगवान् तं स्वकीये क्रोडे स्थापयति । तदा आविर्भूतगुणाष्टको ब्रह्मसदृशो भूत्वा पूर्णरूपेण ब्रह्मानुभवति । स पुनः कदापि संसारं न प्राप्नोति । इत्थं सर्वे मुक्तास्तादृशे समये क्रोडे क्रियन्ते । अयमर्थो विस्तरात् कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि प्रोक्तः । ब्रह्मसूत्रेषु प्रवन्धग्रन्थेषु च विस्तारितः । अतो नोक्तोऽत्र विस्तरभयात् । येषां मते नास्ति मुक्तिलोकस्ते-ऽत्रैव ब्रह्मणि लीयन्ते, यथा घटाकाशो महाकाशे विलीयते । परं च, सर्वे वैष्णवमुक्ता मुक्ति-लोकमेव गत्वा मुक्ता भूता नात्र ।

तथा च, कोऽपि तत्र गत्वा दिवानिशं रासं पश्यति । कोऽपि चानन्दमयीं तनूं प्राप्य कामकलाकुशलस्य श्रीकृष्णस्य रासलीलायां सम्मिलितो भवति वेणुनोपदिष्टः । कोऽपि च स्वनिकुञ्जे स्थितो भगवन्तं प्रतीक्षते कोऽपि च श्रियं विहायान्यान् सर्वान् भोगान् भुनक्ति । भगवतो देहं प्रविश्यान्यथा भिन्नो हि तिष्ठति ।

रामानन्दीयास्तु विरजामतीत्य भगवतो रामस्य देदीप्यमानां सभां प्रविशन्ति

१६ स्पर्शतन्मात्र १७ रूपतन्मात्र १८ रसतन्मात्र १९ गन्धतन्मात्र २० आकाश २१ वायु २२ तेज २३ अप् २४ पृथिवी-रूपीणि ।

परं च, यथाऽन्यैर्दार्शनिकैरियमिष्टा तथा नात्र इष्यते । अभिलप्यते, भगवच्छरीरभूता, भगवदधीना च । नेयं च स्वतन्त्रा, नापि ब्रह्मैव देशभाक्, नापि चोपादानम् । न चापि चेतना ।

यदा तु सर्वेश्वरः प्रलयकालमतिवाह्य 'एकोऽहं बहुः स्याम्' इति संकल्पते, तदैव च भगवत्संकल्पाच्छरीरभूतौ सूक्ष्मौ चिदचित्पदार्थौ कार्योन्मुखौ भवतः । तदा त्रिगुणायाः प्रकृतेर्महान् अभिव्यज्यते । त्रिगुणात्मिकायाः प्रकृतेरभिव्यक्तौ महानपि च सात्त्विको राजसस्तामसश्चेति त्रिविधो भवति । एवमेव महतोऽव्यक्तोऽहङ्कारोऽपि त्रैविध्यं भजते । तैजससहकृताद् वैकारिकादहङ्काराद् एकादशेन्द्रियाण्याविर्भवन्ति । तादृशाद् भूतादेश्च पञ्चतन्मात्राणि भवन्ति । ततो दोधूयन्ते पञ्चमहाभूतानि । पञ्चीकरणप्रक्रियया च प्रत्येकं वियदादिकं पञ्चीक्रियते । पञ्चीकृतेषु वियदादिषु पुनर्महदहङ्कारावपि मिलतः । अतः सप्तीकरणमपि भवति । संसारे भोगभोगोपकरणभोगस्थानानि सर्वाणि प्राकृतान्येव सन्ति । भगवल्लोके तु सर्वाणि शुद्धसत्त्वमयानि ।

अत्र बुद्धिर्मनसो वृत्तिः, प्राणश्च वायुविशेषः प्रतिपादितः । नात्र प्राणः सूक्ष्मशरीरस्य च स्थूलदेहेन सह सम्बन्धमात्रम् । जीवेन च सह सप्तैवेन्द्रियाणि गच्छन्तीति द्वयोर्भाष्ये स्पष्टम् । इतो विपरीतक्रमेण प्रलयो भवति । सर्वत्र शास्त्रेषु सृष्टिलययोः प्रतिपादनं प्रायशस्तुल्यमेव ।

विशिष्टाद्वैतः

अयं न विशिष्टस्याद्वैतः किन्तु विशिष्टयोरद्वैतः कथ्यते विशिष्टाद्वैतः । तथा च सूक्ष्मचिदचिदविशिष्टं ब्रह्म च कार्यम् । तयोः कार्यकारणयोरद्वैतः—विशिष्टाद्वैत इति प्रोच्यते विधिज्ञैः ।

पूर्वमीमांसायाम्—यो विधिर्यस्य मुख्यविधेरङ्गं भवति, स तस्य शेष इत्युच्यते । यस्य चाऽङ्गं सोऽङ्गी शेषी वा व्यवह्रियते । तथा च शेषेण युक्तो विशिष्टो भवति । अतोऽत्रोत्तरमीमांसायामपि स्वाङ्गभूतैश्चिदचिद्भिर्नित्ययुक्तोऽङ्गी परमेश्वरश्चिदचिद्विशिष्ट इत्युच्यते । नामैकदेशग्रहणं च विशिष्टशब्देनैव व्यवहारो विधीयते ।

भगवान् स्वसंकल्पेन निमित्तकारणं तथा स्वाङ्गैरुपादानकारणं च भवति । स्वाङ्गपरिणामैश्च न विकृतो भवति ।

अत्राद्वैतवादिन्यो द्वैतवादिन्यो द्वैताद्वैतवादिन्यश्च श्रुतयो मुख्यरूपतयैव चरितार्था भवन्ति। कापि श्रुतिर्गौणी न कथ्यते। सर्वाः श्रुतयो यथावत् सम्मानिता भवन्ति। इयमेवात्र विशेषता।

परञ्च अद्वैतिनां मते द्वैतवादिनी, द्वैतिनां मतेऽद्वैतवादिनी; भेदाभेदवादिनां च मते द्वैतवादिनी, अद्वैतवादिनी च श्रुतिर्मुख्यतया न मन्यते। इदं तेषां मते दूषणम्। तथा च विशिष्टाद्वैतिनोऽद्वैतिनः द्वैतिनो द्वैताद्वैतिन इति त्रयोऽपि सन्ति। एषां त्रयाणां वादानां विशिष्टाद्वैते गतार्थत्वात्। अत्र सर्वाः श्रुतयः समाद्रियन्ते। अयं पन्थाः समन्वयवादिभिः प्रदत्तः।

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तिनः

इमे बहवः सम्प्रदायाः सन्ति। बहवश्च वैष्णवसम्प्रदाया विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तं मानयन्ति। रामानुजीयरामानन्दीयौ द्वावपि सम्प्रदायौ विशिष्टाद्वैतं मानयतः। सर्वत्र तयोर्भाष्ये पदे-पदे चायं सिद्धान्तः प्रतिपादितः।

तथा च रामानुजीयभाष्यस्य तु नामैव श्रीभाष्यं विद्यते। तत्र तु न कापि विचिकित्सा भवति। परञ्च, आनन्दभाष्यभूमिकायामपि श्रीरघुवरदासवेदान्तिनः श्रीरामानन्दाचार्यान् कथयन्ति—'श्रीसम्प्रदायाचार्यवर्यसार्वभौमाः' इति। अतो निश्चीयते यद् रामानन्दीयाऽपि स्वसंप्रदायं श्रीसम्प्रदायमेव मन्यन्ते।

कश्चिद् रामानन्दीयो वेदान्ततीर्थो वैष्णवदासः प्रसिद्धे हिन्दीमासिके कल्याणे हिन्दीभाषायामेकं लेखमलिखद् यद्—'रामानन्दाचार्या अपि विशिष्टाद्वैतं ब्रह्मसूत्रे सम्मतम्, अनन्यभक्तिं मोक्षस्य अव्यवहितोपायम्, प्रपत्तिं मोक्षस्य हेतुम्, कर्माणि भक्तेरङ्गानि ब्रह्मण एव जगतो निमित्तोपादानत्वम्, सविशेषं ब्रह्म, वर्णाश्रमव्यवस्था या विद्योपकारित्वम्, जीवानां च पारस्परिकं भेदम्, नानात्वम्, अणुत्वम्, भोक्तृत्वम्, कर्तृत्वम्, नित्यत्वं च अमन्यन्त' इति। अयं लेखोऽपि चोद्धृतः 'डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदिना 'कबीर' इति हिन्दीग्रन्थे। अन्येऽपि कृतप्रज्ञा विद्वांस एवमेव मन्यन्ते नाहमेकाकी। मम मयं तु आनन्दभाष्यं श्रीभाष्यस्य लघुरूपं विद्यत इति पूर्वमेव मया प्रतिपादितम्। अन्येऽपि भागवतादयो वैष्णवसम्प्रदायाः श्रीभाष्यमेव मन्यन्ते।

ग्रन्थाः

श्रीसम्प्रदाये बहवो ग्रन्था विद्यन्ते। श्रीरामानुजाचार्यैः—'वेदान्तसारः, वेदान्तदीपः, वेदार्थसङ्ग्रहः, श्रीभाष्यम्, श्रीरङ्गगद्यम्, श्रीवैकुण्ठगद्यम्, शरणागतिगद्यम्, गीताभाष्यम्, नित्यग्रन्थश्च' इति नवग्रन्थान् व्यरचयन्। तानाश्रित्यान्यैरपि रामानुजीयमतानुयायिभिर्बहवः साम्प्रदायिका ग्रन्था रचिताः। इदानीमपि च निर्मीयन्ते।

एवमेव रामानन्दाचार्या अपि 'आनन्दभाष्यम्, उपनिषद्भाष्यम्, गीताभाष्यम्, वैष्णवमताब्जभास्करः, श्री रामार्चनपद्धतिश्च' इति पञ्च महाग्रन्थान् निरमासिषुः।

अन्येऽपि रामानन्दीया महात्मानो भक्तिपरान् बहून् ग्रन्थान् निर्मितवन्तः। तेषु महात्मनस्तुलसीदासा रामायणं विश्वप्रसिद्धं ग्रन्थं चालिखन्। एतेषामन्येऽपि रामभक्तिपरा बहवो ग्रन्था दृश्यन्ते। तेऽपि च हिन्दी जगति सुप्रसिद्धाः।

रामभक्तिशाखा

इयं संबभूव तत्त्वत्रयवादिषु। सा चेदानीं रामानन्दीयरूपमास्थाय पुनरपि जनानामग्रे समुपस्थितेत्यानन्दभाष्यभूमिकायां लिखितम्।

नारब्धो विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायः श्री रामानुजाचार्यैः परञ्च विशिष्टाद्वैतपरं श्रीभाष्यं निर्माय समर्थितः। जाता कल्पारम्भे सरोभूतमहदाह्वया योगिनस्तेषां शिष्या अनुयायिनश्च। ते स्वस्वसमये तत्त्वत्रयप्रदर्शकैर्वेदान्तगर्भैर्द्रविडस्तोत्रैस्तुष्टुवुः परमेश्वरम्।

तत्र बहवो रामकृष्णादीनामपि भक्ता अभवन्निति तेषां चरित्रैः प्रतीयते संभवश्च रामभक्तिशाखाया अतिप्रतीयत एव।

परञ्च, उभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्याः श्री रामानुजाचार्या एवैतैरालवालानां द्रविडवेदान्तो महर्षीणां च वैदिको वेदान्तश्चेत्युभावेव प्रवर्तितौ। आदृताश्च पूर्वे द्रविडमहात्मानः।

उभयोः सम्प्रदायारम्भः

अयमिदानीं भिन्नो दृश्यते रामानुजीयाः स्वगुरुपरम्पराम्—'लक्ष्मीनाथसमारम्भां नाथयामुनमध्यमाम्' स्मरन्ति। परञ्च रामानन्दीयाः—सीतानाथसमारम्भां रामानन्दार्यमध्यमां गुरुपरम्परां स्मरन्तीति गुरुपरम्परा भिन्ना भवति द्वयोः। दीक्षामन्त्रा अपि भिन्नाः समुपलभ्यन्ते।

देशभेदः

सर्वे वेदान्ताचार्या दाक्षिणात्यास्तैत्तिरीया एव आसन्। तेषु वल्लभनिम्बार्कौ दक्षिणे जातौ, परं च व्रजमागत्य समाराध्य च कृष्णं भाष्यकारौ बभूवतुः एते रामनन्दाचार्याश्चोत्तरे भारते प्रयागतीर्थक्षेत्रे कान्यकुब्जब्राह्मणस्य गृहेऽवातरन्निति देशभेदोऽपि विद्यते।

आचारभेदोऽपि च देशभेदादापतति। आचारभेदाद् वर्णभेदोऽपि सम्पद्यते। प्रथमं श्रीसम्प्रदायसमुद्भवो दक्षिणे भारतेऽभूत्। यैः श्रीसम्प्रदायो वर्धितस्तेषां वंशजा अद्यापि दक्षिणभारते सन्ति। अत इदं च वैशिष्ट्यं दक्षिणे भारते उत्तराद् भारताद् विद्यत एव।

परञ्च, सिद्धान्तविचारे आचारविचारौ नाद्रियेते। सिद्धान्तविषये तु रामानुजीय-

रामानन्दीयौ द्वावपि विशिष्टाद्वैतिनौ विद्येते। अतोऽत्र विशिष्टाद्वैतशब्दस्य रामानुजीये लक्षणा कार्या। सत्यपि वर्णाश्रमित्वेनैकत्वे देशाचारेभ्यः कुलाचारेभ्यश्च वर्णाश्रमिणोऽपि भिद्यन्ते। पौरस्त्यो दक्षिणे दाक्षिणात्यश्च उत्तरे नूतन एव दृश्यते। किं ब्रूमो विभागानां वार्ताम्। वर्णाश्रमदृष्ट्या चतुर्धा विभक्तोऽपि हिन्दूसमाजः, जातिभ्यः सम्प्रदायभेदेभ्यश्च सहस्रधा विभक्तः। वर्णेषु जातय एव प्राधान्यं भजन्ते न तु गोत्राणि। तथा चैकर्षिवंशजा अपि जातिभ्यो विभक्ताः कृताः। मङ्गलमयो भगवान् न जाने कदैतान् अस्वाभाविकान् विभागान् दूरीकरिष्यति। एकीभूय वर्णाश्रमधर्मिणः स्वसत्त्वं गृह्णन्त्विति सर्वेशं बद्धकरो याचे। एवञ्च—

यथा सर्वेशचरणे श्रुतयोऽपि समन्वयम्।
यान्ति यान्तु तथैवेमे सम्प्रदाया निजान्वयम्॥१॥

परमार्थेऽपि ये द्वेषाः दृश्यन्ते सम्प्रदायतः।
नश्यन्तां भारता भान्तु ध्येयनिष्ठाजनप्रियाः॥२॥

यथा सर्वेश्वरश्चैको लोकैः सर्वत्र पूज्यते।
तथैव पूज्यतां वेदो नराणां ज्ञानदायकः॥३॥

अद्वैतवेदान्तमतानुसारेण महावाक्यानां प्रयोजनम्

पण्डितश्री देवस्वरूपमिश्रः

येनेरिताः प्रवर्तन्ते प्राणिनः स्वेषु कर्मसु ।
तं वन्दे परमात्मानं स्वात्मानं सर्वदेहिनाम् ॥

अस्ति किल सर्वेषु दर्शनेषु दर्शनीयतममद्वैतदर्शनम् । अत एव श्रुतावपि—'[1]नह्यस्ति द्वैतसिद्धिरात्मैवसिद्धोऽद्वितीयः' इत्युक्तम् । धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु चतुर्षु पुरुषार्थेषु मोक्ष एवं परमपुरुषार्थ इत्यत्र न कस्यचिदपि विप्रतिपत्तिः । तथा चाह श्रुतिरपि—'न स पुनरावर्तते' इति । स च मोक्षः सकलानर्थबीजभूताविद्यानिवृत्तिपूर्वकपरमसुखावाप्तिरूपः । तथा चोक्तमभियुक्तैः—

अविद्यास्तमयो मोक्षः स च बन्ध उदाहृतः ।
निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः ॥ इति ।

तस्याविद्यानिवृत्तिरूपस्य मोक्षस्याभिव्यक्तयेऽर्थादविद्यानिवृत्तये किञ्चिन्निर्वर्तकमवश्यमङ्गीकर्त्तव्यम् । तच्च किमित्याकाङ्क्षायामुच्यते—अविद्यानिवृत्तिं प्रति जीवब्रह्माभेदज्ञानं कारणम् । स्वरूपज्ञानमिति यावत् । अत एव श्रुतिः—'तमेव विदित्वा मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति । तथा चेदमत्राकूतम्—सर्वानर्थमूलभूताज्ञाननिवृत्तिः सुखाप्तिश्च मोक्षः । तस्याज्ञानस्य निवृत्तिर्ब्रह्मज्ञानेनैव, ब्रह्मज्ञानञ्च तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यम् । तथा चोक्तम्—

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः ।
अविद्यासहकार्येण नासीन्नात्र भविष्यति ॥ इति ।

इदमेव चैषां वाक्यानां महत्त्वं यत्स्वजन्यब्रह्मज्ञानद्वाराऽविद्यानिवृत्तिः स्वरूपाभिव्यक्तिश्च क्रियते । यथा सर्वाणि भाष्याणि केवलं भाष्याणि व्याकरणभाष्यन्तु महा-

---

१. नृसिंहतापनीयोपनिषद् ।

भाष्यम् । तत्र महत्त्वञ्च इष्टचादिना । यथा 'द्विपर्यन्तानामेवेष्टि' इत्यादि । तथैव प्रकृतेऽपि सर्वेषां लौकिकानां वैदिकानाञ्च वाक्यानां यत्किञ्चिदर्थविशेषविषयकसंशयनिवर्तकज्ञानजनकत्वेन प्रामाण्यम् । एषाञ्च महावाक्यानां सर्वानर्थबीजभूताऽविद्यानिवर्त्तकज्ञानजनकत्वेन प्रामाण्यमिति महत्त्वम् । अथवा—असम्भावनाविपरीतभावनानिवर्तकमोक्षप्रयोजकज्ञानजनकत्वेन प्रामाण्यान्महत्त्वमिति बोध्यम् ।

तत्र महावाक्यपदेन व्यवह्रियमाणानि चत्वारि महावाक्यानि चतुर्णां वेदानां सन्ति । 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इति । तत्र च—'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः । अविद्यासहकार्येण नासीन्नात्र भविष्यति' । इत्यादिवाक्यैश्चतुर्णामपि महावाक्यानां साक्षादेव स्वरूपज्ञानजनकत्वं प्रतीयते, प्रतिपाद्यते चापि । तथैव—'श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीतिवाक्यतः' इत्यादिनाऽध्यात्मरामायणे ।

मम त्वित्थं प्रतिभाति - यत्सर्वेषां महावाक्यानां न साक्षात्स्वरूपज्ञानजनकत्वं प्रत्युत 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यस्यैव । न चानेनान्येषां महावाक्यानामानर्थक्यमिति शङ्क्यम्, परम्परया चारितार्थ्यात् । तथाहि—यथा येन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति, यस्य च ब्रह्मणो ज्ञानेन मृत्योस्तरणं शोकजातञ्च नश्यति, तद्ब्रह्म किमिति जिज्ञासायाम्—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्यमलं तां निवर्तयितुम्, तथैव प्रकृतेऽपि 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यनेन वाक्येन ब्रह्मणो लक्षणं कृतम् । तच्च प्रज्ञानस्वरूपमिति । तथा चानेन वाक्येन मुमुक्षोरधिकारिणो ब्रह्मविजिज्ञासोः सामान्यतो जायते ज्ञानं यत्किमपि वर्तते ब्रह्म यत्प्रज्ञानस्वरूपमिति । तच्च दूरेऽपि स्यात्तथाच सर्वथाऽप्राप्य इत्याकाङ्क्षानिवर्तनाय—'अयमात्मा ब्रह्म' इत्युक्तम् । तथा सत्यपि स्यादेवं ज्ञानं तस्य सन्निहितो ममाभ्यन्तरे विद्यमानो य आत्मा स ब्रह्म न तु अहमेव ब्रह्मेति । तस्या शङ्काया निवृत्तये प्राह श्रुतिः 'तत्त्वमसि' इति । विचारयन्तु सुधीधना धन्या विद्वांसोऽत्र किं 'त्वं देवदत्तोऽसि' इत्युच्यमाने कीदृशं ज्ञानं भवति 'अहं देवदत्त' इति वा 'त्वं देवदत्त' इति वा । तर्हि तत्रेदमेव वक्तव्यं भविष्यति यच्छ्रोतुस्तु 'अहं देवदत्त' इति ज्ञानं भवतीति, एवमेव 'तत्त्वमसि' इति महावाक्योपदेशोत्तरं जिज्ञासोः कीदृशं ज्ञानं जायेत 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्येव । अतः 'तत्त्वमसि' इति महावाक्यजन्यज्ञानं यादृशं भवत्यधिकारिणस्तस्यैव स्वरूपमिदम् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति । अत एव वेदान्तसारे—'अथाधुनाऽहं ब्रह्मास्मीत्यनुभववाक्यार्थो वर्ण्यते । एवमाचार्येणाध्यारोपापवादपुरःसरं तत्त्वं पदार्थौ शोधयित्वा वाक्येनाखण्डार्थेऽवबोधितेऽधिकारिणोऽहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभावपरमात्मानन्दाद्वयब्रह्मास्मीत्याकाराकारितचित्तवृत्तिरुदेति' । इति इत्थञ्चेदमेव युक्ततरं प्रतिभाति यदन्यैस्त्रिभिर्महावाक्यैर्निराकाङ्क्षज्ञानं न जायते, किन्तु 'अहं ब्रह्मास्मि' इति महावाक्यजन्यमेव ज्ञानं तत्त्वमस्यादिप्रयोज्यमनुभवात्मकमज्ञाननिवर्तकमिति । विना चेदृशेन ज्ञानेन 'अहं न ब्रह्म', 'अहं ब्रह्मेति न भाति' इत्याकारकासत्त्वापादकाभानापादकाज्ञाननिवत्तिर्नैव जायते । अतोऽत्रेदमाकूतं यत्तैस्त्रिभिर्महा-

वाक्यैर्जायमानं साकाङ्क्षज्ञानं परमोत्तरमहं ब्रह्मास्मीत्याकारकज्ञानं जनयदज्ञानं नाशयतीति।

अत्रेदं तु बोध्यम्—केवलं श्रुतैस्तत्त्वमस्यादिवाक्यैः सर्वप्रयोजनसिद्धिरिति कदापि धारणा न कर्त्तव्या, नहि श्रवणमात्रेण भोजनं तुष्टिपुष्टिक्षुन्निवृत्तिक्षमम्। अतो-निष्कामकर्मोपसानादिभिरुपायैरन्तःकरणे शुद्धे सति यः शृणोति महावाक्यानि तस्यैवाज्ञान-निवर्तकताऽवच्छेदकवैजात्यशून्यापातज्ञानाभिन्नं ज्ञानं जायते, येन भवति द्वैतनिवृत्तिरिति रहस्यम्। अतएवाद्वैतसिद्धिमङ्गलाचरणस्य प्रथमश्लोकस्य व्याख्यावसरे लघुचन्द्रिकायां ब्रह्मानन्दस्वामिभिः प्रोक्तम्—'तथा च निष्कामकर्मोपासनानुष्ठापनद्वारकचित्तशुद्धि-चित्तैकाग्रताद्वारोपयुक्तश्रुत्युपकृतवाक्यजन्यज्ञानस्यैव तदिति (दृश्योच्छेदकत्वम्)' इति। स्वरूपसत्तु ब्रह्मरूपज्ञानं नाविद्यानिवर्तकम्, सर्वसाधकत्वात्। अत एव ब्रह्मसूत्रे शाङ्कर-भाष्ये भगवत्पादैः श्रीमच्छङ्कराचार्यैरपि 'तत्तु समन्वयात्' इति सूत्रव्याख्यावसरे प्रोक्तम्, 'यदि रज्जुस्वरूपश्रवण इव सर्पभ्रान्तिः संसारित्वभ्रान्तिर्ब्रह्मस्वरूपश्रवणमात्रेण निवर्तेत, न तु निवर्तते, श्रुतब्रह्मणोऽपि यथापूर्वं सुखदुःखादिसंसारिधर्मदर्शनात्' इत्यादि। यद्यपि भाष्यमिदं पूर्वपक्षतया ग्रन्थे वर्तते, तथापि नास्य खण्डनं कृतं प्रत्युतापरमेव समाधानं प्रदाय स्वपक्षः साधित इत्यन्यत्। अध्यात्मरामायणेऽपि भगवता रामचन्द्रेण लक्ष्मणं प्रति-प्रदत्त उपदेश उत्तरकाण्डे—

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः
कृत्वा समासादितशुद्धमानसः।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनं
समाश्रयेत् सद्गुरुमात्मलब्धये ॥ इति।

अत एव—

कर्माणि चित्तशुद्ध्यर्थमैकाग्र्यार्थमुपासना।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित्कर्मकोटिभिः॥

इति समुद्घोषो वेदान्तशास्त्रे। तथा चेदं सिद्धं यन्निष्कामकर्मोपासनादिरन्तः-करणशुद्धौ सत्यामेव तत्त्वमस्यादिमहावाक्यानि साक्षात्परम्परया च तादृशमात्मज्ञानमुत्पा-दयन्ति स्वरूपभूतज्ञानातिरिक्तमन्तःकरणपरिणामविशेषरूपम्, येन सकलानर्थबीजभूताज्ञान-निवृत्तिपूर्वकपरमानन्दाभिव्यक्तिर्जायत इति। केवलं श्रवणमात्रेण न कोऽपि विशेषः। अत एवाभाणकः—

"मूढः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढताम्।" इति।

अत्रेदं विचिन्त्यते तत्त्वमस्यादिमहावाक्यानि शब्दरूपाणि शब्दैश्च परोक्षात्मक-

मेव ज्ञानं जायते शाब्दबोधाख्यम्, न तु प्रत्यक्षात्मकम्। प्रत्यक्षविभ्रमश्च प्रत्यक्षात्मकेनैव ज्ञानेन निवर्तते इति मर्यादा। तथा च शुद्धान्तःकरणस्य वा भवतु तदन्यस्याशुद्धान्तःकरणस्य वा, किन्तु भविष्यति परोक्षात्मकमेव ज्ञानम्। तस्य तु न परमप्रयोजनसाधकत्वम्। एवञ्च सर्वमिदमरण्यरोदनमिव जातमिति न भ्रमितव्यम्, अत्र रहस्यस्य सद्भावात्। तथाहि—सत्यमिदमुच्यते यदशुद्धान्तःकरणस्य शुद्धान्तःकरणस्य च समानमेव ज्ञानं जायते, किन्तु तत्रायं विशेषः—शुद्धान्तःकरणस्य परोक्षात्मकज्ञानान्तरमपरोक्षात्मकमपि ज्ञानं जायते, योग्यत्वादधिकारित्वात्। न च तदितरस्य जायते, दोषस्य प्रतिबन्धकत्वात्। यदि कश्चिद्वदेत् क्रमो नायं युक्तो यत्पूर्वं परोक्षज्ञानमुत्पाद्य ततः पश्चाच्च तत्त्वमस्यादिवाक्यमपरोक्षज्ञानम् जनयतीति, यतो हि शब्देन शाब्दबोध एव जन्यते, स च सर्वथापरोक्ष एवेति चेदत्राभिधीयते—'दशमस्त्वमसि' इत्यादिस्थलोदाहरणेन शास्त्रप्रामाण्येनानुभवाच्च न भवति तथा। प्रत्युत प्रत्यक्षमेव ज्ञानम्। अत एवाद्वैतसिद्धौ तत्र तत्र प्रोक्तम्—'आपातज्ञानं नाविद्यानिवर्तकम्' इति। खण्डनखण्डखाद्ये श्रीश्रीहर्षमिश्रैरपि—

आपाततो यदिदमद्वयवादिनीनाम्-
अद्वैतमाकलितमर्थतया श्रुतीनाम्।
तत्त्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा
निष्पीडितादहह निर्वहते विचारात्॥ इति।

तत्त्वमस्यादिवाक्यैस्तु जहदजहल्लक्षणाया बोधो भवतीति सम्प्रदायः। तत्र वेदान्तपरिभाषाकृतां विसंवाद इति नेह तत्र विचारः प्रदर्श्यते। सर्वत्र ग्रन्थेषु तथा कृतत्वात्। तत्र प्राचीन पुस्तकेष्वपि लक्षणायाश्चर्चा दरीदृश्यते तत्त्वमस्यादिस्थले जहदजहल्लक्षणाया भागत्यागापरपर्यायायाः। अध्यात्मरामायणे भगवान् रामचन्द्रः परमजिज्ञासुं लक्ष्मणं लक्ष्यीकृत्य तत्त्वमुपदिदेश। तत्रैवोत्तरकाण्डे श्लोकोऽयं लब्धः।

एकात्मकत्वाज्जहती न सम्भवेत्तथाऽजहल्लक्षणता विरोधतः।
सोऽयं पदार्थाविव भागलक्षणा युज्येत तत्त्वे पदयोरदोषतः॥ इति।

अत्रेदमेकं तत्त्वमाविष्कर्तुमीहेयत्कस्यापि तत्त्वस्य साक्षात्काराय निर्णयाय वा ध्यानमपेक्षितम्। अत एव योगवासिष्ठे वसिष्ठेन रामं प्रति प्रोक्तम्—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानञ्च राघव।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥
असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचित्तत्त्वनिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देव जगाद परमः शिवः॥ इति।

'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्' इत्यादि श्रुत्यापि तथैव ध्यानस्य महत्त्वं गीतम्। श्रीश्रीहर्षमिश्रैरपि खण्डनखण्डखाद्ये—

आगमेनानुमानेन ध्यानात्प्रत्यक्षणेन च।
त्रिधाऽऽत्मनि प्रमाणानां सम्प्लवः स्वार्थमिष्यते ।। इति।

एवञ्च ध्यानस्य निदिध्यासनापरपर्यायस्य शब्दानुविद्धसमाधिपदेनानुभविकैरा-ख्यायमानस्य प्रकारः साम्प्रतं प्रकाश्यते। तत्र—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः।
ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः ।।

इति वाक्यानुसारेण श्रुतिप्रतिपादितसगुणनिर्गुणोपासनाद्वयप्रामाण्येन च लब्धमु-पासनाद्वयम्। तत्र सगुणध्यानप्रवृत्तैरित्थं ध्यातव्यम्—तस्य ध्येयस्य चरणत आरभ्य उपरि उपरि ध्यानं कर्त्तव्यम्। निर्गुणोपासनायान्तु साधकेन तथा न कर्त्तव्यम्। किन्तु स्वरूपानुसन्धानाय शिर आरभ्य ध्यानं कर्त्तव्यम्। अर्थादहं शिरो न, अहं नासिका न, अहं मुखं न, नेत्रे न, हस्तौ न, उदरं न, पादौ न। ततश्चाहं रक्तं न, मांसादिकं न, मनो न बुद्धिर्न, चित्तमहङ्कारश्च न। किन्तु सर्वेभ्य एभ्योऽनात्मपदार्थेभ्यो भिन्नः शुद्धबुद्धमुक्त-स्वभावः परमानन्दब्रह्मरूपः परमप्रकाशस्वरूपो देहादिभ्यः सर्वथाऽतिरिक्तो न मयि केऽपि-धर्माः परमार्थत इति ध्यानं कुर्यात्। अतः एवोपनिषदि स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयभिन्नमा-त्मस्वरूपमुपदर्शितम्। व्याख्यातञ्च भगवत्पादैः 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' इति भाष्ये—'अकायमशरीरं लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः। अव्रणमस्ना-विरमित्येताभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेधः। शुद्धं निर्मलमविद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रति-षेधः' इति। इत्थञ्च—कृतेन ध्यानेनवृत्तिः सर्वथा सर्वेभ्योऽनात्मपदार्थेभ्यो व्यावृत्ता केवलात्मस्वरूपाकारेण परिणमते। सैव निश्चला वृत्तिरनर्थव्रातजनकमज्ञानं नाशयति। आनन्दाभानापादकाज्ञाननिवर्तनद्वारा परमसुखमात्मरूपमवद्योतयति। स एव मोक्षोऽभि-व्यक्तात्मस्वरूपाख्यः। अतएव हर्षमिश्रैः खण्डने—'तदिदमेताभिरात्ममतसिद्धसद्युक्ति-लक्षणोपपन्नाभिर्युक्तिभिरुपनीयमानमद्वैतमविद्याविलासलालसोऽपि श्रद्दधातु तावद्भवान्, तदनु चानयैवोपनिषदर्थश्रद्धयाऽध्यात्मं जिज्ञासमानः परमार्थतत्त्वं क्रमाद् वृत्तिव्यावृत्त-चेताः स्वप्रकाशसाक्षिकं माक्षिकरसातिशायि स्वात्मनैव साक्षात्करिष्यति। यथा च परिहृत-चापलमात्मतत्त्वामृतसरसि निमज्य रज्यति निरायासमेव मानसं तथाहमकथयं नैषधचरि-तस्य परमपुरुषस्तुतौ सर्गे'। मानमेयोदयेऽप्युक्तम्—

निषिद्धकाम्यकर्मभ्यः सम्यग् व्यावृत्तचेतसः।
नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तप्रध्वस्तदुष्कृतेः ।।

सुखदुःखानुभूतिभ्यां क्षीणप्रारब्धकर्मणः ।
युक्तस्य ब्रह्मचर्याद्यैरङ्गैः शमदमादिभिः ।।
कुर्वाणस्यात्ममीमांसां वेदान्तोक्तेन कर्मणा ।
मुक्तिः सम्पद्यते सद्यो नित्यानन्दप्रकाशिनी ।। इति ।

अन्ततश्च—

'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।'

इति गीतोक्तिमेव—

अनेकजन्मपुण्यानां फलं दित्सति चेच्छिवः ।
तदात्मज्ञानसम्पत्तिं ददात्यानन्दवारिधिः ।।

इति श्लोकेन रत्नभूतेन संस्तुवन् विरमामि ।

यत्कृपालेशमात्रेण पदार्था भान्ति मे मुदा ।
शारदाख्यां हि तां देवीं भूयो भूयो नमाम्यहम् ।।

करुणागुणविचारणा

पण्डितश्री पी० नारायणाचार्यः

करुणारुणनेत्रान्तकमलैकान्तकामुकः ।
भूयान्नरहरिर्भूत्यै भूयस्यै भावितात्मनाम् ।।

दयागुणमहाम्भोधिपारदृश्वनि सज्जने ।
तस्यास्स्वरूपहेत्वादिमीमांसां वर्तयामहे ।।

दयालक्षणञ्च पाद्मसंहितायां क्रियायोगसार एवमुच्यते—

"यत्नादपि परक्लेशं हर्तुं या हृदि जायते ।
इच्छाभूमिसुरश्रेष्ठ ! सा दया परिकीर्तिता" ।। इति ।।

तस्मात् परदुःखनिराकरणेच्छा दयेति सर्वानुगतं दयालक्षणं पर्यवस्यति स्म । सर्वभूतहितैषित्वं दयेति व्यासवचनेऽपि—परहितमभिलषतस्तद्दुःखनिराकरणेऽपीच्छानियतभाविनीति तदिच्छायास्स्वव्यापकतदिच्छायामेव पर्यवसानात् ऐकार्थ्यं वोध्यम् । अतएव—या दुःखापाचिकीर्षा परहितमनसस्यैव तस्यानुकम्पा इत्यन्यत्राप्युभयं क्रोडीकृतमेव विलोक्यते ।

एवम्—'दया नाम स्वार्थनिरपेक्षा परदुःखासहिष्णुता इति भाष्यमप्येतस्या दुःखनिराकरणेच्छायाः कारणकथनपरमिति न विरोधः । दया···असहिष्णुता=दयाकारणं···असहिष्णुतेति यावत् । 'आयुर्घृतम्' इत्यादाविव कारणे कार्योपचारः क्रियते, असति प्रतिवन्धके एतत्सत्त्वे कार्यावश्यम्भावं द्योतयितुम्, अन्यथाऽसहिष्णुताया अभावरूपत्वेन यथाश्रुते दयात्वायोगात् । सा हि भावात्मिका चित्तवृत्तिः काचिदिति प्रथितं सर्वतः ।

अत्रोदाहृतभाष्यानुसारेण—'या दुःखापाचिकीर्षा परहितमनस' इत्यादिवचनानुरोधेन च पूर्वोक्तदयालक्षणे स्वार्थनिरपेक्षत्वविशेषणमपि क्रोडीकार्यम्, अन्यथा स्वार्थमेव परान् रक्षतः कुक्षिम्भरेः कस्यचित् कारुणिकत्वापत्तेः । न च जीवेषु भगवद्दयया क्रियमाणस्य स्वाराधनविघ्नभूतदुःखाद्यपनयनस्याप्यन्ततो भगवद्भोग एव पर्यवसानात् भगवानपि स्वार्थपर एव भविष्यतीति तद्दयायामव्याप्तिरिति शङ्क्यम्, अवाप्तसमस्तकामेन भगवता स्वयमपूर्वस्य कस्यापि फलस्यानुद्देशात्, जीवरक्षणस्यैवाभिसंहितत्वात् ।

तथा च श्रुतप्रकाशिका—परान् दयया रक्षतोऽप्यन्तेऽदृष्टाद्यात्मप्रयोजनसद्भावेऽपि प्रथमं परेषामापद्दर्शनेऽवशाश्रुपातादिना दुःखनिराकरणे प्रवृत्तिदर्शनात् सतोऽपि स्वार्थस्यानभिसंहितत्वेन स्वार्थानपेक्षत्वं दयाया अक्षतमिति प्रत्यपादि।

अत्र—स्वार्थमनपेक्ष्य स्वयम्प्रयोजनतया स्वदुःखनिराकरणेच्छाया निर्घृणेऽपि पुरुषे सत्त्वात् परेति। स्वभिन्नेत्यर्थः। अत्र केचित् इहदयालक्षणे पर इति=स्वानुकूलस्स्वभिन्नो विवक्षितः। न तु स्वभिन्नस्सर्वः। क्वचिदपराधिनि जीवे भगवतो निग्रहोदयात् आतच्छान्ति तस्मिन् तद्विरुद्धदयोदयायोगात्। तथा च भाष्यम्—'सा च (दया) स्वशासनातिवृत्तिव्यवसायिन्यपि वर्तमाना न गुणाय कल्पते। प्रत्युतापुंस्त्वमेवावहति। किन्तु तन्निग्रह एव तत्र गुणः' इत्यादि। पृथुगद्याधिकारेऽप्युक्तम्—'सर्वप्रशासितुस्सापराधनिग्रहस्यापि शास्त्रसिद्धत्वात् तदविरोधेन कारुण्यं नियन्तव्यम्' इति।

अतएव श्रुतप्रकाशिकायां प्रथमाधिकरणान्ते दयालक्षणे अनुकूलेतरजनः पर इति विवक्षितमित्युक्तम्। अनुकूलश्चासावितरश्चेति हि तदर्थः। न चानुकूलादितरो जनः पर इत्येव तदर्थोऽस्तु, अन्यथाऽनुकूलभार्यादिरक्षणस्य दयाकार्यतापत्तेरिति वाच्यम्। अनुकूलानां भार्यादीनामपि जडोन्मत्तादिवदवश्यरक्षणीयानां रक्षणे दयाया अक्षतत्वात्। प्रसिद्धं हि श्रीरामचन्द्रः—इयं सा यत्कृते रामश्चतुर्भिः परितप्यते। कारुण्येनानृशंस्येन शोकेन मदनेन च' इति सीदत्सीताविषये दयया भृशं पर्यतप्यतेति। किञ्चानुकूलादितर इति व्यधिकरणसमासे नामार्थयोर्भेदेनापन्वयस्याव्युत्पन्नतयाऽभेदेनोत्तरपदार्थैकदेशे भेदेऽन्वयोपपत्त्यर्थं पूर्वपदस्य विभक्त्यन्तार्थविशिष्टेऽनुकूलप्रतियोगिके लक्षणा च समाश्रयणीया स्यात्। तच्च सम्भवति सामानाधिकरणसमासेन शक्त्यैवाभेदान्वयेन युज्यते। किञ्च स्वेनैवान्यत्र ब्रह्मयोनिमिति पदे कृतस्य ब्रह्मणो योनिमिति विग्रहं विहाय ब्रह्मैव योनिरिति समानाधिकरणसमासाश्रयणस्य लक्षणाभावाप्रयुक्तस्य विरुद्धञ्चेदं भविष्यतीत्याहुः।

अत्र वयं त्वेवं ब्रूमः—दयालक्षणे परशब्देन स्वव्यतिरक्तस्सर्वोऽपि विवक्षित एव। न त्वनुकूलजनमात्रम्, तथा सति भगवत्कारुण्यस्य जीवानुकूल्याचरणापेक्षत्वेन निर्हेतुकत्वकृतोत्कर्षानुपपत्तेः। अतएव गौतमादयोऽस्मदादीनामपि सर्वविषयेऽपि दयाया आवश्यकतां स्मरन्ति—दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूयेत्यादिना। किम्पुनरीश्वरस्य। किञ्च स्वानुकूलजनमात्रत्राणञ्च न दयाख्यो महागणो भवितुमर्हति। दयया स्वानुकूलजडादिरक्षणेपि जडत्वादिकमेव तत्र प्रयोजकं भविष्यति। न स्वानुकूल्यम्। अतएव दाशरथेस्स्वानुकूलसीतायां कारुण्यं केवलाबलात्वप्रयुक्तमिति तत्रैव विशदम्, 'स्त्री प्रणष्टेतिकारुण्यात् आश्रितेत्यानृशंस्यतः' इत्युत्तरत्र तद्विवरणात्। अतो भगवतो दया प्रतिकूलेऽपि प्रवहत्येव। तथा चानुकूलः पर इति व्याख्यानं न चारु भवति।

इदम्पुनरिहावधेयम्—प्रतिकूलेष्वपि विद्यमानापि दया नानुग्रहाख्यं फलं तत्र प्रसूत इति तु स्वीकार्यम्, निग्रहावग्रहविशोषितत्वात्। अतएव हि भगवान्—

"सर्वज्ञोऽपि हि विश्वेशस्सदा कारुणिकोपि सन् ।
संसारतन्त्रवाहित्वाद्रक्षापेक्षां प्रतीक्षत इत्युपवर्ण्यते" ।।

स्वस्मिन् अपराधसहस्रमजस्रमुपहृत्यात्मनि सतीमपि स्वकृपामसत्कल्पां कुर्वत्यपि पुरुषे परुषे रक्षापेक्षाया उदयसर्वमुक्तिप्रसङ्गादिपरिहारेण लोकयात्रां निर्वोढुं 'कदाऽयं मत्कृपां स्वस्मिन् विद्यमानां ज्ञास्यति ? कृतार्थयिष्यति तां' इत्यवसरप्रतीक्षो भगवानास्त इत्युक्तं भवति । स्वस्मिन् रक्षणमप्रार्थयमानान् यथाकर्म दण्डयन्नपि भगवान्—'पशुमारणकर्मदारुणोऽप्यनुकम्पा मृदुरेव श्रोत्रियः' इतिवत् तस्मिन् दयमानमना एव भूत्वा तन्मुखदर्शने कदाचित् स्वान्तरङ्गे दयातरङ्गाविर्भावं शङ्कमानोऽन्यत्र दत्ताननो दण्डयति तमिति च वदन्ति । तस्माद्दयाप्रातिकूल्ययोर्न विरोध ईषदपि भवति, अपितु तत्फलभूतयोर्निग्रहानुग्रहयोरेवेति ।

अत्रायं निष्कर्षः—दयाविषयीकारो द्विविधः—सामान्यतो विशेषतश्चेति । तत्राद्यो निर्हेतुकत्वात्सार्वत्रिकः । एतदनुरोधेनैव दयासामान्यलक्षणे—'परो नानुकूलमात्रम् । किन्तु सर्वोऽपि स्वभिन्न इति वक्तव्यमित्युक्तम्' । द्वितीयस्तु सहेतुकत्वात्क्वाचित्कः । 'रक्षापेक्षां प्रतीक्षते' इत्यानुकूल्याभिसन्ध्यनन्तरमेवानुग्रहपर्यवसायि दया प्रादुर्भावश्रवणात् । एतत्सर्वमभिप्रेत्यैवाचार्योक्तं पद्यम्—'मुकुन्दकरुणां वन्दे मुग्धेष्वधिकवत्सलाम् । स्वरूपसंस्तवौ यस्या निर्हेतुक सहेतुकौ' । इति कुमारवरदाचार्योऽप्युदाजहाराधिकरणसारावली व्याख्याने । 'संस्तवस्स्यात्परिचयः' इति निघण्टुः । विशेषविषयीकार इति यावत् । एतेनोदाहृतभाष्यगद्यादिव्याख्यापि व्याख्याता, अनुग्रहाख्यफलोपधायकदयाविषयीकारस्यैव प्रतिकूले नियन्तव्यत्वप्रतिपादनपरत्वात्तस्याः । एतदुभयतात्पर्येणैव प्राचां ग्रन्थेषु दयाया निर्हेतुकसहेतुकत्वादिव्यवहारास्तथा तथा दृश्यमाना अपि न विवदितव्याः ।

एवञ्चोदाहृतश्रुतप्रकाशिकायामपि—'अनुकूलश्च तदितरजनश्च (प्रतिकूलः)' इति द्वन्द्वसमास एव स्वीकार्यः । तस्यैव 'द्वन्द्वस्सामासिकस्य च' इत्युक्तोभयपदार्थप्राधान्यकृतोत्कर्षशालित्वेन तत्र लक्षणागन्धाभावात् । न कर्मधारयो न वा तत्पुरुषः, तयोः क्रमेण पूर्वपदार्थप्राधान्यतल्लक्षणादिदोषदूषितत्वात् । न च परशब्दस्य स्वभिन्नकृत्स्नवचनत्वं स्वत एव प्राप्तमित्येवं विभज्य व्याख्यानं व्यर्थमिति वाच्यम्, अनुकूलप्रतिकूलविभागे सत्यपि तमनादृत्यापक्षपातेन भगवद्दया सर्वत्र सामान्यतः प्रसरतीत्येतदर्थस्य विशिष्य द्योतनार्थं प्रवृत्तत्वात्तथाविधव्याख्यानसार्थक्यात् ।

ननु तर्हि—'व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः' इत्याद्यनुसृत्य परदुखःदुःखित्वमपि दयेति केचित्कथयन्ति । तत्कथमुपपद्यत इति चेत् ! न, तस्यानुकूलरञ्जनार्थं प्रतिकूलवञ्चनार्थंञ्च तदा तदा भगवता क्रियमाणमानुष्यभावनापरतयापि चरितार्थतया स्वार्थतात्पर्याभावात—

"ईशन्नपि महायोगी सर्वस्य जगतः प्रभुः ।
कर्माण्यारभते कर्तुं कीनाश इव दुर्बलः ॥
तेन वञ्चयते लोकान् मायायोगेन केशवः ।
ये तमेव प्रपद्यन्ते न ते मुह्यन्ति मानवाः" ॥ इत्यादिप्रमाणात् ।

तथा च भगवद्गुणदर्पणवाक्यम्—'अधिकारी फली जीवोऽपि हि स्वस्य स्वयं यथा सुखदुःखाभिमानी, तथा तदतिशयेन वा तदवस्थाभिमानी हि भगवान् । यथा—'व्यसनेषु मनुष्याणां···पितेव परितुष्यतीति' । एतेन भृशं भवति दुःखितः=परदुःखं स्वदुःखमेवा-भिमनुते । एकं दुःखं सुखञ्च नौ' इतिवत् । परदुःखदुःखित्वं=परदुखेनदुःखित्वं=तद-भिन्नदुःखवत्त्वं । तृतीयाया धान्येन धनवानित्यत्रेवा भेदार्थकत्वादित्युक्तं भवति ।

अतश्च—

"आवतारिकवृत्तान्ते दुःखाद्यभिनयं वदन् ।
सर्वशास्त्रेष्वविश्वासमाधत्ते मुखभेदतः ॥"

इति वदतोऽपि—

"आवतारिकवृत्तान्ते दुःखादेस्सत्यतां वदन् ।
भगवत्यपि दोषं स दृढयन्नपराध्यति ॥"

इति श्लोकेन प्रतिवक्तव्या इति सर्वं चतुरस्रम् ।

प्रमात्वविमर्शः

पण्डितश्री कृष्णवल्लभाचार्यः स्वामिनारायणः

दर्शनेष्वतिमर्मा़ढ्या वादा नैके विदुन्मिताः ।
प्रामाण्यख्यातिशक्तिव्युत्पत्तिव्याप्त्यपहेतवः ॥१॥

जातिनिग्रहतत्त्वैक्याऽनैक्यक्षणिकशाश्वताः ।
विवर्तपरिणामाऽसत्प्रतिभासविकारिणः ॥२॥

व्यवहारमृषाशून्यज्ञानद्रव्यचिदन्विताः ।
स्फोटाऽलङ्कारविध्यर्थवादतात्पर्यलक्षणाः ॥३॥

समक्रममहाभङ्गीभोगाऽपूर्वफलोदयाः ।
आत्ममुक्तिजडाऽविद्याविद्याब्रह्मपरेश्वराः ॥४॥

परिष्कृतप्रतिभानां विलासाः सदसद्गताः ।
सार्वज्ञवर्जिता वादाः शाश्वतायतना न ते ॥५॥

सोपानानि त एवैते निर्णयोत्थे फले परे ।
आयतौ परमार्थे वै स्पष्टे ब्रह्मरसे गतौ ॥६॥

विचार्यन्तेऽत्र तान्येवाभ्याससातत्ययोगिनः ।
फलं ह्यर्पणं त्वेषां परानुरक्तिरूपवत् ॥७॥

व्यष्टिसमष्टिविषयभावापन्ना सर्वाऽपि व्यवहृतिः शेमुषीसम्पाद्या संवादिनी विसंवादिनी वा विग्रहितानां चितां नान्तरीयकसहभावतत्त्वापन्नेति तत्सम्पन्न ईशोऽनीशो वाऽऽत्मा चिद्वा ज्ञप्तिर्वा मदो वा पुद्गलो वा प्रकाशो वा विग्रहो वा गभस्तिर्वा विस्फुलिङ्गो वा शक्तिर्वा प्रतिभासो वा योऽपि कोऽपि विग्रहविवाहको वरतमः सिद्धिविषयः परमार्थप्रयोजकः समस्त्येवेति तदात्मके तद्भासि वा प्रामाण्यं स्वत एव वा परतो वोभयतो वाऽनुभयतो वाऽन्यादृशं वा तर्ह्यप्रामाण्यं तथैव वा तेनैव वा कासभासितं वा कथं वेति दार्शनिकानां कार्तस्वरं कुतूहलं त्वनुत्तरविमर्शास्पदं विद्योतत इति विमानानां विभिन्नमपि तत्स्वरूपं

त्वविशेषतस्त्वीदृशमतिमारूढपदमनुभाति यत्—

प्रामाण्यं=प्रमात्वम्, तच्च तद्वन्निष्ठविशेष्यतानिरूपिततन्निष्ठप्रकारताशालिज्ञानत्वम्, तत्पदस्य बुद्धिस्थप्रकारे तादृशप्रकारावच्छिन्नेऽपि च शक्तिः 'जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थाः' इति सूत्रात्। विनिमायितांऽशिकोभयादिप्रमाऽसंग्रहाय नैकधर्मावच्छिन्ननिरवच्छिन्नविनिमायितादिप्रमासंग्रहाय च नव्यैः परिष्कृतं यत् 'तत्सम्बन्धिनिष्ठत्व-तत्सम्बन्धितावच्छेदकताऽनवच्छेदकाऽवच्छिन्नाऽवच्छेदकत्वाऽनिरूपितत्त्वज्ञानीयतन्निष्ठप्रकारता-निरूपितत्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन तद्धर्मविशिष्टविशेष्यताशालित्वं तत्प्रमात्वमिति, निर्धर्मितावच्छेदकभ्रमस्याऽप्रामाणिकत्वमेव' इति।

नैयायिकानां प्रामाण्याऽप्रामाण्ये परतो ग्राह्ये। सांख्ययोगानां स्वतो ग्राह्ये। बौद्धानां प्रामाण्यं परतो ग्राह्यमप्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यम्। मीमांसकानां प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यम्। अप्रामाण्यं परतो ग्राह्यम्। जैनानाम् अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं तु परतो ग्राह्यम्। वेदान्तिनां प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यम् अप्रामाण्यं तु परतः। रामानुजादिवैष्णवानामप्येतदेव सम्मतम्। विशिष्टब्रह्माद्वैतवादिनस्तु प्रामाण्याऽप्रामाण्ये साक्षिभास्ये इत्यभिनवः पन्थाः। नकुलीशपाशुपतशैवादीनामप्येतत्स्मृतिसमानाभिहारत्वमिति फलतः समायाति। आगमिकानां स्फुटितार्थिनां निगमाभिसम्पन्नानां प्रामाण्याऽप्रामाण्ये स्वतः परतश्चेत्युभयाऽग्राह्ये न त्वेकान्तत इति। आर्थवादिकानाम् ऐतिह्यजुषां चैते परतो ग्राह्याऽग्राह्ये न तु स्वत इति। सत्त्वप्रकर्षितात्मनां तु सार्वज्ञोदये सर्वथा प्रामाण्यं स्वत एवेति नेतरदिति सुतरां परमेशस्य स्वप्रामाण्यं शाश्वतिकमिति नाऽस्मिन् ग्राह्याऽग्राह्यत्वप्रस्थानमत्यङ्कुरोऽपि परमात्मज्ञानप्रामाण्यवदिति। बार्हस्पत्यानां स्वत एव प्रामाण्यादप्रामाण्यग्रहः। वैतण्डिकानां तु नैकं नोभयं नाऽन्यतरं वेति।

नैयायिकानां प्रमात्वस्य परतो ग्राह्यत्वे बीजं तु 'प्रमात्वं यदि स्वतो ग्राह्यम् स्यात् तदाऽनभ्यस्तप्राथमिकस्फटिकादिज्ञानोत्तरदशायां दूरादवलोकिते स्फटिके, स्फटिकज्ञानं प्रमा न वा' इत्यनुभवसिद्धप्रमात्वसंशयाऽनुपपत्तिः स्यात्, तत्र स्फटिकज्ञानप्रामाण्यस्याऽनुव्यवसायेन निश्चितत्वात्, तस्माज्ज्ञानप्रामाण्यमनुमेयम्—'स्फटिक इति ज्ञानम्'—प्रमा, संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात्, 'शुक्तौ रजतज्ञानम्, अप्रमा, विसंवादिप्रवृत्तिजनकत्वाद्' इत्येवमनुमितिग्राह्ये प्रामाण्याऽप्रामाण्ये।

सांख्ययोगानां सत्कार्यवादिनां ज्ञानं कारणे सदेव तद्गतं प्रामाण्यमिति सदेवाऽप्यस्थूलावस्थे ज्ञाने प्रामाण्यं न गृह्यते। कारणकूटेन स्थौल्यापन्ने ज्ञाने तत्प्रामाण्यमप्युद्भूतमनुव्यवसायात्मकपौरुषेयबोधेन फलात्मकेन विषयीक्रियते। एवमप्रामाण्यमपि, चित्तवृत्तीनां प्रामाणिकानां प्रमात्मकपौरुषेयबोधाऽऽविर्भावकत्वम्। विपर्यस्तसंशयितादीनां तासामप्रमात्मकबोधजनकत्वमिति तेनैव बोधेन प्रमात्वाऽप्रमात्वे गृह्येते।

विशिष्टवादिनां धारावाहिकबुद्धेर्द्वितीयादिज्ञानात्मिकायाः प्रामाण्याऽप्रामाण्ये तद-

नुव्यवसायात्मकोत्तरोत्तरधारावाहिकविशिष्टज्ञानग्राह्ये, तत्रोत्तरोत्तराऽन्यूनाऽनतिरिक्तोत्पन्नानां ज्ञानानां विषयतया पूर्वपूर्वज्ञानानां धर्मात्मिकधर्माणां प्रामाण्यादीनामपि तदुत्तरोत्तरज्ञप्तिग्राह्यत्वमेवेति ।

विद्याऽविद्ययोर्ब्रह्मशक्तित्ववादिनां यावदात्मसु संस्थितानां तासां ब्रह्मांशरूपाणां स्वस्वांऽशे प्रामाण्यमपि बाध्यबाधकभावस्याऽनपह्नवाद् अन्यतराया अप्रामाण्यमिति तासु तासु सदा स्थितमपि प्रामाण्यं तदा तदा स्वाश्रयग्राहकमानसोपासनात्मकस्फुरणादिसामग्रीजन्यविद्याग्रहविषयतया विद्याग्राह्यमेव । एवमप्रामाण्यमपि बाध्याऽविद्यावृत्तितयाऽविद्याग्राहकात्मकाऽऽत्ममानसदोषात्मकसामग्रीजन्याऽविद्याग्रहविषयतयाऽविद्याग्राह्यमेवेति सुस्थिरम् । प्राप्तब्रह्मात्मभावे तु स्वयंस्फुरत्येवेति न तदा ग्राह्यं न वाऽग्राह्यं प्रामाण्यम्, अप्रामाण्यम् वा । तदानीं नित्यसार्वज्ञारोहाद् विरोधिकोट्यभावान्निरपेक्षस्य ग्रहानावश्यकत्वात् प्रतियोग्यनुयोगिभावाभावात् सामग्रीक्लृप्त्यभावाच्च ग्राह्यत्वकल्पनाऽयोगात् ।

हैरण्यगर्भाणां तु संयमस्थितौ 'आकाशे संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्' 'परकायप्रवेशे परचित्तज्ञानम्' इत्यादिभूमैश्वर्याऽऽगमसम्पत्तौ सत्यां तत्तदीयपरात्मसमवेतज्ञानानां प्रामाण्ये स्वाश्रयग्राहकसंयमात्मकसामग्रीजन्यग्रहविषयत्वं यथा तद्वदप्रामाण्येऽपि तथाविधसंयमोदितग्रहविषयत्वं तदैश्वर्यसिद्धमिति ।

अहं ब्रह्मास्मीत्यपरोक्षात्मकसाक्षात्कारवादिनां तु तदानीं धर्मधर्म्यभेदभावापन्नत्वेन नित्यज्ञानस्य प्रमात्मकस्यैव ग्राह्यग्राहकभावविधुरतया पृथक्सत्ताशून्यस्य प्रामाण्यपदार्थस्य लयादेवाऽग्रहणमिति सुतरां मृषाभूतस्याऽप्रामाण्यस्य ग्रह इति नोभयं ग्रहविषयं तदानीम् ।

औपनिषदानां तु विभिन्नप्रस्थानाऽऽकृष्टतया वेदान्तवार्धिमग्नानां तेषामेकजीववादे सर्वं प्रमाणत्वं स्ववृत्तितया स्वत एव ग्राह्यं नैकविधचैतन्ययोरभेदसामग्रीजन्यग्रहविषयं भवतीति ततस्तेषामप्रामाण्यं त्वन्तःकरणबाहुल्यप्रयोज्यौपाधिकविविधवृत्तिरूपपश्चभाविमृषाऽप्रमागतं त्वनुमाऽर्थापत्त्यादिवित्तिविषयमिति परतो ग्राह्यं संभवत्येवेति ।

सर्वथा भेदवादिविविधश्रौतानां तु प्रामाण्यं सर्वविधलौकिकालौकिकसन्निकर्षोत्थप्रमाग्राह्यम् । अप्रामाण्यं त्वनुमेयमेवेति प्रवर्तनाप्रवर्तने तत्र नियामिके अनुसन्धेये ।

ब्रह्मात्मवादिनामौपाधिकानेकजीववादे तु प्रातिभासिकं प्रामाण्यं प्रतिभासामग्रीरूपप्रत्येकपरिच्छिन्नेन्द्रियद्वारकवृत्त्यवच्छिन्नविषयावच्छिन्नचिदभिन्नतात्मकसामग्रीजन्य - व्यावहारिकसत्तान्वितप्रतिभाग्राह्यमेव प्रामाण्यं ततो मृषात्वसाम्येऽपि निवर्तनाफलबलेन मानान्तरग्राह्यम् अप्रामाण्यमेवेति सर्वात्मनां समानम् ।

स्वाप्नपदार्थानां तदानीं जनितविमर्शपरिभासमानानां पुण्यापुण्यसंस्कारसहकृतानां स्वाप्नावस्थायां तज्ज्ञाने प्रामाण्याप्रामाण्ये मानस ज्ञानमात्रग्राह्ये, क्वचिदग्राह्ये,

क्वचिदन्यतरभासः, क्वचिन्नोभयभासोऽपि। सुषुप्तौ तु स्वात्ममात्रसंविदभिन्नप्रमात्वं तत्संविन्मात्रग्राह्यं न तत्राऽप्रामाण्याऽवभासस्तत्सामग्रीविरहात्। मूर्छायां तूभयस्थाऽन्यतरस्य वा ग्रह एव नेति सर्वथाऽग्राह्ये ते। तुर्यावस्थायां पारमार्थिकस्वसंविन्मात्रस्य स्थितेस्तदात्मकप्रामाण्यं तथैव तादात्म्यतया ग्राह्यम्। यद्वा सामग्रचनङ्गीकारे न तद्ग्रहणस्याऽवकाश इति।

अन्यत्र तात्पर्यवतां पुराणसंहितेतिहासार्थवादानां तु प्राथमिकानां मध्यमानां महतां वा वाक्यानां प्रशस्तिप्रभृतिपुष्टचर्थविषये महार्थबोधात्मके वेदने प्रामाण्यं तत्तत्कारणात्मकाऽऽकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तितात्पर्यशक्तिलक्षणाऽन्यतमादिसहकृतविविधस्मरणघटितसामग्रीजन्यमानसबोधविषयं स्वतो ग्राह्यं प्रकरणान्तरसमन्वयादिबोधग्राह्यं परतो ग्राह्यं तद्वदप्रामाण्यमपि तदुभयमपि चानुभयमप्यन्यतरद् वा यथायथं सुघटम्। भिन्नप्रस्थानानां भिन्नसामग्रीणां सत्त्वेन नैकशाऽऽग्रहो ग्रहविषये तस्मिन्निति।

दिग्भ्रान्तस्य दिशाबोधे प्रामाण्यं दोषजन्यम्। सर्वत्र दिशाया ऐक्यात् प्रामाण्यं तत्र निरुपाधिकं चेत्, स्वतो बोधमात्रग्राह्यम्। सोपाधिकं चेत्, तत्तदुपाधिघटितसामग्रीजन्यग्रहविषयम्। तथैव च तत्राऽप्रामाण्यं विसंवादिप्रवृत्त्युत्तरजायमानाभिमतदेशप्राप्त्यादिसहकृतप्रत्यक्षादिना परतो ग्राह्यमिति। अत्रेष्टप्रमात्वम् अनिष्टप्रत्यक्षाद्युत्थाऽप्रमात्वेन बाध्यते।

ऐन्द्रजालिकानां मानवस्य पारावतीकरणादौ दर्शकानां पारावतदर्शनक्षणे ज्ञाने तदानीन्तनैन्द्रजालिकविद्यापराभूतदृष्टचात्मकेऽनवस्थायिप्रामाण्यं तादृशविद्यापराभूततदानीन्तनचित्तवृत्तिप्रभृतिसामग्रीसमुद्भूतग्रहविषयं यच्च मानवज्ञानप्रामाण्यं मानसबोधारूढं तत् तु तदानीन्तनपूर्वसंस्कारसमुद्भूतस्मरणविषयं वा क्षणिकपारावतवेदनेऽप्रामाण्यं प्राक्स्मरणबलात् समनियतस्मरणबलाद् वा पश्चाद्भाविमानवदर्शनबलाद् वा मानसबोधगतं वा दृष्टिगतं वा तत्परतो ग्राह्यमिति। वस्तुतस्तु पारावतदृष्टिर्भ्रान्तिस्तत्र प्रामाण्यं न सम्मतम्। ऐन्द्रजालिकदोषवशात् समुद्भूतदृष्टिविशेषेऽप्रामाण्यमेव मानसस्मरणग्राह्यमिति।

भूतपिशाचाद्याविष्टस्याहंममतादिव्यवहाररूपस्फुरणादौ पैशाचिकं प्रामाण्यं तदाविष्टपिशाचचित्तादिसंवलितसामग्रीग्रहविषयम्। दर्शकानां चेष्टया श्रोतॄणां तु तथाजातीयप्राक्संस्कारोत्थस्मृतिविशेषेण तदानीन्तनं प्रामाण्यं समकालीनं गृह्यत इति परतो ग्राह्यं तत्। तदानीन्तनाऽसदालापादिसंवेद्यम् अप्रामाण्यं तु सर्वथैवानुमेयं परतो ग्राह्यमिति।

एवमेव कथाकाराणां नाटकीयपात्राणां वा तदानीन्तनतत्तत्प्रतिरूपभावापन्नानां विविधबोधगतं प्रामाण्यं दर्शकानां श्रोतॄणां च तन्निमित्तकनिजबोधीयप्रामाण्यं च तदानीन्तनी या या यथायथं सामग्री तज्जन्यबोधग्राह्यं यच्चाऽप्रामाण्यं वेषान्तरस्थितिकोद्भूतवेदनोद्भूतं तदपि क्वचित् स्वतः क्वचित् परतो ग्राह्यमिति, तत्र सत्यभानस्याऽसत्यभान-

स्याऽपि च बहूनां जायमानत्वादिति ।

आभिचारिकाणां मन्त्राराधितदेवताविभावितपराभाव्यशक्तिविशेषवेदने तु 'निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्' इत्यनुसारेण परं प्रति प्रहितराजदूतवत् परव्यक्त्युपर्यापतितदैविनिर्माणाऽदृष्टप्रतिकृतिसामर्थ्यशालिचित्तवृत्तीयचेष्टादिसमुद्भावकमान्त्रिकानुकरणविलासवेदनात्मके वा तस्मिन् प्रामाण्यं तदानीन्तनचित्ततादात्म्यापन्नचित्तीयनिर्मितसामग्रीजन्यग्रहविषयं तदप्रामाण्यमपि तथैव तत् स्वतो ग्राह्यमिति ।

आगमिकस्फोटवादिनां वर्णपदवाक्याखण्डपदवाक्यजनितस्फोटानामर्थप्रकाशकत्वात् तत्तदर्थबोधगतप्रामाण्यं पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितचरमवर्णश्रावणाभिव्यक्तस्फोटस्वरूपब्रह्मात्मकैकनित्यसामग्रीजन्यग्रहविषयं मौनिश्लोकादौ बोधे तु तत्तत्संस्काराऽऽहितसामग्रीजनिमत्स्मरणग्राह्यं प्रामाण्यमिति; अध्ययनादिबोधे त्वाप्तताविश्वस्तगुरुवृत्त्यनुगुणवृत्तिसमुन्मेषितमानससामग्रीसहसंस्कृतात्मवृत्त्यभिन्नवृत्त्यन्तरग्राह्यं प्रामाण्यमिति; तत्रोभयत्राप्रामाण्यं त्वनभिव्यक्तस्फोटदशापन्नं स्फुटितबोधेन प्रोहनीयमिति परतोग्राह्यं तत् ।

अस्फोटवादिनां निगमवेदिनां तु सामग्र्युपहितस्मरणग्राह्यं तादृशबोधग्राह्यं वेति स्वतो वा परतो वा यथायोगं तदिति ।

आलङ्कारिकाणां तत्तत्स्थलीयबोधगतप्रामाण्यं तत्तदलङ्कारेण साक्षात्परम्परया वा समन्विता या या विशिष्टा सामग्रीह्युपमादिसमवधाना तद्ग्रहग्राह्यं तदिति, एवमेव रसादिविशिष्टा तत्तत्सामग्री तदानीन्तना रसिकार्थबोधगतप्रामाण्यग्रहजनिकेति तद्ग्रहविषयं तत्प्रामाण्यमिति, अप्रामाण्यमत्र तत्तद्रसाभाससमवहितसामग्रीजन्यग्रहविषयमिति ।

सौगतानां ज्ञानं जीवस्वरूपम् । ज्ञानमनेकधा । तत्र परमसहायेन केवलज्ञानेन यद्वस्तु परिज्ञातं भवति तत्परिज्ञानं प्रत्यक्षम् । वस्तुषु परतो यज्ज्ञानं जायते तत्परोक्षम् । ऐन्द्रियकं सर्वमपि परोक्षम् । तेन नाऽऽत्मसाक्षात्कारः, परोक्षे प्रामाण्यम् अप्रामाण्यं च, प्रत्यक्षे तु प्रामाण्यमेव । अप्राप्यकारित्वाज्ज्ञानस्य सर्वार्थाऽवलोकित्वं भवति, किन्तु प्रतिबन्धकाभावे सति प्रामाण्यम्, प्रतिबन्धके सति त्वप्रामाण्यम्, अपूर्णज्ञानेन पूर्णज्ञानमनुमीयते, तत्र पूर्णत्वं प्रामाण्यं परतो ग्राह्यम्, अपूर्णत्वम् अप्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यम्, परतोग्राह्यत्वम् अनुमानग्राह्यत्वमिति । एवं सार्वज्ञ्यविभूतिकेवलज्ञानिनाऽऽगमोपदेशादागमस्य प्रामाण्यं प्रत्यक्षदर्शिताप्रयोज्यमिति तद्गतप्रामाण्यं प्रत्यक्षदर्शित्वादिनाऽनुमेयम् । अन्येषां स्वस्य तु स्वतो ग्राह्यम् ।

प्रकारान्तरेण सौगतानां ज्ञानस्यार्थक्रियाकारित्वं सत्त्वं तदत्र ज्ञानस्य संवादित्वम् । तादृग् ज्ञानं स्वसंवेदनरूपं प्रमाणत्वं गृह्णाति । अप्रामाण्यमपि तदेव गृह्णाति । न चैकत्र द्वयोर्विरोधः, व्यक्तिभेदेन व्यवस्थानात् । स्वकारणजन्यया ज्ञानगतया मेयबोधा-

त्मिकया स्वतःप्रमाणया शक्त्या ज्ञानस्य स्वतःप्रामाण्यम्। तादृक्कारणजन्यत्वं प्रमात्वस्योत्पत्तौ स्वतस्त्वम्। एवं च निर्विकल्पकस्यैव प्रामाण्यम्, सविकल्पकस्य न प्रामाण्यम्। प्रतिबन्धकाऽभावस्य कारणतावच्छेदकत्वोपगमान्न नानाकारणताविभ्रमः। ज्ञानत्वप्रमाणत्वयोरेव ग्राहिका साहजिकी शक्तिरेकैव। सा पूर्वं दोषशङ्काऽनवतारे प्रामाण्यरूपा। पश्चाद् यदि दोषशङ्कानाशस्तदापि प्रामाण्यं शक्त्यात्मकं स्वतो ग्राह्यम्। स्वसंवेदनस्यार्थक्रियाज्ञानस्यानुमानस्याभ्यासदशोत्पन्नज्ञानस्य च स्वतःप्रामाण्यम्। सन्देहविपर्ययादिविषयीभूतस्य तु परतःप्रामाण्यम्। प्रत्ययान्तरापेक्षस्यैव तस्य स्वतःप्रामाण्याद् अनवस्थाप्रसङ्गोऽपि न। अवयविद्रव्याऽनङ्गीकारेणैकसन्तानवर्तिवस्तुद्वयस्याऽविनाभावादेवाऽन्याऽऽलम्बनमपि ज्ञानमन्यविषयज्ञानस्य प्रामाण्यं गृह्णात्येव। नहि तत्र द्रव्यगतरूपरसगन्धादयो विभक्ताः, एकसामग्र्यधीनत्वात् सन्तानैक्याध्यवसायाद् रूपरसादीनामैक्याऽध्यवसायेन तत्संवादसिद्धिः।

आर्हतानामपि तथैवमेव प्रामाण्यं तनैव संवेदनेन गृह्यते। अप्रामाण्यमपि तेनैव गृह्यते। अविरोधस्य सौगतवत् स्वीकारात। आगमार्थेषु विश्वाससापेक्षबोधशक्तिग्राह्यं प्रामाण्यम्। सर्वागमानां नियताधिकारिदेशकालसहकार्यादिनियन्त्रितमेव प्रामाण्यं प्रवाहस्यानादित्वेन सर्वथा प्रामाण्यम्। विश्वासासहकृतसामग्रीजबोधे त्वप्रामाण्यम्। एवम् आविद्यकं सर्वमपि ज्ञानम् अप्रमाणम्, आविद्यकग्रहस्याऽप्रामाण्यग्राहकत्वात्। अविद्यानाशे सति तु प्रपञ्चशून्यताज्ञानं प्रमाणाम्। तत्प्रामाण्यं प्रज्ञप्तिग्राह्यमिति, माध्यमिकास्तत्र सर्वस्य शून्यतया शून्यमेव सर्वार्थबाधितत्वेन परमार्थरूपम्; एतत् तु योगिभिः प्रत्यक्षीक्रियते; शून्यगतं प्रामाण्यं योगिधर्मसहकृतसामग्रीग्राह्यम्; अप्रामाण्यं तु निषेधधीविषयमिति तद् अयोगिज्ञानसामग्रीगाह्यं वदन्ति।

वेदान्तिनां निर्गुणवादिनां विज्ञानसामग्रीजन्यत्वविशिष्ट-तदतिरिक्तकरणाजन्यत्वं प्रमायाः स्वतस्त्वम्, प्रमात्वं गुणप्रयोज्यम्, अप्रमात्वं दोषप्रयोज्यम्। दोषस्त्वागन्तुकः। कारणानां निर्दोषत्वे ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वाभाविकम्। दोषाभावोऽत्र विरोध्यप्रामाण्यप्रतिबन्धतया क्षीणसामर्थ्यो हि प्रतिबन्धकाऽभावविधयाऽन्यथासिद्धः। न गुणेन दोषाभावो न दोषाऽभावेन गुणो वाऽन्यथासिद्ध इति सर्वथा निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यं सविकल्पकस्य त्वप्रामाण्यम्।

पाशुपत सिद्धान्ति-लकुलीश-विशिष्ट-विशेष-नन्दिकेश-रसेश-प्रत्यभिज्ञान-कारुणिक-कापालिकदिशैवानां बोधस्वभावायाविद्यायाः प्रामाण्ये स्वाभिमतयोगसामर्थ्याश्लिष्टतारकादिज्ञप्तिसामग्रीजन्यग्रहविषयत्वं स्वतस्त्वम्। अबोधस्वभावायास्तस्यास्त्वप्रामाण्यमपि तद्वदेव स्वतो ग्राह्यम्। नन्दिकेशानां त्वयं विशेषो यत्—जगतो ज्ञप्तिमात्रत्वेन चित्फलायाः सदा सत्या एव ज्ञप्तिस्वरूपतया ब्रह्मान्वितया तयैव सर्वप्रामाण्यं सर्वाऽप्रामाण्यं च विषयीक्रियत इति। शिवाऽद्वयानां त्वयं विशेषः—शिवः प्रकाशरूपः स्वप्रकाशः स्वभिन्न-

प्रकाशाऽविषयः, विमर्शशक्त्या विमर्शविषयस्य शिवस्य स्वप्रकाशत्वम् । शिवस्याऽऽत्म-स्वरूपस्य 'अहम्' इतिस्फूर्तिविमर्शशक्तिस्तस्याः प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यम् । अप्रामाण्यं त्वावरणशक्तिपराभूतयावदज्ञानेष्विति तदप्यावरणशक्तिसहकृतसामग्रीग्राह्यम् अप्रामाण्य-मपीति । वीरशैवानामपि—स्वतःप्रकाशस्वरूपं ब्रह्मैवेति तदात्मकज्ञप्तेः स्वतोग्राह्यत्वम् । प्रत्यभिज्ञानिनां तु—सर्वं ज्ञानं क्षणिकं क्षणिकज्ञानप्रामाण्यं क्षणिकतर्काधीनं निश्चय-संशयाऽऽपाद्यापादकभावसमूहात्मकं ज्ञानं तर्कात्मकं तत्प्रामाण्यं तर्काधीनम्, अप्रामाण्यमपि तर्काऽधीनम्, ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिः शिवस्यैवेति सर्वस्य ज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानसम्विदा-त्मकतया तदंशस्यापि तदभिन्नतया प्रत्यभिज्ञानप्रामाण्याऽप्रामाण्ये तर्कग्राह्ये ।

अथ क्रमवादिनामेतेषां सर्वस्य विकल्पात्मकत्वेन तद्गतम् अप्रामाण्यं विकल्पसामग्री-ग्राह्यम् । अतः क्रमेण स्फुटस्फुटतरस्फुटतमादिसंविदामपि प्रामाण्यं स्वाश्रयग्रहजनक-सामग्रीग्राह्यम् । अत्र परासंविद्रूपायाः काल्या एव परमतत्त्वरूपत्वात् तदात्मकत्वात् सर्वस्य संविदामया तया ग्राह्यत्वात् तत्प्रामाण्यमपि स्वतोग्राह्यम् । परेशस्यस्फुरणधारा पञ्चधा —व्योमेश्वरी, खेचरी, दिक्चरी, गोचरी, भूचरी चेति तच्छक्तीनां चिदानन्देच्छा ज्ञान क्रियात्मकत्वेन पञ्चविधता । काली स्वान्तर्वर्तिभावजातं वहिराभासयति, अवभासितभाव-जातं सत्, संविदपि सती, तत्प्रामाण्यमपि स्वतोग्राह्यम्, दोषाभिभूतसंविदप्रामाण्यं दुष्ट-संविद्ग्राह्यं स्वत इति ।

मीमांसकानां दोषाभावादेव मिथ्यात्वसंशयत्वविपर्ययत्वाद्यसत्त्वमेव । अतो ज्ञान-सामग्रीमात्रजन्यत्वं ज्ञाने प्रमात्वम् । यदेव ज्ञानकारणं तदेव प्रमाकारणं तज्जन्यत्वमुत्पत्तौ प्रामाण्यम् ।

निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य प्रमाणाप्रमाणाऽन्यतरकोटौ स्वीकृतिः

अत्र कुमारिलभट्टः—प्रामाण्यस्योत्पत्तौ स्वतस्त्वम् ज्ञप्तौ परतस्त्वम्, संशया-दिस्थलेऽपि स्वतस्त्वम्, ज्ञप्तौ तु स्वप्रकाशत्वानङ्गीकारः, अगृहीतप्रामाण्येन ज्ञानेन कथ-मन्यस्य प्रामाण्यं गृह्येत, संशयविपर्ययशङ्काऽनास्कन्दितविज्ञानस्यैव प्रामाण्यात् दूरत्वादि-दोषवशाद् अप्रामाण्यशंकासत्त्वस्य प्रत्यासन्नगमनादिना निरासात् । यदि यत्नेनाऽपि न बाधस्तदापि प्रामाण्यस्य न विदतिः, दोषशङ्काया अकिञ्चित्करत्वात, संवादिज्ञानस्य-प्रामाण्यग्राहकत्वानङ्गीकारात् । ज्ञानस्य स्वप्रकाशतया ज्ञातमेव सर्वं ज्ञानमिति तत्प्रामाण्य-मपि ज्ञातमेवेति तत्र ज्ञातता स्वयम्प्रकाशा तया ज्ञानप्रामाण्यं गृह्यते । ज्ञातताप्रामाण्यार्थं न ज्ञानान्तरापेक्षेति नानवस्था, सर्वज्ञानानामतीन्द्रयत्वेन 'तदप्रामाण्याऽग्राहिकया ज्ञानता-विशेष्यकस्फटिकत्वादिप्रकारकज्ञानजन्यत्वप्रकारिकाऽनुमित्यात्मकज्ञानजनिकया परामर्शा-दिघटितसामग्र्या संजायमानग्रहविषयत्वस्यातीन्द्रियज्ञानप्रामाण्ये सत्त्वेन स्वतोग्राह्यत्व-मेवेति । आत्मसमवेतवृत्तिलौकिकविषयतासम्बन्धेन प्रत्यक्षं प्रति धर्माऽधर्मादेरिव ज्ञान-स्यापि· तादात्म्येन प्रतिबन्धकत्वेन प्रथमम् 'अयंस्फटिकः' इति प्रत्यक्षम्, ततः स्फटिके

ज्ञातताया उद्भवः। सा च प्राकट्याभिधाना ज्ञानजन्यविषयवृत्तिपदार्थान्तरमेवेति 'ज्ञातः स्फटिकः' इति प्रत्यक्षनिरूपितलौकिकविषयतावती प्रत्यक्षसिद्धा। तया लिङ्गेन ज्ञानं तत्प्रामाण्यं चानुजन्यते। तत्र 'ज्ञाततोत्पत्तिः स्फटिकत्ववद्विशेष्यकस्फटिकत्वप्रकारकज्ञान-जन्यत्वव्याप्या ज्ञातता' इति व्याप्तिस्मरणं चेत्येकः कालः, तत इन्द्रियसम्बद्धविशेषणता-त्मकज्ञाततेन्द्रियसन्निकर्षव्याप्तिस्मरणेत्युभाभ्यां 'स्फटिकत्ववद्विशेष्यकस्फटिकत्वप्रकारक-ज्ञानजन्यत्वव्याप्यस्फटिकवृत्तिस्फटिकत्वप्रकारकज्ञाततावती इयम्' इति तादात्म्येन व्याप्यवत्तापरामर्शस्ततः 'इयं ज्ञातता स्फटिकत्ववति स्फटिकत्वप्रकारकज्ञानजन्या इत्यनु-मितिस्तया ज्ञाततालिङ्गकाऽनुमित्या प्रामाण्यं विषयीक्रियते। अतो ज्ञानप्रामाण्येतदप्रामा-ण्यग्रहाऽजनकस्वाश्रयाऽनुमितिजनकज्ञाततालिङ्गकपरामर्शात्मकसामग्रीजन्याग्रहत्वव्यापक-विषयितानिरूपकत्वं स्वतोग्राह्यत्वं घटत इति।

प्राभाकराणां ज्ञानमात्रस्य स्वप्रकाशत्वेन स्वात्मकज्ञानविषयत्वम् आवश्यकम्। ज्ञानप्रामाण्ययोर्ज्ञानान्तरग्राह्यत्वे तदर्थं पुनरित्येवमनवस्थापातः स्यात्। त्रिपुटीप्रत्यक्षस्वी-कारेण ज्ञाने मितिमातृमेयैतत्त्रिकभानात् तत्त्रयोल्लेखि 'अयं स्फटिकः स्फटिकमहं जानामि' इत्येवाऽऽदितोज्ञानाकारस्य 'स्फटिकत्ववन्निष्ठस्फटिकत्वप्रकारतातिनरूपितविशेष्यतानि-रूपकविशिष्टज्ञानाश्रयोऽहम् इतिबोधकतया विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानस्य कारणत्वा-ऽनंगीकारात् प्रथममनुपस्थितस्यापि प्रामाण्यस्य भानं तादृशचन्द्रःसंयोगादिसामग्रीजन्य-ग्रहत्वव्यापकविषयितानिरूपकं सुघटं स्वतोग्राह्यमिति। 'अयं स्फटिकः स्फटिकत्वेन स्फटिकमहं जानामि' इत्यादिवत् सर्वेषां ज्ञानानां समूहालम्बनात्मकतया तदप्रामाण्या ग्राहकतज्ज्ञानग्राहकसामग्रीजन्यसमूहालम्बनव्यवसायविषयता सर्वप्रामाण्ये' इति सरलः पन्थाः।

मुरारिमिश्राणाम् 'अयं स्फटिकः' इति व्यवसायोत्तरजायमानः 'स्फटिकत्वेन स्फटिक-महं जानामि' इति मानसज्ञानात्मकोऽनुव्यवसायस्तज्जनिकाऽऽत्ममनःसंयोगादिसामग्रीजन्य-तदनुव्यवसायविषयत्वं ज्ञानप्रामाण्ये वर्तते। व्यवसायजन्यमानसज्ञानेन व्यवसायतद्गत-प्रामाण्ये गृह्येते। ननु व्यवसायो मानसबोधश्चेतिसमूहालम्बनः कथं न जायत इति चेन्न, सर्वत्र तथाऽभावात् फलबलेन भिन्नतास्वीकारात्, पूर्वं यावत्तत्सामग्र्यभावाच्चेति।

नैयायिकानां 'स्फटिक इति ज्ञानं प्रमा, संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात्, शुक्तौ रजत-ज्ञानम् अप्रमा, विसंवादिप्रवृत्तिजनकत्वाद्'-इत्येवमनुमित्या प्रामाण्याऽप्रामाण्ये गृह्येते, चरमं ज्ञानं त्वज्ञातम् अज्ञातप्रामाण्यं च, प्रमात्वस्य परतो ग्राह्यत्वे बीजं तु—'प्रमात्वं यदि स्वतोग्राह्यं स्यात् तदाऽनभ्यस्तप्राथमिकस्फटिकादिज्ञानोत्तरदशायां दूरादवलोकिते स्फटिके सति 'स्फटिकज्ञानं प्रमा न वा' इत्यनुभवसिद्धप्रमात्वसंशयाऽनुपपत्तिः स्यात्, तत्र स्फटिकज्ञानप्रामाण्यस्याऽनुव्यवसायेन निश्चितत्वात्, ततो ज्ञानप्रामाण्यमनुमेयमेवेति। ततः क्लृप्तेयं विप्रतिपत्तिः—'ज्ञानप्रामाण्यम्, तदप्रामाण्याऽग्राहकज्ञानग्राहकसामग्रीजन्य-

अहत्वव्यापकविषयितानिरूपकं न वा' इति । अत्रैव यावत्यो विधिनिषेधकोटयः समाविष्टा यथायथं स्वस्वरूपाणि लभन्ते इति ।

अत्रेदमुच्यते—एतेषां यथायथं क्षणद्विक्षणत्रिक्षणपर्यन्तस्थायिनां ज्ञानानां तत्तन्मतानुसारेण स्वसिद्धान्तितज्ञान-तत्प्रामाण्य-तज्ज्ञप्त्यादिरक्षणार्थं सामूहिकाऽऽलम्बिताऽनुव्यवसित-मानसबोधित-चिच्छक्तिवेदित-प्रकाशधर्मित्वशून्यावेदितादि पद्धतिमनुसृतानामेषां नैकान्ततस्तत्स्वरूपाणि सिद्ध्यन्ति परस्परमतिव्याहृतत्वात्, प्रामाण्याऽप्रामाण्यवत् तदनुयोगि-योग्यनुयोगि-प्रातिस्विकनाऽन्यतराऽङ्गतरादिसहायकृतामपि तथैव स्वतस्त्वपरतस्त्वादीनां तदङ्गादीनामपि स्वतस्त्वपरतस्त्वादिसमालम्बने सर्वेषामियमनवस्था त्वपरिहार्यैव । तत्तद्युक्तीनामपि प्रतियुक्तितर्काद्यैराभासीकरणात् तद्व्यवस्था त्वव्यवस्थैवाऽनवस्थारूपतां भजते । अतः—

प्रामाण्यगरलं पीत्वा बुद्धिगर्वप्रभाविभिः ।
अनवस्थामृतिक्षिप्त्यै व्यवस्थौषधमद्यते ॥ १ ॥

वस्तुतस्तु प्रकाशस्य न प्रकाशान्तरार्थिता ।
ज्ञानप्रकाशसूर्यस्य न ग्रहान्तरकाशिता ॥ २ ॥

राहुग्रासक्षणेऽप्यर्के नाऽन्यप्रकाशवेदिता ।
स्वल्पप्रकाशभावोऽपि स्वतस्तस्य प्रकाशिता ॥ ३ ॥

यद्येवं चेत् कथं भ्रान्तिर्ज्ञानार्के भासते क्षणम् ?
नैव, तत्रापि वै भ्रान्तौ भागे भागोऽन्ययोह्यते ॥ ४ ॥

एवं चेद् भिन्नता ज्ञानेऽन्यभुक्तस्याऽन्यवान्तता ।
नैवं, स्फितरत्वाद्यवस्थावेशान्न दूषणम् ॥ ५ ॥

यावतां लोकितत्त्वानामिन्द्रियादिप्रयोगतः ।
साक्षात्कारो भवेद् यत्र तत्रांऽशे, न तु सर्वशः ॥ ६ ॥

न विशेषज्ञ आत्माऽसौ यावत् सामान्यविन्न च ।
अक्षज्ञो हि तनूभाक् सन् राह्वविद्याऽभिवेष्टितः ॥ ७ ॥

तस्मान्मिश्रप्रकाशोऽस्य यावद्देहस्थितस्त्विह ।
मिश्रेणैव प्रकाशेन मिश्रप्रामाण्यमीयते ॥ ८ ॥

यावत्स्थायि स्वयं ज्ञानं सर्वं विषयमापकम् ।
स्वं वाऽन्यं वा ग्रासभावीकृत्य वश्यं प्रकाशते ॥ ९ ॥

नाऽन्यवश्यं न चाऽऽगन्तुधर्मं सर्वविलक्षणम् ।
चिदात्माख्यां गुणाख्यां वा धत्ते यथार्थरूपि यत् ॥ १० ॥

साक्षी चेताः सुसर्वज्ञः सर्वविन्नित्यदर्शनः ।
अन्तर्यामी हृदयस्थश्चिन्निवासः सदात्मगः ॥ ११ ॥

यस्य भासा विभात्येव त्विदं सर्वं परापरम् ।
यस्य ज्ञप्त्या विजानाति सा ज्ञप्तिः स्वप्रकाशिका ॥ १२ ॥

स्वं स्वांशं स्वाश्रयं स्वाश्रितस्य धर्मं निजस्य च ।
सर्वं गृह्णाति सर्वेषां शुक्लं कृष्णं च तद्युगम् ॥ १३ ॥

प्रमात्वं चाऽप्रमात्वं चित्साक्षी गृह्णाति वै ततः ।
साक्षी नारायणो ब्रह्माऽऽत्मनां बोद्धा हि कर्मणाम् ॥ १४ ॥

साक्षिण्येव भवन्त्येव ज्ञातृभावव्यवस्थितिः ।
अन्योऽभिज्ञानसम्पन्नः साक्षितादात्म्यनैत्यतः ॥ १५ ॥

अन्यश्चाभिकशीत्येवं नैजवाक्यप्रमाणतः ।
नित्यज्ञस्य प्रमाग्राहः स्वल्पज्ञस्याऽप्रमाग्रहः ॥ १६ ॥

इत्येवं वा व्यवस्थानं द्वयोस्तादात्म्यसंस्थितेः ।
व्यवस्थानं तथैवाऽत्र प्रवृत्तेः सूपलम्भनात् ॥ १७ ॥

चिद्धर्मत्वाच्चिदात्मत्वाच्चिद्ब्रह्माऽव्यतिरेकतः ।
चिद्गेहत्वाच्चित्तनुत्वात् प्रामाण्यं गृह्यते चिता ॥ १८ ॥

ननु कोऽयमात्मनः स्वतो ग्राहकः प्रकाशो नाम ? आत्ममनःसंयोगजन्या चिदिति चेत्, प्राप्तं पराधीनप्रकाशत्वम्, अप्रकाशत्वं सुतरामिति करणशून्यदशायां जडताप्रसङ्गः, सदा वा सुतरां तथाप्रसङ्गः । ननु प्रसङ्गोऽयमिष्ट इति चेत्, तथाप्रसङ्गस्य कदाचिदवश्यम्भावित्वेन तादृशप्रसङ्गात्मकमुक्त्यर्थं तत्त्वज्ञानप्रयासस्य वैफल्यम्, तत्त्वज्ञानस्य साक्षात् परम्परया वा तदुपकाराऽप्रामण्यात् । मोक्षस्याऽऽयतिक्षणवर्तित्वेन चरमज्ञानस्य प्रासङ्गिकानां केनाऽप्यग्राह्यत्वेन च तद्वत् तदुत्तरमोक्षस्याप्यग्राह्यत्वेन मोक्षप्रामाण्यस्य खपुष्पायमाणतापत्तेर्मोक्षस्यापि तथात्वं दुर्निवार्यमिति मोक्षिणोऽपि सत्त्वे का खल्वास्थातिष्ठेदित्येवं तुल्यन्यायेन नित्यात्मनो चिद्व्यतिरेकेणावस्थाने परात्मनोऽपि चाऽऽत्मत्वेन चिद्व्यतिरेकित्वं कथं नोपेयते ? नित्यज्ञानित्वे किम्फलस्ते पक्षपातः ? यदि चेत् सृष्टिकार्यार्थं तस्य नित्यज्ञानिता, तदाऽऽत्मनामपि स्वस्वसृष्टिकार्यार्थं कथं न चिदधीनता चिदात्मता वा चिद्धर्मता

वेति। यदि नित्यसर्वज्ञज्ञप्त्यैव जडात्मनस्तदाऽऽचक्षणे सृष्टिकार्यार्थनिर्वाह इति। तदाऽऽयातमेवपरमात्मचित्संवेद्यसृष्टिस्थितिसंहारविषयक यावत् संविदां परमात्मचित्संवेद्यत्वमिति तदन्यथाऽनुपपत्या जडात्मनि तत्स्थितिश्चापीति साक्षित्वे सिद्धे जडात्मनस्तदधीनत्वेन तत्तनुतयाऽवस्थानेन चिद्‌गतं सर्वं प्रामाण्यं साक्षिवेद्यं तदानीमिवोत्तरकालेऽपि परमात्मचिदधीनचितामपि साक्षिवेद्यत्वं चितां स्वतोग्राह्यत्वमिति।

भ्रान्त्याऽऽत्मा मनुते तत्र चितां वै ग्राह्यता मम।
भ्रान्तिग्राह्यं परग्राह्यमप्रामाण्यं निजोत्थितम्॥

अथाऽत्र **स्वामिनारायणीयाः**—वस्तुतस्तु प्रमात्वं यावदनुस्यूतसमष्टिव्यष्टिचरार्थज्ञानत्वम्। यावत्योऽनुस्यूता विशेषविशेष्यसंसर्गभावमापन्ना याः समष्टयः साजात्यानि व्यष्टयो वैजात्यानि चराश्च संसर्गा अर्था वस्तूनि तेषां ज्ञानत्वं प्रमात्वम्। यथार्थस्मृतेः प्रामाण्यम्, तर्कस्याऽपि प्रामाण्यम्। प्रत्यक्षमनुमानशाब्दमुपमाऽर्थाऽऽपत्तिश्चैष्टिकं यौगिकं प्रतिभा सविकल्कं स्मरणं प्रत्यभिज्ञा स्वाप्नं ध्यानं तर्कः प्रमारूपाणि। अथ संशयो विपर्ययो विकल्पो भ्रमो निर्विकल्पकमविद्याऽज्ञानं भयं प्रतिभासो वैवर्तिकं मौर्च्छिकमान्ध्यमभानमाहार्यं व्याघातादि चेत्यनेकरूपमप्रमात्मकम्।

ध्यानवृत्तिसहकृतेन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमस्मदादीनाम्, मनसस्तत्त्वाऽनङ्गीकारात्, आत्मनो मननात्मकज्ञानात्मकत्वस्वीकारात्, ध्यानवृत्त्या भिन्नभिन्नालोचनानामुपपादनात्, ध्यानवृत्त्यात्मकं समाधिभावापन्नं ज्ञानं मुक्तादीनाम्, शाश्वतप्रत्यक्षंपरमेशस्य। सद्धेतुसहकृतपरामर्शादिजन्यज्ञानमनुमितिः। सादृश्यसहकृतकरणजन्यं ज्ञानमुपमा। शब्दसहकृतशक्त्यादिजन्यं ज्ञानं शाब्दबोधः। विगुणार्थकृताऽर्थान्तरापादनमर्थापत्तिः। विलक्षणक्रियेङ्गितजन्यज्ञानं चेष्टा। योगाभ्याससंयमजन्यज्ञानं समाधिजं वा यौगिकम्। चिन्तासहकृतज्ञानं प्रतिभानम्। धारावाहिद्वितीयादिज्ञानं सविकल्पकम्। संस्कारमात्रजन्यज्ञानं स्मरणम्। संस्कारेन्द्रियादिजन्यज्ञानं प्रत्यभिज्ञा। निद्राकालीनेन्द्रियगोलकाऽनपेक्षान्तरज्ञानं स्वाप्नम्। सततमात्मीयज्ञानं ध्यानम्। व्याप्यप्रसक्त्या व्यापकप्रसक्तिज्ञानं तर्कः। तान्येतानि प्रमारूपाणि। तेषु सर्वत्र यावन्तोऽनुस्यूता ये ये विशेषणतया विशेष्यतया संसर्गतया वस्तुविशेषाः समष्टिरूपा वा व्यष्टिरूपा वाऽन्यूनानतिरिक्ततया भासन्ते तज्ज्ञानत्वस्य तत्र सत्त्वात् प्रमात्वमेव।

अंशेऽपि तादृशप्रमाभिन्नज्ञानम् अप्रमा। यत्र ज्ञाने विशेषणस्य विशेष्यस्य संसर्गस्य वा वस्तुनः समष्टितया व्यष्टितया वा विषयतया भानं नास्ति तत् पिण्डात्मकमपि ज्ञानमंशतोऽपि प्रमाभिन्नम् अप्रमेति। यथा वर्णमेलनं पदं परमाणुमेलनमवयवी क्षणमेलनं घटिकादि तथा तत्तदंशज्ञानमेलनं प्रमाऽप्रमादि। तस्मादेक विषयकं ज्ञानमेकम्। बहुविषयकं ज्ञानमनेकम् अनेकांशज्ञानघटितं च। समूहालम्बनादिकमपि तथा।

अथ संशये विरुद्धकोटिहृदयाऽनुस्यूततया एकस्याः कोटेः संसर्गस्य वस्त्वनुस्यूततया तद्विषये तस्मिन् प्रमाभिन्नत्वाद् अप्रमात्वम्। विपर्ययेऽतद्रूपप्रतिष्ठत्वाद् रूपमिथ्यात्वेन तद्रूपविषयत्वाऽभावात् सर्वथाऽप्रमात्वम्। विकल्पस्य वस्तुशून्यत्वाद् वस्त्वन्योत्थत्वात् सर्वथा प्रमाभिन्नत्वम् अप्रमात्वम्। जपान्तिके रक्तारोपिते स्फटिकादौ वृत्त्या रक्तरूपाऽऽरोपाद् वास्तविकसंसर्गाभावाद् 'रक्तस्फटिकः' इति ज्ञानस्याऽऽरोपात्मकत्वाद् भ्रमस्यांशेऽप्रमात्वम्, वास्तविकसंसर्गाद्यविषयकज्ञानस्य भ्रमत्वात्। निर्विकल्पकस्य प्रथमक्षणीयवस्तुविषयकत्वेऽपि तत्र तत्तसांसर्गिकसंसर्गस्याविषयत्वाद् वैशिष्ट्यानुस्यूतत्वविरहात्। तत्तत्सांसर्गिकसंसर्गांशेप्रमात्वभिन्नत्वाद् अप्रमात्वम्। अंशज्ञानानामंशिज्ञानस्वीकाराद् विशिष्टज्ञानस्य विशिष्टवैशिष्ट्यज्ञानस्य महावाक्यार्थबोधादेरपि तथा पद्धत्या स्वीकारात् तत्र सर्वत्र प्रमात्वस्याऽप्रमात्वस्य च व्यवहारोंऽशेऽशिनि वा यथायोग्यः स्वीक्रियत इति न काचिदनुपपत्तिः। फले प्रमात्वं चेत् तदीयांऽशेऽप्रमात्वं निर्बलं प्रमात्वांशेन बाध्यते। फलेऽप्रमात्वं चेत् तदीयांशे प्रमत्वं निर्बलम् अप्रमात्वांऽशेन बाध्यते। प्रबलांऽशः फलति। 'तत्र विशिष्टप्रमाऽप्रमादिव्यवहारः फलबलात् कल्प्यते। नैतावता फलस्याऽनुपपत्तिः, निर्बलांशस्याऽविरोधात्, प्रबलांशस्य पूर्णफलाऽऽधायकत्वात्।

नन्वेतन्मतेऽप्रामाण्यं केन गृह्यते? ध्यानवृत्त्येति ब्रूमः। ध्यानवृत्तिर्हि सर्वविषयिणी। प्रमाऽप्रमासाधारणी द्रागेव सहोपलम्भनियमिता प्रामाण्याऽप्रामाण्याग्रहणे क्षणान्तरं न सहते। कर्मसाक्षि ब्रह्म यथा स्वसार्वज्ञ्यस्य जीवात्मकृतकर्मग्रहविषयकत्वे क्षणान्तरं न सहते, कर्मोत्पत्त्यादिविषयक सर्वज्ञ्यात्। तथा ध्यानवृत्तिरियं सर्वत्राऽनुस्यूता समकालमेव प्रामाण्यमप्रामाण्यं चाऽऽवर्तयति। जीवात्मनि सार्वत्रिकत्वाद् ध्यानवृत्तौ प्रामाण्यमेव। तच्चात्मग्राह्यम्। आत्मादीनां च ब्रह्मसाक्षिग्राह्यम्, ब्रह्मसाक्षि परब्रह्मैवाऽन्तर्यामी, तस्य नित्यप्रत्यक्षदर्शित्वात्। एतत्प्रमात्वं स्वग्राह्यमेवेति नाऽनवस्था, परमात्मनि सर्वविद्यानां विरामात्।

अथाऽविद्यात्मकम् अनिर्वचनीयं केनचिदङ्गीकृतं चेत्, तत्त्वे विषयाणां सदादीनां सर्वथा विरोधेन तदन्वयानां सुतरामप्रतिपन्नत्वाद् अप्रमात्वम्। अज्ञानम्-अल्पज्ञानं चेत्, आल्प्यं ज्ञाने विषयांशन्यूनत्वम्, तदंशेऽप्रमा। अधिकं चेत्, तर्ह्यपि तदंशेऽप्रमा। अक्रमं चेत्, तदंशेऽप्रमा। यद्यपूर्णज्ञानम् अज्ञानम्, ज्ञानेंऽशे तत्त्वम् अंशे चाऽतत्त्वम्, तत्त्वाऽतत्त्वात्मकं ज्ञानम् अज्ञानम्, अतत्त्वांऽशेऽप्रमा। भयम् अङ्गमेजयसहोपलम्भज्ञानं रज्जुसर्पोत्थं चर्ममयसिंहोत्थं तादृशमन्यदपि सर्पसिंहादिविषयवैकल्यादुत्थं तदंशे न प्रमा। प्रतिभासः—प्रतिबिम्बं न वस्तुसत्, बिम्बस्यैव वस्तु सत्त्वात्। प्रतिबिम्बज्ञानं जलदर्पणाद्यन्तर्गतसूर्यचन्द्रमुखादिवस्तुसंसर्गाऽभावाज्जलदर्पणादिसंसर्गांऽशेऽप्रमा। जीर्णभवनेऽन्धकारच्छायायां भूतप्रेतादिवृत्तिविवर्तो न प्रमा, अतात्त्विकत्वात्, वस्तुतत्त्वाऽविषयकत्वात्। पित्तवायुरक्तादिकोपजौष्ण्याऽऽधिक्ये स्थौल्यह्रासमाप्तं ज्ञानं क्रमशस्तत्तद्विषयाद् विच्यवत्

तदुत्तरक्षणे एव विलयाभिमुखं क्षणैकस्थितिकं विषयविधुरम् अप्रमा। नैतद् विकल्पाद्यात्मकम्, विकल्पादेर्वस्त्वन्यथोत्थत्वात्, मौर्छिकस्य तु स्ववस्तुप्रच्यावात् तद्भेदः।

आन्ध्यम्—वृत्तेरभिभवे मान्द्ये वाऽभिभावकप्राबल्ये सत्यपि तादृशे विषये तादृशविषयाऽनवच्छेद्यम् आन्ध्यम्, तत् तादृशविषयाऽनवच्छेदद्यांऽशे स्थौल्याऽनवच्छेद्यांऽशे मध्याऽनवच्छेद्यांऽशे सौक्ष्म्याऽनवच्छेद्यांऽशे वाऽप्रमा, अस्य स्वस्वसविषयकत्वेऽपि पराभिभवात् प्रतनुत्वस्थितिकत्वात् सर्वेभ्यो भिन्नत्वमिति दिने दीपप्रकाशज्ञानं स्थौल्यांऽशेऽप्रमा। शक्तिज्ञानाऽभावादौ तत्तदर्थाऽभानं वेदादाविव मन्त्रार्थाद्यज्ञानम् अभानम्—तत्तदंशेऽप्रमा। आहार्यम्—स्वविरोधिधर्मान्विते स्वात्मकधर्मवत्ताया ज्ञानम्, घटाभाववद्भूतलं घटवदिति, सगुणं ब्रह्म निर्गुणमिति ज्ञानमेकांऽशेऽप्रमा, यावत् स्थितिकं तावत् तदुद्देश्यतावच्छेदकांऽशे प्रमा, विधेयांऽशे त्वप्रमा। दिव्यगुणवद् ब्रह्म, अदिव्यगुणाऽभाववदिति तु न विरोधि तस्मात् प्रमैवैतत्। शक्तिलक्षणाऽलंकारस्फोटादयोऽपि यदंशे ज्ञानमूपकास्तत्तदंशे ज्ञाने प्रमात्वमूपका एवेति समूह्यम्। भासेरंश्चेदव्याप्त्यादयस्ते ध्यानवृत्त्याऽपसारणीयाः। ध्यानं चात्मनः स्वयम्प्रकाशतात्मकमेव, परमेशस्य नित्यप्रत्यक्षात्मकं नित्यप्रमा।

व्याघातः, आत्माश्रयादयः, हेत्वाभासाः, छलानि, जातयो, निग्रहस्थानानि, शङ्का, प्रश्नादीनि तु स्वस्वरूपे ज्ञाने प्रमात्वाऽऽधायकानि, अस्वस्वरूपे यथाकञ्चिदंशे वाऽऽधिक्ये वाऽप्रमात्वाऽऽधायकानीति सूक्ष्ममीक्षणीयम्।

व्याघातः—'सर्वप्रपञ्चमिथ्यात्वं चेत्, मिथ्याया अपि मिथ्यात्वात् सत्यत्वं नास्तीति मिथ्यात्वेनाऽसत्येन सर्वप्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिर्न भवेत्' अत्र मिथ्यात्वस्य व्याघातो हानिः, तथा स्वाधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वे मिथ्यात्वे सत्यत्वमप्रसिद्धमिति लक्षणहानिः, तत्र स्वत्वांऽशे मिथ्यात्वांऽशे चाऽप्रामाण्यम्, तेन सर्वप्रपञ्चे मिथ्यात्वसंसर्गेऽप्रामाण्यम्, प्रपञ्चांऽशे च प्रामाण्यमिति। घातकांऽशे प्रपञ्चज्ञानांऽशः प्रमा, घात्यांऽशो मिथ्यात्वांऽशोऽप्रमा, एवं मम माता वन्ध्येत्यत्र वन्ध्यात्वं घात्यं मदंशपुत्राऽस्तित्वेन घातकेन भवतीति वन्ध्यात्वांऽशेऽप्रामाण्यम्, पुत्रांऽशे मदंशे प्रामाण्यम्, यदि च वन्ध्यांऽशे प्रामाण्यं तर्हि वन्ध्यांऽशो घातकः, घात्यांशो मदभिमतपुत्रत्वम्, तच्च मदभिमतपुत्रांऽशेऽप्रामाण्यम्, सर्वथा व्याघाते घात्यांऽशोऽप्रमा, घातकांऽशः प्रमेति। ननूभयम् अप्रमाणं कथं नेति चेन्न, द्वयोरप्रामाण्येऽविरोधेनाव्याघातत्वप्रसंगात्। व्याघातानुत्थाने शङ्काऽपरणाऽभावेन तर्कवैफल्याद् आपादकाऽभावसिद्धचात्मकफलव्याप्त्यभावप्रसङ्गापत्तेः। शङ्का च—धूमे वह्निजन्यत्वं कथमिति, वन्ध्याया मम मातृत्वं कथमिति। सर्वप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वे सत्यत्वं कथं नेति। अत्र सर्वत्र कथमर्थाऽन्विताऽभावांऽशेऽप्रमात्वम्, कथमर्थश्च भावप्रकारेणाऽभावप्रकारेण वेति, तत्र भावांऽशे प्रामाण्यं चेद् अभावांऽशेऽप्रामाण्यम्, क्वचिदभावांऽशे प्रामाण्यं चेद् भावांऽशेऽप्रामाण्यमिति। शङ्काया भावाभावयोः साधारणत्वात्।

यदि परब्रह्म स्वरूपतः स्थावरजङ्गमात्मकप्रपञ्चाऽभिन्नं स्याद् विकारि दुःखि च स्याद् ब्रह्मत्वव्याहतं च स्यात्, अत्राऽभिन्नत्वम् अप्रमा, जगति विकारित्वादि प्रमा, विकारित्वेन घातकांशेन घात्यं ब्रह्म भवेत्, प्रपञ्चस्य घात्यत्वात्। यदि प्रपञ्चो घात्यः, तदुत्पादकं न घातकं, घातकाऽभावाद् अघात्यः स्यात्,—इति व्याघातः, अत्र घात्येनाऽघात्यांशोऽप्रमा, अघात्यांशश्चेत् प्रमा, तर्हि ब्रह्म प्रमा, ब्रह्माऽभिन्नत्वात् प्रपञ्चोऽप्यघात्यत्वात् प्रमा, प्रपञ्चांशे प्रमात्वं प्रसज्येत, तथा च ब्रह्माऽभिन्नः प्रपञ्चः, प्रपञ्चाऽभिन्नं ब्रह्म, अघात्यं, तदतिरिक्तं यत् प्रपञ्चभिन्नं परं तद् घात्यम्। तथा च—प्रपञ्चकालीनानामप्रपञ्चकालीनमुपासनाविषयं मोक्षसत् तद् घात्यम् अप्रमा भवेत्, तेन मोक्षोऽपि घात्योऽप्रमा भवेत्, इति स्वव्याघात एवं बोध्यः।

तर्कोऽपि साध्यधर्माऽव्यभिचारिसाधनधर्मान्वितवस्तुविषय इति चेत्, सोऽपि सर्वांशे प्रमैव, प्रमाणानुग्राहकश्च सः। स च—आत्माश्रयाऽन्योन्याश्रयचक्रकाऽनवस्था केवलाऽनिष्ट-(तदन्यबाधितार्थ) भेदात् पञ्चधा। अन्याधीनतयैव नियतस्य स्वाधीनत्वाभ्युपगमे आत्माश्रयः—यथा स्वेनैव स्वयमुत्पाद्येत स्वोत्तरवृत्तिः स्यात् स्वक्षणे न स्यात्, अविद्यमानत्वात् कारणाभावात् कार्यानुत्पत्तेः स्वस्यैवाऽसत्त्वं स्यादिति, वस्तुहानिः फलं प्रमा, वस्तुसत्त्वम् अप्रमा। स्वयं स्वेनैवोत्पाद्येत कारणकार्यभेदो न स्याद् व्याघातः स्यात्, अत्र फलं प्रमा, ऐक्यम् अप्रमा। अथ तर्ह्यैक्यं प्रमा, स्वयं स्वोत्पत्तिरप्रमा, स्वस्य नियतपूर्वसिद्धिमत्त्वे कारणता, नियतोत्तरसिद्धिमत्त्वे कार्यता, अत्र स्वस्य स्वाऽपेक्षाऽप्रमा, प्रमात्वे सन्तानव्यवहारोन्मूलताप्रसङ्गः, प्रसङ्गस्य प्रमात्वे महाप्रलय एव प्रमा, प्रलयभिन्नम् अप्रमा, सन्तानस्याऽप्रमात्वप्रसङ्गः। प्रसङ्गोत्पत्तिरेव न स्यादिति व्याघातः।

अथ निजसन्तानेन निजोद्भवे निजव्याघातापत्तिः—अन्योन्याश्रयः, परस्पराधीनोत्पत्तिकत्वं वा सः, यथा—अस्मिन्नेव जन्मनि विष्णुदत्तः पिता हरदत्तस्य हरदत्तः पिता विष्णुदत्तस्य, द्वयोः परस्परपितृकत्वं परस्परपुत्रकत्वं चेति, नहि पुत्रस्य हरदत्तस्य पिता विष्णुदत्तो हरदत्तस्य सन्तानः, नहि पुत्रस्य विष्णुदत्तस्य पिता हरदत्तो विष्णुदत्तस्य सन्तानः, सन्तानत्वे पूर्वक्षणवृत्तित्वाऽभावात् कारणाऽभावात् कार्याऽनुत्पत्तेः कार्यकारणकार्यस्याऽप्यनुत्पत्तेर्द्वयोर्हान्यापत्तिरिति।

नहि स्वकारणात् प्राक् स्वसत्ता भवति, स्वस्य स्वप्रागभावसमानक्षणत्वप्रसङ्गात्, प्रागभावहान्यापत्तेः, असति प्रागभावे कार्याऽनुत्पत्तेः, कार्यकार्यस्याऽप्यनुत्पत्तेः, सर्वहानिः स्यात्। एवं स्वकार्योत्तरं स्वस्योत्पत्तौ स्वप्रागभावस्य कार्यात्मककारणकालवृत्तितारूपदैर्घ्यं स्यात् स्वस्योत्थानं स्यात्, कारणविगमे कार्यव्याघातः स्यात्, यदि कारणप्रागभावक्षणे कार्यं स्यात् कारणनैष्फल्यं स्यादिति कारणव्याघातः स्यात्।

तथा च द्वयोर्व्याघातो भवेदिति, अत्राऽसत्त्वे प्रमात्वम्, द्वयोः सत्त्वेऽप्रमात्वम्, एकस्य प्रमात्वेऽपरस्याऽप्रमात्वम्, वस्तुस्थित्यभावात् अप्रमाणस्य प्रमात्वे पूर्वस्याऽप्रमा-

त्वम्, एकेन द्वितीयं हन्यते, घात्यम् अप्रमा, घातकं प्रमा चेति। अन्याश्रयः प्रमा, अन्यो-ऽन्याश्रयोऽप्रमा, स्वमेव अन्यश्चेद् आत्माश्रयाद् अप्रमा, यदंशेऽप्रमा स घात्यः। यदंशे प्रमा स घातक इति।

अथ धूमेन वह्निज्ञानं वह्निना च धूमज्ञानमिति। तत्र कार्यकारणयोरैक्ये सत्त्वे च समूहालम्बने प्रमात्वम्, कार्यकारणयोर्भेदे क्षणापेक्षितत्वे ज्ञानभेदाद् द्वयोरेकस्य पूर्वता, नान्यस्येति, यत् पूर्वं तत् प्रमा, प्रमाबलाद् द्वितीयमपि प्रमा, पूर्वं चेत् तृतीयक्षणापन्नं तत् प्राक्त्वेनाऽप्रमा, असन् सत् द्वितीयक्षणीयं चाप्यसदयति। तेन तृतीयक्षणीयमप्य-सदयति, सर्वमप्यसदयति, फलतोऽसत्त्वं प्रमा, सत्त्वम् अप्रमेति। तथा च सत्त्वयोर्व्याघातः, व्याघातोऽपि व्याघातांऽशे प्रमा, अव्याघातांऽशेऽप्रमेति। यत्रेतरेतराश्रयाणि कार्याणि प्रवर्तन्ते, तत्र नाऽन्योऽन्याश्रयो जन्यजनकभावात्मकः, किन्त्वितरेतरेषां कारणत्वम् एक-कार्यकारित्वात्मकसङ्गत्यात्मकमिति, यथा सैन्येन राजा रक्ष्यते राज्ञा सैन्यं रक्ष्यते, रक्षणं द्वयोः कार्यम्, द्वावपि कारणकोटौ प्रविष्टौ, कार्यमपि द्वयोर्धर्मात्मकं कार्यम्। तथा च धर्मिणोर्धर्मोत्पादकत्वे सहानुयोगत्वात्मकं कारणत्वं न व्याघात कृदिति।

द्वयधिकानामन्ततः पूर्वस्याऽपेक्षा, तदपेक्षापेक्षापेक्षितत्वं चक्रकम्, यथा—कृष्या अन्नम्, अन्नाद् धनम्, धनादुपकरणानि, उपकरणैः कृषिरिति, कृष्युपकरणानां धनपूर्वत्वा-भावात्, ततो धनस्याऽन्नपूर्वत्वाभावात्, ततश्चान्नस्य कृषिपूर्वत्वाभावात्, अतएव कृषेश्चो-पकरणपूर्वत्वाऽभावात्, अनुपकरणस्य दरिद्रस्य सर्वमेव व्याहतम्। यद्येकं पूर्वं सिद्धं भवेत् तत् प्रमा, तथा सति सर्वं सिद्धचेत्, सर्वं प्रमा, यद्येकम् असिद्धम्, सर्वमप्यसिद्धम्, असिद्धौ भावेऽप्रमा, अभावे प्रमा, एकस्य सिद्धौ प्रमा चेत् अन्येषाम् असिद्धौ अप्रमा, एकस्या-ऽसिद्धौ प्रमा चेद् अन्येषां सिद्धौ अप्रमा, इति कार्यकारणव्याघातात् सर्वोऽपि व्याघात.। शून्ये प्रमाव्याघातः, पदार्थसत्तायाम् अप्रमाव्याघातोऽत्रेति।

यथा क्षणिकविज्ञानवादिनां ब्रह्माक्षराद् यज्ञकर्म, यज्ञकर्मणः पर्जन्यः, पर्जन्याद् अन्नानि, अन्नेभ्यो भूतानि, भूतेभ्यो ब्रह्माऽक्षरं चेत्, चक्रकम्। नित्यविज्ञानात्मकब्रह्म-वादिनां नेदं चक्रकम्, भूतादावेव विश्रामात्। एवं दुःखजन्यप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानविज्ञान-दुःखानां विनाशे सापेक्षे चक्रकम्। तत्र हि दुःखनाशे विज्ञाननाशोत्पत्तौ चक्रकम्, न त्वेवं, दुःखनाशेऽपि विज्ञानध्रौव्यात्, तस्मात् प्रमा।

अथोत्पत्तौ दुःखादीनां स्यात् चक्रकम्, दुःखाद् विज्ञानोत्पत्तौ सर्वं व्याहतं भवेत्, किन्तु दुःखाद् विरागो न तु ज्ञानम्, ज्ञानं तु शास्त्रात्, शास्त्रं सत्त्वप्रकर्षात्, सत्त्वप्रकर्षस्तु ब्रह्मोपासनातः, उपासना च आत्मतः, आत्मा नित्यो ब्रह्म नित्यमिति न व्याघातः, ब्रह्मणि विश्रामात्, ज्ञानान्तस्य शास्त्रे विरामात्, तथा च सर्वं स्वस्वरूपे प्रमेति, परस्वरूपे सापे-क्षत्वे कार्यकारणादिसापेक्षत्वे स्वस्य कारणभावे चक्रकं व्याघातश्च, नान्यथेति।

अप्रामाणिकापर्यवसितपदार्थकल्पनापरम्पराप्रसक्तिः—अनवस्था। सापेक्षत्वं

यत्र विश्रान्तिर्नास्ति तत्राऽविषयिण्यपि विकल्पवृत्तिरूपा प्रवाहप्रसक्तिः, सा यावद् विषयः प्रमाणं तावत् प्रामाणिकी। तदुत्तरम् अविषयाऽप्रामाणिकी। यथा 'घटो ज्ञातो गृह्यते', तत्र ग्रहे ज्ञाताऽपेक्षा, ज्ञातांऽशे ज्ञाने पुनः ज्ञाताऽपेक्षा, तत्र ज्ञातांऽशे ज्ञाने पुनर्ज्ञाताऽपेक्षेत्यनवस्था। 'जिज्ञासितं गृह्यते'—इत्यत्रापि जिज्ञासायां यो ज्ञानांशः सोऽपि जिज्ञासितो गृह्येत, पुनर्जिज्ञासायां ज्ञानांऽशो जिज्ञासया गृह्येत, पुनस्तथैवेत्यनवस्था। अवयवाऽवयविसंसर्गस्याऽपि संसर्गस्तस्यापि संसर्गः तस्यापि संसर्गश्चेत्येवमनवस्था। जातेर्जात्यन्तरे धर्मे पुनर्जात्यन्तरम्; तत्रापि तदाश्रितेषु च समष्टिषु पुनर्जात्यन्तरम् तद्युक्तसमष्टिषु पुनर्जात्यन्तरमित्यनवस्था। अवयवस्यावयवस्तस्याप्यवयवस्तस्याप्यवयवश्चेत्यनवस्था। तया कुत्रचित् क्वचिदपि विश्रामाभावेन वस्त्वभावेऽपि कल्पनायाः प्रवाहः। स च अप्रमा, तथा चाऽऽरम्भसत्यस्य वस्तुनोऽपि काल्पनिकत्वेन समानतापत्त्याऽपदार्थत्वापत्तिः, पदार्थतासिद्धयै त्वारम्भसत्यपदार्थस्य प्रान्ते क्वापि निक्षेपः कर्त्तव्यः; तथा सति त्वारम्भसत्यपदार्थस्य स्वस्थानहानिः; प्रान्तनिक्षेपेण प्रान्तस्थित्या स्वस्थानहान्योत्तरोत्तरहान्या स्वस्यापि हान्यापत्तिरिति सर्वमनवस्थायाम् अप्रमा स्यात्। ततो यत्र प्रमा तदारम्भपदं वस्तुसत्, अधिकरणात्मकं तद् व्यवहार्यम्, तथा च वस्तु सत् प्रमा, तदुत्तरम् अप्रमेति।

'जिज्ञासितं गृह्यते'—इत्यत्र गृह्यते चेष्यते च, न तु जिज्ञासितं गृह्यते, जिज्ञासायां ज्ञानांशः कार्यम्, गृह्यते—इत्यत्र ज्ञानांशः कार्यम्, तदुभयम् एकम्, ज्ञातुमिष्यते तज्-ज्ञायते—इच्छाविषयं स्वविषयकज्ञानार्थं ज्ञायते, इष्टं निर्विकल्पीयते सविकल्पीयते चेति तन्निर्वाहः। तथा च कारणं निर्विकल्पकं जिज्ञासाऽङ्गं पूर्वं कारणं ततो ज्ञायत इति ज्ञानांऽशः सविकल्पकं कार्यम्। तदर्थं पुनर्जिज्ञासा चेत् तज्ज्ञानान्तरं निर्विकल्पकम्, पूर्वजिज्ञासितस्य तु सविकल्पकधाराप्रवाहनिर्वाहकत्वात्, पुनर्जिज्ञासाऽङ्गज्ञानस्य तु विषयैक्येऽपि पुनः सविकल्पकधाराप्रवाहनिर्वाहकत्वं, न तु द्वयोरैक्यं येनाऽनवस्था स्यात्। ज्ञानानां त्रिक्षण मात्राऽवस्थायित्वात् तृतीये चतुर्थे वा ज्ञानान्तरस्यैव समानविषयकस्य जननात्। तथा चाऽनवस्था न, जिज्ञासायां जिज्ञासान्तराऽनङ्गीकारात्। क्वचिदङ्गीकारेऽपि द्विकक्षायामेव ज्ञानादेर्विश्रामात् सहजतो व्यवस्थानात् प्रमात्वमेव। आधिक्येऽप्रमात्वाद् असत्त्वाद्वा नाऽनवस्था। अपेक्षाबुद्धीनामपि तृतीयक्षणाऽवस्थितेर्विश्रान्तिपूर्वं प्रमात्वम्। ततो जायमानप्रत्यक्षादिकस्यापि प्रमात्वम्।

एवं घटकपालावयवादीनां संसर्गे एव विश्रामः। तस्यापि संसर्गस्त्वनुयोगिताप्रतियोगित्यात्मकोऽधिकरणाऽऽधेयात्मक एवेति तत्रैव विश्रामात् तत्रैव प्रमा, तत आधिक्येऽप्रमा, अतो नाऽनवस्था। जातेर्जात्यन्तरस्याऽनावश्यकत्वात् तदनंगीकारात्, जातेश्चापि स्वाश्रयात्मकत्वात् तत्र प्रमा, न त्वाधिक्ये, आधिक्येऽप्रमा। अवयवेऽवयवान्तरे यावद् वस्तुसत्यं तावदवयवान्तरम्, तत्र प्रमा, यत्र न वस्तु सत्, तत्राऽप्रमा, अदृश्ये परमाणौ तु भूतानां चिदाकाशे लयात् तस्य च परमात्मशरीरात्मकतेजो ब्रह्मणः शाश्वतिकत्वेन तत्र

विश्रान्तेनानवस्था, 'निष्कलं निष्क्रियं शाश्वतं ब्रह्म' इति श्रुतेः। अनवस्थायां प्रारब्ध-वस्तुनः सत्यार्थं प्रान्तस्य सत्यताप्तये प्रान्ते स्थापने प्रारब्धवस्तुनः स्थापने शून्यतया परम्परायाः शून्यतायां पर्यवसानात् प्रान्तस्यापि शून्यत्वम्—अवस्तुत्वम्। तथा च स्वहान्यापत्तिः स्यादिति ततः प्रथमं वस्तु सत् प्रमा, ततोऽवस्तु त्वसत्, तन्न प्रमा, व्यवहार्याऽधिकरणात्मकत्वमाधेयानां यथापेक्षमङ्गीकृतं भवतीति नाऽनवस्था। अनवस्थाया अधिकरणं विहाय निजस्थानपरित्यागे स्वव्याघातः। अपरित्यागे पाश्चात्त्यानां सत्त्वं साधनीयम्। सत्त्वे साधकस्यासत्त्वाद् अप्रमात्वं सर्वव्याघातः, सर्वान्तर्गतत्वेन प्रारब्धवस्तुनोऽपि व्याघातः। तथा च फलतः सर्वव्याघातः। अतोऽधिकरणात्मकत्वं सत्त्वं चारब्धवस्तुनः, तत्र प्रमा, तद्भिन्ने तत्राऽप्रमेति।

अथ प्रतिवन्दी—यदि प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं स्यात्, तर्हि ब्रह्मणोऽपि मिथ्यात्वं स्यात्; यदि ब्रह्म न मिथ्या, तर्हि संसारोऽपि न मिथ्या, ब्रह्मकार्यस्य ब्रह्मात्मकत्वात्। तत्र प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं प्रमा चेत्, ब्रह्म मिथ्यात्वं प्रमा, यदि ब्रह्मणो मिथ्यात्वम् अप्रमा, तर्हि संसारस्य मिथ्यात्वम् अप्रमेति ब्रह्मांशे प्रमात्वं संसारांऽशेऽप्रमात्वं व्याहन्यते। संसारेऽप्रमात्वं ब्रह्मांशे प्रमात्वं व्याहन्यते। ततो ब्रह्मभिन्नस्य कारणत्वं यन्मिथा साऽविद्या चेत्, स्वतन्त्रं कारणम्, ब्रह्मणि सर्वकारणताव्याहतिः। ब्रह्मान्वितं चेद्, भागे तस्मिन् सत्यत्वसिद्धिरसत्यत्वव्याघातः। सत्यत्वं चेन्नित्यसंसारापत्तिः, महाप्रलये व्याघातः। विशिष्टे कारणता चेत्, केवले न कार्यता, व्यभिचारात्। विशिष्टे कार्यता चेत्, कार्यतांशेऽप्रमात्वम्, कार्यत्वं व्याहन्येत। कार्यत्वं चाऽन्यादृशं चेत् प्रमा, तत् सार्वदिकस्य स्थौल्यरूपं तत् प्रमा। तथा च न व्याहतिः, सार्वदिककारणस्य स्थौल्ययोगिनो युगस्य सार्वदिककार्यस्य स्थौल्ययोगिनो युगस्येति न व्याघातः सर्वांऽशेऽत्र प्रमा, इत्येवं न प्रतिवन्दी, प्रतिवन्द्यां पूर्वं सत्, परम् असत् व्याहतं भवेत्। परं सत् चेत् पूर्वम् असद् व्याहतं भवेत्। द्वयोः साम्येन व्याघात इति प्रमैवेति।

अथ 'उभयतः पाशः'—'मिथ्यात्वं मिथ्या नवेति ?' यदि मिथ्या, तर्हि प्रपञ्चस्य सत्यत्वापातान्न ब्रह्मातिरिक्तमिथ्यात्वसिद्धिः। मिथ्यात्वं यदि न मिथ्या, तर्हि तस्यैव सत्यत्वेन न ब्रह्मातिरिक्तमिथ्यात्वसिद्धिरिति। अत्र प्रथमपक्षे धर्मे प्रामाण्यं सर्वस्य तद्विपरीतत्वे व्याघातः, व्याघातस्तर्हि प्रमा, विपरीतत्वम् अप्रमा। यदि द्वितीयपक्षे धर्मे प्रामाण्यम्, तर्हि सर्वस्यापि धर्मे प्रामाण्यम्, स्वस्वरूपे विपरीतेऽप्रामाण्यम्, इति वैपरीत्यव्याघातः प्रमेत्येवमुभयथाऽपि व्याघातस्य प्रमात्वम्। तत् तन्मतेऽनिष्टम्, प्रतिमते त्विष्टम्। इष्टमतेनाऽनिष्टेऽप्रमात्वम्, अनिष्टमतेन इष्टेऽप्रमात्वम् इत्येवम् इष्टाऽनिष्टयोरप्रमात्वम्। तथा च धर्मस्य धर्म्यात्मकत्वं धर्मिस्वभावत्वं, ततो नोभयतः पाशः, धर्मिणि विश्रान्तेः। धर्मिणि ब्रह्मणि शाश्वतत्वम्, संसारेऽशाश्वतत्वम्। शाश्वतत्वं समष्टेः सूक्ष्मावस्थाकत्वम्, अशाश्वतत्वं समष्टेः स्थूलावस्थाकत्वम्। अवस्थयोरेकस्मिन्नविरोधान्न विपरीततापत्तिः,

नवाऽनिष्टसिद्धिः। तथा चाऽवस्थायामेकस्याः प्रामाण्यम्।

अथ साधनाभासाः—तत्राऽनैकान्तिकः, व्याप्तिग्राहकसहचारशून्यः, मनः तत्त्वान्तरम् ऐन्द्रियकज्ञानव्यवस्थापकत्वात्। अत्रैकस्य तत्त्वान्तरस्यान्तो व्याप्तिर्नास्ति, ऐन्द्रियकज्ञानव्यवस्थापकत्वस्यैव ध्यानवृत्तौ सत्त्वात्। ध्याने ज्ञानातिरिक्ततत्त्वान्तरत्वाऽभावाद् व्याप्तिग्राहकसहचारो नास्ति। यत्र तादृशव्यवस्थापकत्वं तत्र तत्त्वान्तरत्वमित्यप्रसिद्धेः, व्यतिरेकेऽपि ध्यानवृत्तावसहचारात्। एवमुभयसहचारशून्यत्वम्, मतान्तरेऽन्यत्र प्रसिद्धयोर्द्वयोर्धर्मयोरत्राऽधिकरणांऽशेऽप्यैक्यमेकनिरूपितवृत्तित्वं नास्तीति यत्र वृत्तित्वं तदंशः प्रमा, यत्राऽवृत्तित्वं तदंशोऽप्रमा, सहचारे तु द्वयोर्वृत्तित्वे प्रमा, द्वयोरवृत्तित्वेऽप्रमा। तथा च दोषः स्वात्मनि सहचारशून्यत्वेऽभावे धर्मे प्रमा, सहचारभञ्जने प्रमा। अतः स्वनिश्चयः प्रमा, घात्यः सहचारेऽप्रमा, घातको दोषः प्रमेति।

साधारणे दोषे साध्यवदन्यस्मिन् वृत्तित्वं प्रमा, अवृत्तित्वम् अप्रमा, असाधारणे दोषे सपक्षविपक्षयोर्व्यावृत्तित्वं प्रमा, वृत्तित्वं अप्रमा, अनुपसंहारिणि दोषेऽत्यन्ताभावाऽप्रतियोगिसाध्यकत्वादि प्रमा, सर्वत्र योगित्वं प्रमा, सर्वत्राऽयोगित्वम् अभावप्रतियोगित्वम् अप्रमा। तथा चाऽभावाऽप्रतियोगित्वं प्रतियोगित्वमेव, योगित्वं च सर्वत्र दोषांऽशे प्रमा, घातकः प्रमा, घात्यम् अभावप्रतियोगित्वम्, तन्न प्रमेति।

अथ विरुद्धः साध्याभावव्याप्तः, वह्निमान् ह्रदत्वात्, यं सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्तते, तमेव व्याहन्तीत्यत्र वह्न्यभावव्याप्तह्रदत्वं दोषः स्वयं प्रमा, अभाववत्तासम्बन्धः साध्यव्यापकोऽपि हेवंतौ स वृत्त्यनियामकसंसर्गोंऽशो वृत्तित्वांऽशेऽप्रमा। अतो हेतौ साध्यवत्त्वांऽशेऽप्रमा। तथा च साध्यवत्त्वांऽशो घात्यः। साध्याभाववत्त्वांशो हेतौ घातकः, स च प्रमेति।

अथ सत्प्रतिपक्षः। प्रकरणसमोऽयम्। द्वयोः प्रकरणयोश्चिन्ता येन येन जायते स स साधकतयोपन्यस्यते। द्वयोः साधनयोस्तुल्यबलात् परस्परकार्यप्रतिबन्धकतया पर्यवसानम्। 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्', 'शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्', अत्रोभयपक्षविशेषाऽनुपलब्धिः, विशेषः प्रकरणम्। यदि नित्यधर्मो गृह्यते, प्रतिप्रकरणं निवर्तते। यदि चाऽनित्यधर्मो गृह्यते, तर्ह्यपि प्रतिप्रकरणं निवर्तते। निवर्त्यम् अप्रमा, (निवर्तकम् प्रमा। अत्र द्वयं निवर्त्यम् अप्रमा, द्वयं च निवर्तकम् प्रमा,) परस्परं प्रमाऽपि तु व्याघातकृत्। व्याघातात् फलव्याघातः, फलम् अप्रमा। एकस्य नैर्बल्ये तु तदितरस्य प्रमात्वम्। उभयोर्बलवत्त्वे तु भिन्नविषयकत्वम्, अनित्यत्वं स्थौल्यम्, नित्यत्वं सौक्ष्म्यम्। तत्र श्रावणत्वं व्यभिचरति, ततो निर्बलत्वम्, प्रतिसाधनस्य बलवत्ता, ततः फलवत्ता चेति। ततः साधने साध्ये च प्रमा, निर्बले तु साधने साध्ये चाऽप्रमेति। बलवद्धेतोरपि निर्बलीयपरामर्शकाले तु स्वकार्याऽक्षमत्वात् तावदप्रमात्वम् विरोधिपरामर्शव्याप्तिभङ्गे तु परामर्शभङ्गेऽप्रमात्वाक्रान्ते बलवद्धेतोः स्वकार्यक्षमत्वात् प्रमात्वमिति।

अथाऽसिद्धिः—व्याप्तत्वे सति पक्षधर्मतया प्रमितिर्हेतोः सिद्धिः। यथा 'तेज-

श्छाया, माया, विचित्रार्थकरत्वात्' इत्यत्र । तादृशसिद्ध्यभावोऽसिद्धिः, व्याप्तेः पक्षस्य पक्षधर्मस्य साध्यप्रमितेर्वाऽभावोऽसिद्धिः, यथा 'गगनकुसुम दाहकाऽङ्गारो मृदुकरकात्वात्' । अत्र कुसुमे गगनीयत्वाभावस्य प्रमात्वात् कुसुमे गगनीयत्वम् अप्रमेति पक्षे पक्षतावच्छेदकाभावो घातकोऽसिद्धिः । स्वधर्मवत्तया सिद्ध्याभावः । कृष्णाऽङ्गारे दाहाभावो घातकोऽसिद्धिः, स्वधर्मवत्तया सिद्ध्यभावः, कृष्णाऽङ्गारे दाहकत्वाभावस्य प्रमात्वात् । अङ्गारे दाहकत्वम् अप्रमेति साध्ये साध्यतावच्छेदकाभावो घातकः । साध्यतावच्छेदकवत्त्वं घात्यम् । ततः साध्यवत्त्वमपि घात्यम्, तद् अप्रमा । पक्षे साध्याऽभावोऽप्यत्र प्रमा । तेन साध्यवत्त्वम् अप्रमा । हेतौ हेतुनावच्छेदकत्वाभावान्मृदुत्वाभाववत्त्वं प्रमा, मृदुत्ववत्त्वं करकास्वप्रमा । करकासु मृदुत्ववत्त्वं घात्यम् अप्रमा, मृदुत्वाभावो घातकः प्रमा ।

अथ पक्षे हेत्वभावोऽपि प्रमा, हेतुमत्त्वमत्राऽप्रमा । तेन पक्षधर्मत्वम् अप्रमा, साध्यव्याप्तत्वमप्यप्रमा, सामानाधिकरण्याभावस्तु प्रमा । सपक्षसत्त्वम् अप्रमा, विपक्षाऽसत्त्वमप्यप्रमा । अप्रसिद्धिस्त्ववच्छेदकतायामवान्तरमप्रमा । अत्र सर्वत्राऽसिद्धिर्घातिका, सिद्धिर्घात्येति फलम् अप्रमा । 'तेजश्छाया, माया, विचित्रार्थकरत्वात्' अत्र व्याप्तत्वे सति पक्षधर्मतय प्रमितेर्हेतोः सिद्धिरस्तीति व्याप्तेः पक्षस्य पक्षधर्मस्य साध्यप्रमितेः सत्त्वात् सर्वांशेषु सिद्ध्यः प्रमा :

बाधः—पक्षे साध्याभावः, 'वह्निः, अनुष्णः, कृतकत्वात्' इत्यत्र साध्याभावप्रमा । साध्याभावनिर्णये साध्यं बाधितम् । साध्यम् अप्रमा, परामर्शांऽशे व्याप्तिरप्रमा, अनुमितिरप्यप्रमेति । अनन्यथाप्रत्यक्षसिद्धौष्ण्यस्य वह्नौ प्रमया घातिकयाऽनुष्णत्वाऽनुमितिरत्र घात्यते ।

अथ वह्निः स्वकारणवायुदशायामनुष्णः कथमप्रमेति चेत्, पक्षतावच्छेदकविशिष्टे साध्यस्य प्रमाऽपि हेतोर्ध्वंसेऽनैकान्त्यात्, सामानाधिकरण्येऽप्रमात्वम् । तथा च प्रत्यक्षं प्रमाऽप्यनुमात्वप्रमा, परामर्शाऽप्रमया तत्कार्यस्याऽप्यप्रमात्वात् । यदि तु 'वह्निरनुष्णः, प्रतियोगितया ध्वंसविशिष्टत्वाद्' इत्युच्यते, तर्हि ध्वंसस्याऽनुष्णत्वं प्रमाऽपि वह्नेः सत्त्वमेवाऽप्रमेति तत्र वृत्त्यनियामकसंसर्गस्य प्रतियोगिताया अप्यप्रमात्वम्, अन्यत्रापि अन्य-अन्यध्वंसस्य सत्त्वात् स्वरूपाऽसिद्धेरुपस्थितेस्तया फलस्याऽप्रमात्वादिति । यदा यत्र साधनवैशिष्ट्यं स त्वन्यः, यश्च पक्षः स न साध्यवान्, यश्च साध्यवान् स न हेतुमान् इति तत्तदंशेऽप्रमावर्तत एवेति ।

छलम्—युक्ताभिप्रेताऽन्यर्थकल्पनयाऽभिप्रेतार्थविघातः, नवकम्बलोऽयमित्यत्राऽभिप्रेतनवीनकम्बलवत्त्वस्य व्याघातकं नवसंख्याककम्बलवत्त्वादिति कल्पनं विघातकम् । अनेकार्थसंभृते शब्दे ज्ञाने मौने चेष्टायां वा द्वयोरपि प्रमात्वात् परेण घातकेन पूर्वंघात्यते, घात्यमत्र निर्बलम् । बलानि च यदायोगम् आसत्तिर्योग्यतातात्पर्यज्ञानं शक्तिर्लक्षणा प्रकरणं व्याकरणमुपमानं कोशआप्तकत्वं व्यवहारः प्रसिद्धार्थसान्निध्यं शेषार्थता तत्सिद्धि

सान्निध्यं शेषार्थता तत्सिद्धिर्जातिः सारूप्यं प्रशंसा लिङ्गं भूमतोपक्रम उपसंहारोऽभ्यासोऽपूर्वता फलमर्थवाद उपपत्तिः प्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुताऽवसरो निर्वाहकैक्यं कार्यैक्यम् अलङ्कारादयः प्राच्यादित्वं चेति वोध्यानि। तत्तद्बलेधितं प्रमा, निर्वलं तदानीम् अप्रमा, आसत्त्याद्याभासाद् अप्रमा, यत्र क्वापि मुख्योऽर्थ एक एव, यस्य मुख्यत्वं तदन्यानाममुख्यत्वम्, अमुख्यस्तदानीमनुपयोगादप्रमाऽत एव घात्यः। घात्योऽपि परेण घातकतया योजितः, अघात्ये घात्यत्वम् अघातके घातकत्वं चेति विपरीतप्रसक्तिः। तथा च यावन्नैर्वल्यं यत्र तावत्तत्राऽप्रमात्वम्, यावद्बलवत्त्वं यत्र तावत्तत्र प्रमात्वमिति।

वस्तुतस्तु कल्पनाया अप्रामाण्याद् अन्ततः कल्पना त्वप्रमा, अकल्पना प्रमा, परिष्कारादावपि कल्पनाया विश्रान्तौ प्रमात्वम्, कल्पनाया अविश्रामेऽप्रमात्वम्, परया पूर्वस्या बाधात् ब्राह्मणोऽयं विद्याऽऽचरणसम्पन्न इति ज्ञाने व्रात्योऽपि ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्नः, सामान्येन विशेषस्याऽऽक्षेपः। अत्र ब्राह्मणो विद्यादिभिः प्रशस्त इति प्रमा, अविद्यो व्रात्योऽपि विद्यादिभिः प्रशस्त इति व्रात्ये प्राशस्त्यम्। अप्रमाऽपि ब्राह्मणप्राशस्त्यं तत्राऽऽरोहति, व्रात्यप्राशस्त्यं नाऽऽरोहति, तदभावात् ततोऽप्रमा, अज्ञानं स्वाऽज्ञाने प्रमात्वं भजते, अज्ञानं विषयभेदतया ज्ञातं न प्रमात्वं भजते, यावत् प्रमात्वं भजते तावद् घातकम्, तेन पूर्वं प्रमात्वम्, यावन्निर्वलं तावद् घात्यते, यदा सबलं तद् घातकम्, तदा तेन अपूर्वं घात्यते, इत्यादृतप्रमात्वं बलवति, द्वयं वाऽनेकं वा ज्ञातव्यं यदि, तत्र सर्वत्र प्रमा, छलं नास्ति, न घात्यघातकत्वम्।

मौनिश्लोकादौ वाचने—'शरणापितः करो मे' इत्यत्र शरणम् आपितः कर इति मौनिस्थितौ शरेण तीक्ष्णशस्त्रेण युक्तो नापितो मम करः कं सुखं राति लाति नयति इति सुखहरः इति मौनिच्छलम्। छलं यावज्जीवति तावत् तद् घातकम्, घात्यं पूर्वं मौनम्। यदि परं मौनं मुख्यम्, तत् पूर्वमौने बलिष्ठे घात्यम्, बलिष्ठं घातकमिति, यावद् घात्यं तावद् अप्रमा, यावद् घातकं तावत् प्रमा, अन्ततोऽपि घातकं प्रमा, मुख्य मौनं बलं लभते, नाऽमुख्यम्, अस्थितिकत्वात्।

चेष्टायां गुप्ताऽप्क्लिन्नमार्गे धावमानो निषिद्धो लम्बकरेणेति लम्बकरं चौरमिव चेष्टयित्वा जघान, हननचेष्टा घातिका, लम्बकरचेष्टा घात्या। सुगन्धसाराञ्जलिर्देहार्थमर्पिता मुखे निहिताऽऽचमनवदिति मुखार्पणं घातकम्, देहार्पणं घात्यं, न हि सुगन्धसारः पानार्थः।

अथ 'रक्तघट' इत्यत्र गुणादिश्छलम्। असृग्वाऽसृग्भृतः कथं घट इति, जडस्य वा कथं रक्तत्वं राग इति कथङ्कारोऽत्राऽन्ततो घात्यते, गुणस्य पूर्वं घातोऽप्रमा, गुणो घातकः पश्चात् प्रमेति। यथार्थपेक्षितव्यवहारविश्रान्तेः प्रमात्वमिति।

अथ जातयः—घातय इत्यर्थः। व्याप्तेः पक्षधर्मताया वा घातकत्वात्, समधर्मानादाय दूषकत्वात् साजात्यस्य वैजात्यस्य सर्वत्राऽनुपयोगाज्जात्यभिधानमकिञ्चित्करम्।

व्याघातपर्यवसितं हि सर्वं दूषणम् । उपलम्भपर्यवसितं च सर्वं साधनम् । व्याघातानन्तरम् दूषणप्रवृत्तिर्नास्ति । या परप्रतिक्षेपार्था युक्तिः प्रसज्यते, तस्याः प्रयोजककारेण तत्सजातीय-स्वविषयकयुक्तयन्तरक्रोडीकारः स्वव्याघातः, तया युक्त्या परपक्षस्य न दोषप्रसङ्गः, तया तु स्वयमेव दुष्यतीति । घातीनाम् अवसरः प्रमादः प्रतिभाहानिर्वा, सभ्यानुमतिपूर्वकपर-परीचिक्षिपाऽपि, फलं च परव्यामोहनं पाक्षिकविजयः साम्यं वा, तत्त्वाऽज्ञानं तूत्थान-बीजम् तत्तदवान्तरस्वभावाऽज्ञानं तद्विपरीतज्ञानं वाऽसाधारणम् उत्थानकारणम् । वादिनः कस्मिंश्चिद् दूषणविशेषे निपातनम्, उभयोर्वा घातिप्रयोगे समं फलम् । असदुत्तरत्वं स्व-व्याघातकत्वम्, साधर्म्येण वैधर्म्येण वा प्रत्यनीकभावत्वम्, प्रमाणसरणिलंघनोत्तरत्वं वा घातित्वम् । उत्तरपदं प्रश्नस्थापनाप्रयोगान् पूर्वमाक्षिपति । अत्र सर्वत्र युक्ताऽङ्गत्यागः, अयुक्ताऽङ्गपरिग्रहश्च । ग्राह्यविषयत्यागः, अग्राह्यविषयपरिग्रहश्च ।

घातयश्चतुर्विंशतिः—'साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षाऽपकर्ष-वर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्य-प्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्ताऽनुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थाऽऽपत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धि-नित्याऽनित्यकार्यसमाश्च घातयः' । समः प्रत्येकमन्वेति, समत्वं घातकतुल्यत्वम्, साधर्म्येण घातकतुल्यत्वं साधर्म्यसमत्वम्, एवमग्रेऽपि ।

'स्थावरशरीरं, भोक्त्रधिष्ठितम्, जीवनिद्राप्रबोधादियोगित्वात्, मनुष्यादिशरीर-वत्' इति । यत्र मनुष्यादिशरीरे जीवनिद्राप्रबोधादियोगित्वं तत्र भोक्त्रधिष्ठितत्वम्, यत्र घटे न भोक्त्रधिष्ठितत्वं तत्र न जीवनिद्रादियोगित्वमिति साध्योपसंहारे कृते, घाति-प्रयोगो यथा—'यदि मानुषादिशरीरसाधर्म्याद् भोक्त्रधिष्ठितत्वमुच्येत घटादौ व्यतिरे-काच्च भोक्त्रधिष्ठितत्वमुच्येत, तर्हि घटादिसाधर्म्यात् पाणिपादरहितत्वात् तस्य निरात्म-कत्वं कथं न स्यात्, मानुषवैधर्म्याद् वा गतिमत्त्वाऽभावाद् वाचादिशून्यत्वात् पाषाणवन्नि-रात्मकत्वं कथं न स्यात् । अत्र साधर्म्येण घातकधर्मान्तिरेण भोक्त्रधिष्ठितत्वं घातितम्, घात्यं यावन्निर्बलं तावद् अप्रमा, घातकं सबलं तत्प्रमा । यदि घातकं निर्बलं तद् अप्रमा, घात्यं च बलवत् तदा प्रमा । निर्बलत्वं च व्याप्तौ व्यभिचारेण, पाणिपादरहितत्वम् अजातपक्षादि-शावकेषु व्यभिचरितम्, स्वरूपाऽसिद्धेश्च । वृक्षादीनां मूलात्मकपादवत्त्वं शाखात्मककरवत्त्वं वल्लीनामपि तन्तुनखात्मककरवत्त्वं वर्तत इति तेन निर्बलः साधर्म्यसमो घातकोऽपि घात्य एवेति । घटेऽपि तर्हि वैधर्म्याज्जडताशून्यत्वात् पाणिपादादिमत्त्वाद् गतिमत्त्वाच्च भोक्त्रधिष्ठितत्वमेव स्यात्, वैधर्म्यस्यास्य सपक्षे जङ्गमशरीरे व्याप्तिमत्त्वाद् विपक्षे पाषाणादावसत्त्वाच्च घटादेर्विपक्षाऽन्तर्गतत्वात् तत्साधर्म्यं निर्बलं वैधर्म्यं तु सब-लम् । सबलेन निर्बलं घात्यत इति यावद्बलाऽज्ञानं तावत् साध्यसिद्धेरनुत्पाद इति क्षणि-कव्याघातता । बलवत्ताज्ञाने साधनध्रौव्ये सिद्धिरेवेति । मनुष्यपुत्तले घटादिवैधर्म्येऽपि पाणिपादादिमति व्यभिचारेऽपि समानोत्तरेण घात्यात्मकेन घात्यता निवार्यत इति ।

अत्रैव प्रयोगे यदि प्रतिप्रयोगस्तदा वैधर्म्यसमा···'पर्वतादिशरीरम्, चेतनानधि-

ष्ठितम्, निद्राप्रबोधरहितत्वात्', श्रुत्युक्तपृथिव्यादिशरीरवत्, अण्डवद् वा, यत्र पृथिव्याम् अण्डे च हेतुरस्ति, तत्र साध्यमस्तीति साधर्म्येण। यत्र च मानवदेहे साध्यं नास्ति, तत्र हेतुर्नास्तीति साध्योपसंहारे कृते, घातिप्रयोगो यथा—'यदि मानवदेहवैधर्म्याद् निद्राप्रबोधरहितत्वात् पर्वतेऽचेतनत्वम्, तर्हि तथैव मानवदेहवैधर्म्याद् अजङ्गमत्वादिना शाश्वतिकस्थित्यादिना पक्षशून्यत्वादिना वा शाश्वतव्यापकचेतनाधिष्ठितत्वं कथं न स्यात्। अण्डस्य साधर्म्येण निद्राप्रबोधरहितत्वेन चेतनाऽनधिष्ठितत्वं यदि स्यात्, तर्हि पृथिव्या अण्डस्य च साधर्म्येण पर्वते स्थावरत्वेन धातुमत्त्वेन गर्भवत्त्वेन शृङ्गादिमत्त्वेन चेतनाधिष्ठितत्वं कथं न स्यात्। अत्र वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानाद् वैधर्म्यसमा, यावद् वैधर्म्यसमा वलवती, घातिका, तावत् साध्यसिद्धिर्घात्या न स्थितिपदं लभते। यदा तु नित्यमुक्तानां निद्राप्रबोधरहितत्वेऽप्यचेतनत्वं व्यभिचरतीति दोषवशान्निर्वलत्वम्, तदा घातकमेव घात्यम्, घात्या च साध्यसिद्धिर्घातिका वलवती सा जीवति। ततः पार्वतीपिता हिमाचलश्चेतनाऽधिष्ठितस्तथा सर्वेऽपि कुलपर्वतास्ततश्च परमात्मचेतनाधिष्ठितत्वम् अव्याहतमेवेति पर्वतादिवृक्षादिस्थावरशरीरं भोक्तृचेतनाऽधिष्ठितमेवेति पूर्वप्रयोगे पुष्टिरेव वैधर्म्यसमया स्थानप्रस्थानान्तरेण कृतेति पुष्टि विषयं वलवत् प्रमा, प्रमानामात्मकमपि वलवत् प्रमा, तदन्यदप्रमेति।

वादिनः प्रथमः प्रयोगः, प्रतिवादिनो द्वितीयः प्रयोगः। प्रथमे वादी पराजितः, प्रतिवादी जितः सन् प्रयोगान्तरं प्रतिप्रयोगात्मकं प्रहिणोति। तत्र वैधर्म्यसमया वादिनः पूर्वप्रयोगे विजय इति साधर्म्यवैधर्म्यसमयोः फलैक्येऽनन्ततः पुष्टिरित्येतज्ज्ञापनार्थमेव साधर्म्यवैधर्म्यसमेतियुगलोक्तिरितिसूक्ष्ममीक्षणीयम्। अनयोरुत्तरम्—व्याप्तिविषययोरेव साधर्म्यवैधर्म्ययोः साधकत्वम्, [न तु व्याप्त्यविषययोः साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामभिमतयोः], तयोः साधनाभासत्वान्नैर्बल्यम् अप्रमात्वमेवेति व्यवस्था।

उत्कर्षसमा—अविद्यमानधर्मारोपः उत्कर्षः, हेतुसाध्ययोरन्यतरवलात् अविद्यमानधर्मस्य पक्षे दृष्टान्ते वा प्रसञ्जनम् उत्कर्षसमा घातिः। यथा—'संसार्यात्मा, निरवयवः, नित्यत्वात्, परमात्मवत्, व्यतिरेके वा घटवत्'। अत्र नित्यत्वात् परमात्मवद् यदि निरवयवः संसार्यात्मा तर्हि परमात्मवत् शाश्वतसृष्टिकारणमपि किं न स्यात्, एवं निरवयवः संसारी साध्यते चेत् निरवयवत्ववलाद् अत्यन्ताभावः स कथं न स्यात्। घटव्यतिरेकितया वा सर्वज्ञो व्यापकश्च किं न स्यात्। घटस्य भावतया तद्विपरीतः परमात्माऽप्यभावः कथं न स्यादित्यनिष्टधर्माणाम् आपादनम्, तेनाऽनिष्टाभावश्चेत् साध्यमपि नेति साध्यव्याघातः। यावत्कालम् अनिष्टधर्माणां दोषज्ञानाऽभावस्तावद् घातकत्वम्, यदा तु दोषज्ञानं तदाऽघातकत्वम्, व्यभिचारिधर्माणां व्यभिचारांऽशे प्रमात्वेऽपि व्याप्तिदृष्ट्याऽप्रमात्वं घात्यत्वमेवेति। ततो न साध्यघातकतेति।

अपकर्षसमा—विद्यमानधर्माऽपहृतिः अपकर्षः, व्यापकाभासनिवृत्त्या कुतश्चित्

कस्यचिद् व्यापाभासास्याऽपकर्षणम्, 'क्षित्यंकुरादिकं, सकर्तृकं, कार्यत्वात्, घटवत्' इत्यत्र घटसाधर्म्येण मनुष्यकर्तृकत्वेन बाधितेन मनुष्याऽशक्यक्रियावत्त्वेन वा सकर्तृकत्वं कथं न बाध्येत, कार्यत्वसहकृतसकर्तृकत्वेन सकर्तृकत्वं साध्यते तदा घटगतकार्यत्वसकर्तृकत्वसहकृताऽप्रयत्नवत्तया प्रयत्नव्यावृत्त्या सकर्तृकत्वमपि व्यावर्तेतेति घटगताऽपकर्षेण धर्मेण साध्याऽपकर्षाऽऽपादनेन सर्वथाऽसंभवः, इत्येवं घातकेनाऽपकर्षधर्मेण घात्यं सकर्तृकत्वं यावद् घातके दोषज्ञानं न तावद् घात्यं, सति तु अप्रयत्नवत्त्वे विरोधज्ञाने मनुष्यकर्तृकत्वे च प्रत्यक्षविरोधज्ञाने घातकस्याऽप्यपकर्षसमस्य घात्यतयाऽप्रामात्वेन ततः साध्यस्य उपादानगोचराऽपरोक्षज्ञानचिकीर्षादिमत्त्वस्य व्याप्त्यादिना प्रमारूपेण साध्यसिद्धिः प्रमेति। अथ प्रतिवादिना 'रामकृष्णादिशरीरम्, शरीरिणः कर्मफल भोगायतनम्, शरीरत्वात्, क्षेत्रज्ञशरीरवत्' इति प्रयुक्ते, अत्र क्षेत्रज्ञशरीरसाधर्म्येण कर्मफल भोक्तृत्वेन कर्मफलाऽभोक्तृतया रामकृष्णादेः शरीरित्यमेव कथं न बाध्येत, शरीरत्वसहकृतभोगायतनत्वं साध्यते तदा क्षेत्रज्ञशरीरगतशरीरत्वभोगायतनत्व-सहकृतपुण्यपापवत्तया अपुण्यादिव्यावृत्त्या भोगायतनशरीरित्वमपि व्यावर्तेतेति क्षेत्रज्ञशरीरगताऽपकर्षेण धर्मेण साध्यापकर्षणापादनेन सर्वथाऽसंभवः, ईश्वरो हि अशरीरः, यच्छरीरं तच्छरीरिणः कर्मफलभोगायतनम्, यथा क्षेत्रज्ञशरीरम्, रामकृष्णादिशरीरं चेत् परमेशशरीरं स्यात् तस्य कर्मफलभोगप्रसङ्गः स्यात्, नैवमस्ति, अतो न परमेशशरीरम्। अत्र वादी 'यस्याऽऽत्मा शरीरं यस्य पृथिवी शरीरम्, इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' विविधागमैर्भोगायतनत्वव्याप्यता शरीरत्वे भग्ना, परमेशे शरीरवत्त्वेऽपि भोगायतनत्वाऽभावत्, तथा च प्रतिप्रयोगः—'रामकृष्णादिशरीरम्, न भोगायतनम्, परमेशशरीरत्वात् यत्र साध्यं नास्ति तत्र हेतुर्नास्ति यथा देवदत्तशरीरम्, अत्र प्रयोगे सर्वथाऽऽगमबलेन व्याप्तिप्रामाण्यात् प्रामाण्यम्। इति प्रतिवादिनः प्रयोगोऽप्रमा। वादिप्रयोगः फलतः प्रमेति।

वर्ण्यसमा — वर्ण्यस्य साध्यस्य धर्माणां दृष्टान्ते कृत्वा सपक्षाऽसिद्धया हेतोरसाधारणतापादनम्, दृष्टान्तस्यापि तावद्रूपहेतुमत्तया वर्ण्यत्वेन प्रत्यवस्थानमिति यावत्। यथा —'ब्रह्म सविशेषं पदार्थत्वात्, यः पदार्थः स सविशेषो यथा घटः'—इत्युक्ते घातिवाद्याह पक्षवृत्तिर्हेतुर्गमकः, पक्षश्च सन्दिग्धसाध्यकः, तथा च सन्दिग्धसाध्यकवृत्तिर्हेतुर्दृष्टान्ते स्वीकार्यः, अतो दृष्टान्तस्यापि सन्दिग्धसाध्यकत्वाद् हेतुरनैकान्तो घात्य एव, सन्दिग्धसाध्यकवृत्तिर्हेतुर्यदि न दृष्टान्ते तदा साधनविकले दृष्टान्ते स्वरूपाऽसिद्धो हेतुर्घात्यः, यो घात्यः सोंऽशोऽप्रमा, अत्र पक्षतावच्छेदकहेत्वोरैक्ये उपनयवाक्यबोधानुपपत्तेः, पक्षतावच्छेदकाद् भिन्न एव हेतुर्दृष्टान्ते योजनीयस्तथा च नैकान्तिकता नाऽपि स्वरूपाऽसिद्धिर्दृष्टान्ते इति घात्युत्तरमेवाऽप्रमा, यद्वा सपक्षे साध्यनिश्चयेन तत्र सन्देहानुत्थानात् सन्दिग्धसाध्यवत्त्वविशिष्टहेतोः सपक्षे त्वापादनाऽसंभवादेव घात्यनुत्थानात् घातकमेव घात्यमिति तदप्रमा। 'योग्यात्मा, निर्बन्धनः, अहंममत्वरहितत्वात्,

रामकृष्णाद्यात्मवत्' अत्रापि घात्याह—सन्दिग्धसाध्यवद्धेतोर्दृष्टान्ते पक्षत्वाऽविशेषे हेतोरनैकान्तः स्वरूपाऽसिद्धिश्चेति घात्यम्। अत्र प्रतिवाद्याह—'तथा चाऽयम्' इतिवाक्यजन्यबोधार्थं शुद्ध एव हेतुर्दृष्टान्तेऽङ्गीकार्यः, तत्र साध्यनिश्चयेन सपक्षाद् व्याप्तिरत्र घातिका घात्यर्थं घातयत्येवेति। देहाऽहंममत्वरहितत्वस्य बन्धाऽप्रयोजकत्वात्, आत्मनः स्वीयस्याऽहंममत्वस्य परमेशस्याऽपि सत्त्वेऽपि निर्बन्धान्न दृष्टान्ते हेत्वसिद्धिः, 'एकोऽहं बहुस्या'-म्' इतिश्रुतिबलात् प्रमात्वम्।

अवर्ण्यसमा—दृष्टान्ते हेतुर्निश्चितसाध्येन सह निश्चित एव गमकः, पक्षेऽपि निश्चितसाध्यकहेतुरेव स्वीकार्यः, गमकहेत्वनभ्युपगमे स्वरूपाऽसिद्धिः स्यात्। तथा च सन्दिग्धसाध्यकत्वलक्षणपक्षत्वाभावादाश्रयाऽसिद्धिर्दूषणम्, आश्रयाऽसिद्धिर्घातिका, अनुमितिर्घात्या, अथ प्रतिघात्याह—किञ्चित्साधर्म्याद् व्याप्यतावच्छेदकावच्छिन्नाद्धेतोः साध्यसिद्धिः, व्याप्यतावच्छेदकावच्छिन्नहेतुमत्त्वं दृष्टान्तताप्रयोजकम्, न तु पक्षे यावद्विशेषणावच्छिन्नो हेतुस्तावदवच्छिन्नहेतुमत्त्वम्, अन्यथा घातकेनापि दूषणे यो दृष्टान्तीकर्तव्यः सोऽपि न स्यात्, तद्यथा पदार्थत्वहेतुः, अनैकान्तिकः, सपक्षवृत्तित्वाऽनिश्चयात्, स्वरूपसद्ब्रह्मवत्, स्वरूपसतिब्रह्मत्वेऽत्रसपक्षवृत्तित्वनिश्चयाऽभावरूपो हेतुः, यावद्विशेषणाऽन्तर्गत सन्दिग्धसाध्यकवृत्तित्वविशिष्टहेतुर्दृष्टान्ते न तिष्ठतीति असाधारणः, अतो न दूषकः स्यात्, तस्माद् व्याप्यतावच्छेदकावच्छिन्नहेतुमत्त्वमेव दृष्टान्तताप्रयोजकम्, तथा च मम नाऽनैकान्तादिदोषवत्त्वम्, व्याप्त्यादिबलवत्तया च घातकम्, तवैव घात्यमिति तवैवाऽप्रमा।

साधनविकलत्वादिकमारोप्यं फलं भ्रान्तिरूपम्, भ्रान्तिनाशे तु घातकमेव घात्यमिति। 'ब्रह्म, शरीरित्वात्यन्ताभावरहितम्, आत्मत्वात्, अनीश्वरात्मवत्', इत्यत्र दृष्टान्ते इव पक्षेऽपि हेतुः सिद्धार्थत्वविशिष्टश्चेत् स्वरूपाऽसिद्धः, सकलसपक्षवैकल्याच्चाऽनैकान्तता। अत्र व्याघातस्तु 'यदि सिद्धार्थत्वविशिष्टत्वेन साधनं दुष्टमिष्येत तदा घातिसाधनमपि दुष्टं स्यात्, तव दुष्टहेतोर्न दूषकत्वमिति निर्दोषं मम स्थापनम्'।

विकल्पसमा—पक्षे दृष्टान्ते च यो धर्मस्तस्य क्वचिद् व्यभिचारदर्शनेन धर्मत्वाऽविशेषात् प्रकृतहेतोः प्रकृतसाध्यं प्रति व्यभिचारित्वाऽऽपादनं, यथा 'पुण्यम् अनित्यं कृतकत्वात्' इत्यत्र कृतकत्वस्य ध्वंसे भावत्वव्यभिचारदर्शनाद् भावत्वस्याऽनित्यत्वव्यभिचारदर्शनाद् धर्मत्वाऽविशेषात् कृतकत्वमप्यनित्यत्वं व्यभिचरेत्, व्यभिचारोद्भावनं यावत् तावद् घातकं बलम्, अथाऽनित्यत्वव्याप्यात् कृतकत्वात् पुण्येऽनित्यत्वमुपसंहराम्ये न तु भावत्वसहकृतेन, अन्यथा कृतकत्वम् अनित्यत्वव्यभिचारि, भावत्वव्यभिचारित्वादित्यत्राऽपि भावपदार्थत्वमादाय साध्यव्यभिचारेण हेतोरसाधकता तवाऽपि स्यात्। यस्याऽसाधकता तत्राऽप्रमा, यत्र साधकता तत्र प्रमा, पुण्यस्याऽनित्यत्वं प्रमैवेति। नहि अन्येन सह व्यभिचारात् प्रकृतहेतोः प्रकृतसाध्याऽसाधकम्, अनुमानोच्छेदप्रसङ्गात्।

अथ साध्यसमा—पक्षदृष्टान्तादेः प्रकृतसाध्यतुल्यतापादनम्, पर्वतो बह्निमान् धूमादत्र पक्षादेः पूर्वं सिद्धत्वे एतत्प्रयोगसाध्यत्वाऽभावान्नानुमितिविषयत्वम्, पूर्वमसिद्धत्वे पक्षादेरज्ञानादाश्रयासिद्ध्यादयः। परिहारस्तु साध्यवत्त्वेनाऽसिद्धत्वात् एतत्प्रयोगसाध्यत्वादेव न साध्यसमाघात्यवकाशः, व्याप्यहेतुता सिद्धे पक्षे साध्यस्य सिद्धेः, न तु पक्षदृष्टान्तादयोऽप्यनेन साध्यन्त इति।

प्राप्तिसमा—हेतुः प्राप्य साध्येन सह समागत्य साध्यं साधयेत्, तदा साध्यपूर्वमभावात् केन कं साधयेत् ? कार्यकारणभावाऽभावात्।

अप्राप्तिसमा—यदि हेतुः अप्राप्य साध्येन सह पक्षेऽनागत्य साध्यं साधयेत्, स न साधयेदेव, अप्राप्तस्य साधकत्वेऽतिप्रसङ्गात्, सर्वेऽप्राप्ता हेतवः सर्वान् यत्र क्वापि साधयेयुरिति, प्राप्तयोर्न जन्यजनकभावो लवणोदकयोरिव, अप्राप्तयोर्न जन्यजनक भावः, प्रत्युताऽप्राप्तलिङ्गं साध्याभावबुद्धिं किं न जनयेत्। प्राप्त्यप्राप्त्योरत्र नहि कारणं दण्डादि प्रागेव घटादिना सम्बद्धम्, अपि तु मृदादिना, तथा च हेतुः उपादानेन सम्बद्धचतेऽतो न प्राप्त्यप्राप्तित्वकल्पनं तत्र, एतत्कल्पनम् अप्रमा, स्वमेव निर्बलं घात्यम्।

प्रसङ्गसमा—सपक्षे साधनस्यापि साधनं वक्तव्यमिति प्रसङ्गेन हेत्वसिद्धिशंका, यद्वा सपक्षे प्रमाणं वाच्यम्, तत्र पुनस्तत्रपुनरित्यनवस्थोद्भावनम्। हेतोः प्रत्यक्षसिद्धस्य-हेत्वन्तरं नापेक्ष्यते, दृश्यदर्शनार्थं प्रदीपो न पुनः प्रदीपार्थं प्रदीप इति। हेतोः परम्परायां तु तव साधनमपि व्याहन्येतेति। अतोऽनवस्थाऽप्रमा। अथ दृष्टान्तेनैव साध्यसिद्धिर्न तु हेतुनेति प्रतिदृष्टान्तसमा स्यात्, यदि ज्ञानस्य सुखदृष्टान्तबलेनाऽनित्यत्वं तदाऽऽत्मसाजात्यबलेन नित्यत्वं कथं नेति। ज्ञानम् अनित्यं विषयाधीनत्वात् सुखवत्, ज्ञानं नित्यं चैतन्याद् आत्मवदिति च। अत्र धर्मभूतज्ञानस्याऽनित्यत्वं, धर्मिभूतस्य तु नित्यत्वम् इति प्रति दृष्टान्तसमा घातिका, यावत् स्वव्याप्तिबलं तावद् घातकम्, पक्षस्य धर्मधर्मिसमावेशेन न प्रतिदृष्टान्तप्रसक्तिः, व्याप्तेर्ज्ञप्तेश्च प्रमात्वात्, दृष्टान्तेलौकिकपरीक्षकाणां बुद्धिसाम्यं न तु बुद्धिवैषम्यं, ततो दृष्टान्तादेशना घातिः स्वयमेव घात्येति।

अनुत्पत्तिसमा—उत्पत्तेः पूर्वं हेत्वभावाद् असिद्धिः 'घटो रूपवान् गन्धात् पटवत्' इत्यत्र घटोत्पत्तेर्गन्धोत्पत्तेश्च प्राग् हेत्वभावाद् असिद्धिः, परे च गन्धोत्पत्तेः पूर्वं हेत्वभावेन दृष्टान्ताऽसिद्धिः, आद्यक्षणे रूपाऽभावाद् बाधः। तथा च कथं केन साधयेत्। अत्र-उत्पत्तेः प्राक् तवाऽपि हेत्वभावात्मकहेतोः अनाधारत्वेऽसिद्धिः आधारत्वे मम गन्धस्याऽप्याधारो घटो भवेत्, उत्पत्तिप्राक्त्वं व्याहन्येतेति घात्यं तवाऽनुत्पत्तिसमत्वं तद् अप्रमा, नह्यनुत्पन्ने हेत्वभावः संभवति, अधिकरणाभावात्, तस्माद् अनुत्पत्तिर्न दोषावहा, घात्येवेति।

संशयसमा—समानधर्मापादनेन संशयोत्पादनं संशयसमा। क्षित्यंकुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवदि-त्यत्र कुलालकार्यत्वस्य घटे सत्त्वेऽपि कुलालाऽकार्यत्वे शरीराऽजन्यत्वेनाऽकर्तृकत्वमपि भवेत् तथा च सामान्येन महत्परिमाणवत्त्वादिना संशयः स्यादेव, मह-

त्ववत्त्वाद् ब्रह्माण्डं नित्यं घटश्चाऽनित्य इति। यावत् संशयस्तावत् तदंशे एकत्र प्रमाऽन्यत्राऽसमा। अथ सामान्य धर्मस्य नित्यसंशयजनकत्वाऽभावात्, विशेषधर्मेण बाधात्, शरीराजन्यत्वस्य प्रागभावे व्यभिचारात् निर्बलात् नित्यत्वव्याहतेः संशयाऽभावाद् घातकत्वाभावाद् अकर्तृकत्वस्य बाधाद् घात्यात् सकर्तृकत्वस्यैव प्रमात्वमिति।

प्रकरणसमा — अन्यतरसहचारबलेन पूर्वप्रयोगविपरीतसाधनम्। 'ज्ञानम् अनित्यं कार्यत्वात् सुखवत्' अत्र प्रतिप्रकरणप्रयोगः — नैतदेवम्, नित्यत्वसाधकेन चेतनत्वेन बाधात् अत्र नित्यत्वाऽनित्यत्वयोर्मध्येऽन्वयव्यतिरेकान्यतरसहचारबलाद् विपरीतसाधनं वादिप्रस्थानं, विपरीतं घातकम्। प्रतिवादी तु स्वसहचारबलेन पूर्वं साधितस्य बलवत्त्वम्, धर्मभूतज्ञानस्य कार्यत्वपरामर्शेनाऽनित्यत्वसाधनात्, चेतनत्वस्य तव तत्र ज्ञानेऽसिद्धेः, नहि चैतन्यं चैतन्ये व्याप्तिमत्, स्वस्य स्ववृत्तित्वे स्वहान्यापत्तेः, व्याघातात्। अतो नित्यत्वमत्र घात्यम् अप्रमा। यदि तु धर्मिभूतज्ञानात्मा पक्षस्तदाऽनित्यत्वस्य घात्यत्वं, नित्यत्वस्य सिद्धेर्घातकत्वं प्रमात्वम्, वादिप्रतिवादिनोः परिवर्तनादिति।

अहेतुसमा—हेतोरहेतु समत्वापादनम्, यथा हेतुः साध्यात् प्राग् वा पश्चाद्वा युगपद्वा तिष्ठन् साधयेत् यदि प्राक्, तदाऽसति साध्ये कस्य साधकः; अथ पश्चात्, असति साधने कस्येदं साध्यम्; अथ युगपत्, द्वयोः किं कस्य साधनं साध्यं वेति, हेतुरसाधकसमः कृत इति कल्पनाक्षणे हेतोरसाधनत्वाद् घात्यताऽप्रमा। अथ तव प्रयोगः—'हेतुः अहेतुः त्रैकाल्याऽसिद्धत्वात्' अत्र तवापि हेतुस्त्रिविकल्पाद् अहेतुसमः स्यादतः फलात् तव हेतुनाऽहेतुना मम हेतुर्न घात्यः। तव घात्येन मम घात्याऽभावात्, मम हेतोः साधनत्वे प्रमात्वात्। यच्च येन निर्वर्त्यते विज्ञाप्यते वा तत् तेन साध्यते इति न त्रैकाल्याऽसिद्धिरतः प्रमात्वमिति। पूर्ववर्तितामात्रेणैवाऽत्र हेतुतासध्रीचीनत्वात्, अन्यथा तव हेतोरपि हेतुत्वं न स्यादिति।

अर्थापत्तिसमा—उक्तेनाऽनुक्तमाक्षिपति या साऽर्थापत्तिः, 'ज्ञानम् अनित्यं कार्यत्वात् सुखवत्' अत्राऽर्थादापद्यतेऽन्यन्नित्यमिति सपक्षाऽप्रसिद्धेर्दृष्टान्ताऽसिद्धिः, अन्यस्माद्धेतोर्नित्यत्वे सत्प्रतिपक्षः, यावद्दोषकल्पना तावद् दोषो घातकः। अथ प्रतिवाद्याह—'ज्ञानेतरत् सर्वं नित्यम् अर्थापत्तेः'—इत्यत्र तव प्रयोगेऽपि अर्थादन्यत् सर्वं नित्यमिति सपक्षाऽप्रसिद्धेर्दृष्टान्ताऽसिद्धिः, तुल्यदोषन्यायात् तव गमकं यत् तद्वन्ममापि, तथा चैकपक्षसाधकबलाऽभावात् तवाऽनैकान्तिकतेति निर्बलता घात्याऽप्रमा, नहि विशेषविधिः शेषनिषेधफलकः, न हि नीलो घट इत्युक्तेऽन्यत् सर्वम् अनीलमिति क्वचित् प्रतिपद्यते।

अविशेषसमा—'ज्ञानम् अनित्यं कार्यत्वात् सुखवत्' इत्यत्र सुखे ज्ञाने च कार्यत्वधर्मेण सुखज्ञानयोरविशेषस्तदा सुखज्ञानयोः प्रमेयत्वेन सर्वपदार्थानामविशेषस्तथा च सर्वेषाम् अभेदे पक्षाद्यविभागेन प्रतिवादिप्रयोगोऽप्रमा घात्य एवेति। अथाऽत्र तव 'सर्वम् अविशेषम् प्रमेयत्वात्' इत्यत्र हेतोर्धर्मस्य व्याप्त्यादेरभावाद् विशेषेऽपि प्रमेयत्वस्य सत्त्वाद्

व्यभिचारादसाधकत्वं निर्बलत्वम् अप्रमेति वादिप्रयोग एव घात्योऽप्रमा । व्याप्त्यादिबलवन्मम प्रयोगस्तु तव घातक एव प्रमैवेति ।

उपपत्तिसमा—उभयस्याऽनित्यत्वस्य नित्यत्वस्य च कारणं कार्यत्वं चेतनत्वं चेत्युपपद्यते । यथा 'त्वत्पक्षः प्रमाणं तथा मत्पक्षोपि, सप्रमाणकः, त्वत्पक्षमत्पक्षान्यतरत्वात्, त्वत्पक्षवत्' इति प्रतिवादिप्रयोगो बाधाधायको यावद् दोषज्ञानं तावद् घातकः प्रमा । अथ मत्पक्षसाधकस्य त्वयाऽभ्युपगमात् मत्पक्षस्य दृष्टान्तीकरणात् सप्रमाणकत्वम् अभ्युपगतम्, नाऽस्य निषेधः कर्तुं शक्यते । अभ्युपगतस्य प्रतिषेधे त्वत्पक्षस्याऽपि प्रतिषेध उपपन्नस्तथा च तव पक्षेण प्रतिषेधविपर्ययेण मम पक्षो न निषिद्ध इति बलवत्त्वाद् व्याप्त्यादिना च प्रमात्वाद् घातकत्वात् तवैव प्रयोगो घात्योऽप्रमा चेति ।

उपलब्धिसमा—निर्दिष्टहेत्वभावेऽपि साध्यस्योपलम्भनम्, पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यत्राऽऽलोकादपि वह्निसिद्धेः धूमाद्वा द्रव्यत्वादेरपि सिद्धेर्न वह्निसाधनम्, पर्वतेऽपि वह्निसाधनमित्यपि न, महानसादेरपिवह्निमत्त्वात्, इत्येवं तर्काद्यैर्धूमस्याऽसाधनतापादनेन साधनत्वं घात्यम् । अथाऽत्र हेतुना सन्दिग्धस्य सिद्धिः क्रियते, यत्र व्याप्तिः स हेतुः, धूमे व्याप्तिश्चेद् धूमहेतुः, न त्वालोकः, ममाऽऽलोकाद् वह्निसिद्धौ प्रमाऽऽलोके व्याप्त्यग्रहात् तेन वह्न्यसिद्धौ मम नाऽऽलोको वह्निसाधकः, तवाऽऽलोके चेद् व्याप्तिग्रहः, तवाऽऽलोको वह्निसाधकः, व्याप्तिग्रहः प्रमात्वापादकः, नैतावता प्रयोगरोधनम्, सिद्धिविघातो वा । उपलब्धिस्तु भवेदालोकादिना, संशयनिवृत्तिः सिद्धिस्तु भवेद् व्याप्त्यादिमद्धेतुना, ततः साधकधूमाऽपेक्षयाऽऽलोकादौ वह्निसंशयाऽनिवर्तकत्वेन मण्योषध्याद्यालोकेनापि व्यभिचारिणा वह्न्यसिद्धेरकिञ्चित्करत्वाद् अव्याप्ते त्वालोके निर्बलत्वं घात्यत्वमेवेति, तस्मान्नोपलब्धिसमा प्रमा ।

अनुपलब्धिसमा—'शब्दो नित्यः कालान्तरे देशान्तरे च तद्व्यञ्जकेनोपलम्भात्, आनन्दवत्' । अत्र नैयायिकः—शब्दो यदि नित्यः, उच्चारणात् प्राक् कुतो नोपलभ्यते, नहि घटादेःकुड्यादिवत् किञ्चिदावरणमस्ति, आवरणानुपलब्धेः, उच्चारणात् प्रागप्युपलभ्येत, नोपलभ्यतेऽतोऽनित्यः, शब्दोऽनित्यः उच्चारणपूर्वाऽनुपलम्भात् । उच्चारणपूर्वस्योपलम्भाभावस्याऽधिकरणात्मकस्य भावात्मकतयाऽभावत्वेन नोपलम्भात् हेतोरभावादनित्यत्वं न सिद्ध्येत् ततो नित्यत्वमेव शब्दस्येति । अतोऽनुपलब्धेरनुपलम्भाद् उपलब्धिमत्त्वाद् योगिनां दिव्यसूक्ष्मशब्दोपलब्धिमत्त्वान्नित्यत्वमेवेति घातकं प्रमा, अनित्यत्वं त्वप्रग्ग आवरणाऽनुपलब्धिरप्यप्रमेति सा घात्या ।

नित्यसमा—साध्यधर्मस्य नित्यत्वकल्पनेन दूषणारोपः । ध्रुवोऽनित्यो गोलकत्वाद् घटगोलकवदित्यत्राऽनित्यत्वं धर्मोनित्यश्चेत् कथं ध्रुवस्याऽनित्यत्वं कुर्यात्, सोऽनित्यश्चेत्, तत्र स्वाभावदशायां कथमनित्यत्यं साधयेत् । क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वात् घटादिवदित्यत्र क्षितौ सकर्तृकत्वम् अनित्यं चेत् साध्याभावादंशतो बाधः, नित्यं चेत् क्षितिर्नित्या स्यात्

सकर्तृकत्वं विरुद्ध्येत, तथा च यावद् घातके न दोषज्ञानं तावत् प्रमा, घात्यं सकर्तृकत्वादि अप्रमा। अथाऽत्र अनित्यत्वं नित्यत्वं चेति व्याघातः, तव व्याघाताद् घात्यम् अप्रमा, यच्च प्रयोगे घात्यं तदिदानीं विकल्पाऽनास्पदत्वान्न घात्यं किन्तु घातकं प्रमेति।

अनित्यसमा—व्याप्तिं विहाय दृष्टान्तधर्मेण सर्वस्य साध्यवत्त्वापादनम्। 'ध्रुवोऽनित्यो गोलकत्वात् कन्दुकगोलकवत्' इत्यत्राऽनित्येन कन्दुकेन साधर्म्याद् अनित्यो ध्रुव इति वदतः कन्दुकेनाऽनित्येन सत्त्वादिसाधर्म्यात् सर्वसद्भावानामनित्यत्वं सम्पद्येत वैधर्म्याद्वा सर्वभावानां नित्यत्वं सम्पद्येतेति, सर्वाऽनित्यत्वं नित्यत्वं च प्रतिकूलधर्मात्मकं घातकं साध्यप्रमा घात्या। अथ दोषदाने यद्यनित्यत्वसाधर्म्यादनित्यत्वस्याऽसिद्धिः, तर्हि प्रतिषेध्येन साधर्म्येण प्रतिषेध्याया असिद्धेरपि तवाऽसिद्धिः, तेन बाधः सत्प्रतिपक्षो वा घातकः, यावद्दोषारोपस्तावत्प्रमा। अथाऽन्वयेन व्यतिरेकेण वा यो धर्मः साध्यसाधनतयाऽभिमतः स हेतुत्वेनाऽभिधीयते, साधर्म्यविशेषो हेतुर्न त्वविशेषेण साधर्म्यमात्रं वैधर्म्यमात्रं वा, तत्र तु व्यभिचाराद् अप्रमा, मम त्वघात्यं प्रमेति।

कार्यसमा—कार्यसामान्यमादाय दोषदानम्। यथा क्षित्यंकुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवदित्यत्र कार्यस्याऽनेकविधत्वाज्जलस्यन्दनस्य वह्नेरूर्ध्वज्वलनस्य सकर्तृकत्वव्यभिचारात् सकर्तृकत्वं न सिद्ध्येत्, व्यभिचारात्। तावत् साध्यसिद्धिरप्रमा। अत्र कार्यत्वं न व्यभिचारि, परमेशस्य सर्वविधकारणत्वात्, तथा च व्यभिचारो घात्यो व्याप्तिस्तद्घातिका प्रमा। अतएव तव कार्यं सकर्तृकं नेति व्याघातः स एव स्वात्महन्ता।

एतानि घात्युत्तराणि दोषात्मकानि दोषांऽशे प्रमात्मकान्यपि दोषाऽलक्ष्ये दोषारोपिते निर्दोषे स्थापने प्रमात्मके घातके सति घात्यानि अप्रमारूपाण्येवेति। समशब्दार्थः येन येनाऽऽकारेण परस्य प्रतिषेधकं तेनाऽऽकारेण स्वस्याऽपि प्रतिषेधकं भवतीति स्वव्याघातकत्वमेव घातित्वम्, प्रमादः प्रतिभाहानिः पदार्थाऽज्ञानं वा घात्यत्वे प्रयोजकम्, घातकत्वे तु अप्रमादः प्रतिभा पदार्थज्ञानं चेति प्रयोजकानि।

मन्त्रार्थाः—बोधकपदानामुच्चारणक्रमः पुरुषबुद्धिपूर्वकस्तेषां पौरुषेयत्वम्, यत्र तूच्चारणक्रमः पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारपूर्वकः सर्वदा तेषाम् अपौरुषेयत्वम्। सर्वोऽपि शब्दकलापो विधिमन्त्रार्थवादरूपेण त्रेधा। प्रेरकं वाक्यं विधिः, कुर्याद् यजेतेत्यादिः प्रेरणाद्यर्थे प्रमा। देवतामामन्त्रयति यद्द्वारा स मन्त्रः, स त्वनुष्ठेयप्रकाशनादिना उपकरोति, स च क्रियमाणाऽनुवादिस्तोत्रशस्त्रजप्यादिभेदः, पैशाचमागधादितत्तद्भाषामन्त्राणामिन्द्रजालादिमन्त्राणामपि फलप्रदत्वे तत्तद्बीजजातिकालानुष्ठानादिनिदानम्, श्रद्धेयदेवतानामाङ्कमात्रं तु न तदक्षरशक्तिप्रतिबन्धकं क्षिप्तक्षुद्रफलप्रकाशनेन विप्रलम्भार्थं तथैवेश्वरादिभिः सृष्टम्, गरुडादिनामाऽङ्कभाषामन्त्रेषु तु तत्तद्देवतास्मृत्युपकारकत्वमस्ति, सप्तकोटयो महामन्त्राः सद्योजातमहादेवेन सप्तकोटिदेवताकाः पठिता अपि प्रणवयोगाऽयोगादिभिर्वैदिकास्तान्त्रिकाश्च विभक्ताः।

शूद्रादीनामपि तांत्रिकसिद्धयः। सर्वमन्त्राणां सद्द्वारकम् असद्द्वारकं च फलं परमात्मैव ददाति। मन्त्राः सर्वे देवताकृतफले प्रमात्मकाः। अन्यमर्थं वदतीत्यर्थवादः स्वार्थेऽप्रमा, अन्यार्थे प्रमा। भगवन्नाममन्त्रा भगवद्बोधकाः प्रमारूपा एव। सर्वे शब्दा वर्णा वा स्वार्थे प्रमाभूताः। वेदप्रतिपाद्यार्थविरुद्धार्थाऽप्रतिपादकत्वं वैदिकत्वम् प्रमास्पदत्वम्। विरुद्ध-शास्त्रेष्वपि वैदिकार्थमात्रांशत्वं प्रमास्पदत्वम्, वेदोपजीवकं यत् किमपि सर्वं प्रमाणमिति।

सप्तपक्षी—वादिप्रतिवादिनोः स्फुरणविशेषेण सप्तक्रमोपन्यासो जायते, ततस्तु मार्जारकलहवद्दैवान्निवारणं सप्तमे यदि न प्रथमकक्षाया निर्दोषत्वेनाऽभिमतसिद्धिरिति। अथ प्रयोगः—'क्षित्यङ्कुरादि सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्' इति स्थापना वादिनः प्रथमः पक्षः। कार्यस्याऽनेकविधत्वाज्जलस्पन्दनस्यापि कार्यस्य सकर्तृकत्वं नास्तीति व्यभिचारः कार्यसमघातना प्रतिवादिनो द्वितीयः पक्षःप्रतिषेधात्मकः।

अथ 'क्षित्यंकुरादि सकर्तृकत्वाभाववद् अनैकान्तिक कार्यत्वात् जलस्पन्दनवत्' इति-प्रतिषेधाकारेऽपि अनैकान्तिकत्वं तुल्यम्, घटेऽनैकान्तिककार्यत्वमस्ति तत्राऽकर्तृकत्वं नास्ति इति समदोषपदानं तेन द्वितीयस्तव पक्षो दूषितः, तेन प्रथम पक्ष एव यथार्थ इति तृतीयपक्षः।

अथ तृतीयेऽपि 'अनैकान्तिक कार्यत्वं सकर्तृकत्वाभावव्यभिचारि घटवृत्तित्वात् घटपरिणामवत्' इत्येतादृशे तव तृतीयपक्षे विप्रतिषेधरूपेऽपि घटत्वे हेतोः सत्त्वेन साध्या-भावेन व्यभिचारस्तुल्य एवेति चतुर्थः पक्षः। द्वितीय पक्षं सदोषमुपगम्य तत्र तृतीयपक्षेनोक्तं दोषमनुद्धृत्य तृतीयपक्षे समानं दूषणमिति प्रसजतो दूषणवादिनस्तव मतानुज्ञानिग्रहस्थानं जातमिति पञ्चमः पक्षः। तर्हि मया द्वितीयकक्षया दत्तो व्यभिचारदोषस्त्वयाऽपि स्वी-कृतो नोद्धारित इति तवापि मतानुज्ञेति षष्ठः पक्षः।

अथ सप्तम्यां स्थापनावादी व्यभिचारमुद्धरेत्—साध्यव्याप्यस्य विलक्षणकार्य-त्वस्य हेतुत्वेनोपन्यासान्न व्यभिचारः, साध्यसिद्धिरेवेति साध्यसिद्धिः प्रमा। अन्यानि देश-नानि त्वप्रमाविषयाणि। घात्यघातकत्वस्थितौ त्वप्रमाप्रमाविषयाणि यथायथं तावत्काल-मेव। अयं सप्तमः पक्षः प्रथमपक्षात्मकोऽपि साध्यसन्देहात् तस्मात् प्रथमात् साध्यनिश्चय-रूपोऽयं सप्तमो भिन्न एवेति प्रमात्मकः।

निग्रहस्थानानि—कथायां स्वाश्रयस्य पराजयनिमित्तत्वं निग्रहस्थानत्वम्, तानि द्वाविंशतिः—'उक्तहानिरुक्त्यन्तरमुक्तविरोधउक्तसन्न्यासः साधनान्तरम् अर्थान्तरं, निरर्थ-कम्, अविज्ञातार्थम्, अपार्थकम्, अप्राप्तकालं, न्यूनम्, अधिकम्, पुनरुक्तम्, अननुभाषणम्, अज्ञानम् अप्रतिमा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्चेति। तत्र—

उक्तहानिः—कथायां स्वोक्ते परेण दूषिते स्वोक्तपरित्यागः, यथा क्षणिकवादिना —'आत्मा क्षणिकः सत्त्वात्' इत्युक्ते प्रतिवाद्याह—आत्मनः क्षणिकत्वे पूर्वभुक्तस्मृतिलोपा-

पत्तिः स्यात्, तर्हि वाद्याह—अस्तु, तर्ह्यक्षणिकः शाश्वतः इति साध्यात्मककार्यहानिः। घात्यं साध्यम् अप्रमा।

उक्त्यन्तरम्—कथायाम् अविशेषितोक्तौ दूषितायां तद्विशेषणनिक्षेपः, यथा 'आत्मा शाश्वतः सत्त्वात्' इत्यभिहिते प्रतिवाद्याह—सत्त्वं घटादौ व्यभिचारि, वाद्याह—अस्तु, तर्हि अजन्यसत्त्वं हेतुरिति। 'आत्मा ज्ञानं विज्ञानमयोऽयमात्मेतिश्रुतेः', इत्युक्ते प्रतिवाद्याह—आत्मनो ज्ञानत्वे ज्ञानस्य ज्ञातृत्वमापद्येत, तन्न संभवति, स्वस्य स्वज्ञातृत्वे व्याघातात्, वाद्याह—अस्तु, तर्हि ज्ञानवत्त्वं साध्यमिति ज्ञानं वत्त्वे विशेषणीकृतमिति। अत्र पूर्वं साध्यम् अप्रमा, पश्चिमं प्रमेति।

उक्तिविरोधः—स्वोक्तस्य स्वेनैव विरोधकरणम्, यथा 'परमेशः सर्वज्ञः सर्व-विशेषज्ञानवत्त्वात्'। अत्र प्रतिपाद्याह—परमेशोऽपि स्वलीला-गुण-कर्मजन्यविभूत्यादीना-मन्तं न गच्छतीति कथं सर्वज्ञः? वाद्याह—एवमेव स्वविषये तु तावदज्ञ इति स्वेनैवोक्त-त्वात् यद्वा—'यावज्जीवनमहं मौनी मूको वेति, न किञ्चिद् याचेऽतोऽर्था मे दीयन्ता-मिति'। यद्वा—'न कश्चिन्मे सिद्धान्तस्तथापि अद्वैतं तत्त्वं मन्ये' इति। यद्वा—'अवेद्यं ब्रह्म तथापि तद्वेदनान्मोक्ष' इति। अत्र सर्वमेव घातकेन प्रबलेन यद् घात्यं तदप्रमा, विरुद्धेऽपि त्यागभागपूर्वकेऽविरोधे सति प्रमात्वम्, स्वस्य स्वीयाऽज्ञातत्वम् अर्थवादः, अन्यार्थे स्वावतारादिवहुत्वे प्राशस्त्ये प्रमात्वात्। खण्डमौनिमूकत्वात् याचनान्तर-शून्य-त्वादप्यविरोधे प्रमात्वम्, सिद्धान्तान्तर-शून्यत्वादिति, किञ्चिदंशे ब्रह्मणोऽवेद्यत्वाच्चेति, एवमंशे प्रमात्वम्, विरुद्धांऽशाऽपसारणात्, विरोधांशेऽप्रमापि।

उक्तसंन्यासः—उक्तप्रयोगस्य न्यासः, यथा 'अम्बरं मेघवत् आतपादर्शनात्'। अत्र प्रतिवाद्याह—रात्रावन्धकारेऽप्यातपाऽदर्शनान्न तेनाम्बरे मेघसिद्धिरिति। अत्र वाद्याह—नाऽहं प्रवच्मि—अम्बरं मेघवदिति, किन्तु वस्त्रं कृष्णमिति अशुक्लत्वात्। अत्र प्रयोगस्य सर्वथा त्यागेऽप्रमात्वं, द्वितीयप्रयोगेऽपि व्याप्तिबलादि चेत् प्रमा, नाऽन्यथा, वादी तु निगृह्यते, प्रतिवादी वा निगृह्यते, निग्रहाऽधीनाऽप्रमेति।

साधनान्तरम्—परोक्तदूषणोद्दिधीर्षयाऽन्यहेतुकरणं विशेषण-प्रक्षेपो वा। यथा—'शरीरम् आत्मवत् क्रियावत्त्वात्' इत्यभिहिते प्रतिवाद्याह—क्रियाया घटिकायन्त्रेऽपि सत्त्वात् तत्राऽऽत्माऽभावाद् व्यभिचारः। वाद्याह—चेष्टावत्त्वमात्रं हेतुर्न क्रियावत्त्वम्, अथवा प्रयत्नजन्यक्रियावत्त्वं विशेषो हेतुः। पक्षोऽपि प्राणच्छरीरम्, तेन शवे न स्वरूपा-ऽसिद्धिः। तथा च पूर्वहेतुज्ञानं वा व्याप्तिज्ञानं भ्रमोऽप्रमा, ततो हेत्वन्तरे व्याप्तिज्ञानं प्रमेति।

अर्थान्तरम्—प्रकृताऽनाकाङ्क्षिताऽर्थाऽभिधानम्। 'परमात्मा सकरणकः, ब्रह्माण्डघटनावत्त्वात्'। प्रतिवाद्याह—ब्रह्माण्डघटनावत्त्वं तु पञ्चभूतेषु, तत्र सकरणकत्वं नास्तीति। वाद्याह—ब्रह्मपदं नपुंसकलिङ्गम्, नपुंसकस्याऽण्डो नास्ति, अण्डं तु पक्षिणः

सरीसृपादेश्च पुरुषस्यापि। करणश्च कश्चिद् राजाऽभवत्। सहस्य स आदेशः। करप्रत्ययश्चेति। अकारस्य पञ्चमीविभक्त्यैकवचनम् आत्, मीयते मा, सः परमश्चाऽऽत्मेति। इत्येवं सर्वेऽर्थाः प्रकृतेऽनाकाङ्क्षिताः। तान् प्राह—प्रतिवादिन उद्धाटाऽऽरोहणार्थं दोषविस्मरणार्थं च।

अत्र दोषोऽनाकाङ्क्षितार्थाश्चाऽप्रमा। साकारत्वकर्तृत्वश्रुतिबलकव्याप्तौ तु प्रमैव। एवं 'शब्दो नित्यः अस्पर्शत्वाद्' इत्यत्र प्रतिवाद्याह—अस्पर्शत्वं स्पर्शेऽपि व्यभिचरितम्। वादी दोषमेनं विस्मारयितुम् उद्धारमाह—हेतुर्नाम हि नोतेर्धातोस्तु निप्रत्यये कृदन्तम्, पदं नाम आख्यातोपसर्गनिपाताः, अभिधेयस्य क्रियान्तरयोगाद् विशिष्यमाणरूपः शब्दो नाम वृक्षो वृक्षमित्यादिः, कारकसंख्याविशिष्टक्रियाकालयोगाभिधायि आख्यातम्, धात्वर्थमात्रं च कालाभिधानविशिष्टम्, प्रयोगेषु अर्थात् अभिधानरूपा निपाताः, उपसृज्यमानाः क्रियावद्योतका उपसर्गा इत्येवमादि-अनाकांक्षितव्याकरणविषयमवलम्ब्य वदन् प्रतिवादिनम् उद्धाटं गमयन् प्रदत्तदोषं विस्मारयन् शाठचम् अर्थान्तिरं करोति स्वीयपक्षीयदोषोद्धाराऽसमर्थ इति। अत्र दोषोऽप्रमा, अनाकांक्षितमपि प्रकृतप्रयोगेऽप्रमेति काऽपि प्रकृतेसिद्धिः, प्रमा नास्ति।

निरर्थकम्—अवाचकपदप्रयोगः। वाचकत्वं शक्त्या लक्षणया परिभाषया वा, तदभावेऽवाचकत्वम्, 'ब्रह्म व्यापकं सर्वत्र वृत्तिमत्त्वात्'-इत्यत्र प्रतिवाद्याह—वरहमाः वयपकाः सरवतर-वरतमत्वाच्चेति सर्वमर्थशून्यं कथं प्रयुज्यते। वाद्याह—शक्तिमच्छब्दाः प्रयुज्यन्ते न त्वशक्ता वर्णा इति। अवाचकमपि शब्दशास्त्रसिद्धस्वरूपं निग्रहस्थानम्। कृत्तद्धितसमाख्यातलकाराऽऽत्मनेपदपरस्मैपदसकर्मकाऽकर्मक-लिङ्गवचनविभक्तिवर्णादेशागमप्रभृतीनां विपर्यासन्यूनातिरेकादयः, अनभ्यस्तव्याकरणादीनाम्, उच्छृंखलवचनान्यपि निरर्थकानि। एतानि शक्त्याद्यभावात् कस्मिंश्चिदप्यर्थे न प्रमाणानि, स्वात्मनि प्रमाणान्यपि महावाक्यार्थे न प्रमाणानि, निरर्थकं सर्वम् अप्रमा, उक्तानुमानं सव्याप्तिकं प्रमा।

अविज्ञातार्थम्—यत् परिषदा प्रतिवादिना च त्रिवारमभिहितमपि न विज्ञायतेऽर्थे वाऽनुपूर्व्यां वा श्लिष्टशब्दम्, अतीतप्रयोगम्, अतिद्रुतोच्चरितम्, असामर्थ्यसम्वरणाय प्रयुक्तं तत्। वादिना 'अहार्यो वीतिहोत्रवान् रासायनात् आन्धसिकभूवत्' इति प्रयुक्तम्। बौद्धेन—पञ्चस्कन्धा द्वादशायतनानि चित्तचैत्तम्। जैनेन–अस्तिकायः पुद्गलः सप्तभंग्यश्च। पातञ्जलेन–यतमानव्यतिरेकेन्द्रियवशीकारगुणवैतृष्ण्यानि। मीमांसकेन—स्फ्यः कपालः। वेदान्तिना—सुतेजा विश्वरूपः पृथग्वर्त्मा बहुलो रयिः। काणादेन—विशेष इति। नैयायिकेन—न्यायः पर्याप्तिरवच्छेदकतेति। वैयाकरणेन—टि-घि-इत्-संज्ञेति। ज्योतिर्विदा—'क्रियः' 'तावुकिः'इति। शैवेन—स्थाणुरिति। शाक्तेन-मकारा इति। एते स्व-स्व-तन्त्रे ज्ञातार्था अपि अन्यत्राऽप्रसिद्धार्थाः। एषाम् अर्थाः—

अहार्यः—पर्वतः, वीतिहोत्रो बह्निः, रासायनो धूमः, आन्धसिक भूः महानसम्।

रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्काराः पञ्चस्कन्धाः, पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चविषया मनो धर्मश्चेति द्वादशायतनानि, चित्तं ज्ञानसंतानः, चैत्तं रागादि। अस्तीति कायते शब्द्यते जीवपुद्गल धर्माऽधर्माऽऽकाशः पञ्चाऽस्तिकायाः, पूर्यते गलमिति पुद्गलः उपचयाऽपचयिवस्तु पृथिवी-जलतेजोवायवः स्थावरं जङ्गमं चेति, भंग्यः भङ्गाः प्रयोगाः—अस्ति च, नास्ति च, अस्ति च नास्ति च, अस्ति च वक्तव्यः, नास्ति च वक्तव्यः, अस्ति च नास्ति च वक्तव्यः, अस्ति च नास्ति चाऽवक्तव्यः। रागादीनां नाशार्थं यत्नो यतमानवैराग्यः, विनष्टेभ्यो-ऽवशेषाणां पृथगवधानं व्यतिरेकवैराग्यः, मनोमात्रेण विषयावभास एकेन्द्रिय-वैराग्यः, सर्वतो रागविलयो वशीकार वैराग्यः, पुरुषख्यातिमतः त्रिगुणवैतृष्ण्याख्यो-वैराग्य इति। स्फ्यः षट्त्रिंशदंगुलं दीर्घं खड्गाकृति काष्ठं, पुरोडाशश्रपणार्थं पक्वघटार्धं कपालः। सुतेजाः द्यौः, विश्वरूपः आदित्यः, पृथग्वर्त्मा वायुः, बहुलः आकाशः, रयिः जलम्, एते आत्मान इति। विशेषः परमाणुगतो व्यावर्तकः पदार्थः। न्यायः—पञ्चावयववाक्यं प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि। 'टिसंज्ञा' 'घिसंज्ञा' 'इत्संज्ञा' साधनिकोपयोगिनी। क्रियः मेषः, तावुरिः=वृषभः, स्थाणुः=शिवः। मकाराः=मद्यमांसमैथुनमत्स्यमुद्राः। एतेषां प्रयोगा एकेन ज्ञातार्था अप्यपरेणाऽज्ञातार्था निग्रहकारका इति। अर्थाऽज्ञानं कथा-घातकम् विजयघातकं चेति। एषाऽर्थशून्या विकल्पवृत्तिरप्रमा। अविज्ञातेऽर्थेऽप्रमा, ज्ञाते तु प्रमा।

अपार्थकम्—पौर्वापर्याऽयोगादनाकाङ्क्षितम्। गरलदाडिम-प्रस्तराऽपूप-शृंग-कुण्ड-कललाऽजिन-पललप्रवाह-कुमारीशाव-मृतजीवा इति प्रत्येकं सार्था अपि युगलेऽस्वार्था निरर्थकाः शब्दा अपार्थकाः प्रयुज्यन्ते। यत्र कथायां सः प्रयोक्ताऽपार्थकेन निगृह्यते, अपार्थकत्वात् अप्रमा। यथा 'महाभारतम् इतिहासः गरलदाडिम-प्रस्तराऽपूप-शृङ्गकुण्ड-कललाजिन-पललप्रवाह-कुमारीशाव-मृतजीवाहित्वात्'। अत्र हेतुरपार्थकः, प्रयोगी निगृह्यते, प्रतिप्रयोगी च 'महाभारतम् इतिहासे भारतीयाद्याख्यानोपाख्यानाद्यात्मकत्वादिति विजयते'। अत्र यथार्थप्रयोगे व्याप्त्यादिना प्रमात्वम्।

अप्राप्तकालम्—समयबद्धविवक्षितक्रमस्य विपर्यस्तकरणम्। क्रमो यथा वादिनां स्थापनायां साधनम् उक्त्वा सामान्यतो हेत्वाभासा उद्धरणीयाः, ततः प्रतिवादिनस्त-त्रोपालम्भः, ततो वादिनः स्वपक्षसाधनं हेत्वाभासोद्धरणं च, ततो जयपराजयव्यवस्था। क्रमविपर्ययस्तु—वादिना स्थापना कृता, ततस्तत्रोपालम्भः, ततो वा हेत्वाभासप्रयोगः, तत्र पुनरुपालम्भः, ततस्तत्रहेत्वाभासोद्धरणम्, ततः पुनः साधनस्थापना, ततः स्वपक्षस्थापनम्, इत्येवं कालः क्रमो यत्र नास्ति तथाविधकथा। अत्र स्वस्वशरीरे निश्चयांऽशे विशेषण-विशेष्यांऽशे प्रमात्वेऽपि कालक्रमाऽभावेन-असङ्गतार्थे बाध्यबाधकभावाद्यापत्तौ सर्वं स्थाप-नातिरिक्तं विगुणम् अप्रमेति।

न्यूनम्—स्थापनायां स्वतन्त्राऽभ्युपगताऽवयवानाम् अन्यतमेन न्यूनं प्रक्रमणम्।

पूर्णन्यायाभावे साध्यासिद्धिरिति, परप्रतिपत्त्यभावे प्रतिपत्तिरप्रमेति, सभाक्षोभाभिभूतेन वक्त्रा पूर्णाऽप्रयोगात् स एव निगृह्यते, प्रतिवादी चेत् सभाक्षुब्धस्तर्हि स्थापनाया अनुवादे वा न्यूनत्वभावेन निगृह्यते, यत्र निग्रहस्तत्राऽप्रमा, यदंशाऽनुद्भवः स त्वंशोऽप्रमा, प्रमाभास इति, यद्युद्भवः तर्हि तत एव प्रमा ।

अधिकम्—स्थापनायां न्यायाऽवयवांऽशाऽधिकप्रयोगः । 'पर्वतः शैलो वह्निमान्, अग्निमान्, धूमाद् आलोकात्, महानसवत् रासायनीशालावत्' इत्यादिः । अत्र व्याप्तिपरामर्शादीनां परस्पर विनिमये व्यभिचाराद्युत्थानम्, द्वयोः करणत्वे त्वेकस्याऽन्यथासिद्धता, समूहात्मके व्यर्थता, तथा च सर्वथाऽप्रमा, एकं प्रमा चेदन्यद् अप्रमा, अन्यत् प्रमा चेदेकम् अप्रमा, एवं प्रतिवादी आक्षिपेत् उभयमप्रमेति, प्रत्येकस्याऽप्रमात्वाऽविशेषात्, भिन्नप्रयोगे तु प्रमेति ।

पुनरुक्तम्—निष्प्रयोजनं पुनरभिधानम्,—समानानुपूर्वीकं शब्दपुनरुक्तं, भिन्नानुपूर्वीकम् अर्थपुनरुक्तम् 'वह्निमान् वह्निमान् वह्निमान् वह्निमानित्यादि, अनित्य घटो विनाशी कलशो ध्वंसी गर्गर' इति; प्रतिपत्त्युत्तरमपि वचनान्निष्प्रयोजनता, अनुवादे भजने जपे कीर्तनेऽध्यापने पाठेऽध्ययने आवर्तनेऽनवगतेऽपेक्षणेऽभ्यासेऽनुकरणे लीलायां कलहादौ तु न निष्प्रयोजनं वचनं, तन्न पुनरुक्तम्, पुनरुक्ते पूर्वाऽऽकाङ्क्षानिवृत्तेरशाब्दबोधादप्रमात्वम्; अपुनरुक्तं सप्रयोजनं प्रमा, सप्रयोजनं मुहुरुक्तमपि प्रमा, यथार्थे 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्'—यो विशेषज्ञानवान् स सामान्यज्ञानवानित्येवं व्याप्यर्थमपि पुनरुक्तं प्रमा: । एवं वह्निरुष्ण उष्णो वन्हिः, वह्निरस्ति गेहे नास्ति, जीवन् गेहे नास्ति वहिरस्ति—इत्येवमंशेऽपि निष्प्रयोजनं पुनरुक्तं तदप्रमा । सप्रयोजनं तु मुहुरुक्तं बोधदं मुहुरुक्तं प्रमा । पुनरुक्तं दूषणं चेत् अप्रमा । ननु दोषेऽर्थे कथं न प्रमेति चेत्, घातकत्वार्थे तु प्रमा, किन्तु घातकेन स्वेन स्वघात्याऽर्थे न प्रमेति ।

अननुभाषणम्—परिषदा विज्ञातस्य वाक्यार्थस्य प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्यापि यद् अप्रत्युच्चारणम् । अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रयं परप्रतिषेधं ब्रूयात् । विदितेऽप्यर्थे तदुच्चारणाऽकौशलयम्, विदितार्थे प्रमा अविदिते त्वप्रमा, अनुच्चारणे सभाक्षोभो वाऽनवगतार्थता वाऽप्रतिभा कारणानि, विदिताऽनुच्चारणे ज्ञानप्रमात्वं न हन्यते, वादिकथा घात्या भवति, अननुभाषणं पराजये पर्यवसितम् ।

अज्ञानम्—परिषदा विज्ञातार्थस्य प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य वादिनो यदज्ञानम् । वादी खल्वविज्ञाय कस्य प्रतिषेधं कुर्यात्, किं वससि बुद्धयते एव नेतिप्रश्नजिज्ञासाशब्दैरज्ञातार्थकनिग्रहो ज्ञायते, यदि बहुवारमुक्तौऽपि न ज्ञायेत तर्हि अज्ञातविषय इति वादिनोऽर्थज्ञानाऽनुद्भवोऽर्थभ्रमो वाऽप्रमा, प्रतिवादिनो जयः प्रमा सोऽघातकोऽपि घातकवदर्थादुपपन्न इति, विज्ञातार्थस्य यावत्क्षणं बलं तावत्प्रमा, परिषद्विज्ञातत्वात् । सद्दूषणमपि तत्राऽप्रमात्वं नोद्भवति, यावज्ज्ञात्वा न खण्ड्यत इति ।

अप्रतिभा—उत्तरस्याऽप्रतिपत्तिः, परोक्तं बुद्ध्वाऽपि नोत्तरयति, परोक्तमनुवाद्याऽपि नोत्तरं प्रतिपद्यते, स्वसूचनाद्यनुतिष्ठति, भूलेखनमाचरति, केशविकीरं, वस्त्रादिसमीकरणं, मूर्धखर्जनमङ्गुलीस्स्फोटनं वा करोति, पिपीलिकादिदंशवेदनाप्रदर्शनादि प्रकटयति, ताम्बूलोद्गीरण मूत्रोत्सर्जनादिमिषेण बहिर्याति, अत्र प्रतिभाऽनुत्थानं प्रतिभाऽऽभासो वाऽल्पप्रतिभा वा दूषणम् प्रतिपेधाऽसामर्थ्यम्, स्वयं घात्यम् यावदंशे घात्यं घातकत्वाभावस्तावदंशेऽप्रमा, अंशेऽप्यर्थः प्रतिभाति चेत् तदंशे प्रमा, तदन्यांऽशेऽप्रमा, यत्रांऽशे निगृहीतः सोंऽशो ऽप्रमा, प्रतिभाऽनुत्थाने तु प्रमात्वाभाव एवेति।

विक्षेपः—उत्तरस्फुर्तावपि तदंशे दोषापत्तौ तत्र कार्यान्तरव्यासंगेन कथाविच्छेदः। वादी-क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वात्। प्रतिवादी—अत्राङ्कुरे व्यभिचारो मयोद्भाव्यः। वादी-अङ्कुरस्य पक्षसमत्वम्। प्रतिवादी—ध्वंसे व्यभिचारः। वादी—भावत्वेन विशेषणीयत्वात्। प्रतिवादी—शरीराऽजन्यत्वाद् अकार्यत्वम् अकार्यत्वाद् अकर्तृत्वम्। वादी—अत्र का श्रुतिः प्रमाणं तन्मया गृहे गत्वा मार्गणीयम् इति कृत्वा सभां प्रक्षोभ्य स्वयं च क्षुब्ध्वा प्रयाति। अत्र वादी निगृहीतस्तस्मात् ज्ञानमन्तिमम् आभास एवाऽप्रमा घात्यम्, घातकम् अकर्तृकत्वं यावन्न दोषोद्भवः, समाधिर्वा तावत् प्रमा, सति तु विजये प्रमा, कथामवगाह्य विच्छेदेच्छुकस्याऽनावश्यकताऽपसरणव्याजवचनम्—महदिदानीं मे कृत्यं वर्तते इत्युत्तराऽप्रतिभानम्, भानमप्यभानात्मकम् अप्रमा, यत्र यावदंशो विक्षेपस्तावद् अप्रमा, अविक्षेपे निर्णये च सति प्रमा।

मतानुज्ञा—स्वपक्षे दोषमभ्युपगम्य परपक्षे दोषप्रसञ्जनम्। यथा त्वद्वचनं दुष्टमित्युक्ते तवापि वचनं दुष्टमिति, त्वं चौर इत्युक्ते त्वमपि चौर इतिवत्। प्रतिवादी त्वियम्—परापादितदोषानभ्युपगमार्थं तदुद्धारेण परपक्षे दोषोद्भावनम्, यद्वा त्वं चौरो न त्वहम्, तव वचो दुष्टं न तु मे इति। वादी—आत्मा नित्यो मोक्षभागित्वात्। प्रतिवादी—अनित्ये ज्ञाने विप्रयितया, मोक्षभागित्वमस्ति इति व्यभिचारः। वादी—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति, ज्ञानस्यापि पक्षसमत्वात्। प्रतिवादी—असिद्धत्वात् तवापि हेत्वाभासो मोक्षभागित्वमिति मतानुज्ञया गृह्यते। हेत्वाभासत्वाद् घात्यम् अप्रमा, विषयितया अनभिप्रेतात् सच्चिदानन्दात्मकस्वरूपस्याऽऽविर्भावस्यैव मोक्षभागित्वार्थकत्वात्। धर्मभूतज्ञानस्य तथात्वाऽभावात्, धर्मिभूतज्ञानस्य त्वात्मत्वान्मोक्षभागित्वमेव न व्यभिचार इति व्याप्तिबलेन स्थापनायाः प्रमात्वम्, मताऽनुज्ञाद्यंशानां घात्यत्वे त्वप्रमात्वम्।

पर्यनुयोज्योपेक्षणम्—अवश्योद्भाव्यस्य निग्रहस्थानस्याऽवसरेऽप्यनुद्भावनम्, सदस्यैर्वोद्भाव्यम्। इदं निग्रहविषयकं निग्रहस्थानम्, तस्मान्निग्रहबलं यावत्तावन्निग्रहः प्रमा, निग्रहाऽज्ञानेन तु निग्रहो निर्बलोऽप्रमा, अप्रमया फलं पर्यनुयोज्योपेक्षणम् प्राप्तक्षणोत्सर्जनम्, उत्सर्जकोऽविजयी, वादी विजयीति वादिस्थापना प्रमा, वादिस्थापनायां यदि दूषणं प्रतिवादिनोपेक्षितं तर्हि प्रतिवादी निग्रहविषयकनिग्रहेणाऽऽस्कन्दितो भवतीति

प्रतिवादिप्रतिभा अप्रमा फलतो बोध्या ।

निरनुयोज्याऽनुयोगः—वाद्युक्तस्थापनायाम् अवसरे प्रतिवादिना यथार्थनिग्रह-स्थापनोद्भावनातिरिक्तं यन्निग्रहस्थानोद्भावनम् । प्राप्तक्षणाऽपेक्षिताऽन्यप्रसर्जनम् । अनिग्रहस्थानेऽपि निगृहीतोऽसीति ब्रुवतो वा भेदिनिग्रहगोचरनिग्रहग्रस्तता भवतीति वादिना सभ्यैर्वाऽयं प्रतिवादी निग्रहास्पदीकर्तव्यः । प्रतिवादिभानम् अप्रमा, वादिस्थापना प्रमेति । स्थापना प्रायशः प्रमाऽऽरब्धव्या ।

अपसिद्धान्तः—एकं सिद्धान्तमभ्युपगम्य प्रवृत्तेऽपि तस्मिन्नेव विषयेऽन्यसिद्धान्त-मासज्जयति सोऽपसिद्धान्तो निग्रहस्थानम् । अद्वैतमतेनाऽहं वदिष्यामीत्यभ्युपेत्य वादिना-ऽऽरब्धायां कथायां 'ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात्' अविद्याया मिथ्यात्वात् संसार-स्यापि मिथ्यात्वमिति स्थापनायाम्, प्रतिवादिना—अविद्याया मिथ्यात्वे ब्रह्मसम्बन्धाऽभा-वाद् अवस्तुत्वाद् ब्रह्मणो नित्याऽपरिणामात् कस्मात् संसार इत्युक्ते, वादी—अविद्याया नाऽत्यन्तमिथ्यात्वम्, किन्तु नित्यत्वे-सत्यपि ब्रह्माऽग्रे मिथ्यात्वमिति । यद्वा ब्रह्म एव नित्य-मपि स्वस्मादीक्षणात्मकाऽविद्यया जडचेतनात्मकं संसारं सृजतीति । प्रतिवादी—तर्हि पूर्वो-त्तरेऽविद्यायां व्याघातः, पश्चिमोत्तरे ब्रह्मणि स्वव्याघातः । वादी—अस्तु, तर्हि ब्रह्मापरि-णामित्वरक्षार्थं जीवात्मनां नित्यत्वम्, अमिथ्यात्वम्, अविद्याया अपि तथात्वं तत्र का हानिः । प्रतिवादी—अपसिद्धान्तो हानिः, भवान्निगृहीतः । पूर्वस्थापनायाम् अप्रमात्वापत्तिः। अन्यसिद्धान्तप्रमात्वमिति ।

सांख्यमतेन वदिष्यामीति वादी प्राह—सर्वं सत् कार्यम्, कारणव्यापारात् प्रागपि सत्, तथाऽऽरब्धायां कथायाम्, प्रतिवादी—आविर्भावो यदि सन्, घटानाविर्भावे क्व तिष्ठेत् ? वादी—आविर्भावोऽसन्, तस्याऽऽविर्भावः कारणव्यापारैःक्रियते । प्रतिवादी—आविर्भावस्याऽऽविर्भावान्तराऽभ्युपगमेऽनवस्थेति, वस्तुहानिः फलम् । असत्वाऽभ्युपगमे तु सर्वं सदिति सिद्धान्तहानिः, अपसिद्धापत्तिः, अप्रमा फलम् । तदिदम् असत्स्वीकरणं न तव प्रमा, निग्रहस्थानं घातकम्, वादी निगृहीतः । वादी आविर्भावे नाऽऽविर्भावो विशेषे न विशेषान्तरं जातौ न जात्यन्तरमिति व्यवस्थायां तु नाऽनवस्था युक्ता, सन्नेवाऽऽविर्भावः कारणव्यापारात् प्रागपि सूक्ष्मदशापन्नो घटकारणेषु तिष्ठति स एव घटात्मको घटधर्म आत्मनि द्रव्यतादात्म्यवद् ब्रह्मणि सर्वतादात्म्यवत् ज्ञाते घटे ज्ञाततावद्वा ततो नाऽनवस्थेति वादिनो विजयः । प्रतिवादी मौनं सेवते निगृह्यते तत्प्रतिभाऽप्रमेति । घात्या तत्क्षणावच्छि-न्नाऽप्रमा, सदोषा तु सर्वथाऽप्रमेति ।

हेत्वाभासाः—हेतुवदाभासन्ते । हेतुपञ्चधर्मश्चत्वारो वा पक्षसत्त्वं सपक्षसत्त्वं विपक्षाऽसत्त्वम् असत्प्रतिहेतुकत्वम् अबाधितत्वम् । एतन्मध्याद् रूपत्रयेण रूपद्वयेन वा युक्ताः । यद्वा परिष्कृततत्तद्रूपेण वा तेषां निग्रहस्थानत्वम् । तत्र सबलत्वे स्वस्य पर-व्याघातकत्वे स्वस्वरूपे दोषनिश्चयात्मकप्रमात्वम्, घात्यस्याऽप्रमात्वम्, घात्यस्य निर्दोषत्वे

घातकानां दुष्टत्वे घातकानाम् अप्रमात्वम्, घात्यात्मकत्वात्। हेत्वाभासलक्षणेनैव निग्रहस्थानभाव इति। घातकानां घातकत्वरूपत्वे प्रमात्वमेव, घात्याभिमतानामपि अघात्यत्वरूपत्वे तु प्रमात्वमेव।

जल्पे स्वपक्षविजये प्रवलता। वितण्डायाः परपक्षदूषणे प्रबलता। यत्र यदा प्राबल्यम्, तत्र तदा तदंशे तत्सामयिकप्रमात्वम्। यत्र यदा निर्बलता, तत्र तदा तदंशे तत्सामयिकाऽप्रमात्वमिति। जल्पो वा वितण्डा वा प्रायशोऽङ्गभंगात्मिका। भग्नेऽङ्गेऽप्रमात्वम्। प्रमाणभासानाम् अप्रबलताऽप्रमात्वम्। प्रमेयाऽभासानामप्रमात्वम्, दृष्टान्ता भासानां, सिद्धान्ताभासानाम्, अवयवाभासानां, तर्काभासानां, निर्णयाभासानां, वादाभासानां, तत्तदङ्गाभासानां, तत्तत्साधनाभासानां, तत्तज्ज्ञप्त्याभासानां, तत्तत्कारणाभासानामपि तत्तदंशे तत्र तत्र समये नैर्बल्येऽप्रमात्वमेवेति। प्राबल्ये तु प्रमात्वमेवेति। प्राबल्यं नैर्बल्यं च सोपपत्तिकं भवति, उपपत्तयः सत्यो युक्तयः प्रमाः। असदुक्तयोऽप्रमा इति। पिहित स्वच्छिद्रोऽपि परच्छिद्रं नोपेक्षत इति स जयति।

न्यायनये वाच्यवाचकभावः

पण्डितश्री वदरीनाथ शुक्लः

व्यवहारो हि विश्वस्य जीवातुः। स च शब्दार्थाभ्यां प्रवर्तते, जनोऽर्थं विज्ञाय शब्देन परं वोधयति, एतद्वोधनमेव व्यवहारः। अयं च शब्दार्थयोः सम्वन्धाधीनः। स च संस्कृतवाङ्मये शक्तिलक्षणाव्यञ्जनातात्पर्यभेदाद्वृत्तिनाम्ना चतुर्धा चर्चितः। न्यायशास्त्रे तु स शक्तिलक्षणात्मना द्विविध एव वर्णितः। अस्मिन् लेखे शक्तिरेव वाच्यवाचकभावात्मतया संक्षेपेण व्युत्पादयिष्यते।

वाच्यवाचकभावः—

वाच्यश्च वाचकश्चेति वाच्यवाचकौ, तयोर्भावो वाच्यवाचकभावः। वाच्यवाचकशब्दयोर्द्वन्द्वसमासः, समस्तस्य वाच्यवाचकशब्दस्य भावशब्देन सह षष्ठी-तत्पुरुषः। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्वध्यत' इति न्यायेन भावशब्दस्य वाच्यशब्देन वाचकशब्देन च, सह सम्वन्धः। अत उक्तशब्दो वाच्यभावो। वाचकभाव इत्युभयरूपः पर्यवस्यति, तत्र वाच्यभावो वाच्यता वाचकभावश्च वाचकता, वाच्यता तावदर्थे पदस्य सम्वन्धो वाचकता च पदेऽर्थस्य।

वाच्यता—

यस्मिन्नर्थे यः शब्द आद्येन वक्त्रा सङ्केतितः सोऽर्थस्तस्य शब्दस्य वाच्यः, स च शब्दस्तस्यार्थस्य वाचकः। यथा गवि गोशब्द आद्येन वक्त्रा परमेश्वरेण संकेतित इति गौः गोशब्दस्य वाच्यो गोशब्दश्च गोरूपार्थस्य वाचकः। संकेतश्च साधारणतया त्रिधा। अयमर्थोऽस्माच्छब्दाद्बोद्धव्यः (१) अयं शब्दोऽमुमर्थं वोधयतु (२) अस्यार्थस्य बोधोऽस्माच्छब्दाज्जायताम् (३) इत्याकारकः। एषु प्रथमोऽर्थविशेष्यक शब्दजन्यवोधत्वप्रकारकः। द्वितीयः शब्दाविशेष्यकार्थविषयकवोधजनकत्वप्रकारकः, तृतीयश्चार्थविषयवोधविशेष्यकशब्दजन्यत्व प्रकारकः। विनिगमकाभावेनैषु प्रत्येकमेव शब्दार्थयोः सम्वन्धः। सम्वन्धत्वं तदविनाभावि सप्रतियोग्यनुयोगिकत्वं चास्य तयोरनिवार्य सम्वन्धकयोः सम्वन्धान्तरानुपपत्त्या सिद्धम्।

प्रथमसङ्केतानुसारेण वाच्यत्वम्—

शब्दजन्यवोधविषयत्वनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतावत्त्वसम्वन्धेनसङ्केतः, सङ्केतीयशब्दजन्यवोधविषयत्वनिष्ठाश्रयत्व-सम्वन्धावच्छिन्नप्रकारतावत्त्वं वा प्रथम-

सङ्केतानुसारि वाच्यत्वम्। प्रकारतावत्त्वं च स्वनिरूपितविशेष्यत्व, स्वावच्छिन्नावच्छेदकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्व, स्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितसंसर्गतावच्छेदकत्वैतदन्यतमसम्बन्धेन।

'गौः गोशब्दजन्यबोधविषयो भवतु' इत्यर्थके 'गौः गोशब्दाद्बोद्धव्य' इत्याकारके सङ्केते गोशब्दजन्यबोधविषयत्वं गव्याश्रयतासम्बन्धेन प्रकारः, गोत्वे च समवायसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकता—समवायनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकता-सम्बन्धेन प्रकारः। अत उक्तसङ्केतीया शब्दजन्यबोधविषयत्वनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता स्वनिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन गवि, स्वावच्छिन्न समवायसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन गोत्वे, स्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितसंसर्गतानिरूपितावच्छेदकत्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकतासम्बन्धेन समवाये विद्यत इति गोगोत्वसमवायाः गोशब्दस्य वाच्याः।

प्रथमसङ्केतानुसारेण वाचकत्वम्—

अर्थविशिष्टाश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारत्वावच्छिन्नविषयत्वनिष्ठविशेष्यता-निरूपितप्रकारत्वावच्छिन्नबोधनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारत्वावच्छिन्नजन्यत्वनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावत्त्वसम्बन्धेन सङ्केतः सङ्केतीयतादृशप्रकारतावत्त्वं वा प्रथमसङ्केतानुसारि वाचकत्वम्। विषयत्वनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतायामर्थवैशिष्टचं स्वनिष्ठविशेष्यतानिरूपितत्व, स्वनिष्ठविशेष्यतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारत्वावच्छिन्नत्व, स्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकतानिष्ठावच्छेदकतानिरूपितसंसर्गतानिरूपितप्रकारत्वावच्छिन्नत्वैतदन्यतमसम्बन्धेन। शब्दजन्यबोधविषयत्वनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतायां गौः स्वनिष्ठविशेष्यतानिरूपितत्वसम्बन्धेन, गोत्वं स्वनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारत्वावच्छिन्नत्वसम्बन्धेन, समवायश्च स्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकतानिरूपितसंसर्गतानिरूपितप्रकारत्वावच्छिन्नत्व-सम्बन्धेन वर्तत इति गोगोत्वसमवायानामुक्तसम्बन्धस्य गोशब्दे सत्त्वेन गोशब्दो गोगोत्वसमवायानां वाचकः।

द्वितीयसङ्केतानुसारेण वाच्यत्वम्—

शब्दनिष्ठविशेष्यतानिरूपितजनकत्वनिष्ठप्रकारत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपित-बोधनिष्ठप्रकारत्वावच्छिन्नविशेष्यतावत्त्वसम्बन्धेन सङ्केतः, सङ्केतीयतादृशविशेष्यतावत्त्वं वा द्वितीयसङ्केतानुसारि वाच्यत्वम्। विशेष्यतावत्त्वं च स्वनिरूपितविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारत्व, स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्वावच्छिन्नविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारत्व, स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितविषयत्वनिष्ठसंसर्गतानिरूपितावच्छेदकत्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकत्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकत्वैतदन्यतमसम्बन्धेन।

'गोशब्दो गोविषयकबोधजनको भवतु' इति सङ्केते बोधे गौः विषयतासम्बन्धेन,

गोत्वं च स्वावच्छिन्नविषयता—समवायनिष्ठावच्छेदकताकस्वनिष्ठावच्छेदकताकविषयता-सम्बन्धेन प्रकारः। अत उक्तसङ्केतीया गोशब्दनिष्ठविशेष्यतानिरूपितबोधनिष्ठप्रकारत्वावच्छिन्नबोधनिष्ठविशेष्यता स्वनिरूपितविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतासम्बन्धेन गवि, स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपित स्वावच्छिन्नविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतासम्बन्धेन गोत्वे, स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितप्रकारतानिरूपितसंसर्गतानिरूपितावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकतासम्बन्धेन समवाये विद्यत इति गो-गोत्वसमवायानां गोशब्दवाच्यत्वम्।

द्वितीयसङ्केतानुसारेण वाचकत्वम्—

अर्थविशिष्टबोधनिष्ठविशेष्यत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितजनकत्वनिष्ठविशेष्य-त्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावत्त्वसम्बन्धेन संकेतः, संकेतीयतादृशविशेष्यतावत्त्वं वा द्वितीयसङ्केतानुसारि वाचकत्वम्। बोधनिष्ठविशेष्यतायामर्थवैशिष्ट्यं स्वनिष्ठविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितत्व, स्वावच्छिन्नविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता-निरूपितविशेष्यत्वावच्छिन्नत्व, स्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकताकसंसर्गतानिरूपितप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वावच्छिन्नत्वैतदन्यतमसम्बन्धेन। बोध-निष्ठविशेष्यतायां गौरुक्तसम्बन्धेषु प्रथमसम्बन्धेन, गोत्वं द्वितीयसम्बन्धेन समवायश्च, तृतीयसम्बन्धेन विद्यत इति तत्तदर्थविशिष्टबोधनिष्ठविशेष्यत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित-जनकत्वनिष्ठविशेष्यत्वावच्छिन्नजनकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावत्त्वसम्बन्धेन द्वितीयसङ्केतस्य द्वितीयसङ्केतीयतादृशविशेष्यतावत्त्वस्य वा गोशब्दे सत्त्वेन गोशब्दस्य गो-गोत्वसमवायवाचकत्वम्—

तृतीयसङ्केतानुसारेण वाच्यत्वम्—

शब्दजन्यत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितबोधत्वावच्छिन्नविशेषतावत्त्वसम्बन्धेन सङ्केतः, सङ्केतीयतादृशविशेष्यतावत्त्वं वा तृतीयसङ्केतानुसारि वाच्यत्वम्, विशेष्यतावत्त्वं च स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतावत्त्व, स्वावच्छिन्नविशेष्यत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपित स्वावच्छिन्नविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतावत्त्व, स्वावच्छिन्नविशेष्यत्वावच्छिन्नविशेषतानिरूपितप्रकारताकविषयत्वनिष्ठसंसर्गतानिरूपितावच्छेदकत्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकत्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकतावत्त्वैतदन्यतमसम्बन्धेन।

'गोविषयक बोधः गोपदजन्यो भवतु' इत्याकारके तृतीयसङ्केते गोशब्दजन्यत्व-विशेष्यभूते बोधे गौः विषयतासम्बन्धेन प्रकारः, गोत्वं स्वावच्छिन्नविषयता—समवाय-निष्ठावच्छेदकतानिरूपितस्वनिष्ठावच्छेदकताकविषयतासम्बन्धेन प्रकारः। अत उक्त-सङ्केतीय गोशब्दजन्यत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितबोधत्वावच्छिन्नविशेष्यतायाः स्वावच्छिन्न-विशेष्यतानिरूपितविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतावत्त्वसम्बन्धेन गवि, स्वावच्छिन्न

विशेष्यत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्वावच्छिन्नविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतावत्त्व - सम्बन्धेन गोत्वे, स्वावच्छिन्नविशेष्यत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितप्रकारताकविषयत्व-निष्ठसंसर्गतानिरूपितावच्छेदकतानिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकतानिष्ठावच्छेदकता-निरूपितावच्छेदकतावत्त्वसम्बन्धेन समवाये सत्त्वेन उक्तान्यतमसम्बन्धावच्छिन्नगोशब्द-जन्यत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितबोधत्वावच्छिन्नविशेष्यतावत्त्वसम्बन्धेन तृतीयसङ्केतवत्तया गोगोत्वसमवायानां गोशब्दवाच्यम्।

तृतीयसङ्केतानुसारेण वाचकत्वम्—

अर्थविशिष्टबोधत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपित-जन्यत्वनिष्ठप्रकारत्वावच्छिन्न - विशेष्यतानिरूपितनिरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतासम्बन्धेन सङ्केतः, सङ्केतीय तादृश-प्रकारतत्त्वं वा तृतीयसङ्केतानुसारि वाचकत्वम्। बोधत्वावच्छिन्नविशेष्यतायामर्थवैशिष्ट्यं स्वनिष्ठविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वावच्छिन्नत्व, स्वनिष्ठस्वाव-च्छिन्नविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वावच्छिन्नविशेष्यत्वावच्छि - न्नत्व, स्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकतानिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकता-निष्ठावच्छेदकतानिरूपितविषयत्वनिष्ठसंसर्गताकप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वावच्छिन्न - विशेष्यत्वावच्छिन्नत्वैतदन्यतमसम्बन्धेन।

उक्तसङ्केते शब्दजन्यत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितबोधत्वावच्छिन्नविशेष्यतायां प्रथम-सम्बन्धेन गोवैशिष्ट्यस्य, द्वितीयसम्बन्धेन गोत्ववैशिष्ट्यस्य तृतीयसम्बन्धेन समवाय-वैशिष्ट्यस्य च सत्त्वेन उक्तरीत्याऽर्थविशिष्टबोधत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितजन्यत्व-निष्ठप्रकारत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितनिरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतासम्बन्धेन - तृतीयसङ्केतस्य गोपदे सत्त्वेन गो-पदे गोगोत्वसमवायवाचकत्वमुपपद्यते।

शाब्दबोधौपयिकं शब्दार्थसम्बन्धज्ञानम्—

उक्तवाच्यवाचकत्वेषु वाच्यत्वज्ञानमेव शाब्दबोधौपयिकं न तु वाचकत्वज्ञानम्। तथा हि यदि वाचकत्वज्ञानस्य शाब्दबोधहेतुत्वं मन्येत तदा गोपदे गोवाचकत्वस्य, गोत्व-वाचकत्वशरीरे समवायान्यसम्बन्धेनोल्लिख्यमानतया गोत्वस्य स्वरूपतः प्रकारत्वसम्भवेन गोत्ववाचकत्वस्य च ज्ञाने निर्बाधेऽपि समवायवाचकत्वशरीरे समवायस्य जात्यखण्डोपाधि-भिन्नतया स्वरूपतः प्रकारत्वासम्भवेन समवायत्वानुपस्थितौ समवायवाचकत्वज्ञानस्य दुर्घटतया तद्दशायां गोपदात् समवायेन गोत्वप्रकारको बोधो नोपपद्येत। यदि च वाच्यत्व-ज्ञानस्य शाब्दबोधे हेतुत्वं मन्यते तदा गां विशेष्यविधया गोपदं प्रकारविधया वाच्यत्वं च संसर्गविधयाऽवगाहमाने तत्र संसर्गकुक्षौ गोत्वसमवाययोः स्वरूपतो भाने बाधकाभावेन न काचिदनुपपत्तिः।

शाब्दौपयिकस्य वाच्यताज्ञानस्य स्वरूपम्—

उक्ते त्रिविधेऽपि सङ्केते शाब्दबोधौपयिकं वाच्यताज्ञानं 'गौः गोपदवान्' इत्या-

कारकमेव, गोपदवत्ता च तत्तत्सङ्केतस्थले सम्बन्धभेदेन। तथा हि प्रथमसङ्केतविषक उक्तज्ञाने गोपदवत्ता स्वजन्यबोधविषयत्वनिष्ठाश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितसङ्केतीयविशेष्यता गवि गोपदस्य सम्बन्धः। अत्र च सम्बन्ध आश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतायां गोत्वनिष्ठविशेष्यतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्न प्रकारत्वावच्छिन्नत्वं विशेषणविधया प्रविष्टम्। अतोऽस्य ज्ञानस्य गोत्वसमवाययोरपि वाच्यत्वावगाहितयाऽस्माज्ज्ञानात् समवायेन गोत्वप्रकारकगोविशेष्यकशाब्दबोधोदये न काचिद् बाधा।

द्वितीय सङ्केते गोपदवत्ता स्वनिष्ठविशेष्यतानिरूपित जनकत्वनिष्ठप्रकारत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितबोधनिष्ठप्रकारत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नसङ्केतीयप्रकारतासम्बन्धेन। अत्र च सम्बन्धे विषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नगोनिष्ठप्रकारतानिरूपितबोधनिष्ठ विशेष्यतायां समवायसम्बन्धावच्छिन्नस्वनिष्ठावच्छेदकताकविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नगोत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपित विशेष्यत्वावच्छिन्नत्वं विशेषणविधयाप्रविष्टम्। अतोऽस्य ज्ञानस्यापि गोत्वसमवाययोर्वाच्यत्वावगाहितया नास्मादपि ज्ञानात् समवायेन गोत्वप्रकारकगोविशेष्यकशाब्दबोधोदये न काचिद् बाधा।

तृतीय सङ्केते गोपदवत्ता च स्वनिष्ठनिरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितजन्यत्वनिष्ठविशेष्यत्वावच्छिन्नस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नजन्यत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपित-बोधत्वावच्छिन्नविशेष्यत्वावच्छिन्नबोधनिष्ठविशेष्यतानिरूपितविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्न-प्रकारतासम्बन्धेन। अत्र च सम्बन्धे विषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नगोनिष्ठप्रकारतानिरूपित-बोधत्वावच्छिन्नविशेष्यतायां स्वनिष्ठसमवायसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकताकविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नगोत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वावच्छिन्नत्वं विशेषणविधया-प्रविष्टम्। अतोऽस्य ज्ञानस्यापि गोत्वसमवाययोर्वाच्यत्वावगाहितयाऽस्मादपि ज्ञानान्न समवायेन गोत्वप्रकारकगोविशेष्यकशाब्दबोधोदये काचिद् बाधेति प्रकृतविषयकविचारस्य दिक्सङ्केतः।

प्रत्यक्षं बाह्यवस्तुसाक्षात्कार उत तच्छायामात्र ग्रहणम्

(प्रतीच्यदर्शनमतालोचनम्)

पण्डितश्री जानकीवल्लभभट्टाचार्यः

बाह्य वस्तु साक्षात्कारस्य कोऽर्थः ? यत्तु साक्षात्क्रियते स किं बाह्यवस्तुनोंऽशविशेषः ? बाह्यवस्तुप्रत्यक्षनिराकरणं नहि ज्ञानाकारग्रहणमात्रम् । बाह्यवस्तुसाक्षात्कृतौ निराकृतायामपि बाह्यवस्तुनोऽस्तित्वमनुमानमात्रगम्यमिति न मन्तव्यम् । यद्यपि वस्तुच्छायामात्रदर्शनवादो नानवद्यस्तथापि प्रवलानुकूलयुक्तिभिः स वादः समर्थ्यते । नवीनवस्तुवादिनामेतन्मतम् ।

भ्रमज्ञानं सर्वतन्त्रसिद्धम् । तत्तु विसंवादिज्ञानम् । भ्रमविषयो न वस्तुरूढः । अयथार्थज्ञानमपि साक्षात्कारात्मकं भवति । भ्रमदृष्टान्तवलेन वस्तुतच्छायामात्रग्रहणवादो विचारकचित्तमाकर्षति । वस्तुसाक्षात्कारवादस्य तात्पर्यं यत्तु प्रत्यक्षीक्रियते तत्तु वाह्यवस्तु तदंशात्मकं वा । अयं वादः परीक्ष्यते । भवान् अहञ्च 'पेनी' इति मुद्राविशेषस्य मुखं सान्निध्यतो युगपत् पश्यावः । यथा भवान् पश्यति तथाहमपि पश्यामि । यदि भवान् दूरमपसरेदहं चास्य सन्निधौ स्याम् तर्हि भवान् एकस्यैव वस्तुनो भिन्नाकृतिं द्रक्ष्यति । एवं सति, वस्तुसाक्षात्कारवादराद्धान्तानुसारेणैकस्यैव वस्तुन आकृतिद्वयमेवाभ्युपेयम् । अनया रीत्या द्रष्टुर्विभिन्नदिक्षु स्थितिसापेक्षा असंख्या अनिर्दिष्टसंख्यका वाऽऽकृतयो भवन्ति । ताः सर्वा वस्तुन आकृतय एव । एवं विरुद्धाकृतिनिचयस्यैकस्मिन्नपि वस्तुनि समावेशोऽवश्यमेव स्वीकर्तव्यः । अथवाक्षेत्रविशेषे वस्तुच्छायामात्रस्य, ग्रहणं भवतीत्येवमङ्गीकर्तव्यम् । वस्तुविशेषः साक्षात्कारार्हः । तद्भिन्नस्य तच्छायामात्रस्य ग्रहणं भवतीति व्यवस्थितविभाषामार्गो नोपलक्ष्यते । सर्वत्र वस्तुनश्छायामात्रग्रहणस्य पक्षो बलवान् युक्तिसिद्धो भवति । प्रतीच्यदार्शनिकानां भूयिष्ठभागोरूपं न वस्तुधर्म इति सिद्धान्तयति ।

तथा सति, वयं बाह्यवस्तु साक्षात्कुर्मः, परन्त्वस्य रूपं न वस्तुधर्म इति कथनं तु न युक्तिपथमधिरोहति । वयमादर्शं पश्यामः, अपितु तत्र प्रत्यक्षग्राह्यं प्रतिबिम्बं च न तत्र याथार्थ्येनावतिष्ठत इत्युक्तिरपि न्यायमार्गादपेता भवति । वैज्ञानिकनये वस्तूनि साक्षात्क्रि-

यन्ते। एषां दृश्यमानधर्माः, पुनर्न वस्तुधर्माः। अयं तु सिद्धान्तो न विचाररमणीयः। रूपस्य बहिःसत्ता निराकृता चेद्, यदिन्द्रियग्राह्यं भवति तद् बाह्यवस्तु तस्य धर्मो वेति मतं प्रत्यादिष्टं भवति। यतोरूपि वस्तुमात्रं चक्षुर्भ्यां साक्षात्क्रियते। रसगन्धशब्दानां निरपेक्षबहिः सत्तानङ्गीकारे वस्तुसाक्षात्कारवादोऽपि प्रत्याख्यातो भवति। बाह्यवस्तु साक्षात्कारि प्रत्यक्षमिति पक्षस्तु वैकल्पिकप्रश्नद्वयं समुत्थापयति। वर्णितपक्षावलम्बिनः प्रत्यक्षं न सर्वत्र बाह्यवस्तु साक्षात्कारीति, अथवा यत् सर्वमिन्द्रियैर्गृह्यते तत् सर्वं बाह्यवस्तुसम्बद्धं सत् सत्यमिति स्वीकुर्युः। केषाञ्चिदत्र समाधानम्—ये ये धर्मा बाह्यवस्तुपूपलभ्यन्ते, ते ते तेष्वेव वर्तन्ते, परन्तु तेषां प्रातिभासिकसत्तामात्रं, यतस्ते शरीरिद्रष्टृमात्रेण दृष्टिविशेषमात्राद् वा प्रतीयन्त इति। समाधानमिदं तु न चारु यतस्तेषामारोपितस्वरूपत्वाद् न पारमार्थिकत्वम्। एवं सति, प्रत्यक्षं न साक्षात्कारीति पक्षे तु पर्यवस्यति। यद्यस्य समाधानस्य यद् यद् यादृग्रूपेणेन्द्रियैर्गृह्यते, तत्तत् तादृग्रूपत्वेन बाह्यवस्तुनः पारमार्थिको-धर्मः धर्मश्चायं बाह्यवस्त्वन्तरसम्बन्धनिबन्धनो दिग्भासविशेषसम्बन्धजन्यो वेत्यर्थे तात्पर्यं स्यात्, तर्ह्येतत् समाधानं विचार्यमाणपक्षं सम्यक् समर्थयति।

अयथार्थप्रत्यक्षविषयः किं वस्तु, अलीकं किमपि वा। बाह्यवस्तुसाक्षात्कारिणां केचन वदन्ति तादृशदृश्यपदार्थः इन्द्रियस्वभावाद् दृष्टिनियमेभ्यः परिदृश्यते। समाधानमिदं कथितवादं न समर्थयति, यतो यदिन्द्रियेण साक्षात्क्रियते तत्पारमार्थिक बाह्यवस्तु तदंशो वा। यदि तु तैरभ्युपगम्यते बाह्यवस्तु युगपत् सद्य इन्द्रियस्वभावदृष्टिनियमनिबन्धनमनन्ताकृतिभाग् भवति, अपूर्वबहुगुणाश्रयमनेकावस्थाभेदान्वितं च भवति। अपि च साक्षात्कारात् प्राक् तद् वस्तु न तथाऽऽसीत्, तर्हि तेषां समाधानं विचारयोग्यं भवति। अधुनाऽयं पक्ष आलोच्यते। कश्चन सुदीर्घः सरलः पन्था विद्यते। अस्य पार्श्वद्वयं निविडवृक्षश्रेणीशोभितम्। कश्चन द्रष्टा एकस्मिन् प्रान्ते तिष्ठन् प्रान्तान्तरं पश्यति। अपरस्मिन् प्रान्ते तिष्ठन् द्रष्टा वृक्षश्रेणीद्वयं विभक्तं पश्यति। यदि सन्निपातो वास्तवधर्मः स्यात्, तर्हि सन्निपातासन्निपातौ पारमार्थिकौ युगपदेकस्मिन् वृक्षश्रेणीद्वये स्त इति स्वीकार्यम्। विरुद्धधर्मद्वयस्यैकस्मिन् धर्मिणि, एकस्मिन् काले समावेशे धर्मिण ऐक्यं व्याहतं स्यादथवा स्वगतभेदाभेदौ ग्राह्यौ। तादृशोऽयौक्तिको विरुद्धधर्मसमावेशो न सार्वजनीनः प्रत्ययसिद्धः। केषाञ्चित् प्रत्ययसिद्धः, केषाञ्चित् प्रत्ययबाधितः। एकस्मिन् धर्मिणि, एकस्मिन्नवयवावच्छेदे सन्निपातोऽस्ति च नास्ति चेति ज्ञानं सर्वप्रमाणविरुद्धम्। विज्ञानसम्मतकार्यकारणविरोधी चायं पक्षः। परन्तु प्रत्यक्षसिद्धो यथा सन्निपातस्तथाऽसन्निपातः। धर्मद्वयं युगपद् वस्तुनिष्ठं भवितुं नार्हति। एको धर्मो वस्तुनिष्ठोऽपरश्च काल्पनिक इत्यगत्याऽभ्युपेयम्। तथा सति प्रत्यक्षं बाह्यवस्तुमात्रसाक्षात्कारीति पक्षः परित्याज्यः। श्रेणीद्वयस्य सङ्गतावस्था प्रत्यक्षसिद्धा। अधुना विचार्यते एतादृश्यवस्था बाह्यवस्तुनिष्ठा······ज्ञानाकार··· ज्ञानबाह्यवस्तुविलक्षणा, तयोर्मध्यवर्तिनी काप्याकृतिः······बाह्यवस्तुच्छाया प्रत्यक्ष-

वादिनां मते नास्ति काप्यनुपपत्तिः। असति श्रेणीद्वयसन्निपातेऽपि सन्निपातच्छायाग्रहणं नासम्भवि।

बाह्यवस्तुसाक्षात्कारिणामेकदेशिभिर्मतद्वयस्य समन्वयः प्रस्तूयते। त एवं व्यवस्थापयन्ति। भ्रान्तप्रत्यक्षं वस्तुच्छायाग्राहि सन्देहमुक्तं यथार्थप्रत्यक्षं च बाह्यवस्तु साक्षात्कारि। नेत्राभ्यां बाह्यवस्तु साक्षात्क्रियते नवेति विचार्यम्। एकमपि बाह्यद्रव्यं महत्परिमाणकं समीपस्थैः सर्वैर्महद् द्रव्यमिति गृह्यते, परन्तु दूरे तिष्ठद्भिस्तैः सर्वैस्तदेव द्रव्यं क्षुद्रमिति दृश्यते। आकृतिभेदः कथमुपलभ्यते। दृष्टिविधिभ्य आकृतिभेदसंगतिसंरक्षणं न सम्भवति। कियद्दूरे द्रष्टा तिष्ठति तत्र स्थित्वा स तन्महद् द्रव्यं पश्यति। सर्वेषां तस्यावयवानां दूरत्वं द्रष्टुर्न समम्। सन्निहिता अवयवा असन्निहितेभ्योऽवयवेभ्यो महत्तराः प्रतीयन्ते। तत्रापेक्षिकमहत्तरत्वं बोध्यम्। एवं दृश्यवस्तुन आकृतिभेदो ज्ञायते। प्रत्यक्षगोचरवस्त्वन्तरैः सहास्य सम्बन्धस्य च वैलक्षण्यं भवति। नेयमुक्तिः समीचीना, यतो द्रष्टा तत्स्थानं परित्यज्य यदि स्वल्पदूरे व्रजेत्, तर्हि दृश्यवस्तुन आकृतिभेदस्तुल्ययुक्त्योचितोऽपि न ज्ञायते। द्रष्टा यदि दूरतरं व्रजेत् तर्हि तदेव द्रव्यं क्षुद्राकृति दृश्यते। एवं विधिस्थले किं समाधानम्? प्रत्यक्षं समीपस्थवस्तुसाक्षात्कारि, परन्तु दूरस्थितवस्तुनश्छायाग्राहि नेदं समाधानं विचार रम्यम्। एवं सति प्रत्यक्षव्यापारवैजात्यं जायते। वस्तुग्रहणव्यापाराद् विलक्षणो हि वस्तुच्छायाग्रहव्यापारः। न्यायशास्त्रसम्मतः प्रत्यक्षव्यापारो न साङ्ख्यशास्त्रोक्त-प्रत्यक्षव्यापारसदृशः। नायं सूचितो व्यापारभेदः प्रतीतिसिद्धः। नापि दृश्यदर्शनवैलक्षण्यम् अनुभवसाक्षिकम्। नापीन्द्रियेषु व्यापारभेदप्रयोजको विकारभेदः प्रमाणसिद्धः। भ्रमस्थलेऽप्येवं सहसा व्यापारभेदः कल्पनीयः। व्यापारद्वयस्य कोऽवधिः? इन्द्रियमेतत्पर्यन्तं वस्तुग्राहि ततो वस्तुच्छायामात्रग्राहि। द्रष्टुर्दृश्यस्य वस्तुनो दूरत्वं नावधित्वेन ग्रहीतुं शक्यते सन्निहिते दर्पणे स्वमुखप्रतिबिम्बदर्शनं किं वस्तुग्राह्यमथवा मुखच्छायामात्रग्राहि। प्रत्यक्षमिदं कीदृशम्, यथार्थमयथार्थं वा? विज्ञानसम्मतं जडसंस्थानं किं-गुणकम्? अस्य के मुख्य गुणाः? रूपादयस्तस्यारोपित गुणाः। आरोपितगुणानदृष्ट्वा मुख्यगुणान् न कोऽपि द्रष्टुं शक्नोति। जडद्रव्ये रूपादिप्रत्यक्षं विज्ञाननये भ्रान्तम्। तत्र किं समाधानम्? दर्पणे मुखप्रतिबिम्बदर्शने वा किं समाधानम्। दर्पणे मुखमिति चाक्षुषे प्रत्यक्षे दर्पणांशे प्रत्यक्षं वस्तुग्राहि, न तु मुखांशे दर्पणाभ्यन्तरे मुखस्याभावात्। प्रत्यक्षं नेन्द्रियमात्रजन्यम्, परन्तु ज्ञानान्तरयोजन साहचर्याधीनं प्रत्यक्षमिति सूचितं भवति।

अपरे केचन मन्यन्ते—स्पर्शेन्द्रियज प्रत्यक्षं वस्तुग्राहि, अपि त्विन्द्रियान्तरोत्पन्नं प्रत्यक्षं वस्तुच्छायाग्राहीति। मतमिदं न समीचीनम्। इन्द्रियाणां विशेषावधारणं दुष्करम्। स्पर्शप्रत्यक्षभ्रमे च कोपपत्तिः? विज्ञानसिद्धान्तानुसारेण वस्तुनो मौलगुणाः साक्षात्क्रियन्ते, परन्तु आरोपितगुणा अमुख्यगुणा वा न तथा। भूयोदर्शनेन तु ज्ञायते वस्तुनोऽमुख्यगुणान्

अप्रत्यक्षीकृत्य मुख्यगुणा न प्रत्यक्षीक्रियन्त इति। तत्र विज्ञानसिद्धानुगं किं समाधानम्। प्रत्यक्षज्ञानस्य बलाद् द्विधाभेदो न सुविवेचनाप्रसूतः। प्रत्यक्षज्ञानानां भूयिष्ठभागस्य वस्तुच्छायाग्राहित्वे स्वल्पभागस्य वस्तुसाक्षात्कारिताकथनं स्वेच्छाचारानुवर्तनमात्रं युक्तिविरहितं च। एवं व्यापकप्रसादेन प्रत्यक्षं वस्तुसाक्षात्कारीति सिद्धे कुत्र कुत्र स्थले प्रत्यक्षं वस्तुच्छायाग्राहीति कथनं स्वसिद्धान्तव्याहतं युक्तिविरुद्धं च। सर्वे वादिन ऐकमत्येन स्वीकुर्वन्ति बाह्यवस्तूनि बाह्यदृश्यविषयाश्च सन्तीति। एवं स्वीकृतेः फलं प्रत्यक्षं बहुलांशेनावस्तुसाक्षात्कारीति। वस्तुसाक्षात्कारवादिनां बहवः सम्प्रदायाः प्रत्यक्षभ्रान्तज्ञानसम्पर्कमधिकृत्य बहु समालोचितवन्तः, नानासमाधानानि कृतवन्तश्च। तेषां किमपि समाधानं न शोभनम्। युक्त्याभासा बहवः सन्ति। सर्व एते भ्रान्ताश्चेत्यत्र नास्ति सन्देहावकाशः। यथा परोक्षज्ञानं भ्रान्तम्, तथा प्रत्यक्षमपि भ्रान्तमित्यत्र नास्तिसंशयलेशः। अध्यापक लेयार्डमहोदयेन स्वीयग्रन्थे सर्वजातीयज्ञानं भ्रान्तं भवतीत्युल्लिखितम्। भ्रमः परोक्षापरोक्ष साधारण इति तात्पर्यार्थः बहुदृष्टान्तोपन्यासेन स स्वसिद्धान्तं दृढीकृतवान्। भारतीयदर्शनग्रन्थेष्वपरोक्षभ्रमस्यास्तित्वे नास्ति द्वैमत्यम्। अलं विस्तरेणं।

लेयार्डमहोदयसमाधानं विचार्यते। अनिष्टजनकं विकल्पद्वयं वस्तुसाक्षात्कारि प्रत्यक्षमिति मतं ग्रसति। यादृग्रूपेण वस्तु प्रत्यक्षीक्रियते, तादृग्रूपेण वस्तुनः पारमार्थिकसत्ताऽथवा सर्वत्र प्रत्यक्षं न वस्तु साक्षात्कारीति शङ्काद्वयस्य समाधानं न लब्धम्। तत्राभिनवं समाधानं दीयते। तद्यथा प्रत्यक्षमनु, अपरोक्ष विशिष्टबुद्धयः प्रत्यक्षमूला जायन्ते, ताश्च प्रत्यक्षविषयं ज्ञापयन्ति, तासां ज्ञापनं तु न वस्तुसंवादि। अस्य भावार्थः—प्रत्यक्षमूला अनुमित्यात्मिका विशिष्टबुद्धय एव भ्रान्ता न तु प्रत्यक्षज्ञानानि भ्रान्तानि। स्वकीयमतस्य रहस्यं तेनैव वर्ण्यते—प्रत्यक्षमूलाऽपरोक्षविशिष्टबुद्धिः प्रत्यक्षविषयम् अविशिष्टसमग्ररूपेण प्रकाशयति, न तु सत्यविशेषणान्वितविशिष्टरूपेण। तच्च विशेषणमात्रं प्रत्यक्षविषयस्तथा च प्रत्यक्षप्रमाकाले च यदि मतिरुदियान्निरुक्तविशेषणं प्रकृतसम्बधेन सम्बद्धमिति। अयं च सम्बन्धो न बौद्धः, अपि तु बाह्यवस्तुनिष्ठः। भ्रमस्थले तु विशेषणं यथार्थं गृहीतं भवति, परन्तु अस्य सम्बन्धे यथा मन्यते न तथा। प्रतिपक्षा अत्र समाधाने विकल्पत्रयात्मिकाः शङ्का उत्थापयन्ति। यदि विशेषणांशे प्रत्यक्षयथार्थता सर्वत्र स्यात् तर्हि तेनावश्यमभ्युपेयं प्रत्यक्षगृहीतानि विशेषणानि बहिर्जगति तथा सन्तीति। मद्यपो रोगी वा आकृतिविशेषविशिष्टरूपि द्रव्यं सर्पं मूषकं वा पश्यति। जलाभ्यन्तरे स्थापितसरलयष्टिं, सर्वे जना वक्रयष्टिरूपेण पश्यन्ति, पीडिते नयनगोलके सर्वो जनो वस्तुद्वयं पश्यति च। किं सर्वे प्रत्यक्षगृहीता विषया बाह्ये जगति विद्यन्ते? न ते विद्यन्त इति तु सर्वसम्मतम्। अथ पक्षान्तरं तेनावलम्बनीयम्। तद्यथा—प्रत्यक्षविषयस्य बाह्यवस्तुना सहैक्यं नास्ति। अथवा जलमध्यस्था यष्टिर्यदा दृश्यते, तदा न किमपि वक्रं दृश्यते, परन्तूत्प्रेक्ष्यते वक्रा यष्टिर्दृश्यत इति। आद्यं पक्षद्वयं द्विमुखविकल्पेन निरस्तम्। तृतीयपक्षस्तु बहुभ्यो रोचते।

अतस्तृतीयः पक्षः पृथक्परिच्छेदे सन्निवेशमर्हति।

मुरप्रिचार्ड प्रमुखाध्यापकवर्यैः सूचितं भ्रान्तप्रत्यक्षस्थले यत् तु साक्षात्कृतम्, न स इन्द्रियसन्निकृष्टो विषयो गुणविशेषण सम्बन्धः, परन्तु सगुणित्वेन प्रतीयत इति। अस्मिन् पथि यथा वयं जलावगाढां सरलयष्टिं साक्षात्कुर्मः, तदा या तु साक्षात्क्रियते न सा वस्तुतो वक्रा, किन्तु सा वक्रेव प्रतीयते। समाधानं सारवत्तमं स्याद् यदीदं वस्तुसाक्षात्कारिप्रत्यक्ष-मिति वादेन सह संवादि स्यात्। असंशयं वयं विभावयामः यद् वस्तु साक्षात्कृतं न तद् वक्रमिव प्रतीयते। केवलम्, परन्तु तद् यथार्थतो वक्रमेवेति। बाह्यवस्तु भवतु नाम सरलम्, यद् वयं साक्षात्कुर्मस्तत् तु वक्रम्। इदमेव वस्तु वृत्तम्। वस्तुतः किमपि वक्रं द्रव्यं नास्ति, परन्तु वक्रतयेव प्रतीतिमात्रमिति प्रत्यक्षस्य विवरणं तु न प्रत्यक्षं वस्तु स्वरूपग्राहीति मतस्य निरसनमात्रम्। किन्त्वस्य तात्पर्यार्थोऽतिगम्भीरः। आनुषङ्गिकार्थः प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं भवतीति। साक्षात्कृतवस्तुतत्वमधिकृत्य यावत्यो विशिष्टबुद्धयो विद्यन्ते, तावतीनां भूयिष्ठभागोऽयथार्थः। तथा सति रूपविशेषविशिष्टद्रव्यमिदमितिव्यवहारस्तु प्रत्यक्ष-मूलकः। प्रत्यक्षस्य प्रामाण्ये संशयिते वस्तुरूपान्तरविशिष्टमपि भवितुमर्हति। अस्याकृति-रन्ये गुणाश्च न तथा भवन्तीति कथनं तु न प्रत्यक्षबलेन बाधितं भवति। भ्रमस्तु न दृष्टानुमितिप्रभवः। प्रत्यक्षात्मकभ्रमस्त्वबोधपूर्वकं दृष्टानुमितिरूपेण गृहीतो विवृतश्च। दृष्टानुमानं तु न प्रत्यक्षभ्रमस्य कारणम्। प्रणिधानेन बहोः कालात् सुदृष्टापि जलावगाढा यष्टिः संलक्ष्यते। जलाभ्यन्तरे (तत्र) वक्रं किमपि द्रव्यमिति प्रत्यक्षम्। प्रत्यक्षं भ्रान्त-मप्यस्तीति तु सुस्थितम्। नायं प्रत्यक्षभ्रमस्यासाधारणो दृष्टान्तः, नापि च प्रत्यक्षप्रमः कादाचित्कः। परन्तु बहुषु क्षेत्रेषु प्रत्यक्षज्ञानम् आंशिकभ्रमदुष्टम्। बहवो दार्शनिका न्निभावयन्तु नाम गुणादिधर्मं प्रत्यक्षे, न वयं कदापि भ्रान्ता यथाऽऽत्मप्रत्यक्षेऽपि च न वयं बहूनां प्रत्यक्षज्ञानानामप्रामाण्यं स्वीकुर्मः, यतोऽप्रामाण्यस्य परिधिविस्तारे संशयास्कन्दितं प्रत्यक्षं स्याद् एवं सति च संशयवादपर्यवसानरूपफलमवश्यम्भावीति, तथापि भ्रान्तप्रत्यक्ष-मस्ति, अस्य कारणनिर्देशः सयुक्तिकं करणीयः। भ्रमज्ञानविषयस्य स्वरूपं च विचार्यम्। संलग्नानि प्रश्नान्तराणि च समाधेयानि। गुणादिविशेषणांशे भ्रमो भवति। गुणांशे भ्रम-स्थले गुणो न विशेष्येण सह सम्बद्धः, यतो धर्मी न गुणरूपविशेषणावच्छिन्नो भवति। सर्व-जनैः स्वीकृतं यदा जलमध्यस्थां यष्टिं वयं पश्यामस्तदा वक्रतां पश्याम इति। वक्रता गुणः, सा चात्र न यष्टिरूपद्रव्येण सह संबद्धा। असंबद्धा गुणस्य सत्ता च न कुत्रापि दृष्टा। बहवो दार्शनिका मन्यन्ते अत्र वक्रता न बाह्यवस्तुना सम्बद्धा, अपि त्विन्द्रियग्राह्यवस्तु-प्रतिनिधिस्वरूपेण केनापि तत्त्वान्तरेण सह सम्बद्धेति। प्रस्तुते मते तु विशेषणं न कस्याप्य-वच्छेदकम्। वक्रता स्वरूपं गुणसामान्यम् अनवच्छेदकरूपेणाऽव्यवहितानुभवगोचरो भवितु-मर्हति, अपि तु गुणव्यक्तिविशेषोऽसम्बद्धः सन्न विशेषणरूपेणैतादृशानुभवविषयो भवति। वक्रा यष्टिर्दृश्यते इति भ्रमस्थले वक्रता गुणव्यक्तिविशेषो न तु गुणसामान्यम्। विज्ञान-

दृष्ट्या यद्यमुख्यगुणानां ज्ञानातिरिक्तसत्ता निराकृता स्यात् तर्हि रूपिद्रव्याणां सत्ता दुर्घटा भवेत्।

प्रस्तुत मते चापरा विप्रतिपत्तिर्दृश्यते। बाह्ये जगति एकश्चन्द्रो विद्यते। जनाः कस्यामपि दशायां चन्द्रद्वयं पश्यन्ति। एवमेकस्य विषयस्य सत्यत्वेऽपि विषयद्वयदर्शनम् इन्द्रियेऽवस्थान्तरं प्राप्तवति घटते। एवं दर्शनस्य सम्भाव्यता कथं प्रदर्शयितुं शक्या? प्रत्यक्षज्ञानं वस्तु साक्षात्कर्तुं प्रभवति। द्वितीयश्चन्द्रोनास्ति। कथं तस्य साक्षात्कारः? मति विभ्रमे त्वलीकं विषयो दृश्यते। इन्द्रियग्राह्यो विषय ऐन्द्रजालिकदृश्यवत् तुच्छः। सत्यवस्त्वन्यथा दृश्यत इति तु भवतु नाम। मतिविभ्रमादिस्थलेष्वनुभूतिविषयस्तु तुच्छः। यच्चासत् तत् कथमन्यथा दृश्येत। अत्रोत्तरं यदि भवेन्नात्र बाह्यवस्तु दृश्यते, अपि त्विन्द्रियग्राह्यं वस्तु निधिस्वरूपमबौद्धं किमपि तत्त्वान्तरं दृश्यत इति तर्हि प्रत्यक्षं वस्तुसाक्षात्कारीति मतं क्षुण्णं स्याद्यतो वस्तुज्ञानं व्यवहितमित्युत्तरस्य तात्पर्यम्। अपि च, मतिविभ्रमेऽनुभूतविषयस्य बाह्यजगति सत्ताऽङ्गी कार्या। सिद्धान्ती मतिविभ्रमादिस्थल एवं समाधातुमर्हति-तत्र प्रत्यक्षविषयो हि दिग्भावविशेषो दिक्कालभागविशेषो वा योऽन्यथा दृश्यत इति। अत्रोत्तरं न ग्राह्यम् दिग्भागविशेषस्य दिक्कालभागविशेषस्य वा प्रत्यक्षग्राह्यतायां दृष्टान्ताऽभावात्।

अन्ये 'मन्वटनञ्'-प्रमुखदार्शनिकाः समाधानान्तरमुत्थापयन्ति। तेषां मते तु भ्रमविषयाणां भिन्नजातीया सत्तास्ति। तेषां सत्ता सत्यबाह्यवस्तुनः सत्तायाः पृथक्। लोकव्यवहार्यवस्तुनः सत्ताया अपि विजातीयास्य सत्ता। भवतु नाम भ्रमविषयस्य कापि सत्ता। बाह्यवस्तुना सह भ्रमविषयस्यैक्यं न कदापि सम्भवेत्। वक्रा यष्टिःसरलाया यष्ट्या अभिन्ना कथं स्यात्? सरलयष्ट्या भिन्नाऽऽकृतिर्न वक्रा यष्टिः। नापि यष्टिगतैकाऽवस्था, अपरा च वक्रा। वस्तु साक्षात्कारि प्रत्यक्षमिति मतं न संरक्ष्यते भ्रमविषयस्य विजातीयसत्तायां सत्यामपि।

प्रत्यक्षं 'बाह्यवस्तु साक्षात्कारि' इति मतस्य परिपोषको न्यायसारो वर्ण्यते। अयं वादो यदि बाधितो भवेत्, तर्हि सर्वे जना निजनिजज्ञाननिचयमात्रनिरुद्धाः स्युस्तथा च बाह्यजगदस्तित्वे विश्वासो न्याय इति न प्रतिपाद्यते। इयं युक्तिः किं निरुक्तवादं साधयति। बाह्यजगत्सत्यम्, तत् सदित्यादिवाक्यानां प्रामाण्यमनुमानाधीनमथवा स्वतः। तानि स्वप्रामाण्यार्थं न कदापि वस्तु साक्षात्कारि प्रत्यक्षमिति पक्षमपेक्षन्ते। 'दष्यतु दुर्जनः' इति न्यायेन निरुक्तवादमपेक्षते। जगदस्तित्वविश्वासस्य बाह्यजगत् सदिति वाक्यस्य च यथार्थतेति सिद्धान्तःआपाततः स्वीकृतः। तथा कृतेऽपि निरुक्तवादो वस्तुवृत्तमित्यायाति। तस्य वस्तुवृत्तत्वे नायं बाह्यवस्त्वस्तित्वे सम्यग्विश्वासं ज्ञानं वाऽपेक्षितुमर्हति स्वसिद्ध्यर्थम्। परन्तु बाह्यवस्तुवादिनः बाह्यवस्तुनोऽस्तित्वमाश्रित्य प्रत्यक्षं वस्तुसाक्षात्कारीति साधयति प्रत्यक्षं वस्तुसाक्षात्कारीति पक्षमाश्रित्य 'बाह्यवस्तु' इति साधयति। अन्योन्याश्रयदोषो दुर्निवार्यः। बाह्यवस्त्वस्तित्वे विश्वासमवलक्ष्य तेषां युक्तिः न्यायवाक्येन प्रदर्श्यते।

बाह्यवस्त्वस्तित्वे विश्वासो ममाभीष्टः। असति वस्तुसाक्षात्कारि प्रत्यक्षमिति पक्षस्य प्रामाण्ये प्रतिज्ञातस्य विश्वासस्य यथार्थतां साधयितुं न शक्नोमि। अतः वस्तुसाक्षात्कारि प्रत्यक्षमिति पक्षो युक्तः। कुतर्कोऽयं न शून्ये गृहमिव स्वयमेवासन्नो न किञ्चिदपि साधयति।

वस्तुसाक्षात्कारवादिन आत्मपक्षमेवं समर्थयितुमर्हन्ति, प्रामाण्यस्य व्याख्यान्तरेण। केषाञ्चिन्मतेनाऽस्माकं बाह्यवस्तु जानामीत्याकारकमवस्थितं नैसर्गिकं मानमस्ति। इदं ज्ञानं ज्ञानविषयकम्। असति वस्तु साक्षात्कारे, इदं ज्ञानं निर्विषयं स्यात्। अस्य ज्ञानस्य विश्लेषणपूर्वकं विषये निश्चिते प्रत्यक्षं बाह्यवस्तु साक्षात्कारीति पक्षः प्रामाणिक इत्यवबुध्यते। भवतु नाम नैसर्गिकं वस्तुज्ञानम्। नास्य प्रामाण्यं स्वतः सिद्धम्। इदं ज्ञानं स्वतः प्रमाणमित्यभ्युपगच्छाम। कुसंस्कारप्रभव इति विवादिनां प्रत्युत्तरम्।

वादिनां स्वपक्षस्थापनार्थं प्रमाणव्याख्यान्तरम्। बाह्यवस्तुनोऽस्तित्वे विश्वासोऽन्तःकरणवृत्तिविशेष आत्मगुणो वा। नायं निष्कारणकः। अन्तःकरणस्यान्यो वृत्तिविशेषोऽन्यथात्मगुणो वाऽस्य कारणं भवति। योग्यतया बाह्यवस्तुसाक्षात्कार एवास्य कारणं भवितुमर्हति। वादिनामनुपलब्धं कारणान्तरमप्यस्ति। तच्च 'प्रधान कारणम्। 'बाह्य वस्तु पश्यामि' इत्यादिमं सार्वजनीनमव्यवहितं ज्ञानम्। इदं ज्ञानं तु नैयायिकानां मतेऽनुव्यवसायात्मकम्। तच्च ज्ञानं स्वतः प्रमाणमिति तेषां मतम्। अभ्युपगतेऽप्येतस्मिन्मते बाह्यवस्तुप्रत्यक्षमभ्रान्तमिति न सिद्धम्। भ्रान्तपक्षानुव्यवसायो न प्रमा, यद्यपि ज्ञानप्रत्यक्षांशे प्रमाणमपि विषयांशेऽप्रमाणं भवत्यन्यथा भ्रमस्योच्छेदापत्तिः। नैसर्गिकज्ञानस्य प्रमात्वं न विश्वासस्य कारणम् अपितु तस्य पूर्ववर्तितामात्रम्। भ्रान्तमभ्रान्तं वा नैसर्गिकज्ञानं विश्वासस्य कारणम्। अतएव च नैसर्गिकनिश्चयबलाद् बाह्यवस्तुप्रतीतेर्बाह्यवस्तुसाक्षात्कारोऽभ्रान्त इति न सिद्ध्यति।

बाह्यवस्तु प्रतिक्षणं परिणमति। चाक्षुषं प्रत्यक्षं प्रति विषयाद् विनिर्गतालोकश्चक्षुः प्राप्य कमपि विकारं जनयति। स च विकारो मस्तिष्के कमपि विकारं जनयति। ततो विषयज्ञानं जायते। ज्ञानजननप्रक्रियायास्तात्पर्यं वर्तमानबाह्यवस्तु न कदापि दृश्यते ज्ञानोत्पत्तिकाले तत् त्वतीतम्। वस्तुनोऽक्षणिकत्वेऽपि क्षणकृतमवस्थान्तरमस्य जातमित्यत्र नास्ति सन्देहः। अस्ति सूक्ष्मोऽगृहीतोऽपि क्षणो वस्तुनोऽवस्थान्तरं घटयतीति युक्तिसिद्धम्। एतत्क्षणविशिष्टं वस्तु तत्क्षणविशिष्टं न भवति। अत एव च यथायथं वस्तुसाक्षात्कारः कदापि न सम्भवति, यथा नैयायिकनये आद्यशब्दस्य प्रत्यक्षत्वं न सम्भवति। एवं केनापीन्द्रियेण वर्तमानवस्तु न गृह्यते। अत एव प्रत्यक्षं न वस्तुसाक्षात्कारि। इविङ्गमहोदयमतेन कल्पनालाघवरूपानुकूलतर्को वस्तुप्रतिबिम्बग्राहि प्रत्यक्षमिति पक्षान्तरं दृढयति। भ्रान्तप्रत्यक्षस्योपपत्त्यर्थं यथावभासं भ्रान्तप्रत्यक्षविषयस्य बाह्यजगति सत्ता स्वीकार्याऽथवा भ्रान्तप्रत्यक्षस्थानप्रत्यक्षं वस्तु प्रतिबिम्बग्राहीत्यभ्युपेयम्।

आद्यो विकल्पो न केनापि स्वीक्रियते, प्रमाणाभावात्। द्वितीये विकल्पे स्वीकृते वस्तुस्वरूपग्राह्यभ्रान्तप्रत्यक्षमिति सिद्ध्यर्थं ज्ञानविषयवस्तुस्वरूपं निर्णेयम्। अस्य निर्णयोदुर्घटः। वस्तुस्वरूपग्राहि प्रत्यक्षमिति कथनं साहसमात्रम्। पुनश्च द्रष्टुर्देहं बाह्यवस्तु च सम्भूय किमपीन्द्रियग्राह्यं तत्त्वान्तरं जनयति। तत्तु बाह्यं सदपि वस्तुनस्तदंशतश्च भिन्नम्। तत्तु वस्तु प्रतिनिधिस्थानीयम्। तदेव गृह्यते न तु वस्तु। अस्य सञ्ज्ञा सेनसामिति। वस्तुतस्तु इन्द्रियग्राह्यं वस्तुनः प्रतिनिधिस्थानीयं तत्त्वान्तरमस्ति नवेति विचार्यम्। एतत् तत्त्वं विचारसापेक्षमित्यध्यापकब्रड्प्रभृतीनां मतम्। द्रष्टुरवस्थानविशेषवशाद् जागतिकशारीरिकान्तरकारणकूटजन्यं भिन्नं फलं जायत इति त्वभ्युपगममात्रं न च सम्यक् परीक्षया प्रमाणितम्। बाह्यवस्तुन एवं धर्मान्तरमुत्पद्यत इति तु भूयो दर्शनेनाऽऽविष्कार्यम्।

एकं वस्तुश्चक्षुःपीडनेन नैकं दृश्यते। वस्तुद्वयदर्शनं भवति। बाह्यजगत्येकं वस्त्वस्ति। यथैकश्चन्द्रो भाति गगने। युगपद्द्विचन्द्रदर्शनं कथं घटते? द्वितीयश्चन्द्रो नास्ति। दर्शनद्वये वैषम्यं नास्ति। एकत्र यदि वस्तुनो दर्शनं भवति। दर्शनान्तरे तु वस्तुनो न ग्रहणम्। तस्य प्रतिबिम्बस्य च ग्रहणमकामेनापि स्वीकर्तव्यम्। एकत्र वस्तुदर्शनमपरत्र प्रतिबिम्बदर्शनं कथम्? किं कारणविशेषनियन्त्रणवशादेवं कार्यभेदः? अपीडितेन सव्येन चक्षुषा वस्तुग्रहणम्। तारकामध्यदेशेन वस्तुनः सन्निकर्षः वस्तुग्रहणकारणम्। सव्येतरचक्षुषः प्रान्तभागेन वस्तुनः प्रतिबिम्बमात्रग्रहणमात्रमिति ग्रहणवैलक्षण्ये हेतुरिति तेषां समाधानम्।

'इवियम्' महोदयेन 'इन्द्रियग्राह्यतत्त्वान्तरं न बाह्यं वस्तु न वा ज्ञानाकारः' इति प्रतिपादितम्। तस्य कार्यकारणभावस्त्वलौकिक इति च प्रतिपादितम्। ब्रड्महोदयेन एतन्मतं निरस्तमिति तु प्रागेवोक्तम्। वस्तुप्रतिबिम्बं च न ज्ञानाकार इति इवियम्' महोदयेन प्रतिपादितम्। तत्तु न बाह्यं वस्तु नापि ज्ञानाकारः, अपितु तस्य विलक्षणसत्ता तेन स्वीकृता। अस्यास्तित्वं पाश्चात्त्यदार्शनिकानां भूयिष्ठांशेन स्वीकृतम्। आत्मनः सङ्कलनशक्तिरस्योत्पत्तौ सहकारिकारणम्। एवमन्येऽप्यन्तर्धर्माः एतदुत्पत्तौ सहकारिकारणानि। अस्य मते त्वदृष्टं ज्ञातं वा बाह्यवस्त्वस्तीति कल्पयितुं शक्यते। बाह्यवस्तुनः ज्ञानाकारत्वेऽहं नीलोऽहं वर्तुलाकृतिरहं दीर्घ इत्यादिप्रतीतिः स्यात्। वस्तुप्रतिबिम्बग्राहि प्रत्यक्षमिति पक्षस्तु न दोषमुक्तः। वस्तुप्रतिबिम्बानि साधारणदिश्यवस्थितानि न वेति विचारे सदुत्तरं न लभ्यते। प्रतिबिम्बद्वयस्य दूरत्वं न केनापि कदापि परिमितम्। साधारणदिशि तयोरवस्थितौ तयोर्दूरत्वमवश्यमेव परिमेयम्। प्रतिबिम्बानाम् असाधारणदिक्ष्ववस्थितौ साधारणदिग्विभागे साधारणवस्तु प्रत्यक्षं बहूनां द्रष्टॄणां न सम्भवति। सुखादिप्रत्यक्षं किं सुखादिप्रतिबिम्बग्रहणम्? सुखप्रतिबिम्बस्यासुखात्मकत्वेन कदापि सुखानुभवः स्यात्। एवं दुःखादिप्रत्यक्षेऽप्यनुपातो दुष्परिहार्यः।

पाश्चात्त्यमतालोचनेन ज्ञायते बाह्यवस्तु स्वरूपग्राहिप्रत्यक्षमिति मतं सम्यक्तया

न प्रतिपादितं तद्देशीयप्रतिवादिभिरिति। सर्वं प्रत्यक्षज्ञानं न ज्ञानाकारणमिति प्रतिवादिनामाशयः। परन्तु प्रत्यक्षज्ञानं न ज्ञानकरणमिति तु प्राच्यसिद्धान्तः प्रणिधेयः। बहुस्थलेषु प्रत्यक्षकारणं ज्ञानं भवति। चक्षुषः पीडनेन यत्र द्विचन्द्रदर्शनं भवति, तत्रापि वस्तुग्रहणमेव भवति। चतुर्भ्यां सम्भूय वस्तु दृश्यत इति तूत्सर्गः। पीडनेन तयोः सम्भूय कार्यकारिता व्याहता। चतुर्द्वयं परस्परनिरपेक्षं सच्चन्द्रादि पृथक्-पृथक् पश्यति। दिग्भ्रमश्चापीन्द्रियपीडाजन्यः। चित्तविभ्रमस्थल आन्तरकारणवशाद् आत्मा सङ्कलनशक्त्या विचित्रं ज्ञानमुत्पादयति। तत् तु विशिष्टं ज्ञानम्। विशिष्टज्ञानघटकीभूतं प्रत्येकं ज्ञानं सविषयकम्। ज्ञानं स्वविषयं प्रकाशयति। ज्ञातविषयोऽपि विचित्रो भवति। सन्निहितेन केनापि वस्तुना चक्षुःसंयोगो भवति। तत् तु वस्त्विदन्तया प्रतीक्षीक्रियत। इन्द्रियसन्निकृष्टधर्मिणि ज्ञानोपनीतविषयस्तु प्रकारीभूय भासते। भ्रान्तमपि प्रत्यक्षं धर्म्यंशेऽभ्रान्तं, प्रकारांशे तु विपर्यस्तम्।

चित्तभ्रमस्थलमपि न विलक्षणं भ्रान्तप्रत्यक्षम्। वृक्षश्रेणीद्वयं सन्निपातप्रत्यक्षमपि भ्रान्तम्। तत्र भ्रमकारणं दूरत्वरूपदोषः। दूरत्ववशाद् व्यवधानप्रकाशकालोकग्रहणं भवति। सायाह्ने तादृशालोकग्रहणे तद्दूरस्थितं वृक्षद्वयमपि संगतं मन्दालोके दृश्यते। जलाऽभ्यन्तरस्थिता यष्टिः तरङ्गायितसलिलयोगाद् उपनीतिवक्रताग्रहणाद् वक्रा दृश्यते। सर्वत्र भ्रमस्थले दोषवैचित्र्याद् उपनीतभानं भवति। एष एवौत्सर्गिको विधिर्भ्रमनियामकः। ज्ञानाकारणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, न त्विन्द्रियसन्निकर्षजन्यं ज्ञानाकारणकं ज्ञानम्। अभ्रान्तप्रत्यक्षस्थलेऽपि स्थलविशेषे उपनीतभानं भवति। तत्र तु भ्रमसाधको दोषो नास्ति। वस्तुप्रतिविम्बग्राहि प्रत्यक्षमिति मते तु प्रतिविम्बं वस्तुसदृशमिति ज्ञानं तु वस्तुनः स्वरूपाग्रहणे सति कथं भवति। प्रतिवादिभिर्वस्तुग्रहणं प्रतिबिम्बंग्रहणं च यत इति स्वीकर्तव्यम्। तथा सति प्रत्यक्षानन्तरम् इदं वस्तु इदं चास्य प्रतिविम्वमिति ज्ञानद्वयमवश्यं स्वीकर्तव्यम्। एष पक्षोऽनुभवसाक्षिको न भवति। दर्पणे मुखप्रतिविम्बं दृश्यते, न तु बिम्वभूतं मुखम्। अतएव प्रतिविम्ववादोऽवश्यमेव स्वीकर्तव्य इति तु न युक्तिः। दर्पणस्य स्वच्छतया प्रतिविम्वग्राहिता न तु सर्वत्र वस्तुनः प्रतिबिम्बं सुलभम्। मुखप्रतिबिम्बं साधारणं दृश्यम्। तत् त्वनेकैर्योग्यस्थानावस्थितैर्द्रष्टृभिर्दृश्यते। नेदं प्रतिविम्बं द्रष्टृविशेषजन्यम्। वादिभिरभ्युपगतप्रतिबिम्बं तु न तादृशम्। केषाञ्चिन्मतेन द्रष्टृमुखसंयुक्ता आलोकरश्मयो दर्पणप्रतिहता दर्पणसंयुक्तालोकरश्मिसंमिश्राः पुनर्द्रष्टृनयनान्तः प्रविष्टा एवं प्रत्यक्षं जनयन्तीति। यथा तथा वा भवतु मुखप्रतिविम्बदर्शनं तु नियतकारणजन्यं भ्रमात्मकमपरोक्षज्ञानमिति ध्येयम्। रूपप्रत्यक्षं कथं भवति ? वैज्ञानिक मते तु रूपिवस्तु नास्ति। तत्र प्रतिविम्बप्रत्यक्षस्वीकारे कथं वोपपत्तिर्भवति। प्रतिविम्बं वस्तुसदृशं न वा। आद्यपक्षे वस्तुनो रूपं नास्ति। नीरूपवस्तुनश्चाक्षुषप्रत्यक्षयोग्यता नास्ति। प्रतिविम्बं रूपवत् परिमाणवच्च। एतादृशं परिमाणं चक्षुग्राह्यं भवति। बिम्बप्रतिबिम्बयोर्महद् वैलक्षण्यं जातम्।

एवं सतीदं वस्तु प्रतिविम्वं भवतीति शपथमात्रगम्यं न तु प्रामाणिकम्। यस्य वस्तुनश्चाक्षुषप्रत्यक्षं भवति तस्य रूपवत्त्वमवश्यमेव स्वीकर्तव्यम्। तथा सति रूपस्य ज्ञानाकारता बाह्ययवस्तुनिष्ठता वा स्वीकार्या। आद्यपक्षे तस्यानेकप्रत्यक्षसाधारणविषयत्वं न स्यात्। रूपप्रत्यक्षशाव्दप्रयोगस्तु 'अहंरूपी' इति वाक्यात्मकः स्यात्। रूपस्य वाह्ययवस्तुनिष्ठताऽवश्यमेवाभ्युपेया। दृष्टानुसारिणी कल्पना भवति। वैज्ञानिकमतं तु न दृष्टमनुसरति। प्रवलयुक्तिवलाद् यदि वैज्ञानिकसिद्धान्तः प्रामाणिकः स्यात्तर्हि वस्तुनोऽवस्थाविशेषे रूपोत्पत्तिरवश्यमेव कल्पनीयाऽन्यथा रूपप्रत्यक्षस्य सङ्गतिर्दुर्लभा स्यात्। वैज्ञानिकैरपि रूपप्रत्यक्षस्य कारणोल्लेखपूर्वकमुपपत्तिः प्रदर्शनीया। न च सा लभ्यते। पाश्चात्त्यदर्शने व्यवसायः स्वप्रकाशः। इदंवस्त्वित्याकारेण प्रत्यक्षं भवति। अनुव्यवसायेन प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रकाशितं भवति। अनुव्यवसायश्चापरोक्षं ज्ञानम्। इदं स्वविषयं साक्षात्करोति। अन्तराले किमपि प्रतिनिधिस्थानीयं नास्ति। मानसप्रत्यक्षस्थल आन्तरधर्माः सुखदुःखरागद्वेषेच्छादय स्साक्षात्क्रियन्ते। अस्मिन् प्रत्यक्षे प्रतिविम्वकल्पना विडम्वनामात्रम्। साक्षात्कारात्मकं ज्ञानमेतादृशस्थलेषु विषयस्वरूपग्राहि भवतीति सर्ववादिभिः स्वीकर्तव्यम्। एषु विषयेषु भ्रमस्थलेऽप्यांशिकसत्यता सर्वैः स्वीकर्तव्या। दृष्टानुसारिणी कल्पना ग्राह्या भवति। अत्र तु वस्तुरूढा कल्पना। साक्षात्कारोऽव्यवहितज्ञानं भवति। स तु विषयस्वरूपग्राहकः। भ्रान्तप्रत्यक्षमपि आंशिकसत्यं भवति। अत एवं भ्रमप्रमासाधारणसाक्षात्कारात्मकं ज्ञानं धर्मिस्वरूपग्राहि भवति। अतएव प्रत्यक्षं वस्तुस्वरूपग्राहीति मतमेव समीचीनम्। प्रतिविम्वादिकमलौकिकतत्त्वं भवति। अलौकिकपदार्थस्य कार्यकारणभावादि व्यवस्थापि विजातीया। कल्पनागौरवं प्रतिविम्वग्राहितावादे एव गरीयः। सविकल्पकप्रत्यक्ष आत्मनः शक्तिविशेषो ज्ञानादिकं च यथाप्रयोजनं कारणत्वेन कल्पनीयः। अतएव वस्तुस्वरूपग्राहि प्रत्यक्षमिति पक्षस्तु श्रेयानिति शम्।

प्रमाणेषु शब्दस्य स्थानम्

पण्डितश्री मुरलीधरपाण्डेयः

प्रमाणविषये बहवो मतभेदाः सन्ति । तत्र चार्वाकः प्रत्यक्षमेव प्रमाणमङ्गीकरोति। सौगत-वैशेषिकौ प्रत्यक्षमनुमानं चेति द्वे प्रमाणे, साङ्ख्ययोगाश्च प्रत्यक्षमनुमानं शब्दं चेति त्रीणि प्रमाणानि, नैयायिकाः प्रत्यक्षमनुमानमुपमानं शब्दं च चत्वारि प्रमाणानि, प्राभाकराः प्रत्यक्षमनुमानमुपमानं शब्दमर्थापत्तिं चापि पञ्च प्रमाणानि, कुमारिलभट्टस्तथा वेदान्तिनस्त्वेतदतिरिक्तमनुपलब्धिमभ्युपगम्य षट् प्रमाणानि, पौराणिकास्तु प्रमाणेष्वैतिह्यं संभवं चेति संनिवेश्याष्टौ प्रमाणानि मन्यन्ते ।

एवं शब्दप्रमाणस्य परिपन्थित्वेन चार्वाकः बौद्धा वैशेषिकास्त्रय उपतिष्ठन्ते । अतः शब्दस्य प्रमाणेषु स्थापनार्थमेतेषां त्रयाणामेव मतान्यत्रालोच्यन्ते । चार्वाकमतस्य प्रामाणिको ग्रन्थोऽद्यत्वे नोपलभ्यते । तस्य मतमितस्ततः प्रक्षिप्तं ग्रन्थेषु प्राप्यते । अतस्तदेवोद्धृत्य चार्वाकस्यैकप्रमाणवादस्योपहासः सौगतादिभिः कृतः । मोक्षाकरगुप्तेन तर्कभाषायां चार्वाक उन्मत्तः कथितः—'नानुमानं प्रमाणमिति च ब्रुवन् कथन्नाम नोन्मत्तश्चार्वाकः स्यात्।' यदि चार्वाकं प्रति पृच्छ्येत् यत् प्रत्यक्षमेव प्रमाणं भवान् कथमङ्गीकरोति, तदाऽस्य यदुत्तरं भविष्यति तदनुमानमूलकमेव भविष्यति । एवमेव वायोः स्वीकृतिरप्यनुमानमूलिकैव भविष्यति। यतो वायुर्न प्रत्यक्षः, तस्य कार्यं स्पर्श एव प्रत्यक्षम्, एवञ्च कारणभूतस्य वायोरनुमानं भवति। मोक्षाकरगुप्तस्यैकस्तर्को मार्मिकोऽस्ति। तेन कथितं यच्चार्वाकः खलु प्रत्यक्षलक्षणं परप्रतिपादनाय प्रणयति। परस्य च बुद्धिर्न प्रत्यक्षा, किं तर्हि ? कायवाग्व्यापारादिकार्यादनुमेया। ततोऽनेन चार्वाकेण कार्यलिङ्गजमनुमानं बलादभ्युपगतं स्यात्। (तर्कभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेदः)।

एतद्रीत्याऽनुमानमन्तरा स्वल्पमपि कार्यं न प्रचलिष्यति। अधुना शब्दमन्तरापि कानिचित् कार्याणि न प्रचलिष्यन्तीति दर्शयिष्यते। एतस्मात् प्राक् शब्दानङ्गीकारे चार्वाकस्य का वाचोयुक्तय इति प्रदर्श्यन्ते। स कथयति—'नापि शब्दस्तदुपायः काणादमतानुसारेणानुमाने एवान्तर्भावात्' (सर्वदर्शनसङ्ग्रहे ७ पृष्ठे)। एवं काणादसम्मतमनुमानप्रमाणमस्वीकुर्वन्नपि चार्वाकः शब्दप्रमाणखण्डनावसरे काणादमतमेवाङ्गीकृतवान्। अतः काणादमतस्य खण्डनेनैव चार्वाकोऽपि प्रत्युक्तः स्यादित्युक्त्वा काणादमतं सम्प्रति समालोच्यते।

वैशेषिकमतेन शब्दप्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावस्तन्निरसनं च

प्रशस्तपादभाष्ये शब्दस्यानुमानान्तर्भाव एको हेतुः प्रदर्शितः—समानविधित्वाद् अर्थाद् अनुमानस्य ये चत्वारो विधयस्त एव विधयः शब्दस्यापि। शब्दस्यातिरिक्ता कापि विशेषता नास्ति। अतः शब्दस्यानुमान एवान्तर्भावः।

समानता च यथा—

अनुमितौ	शब्दे
१. व्याप्तिग्रहः	१. शक्तिग्रहः
२. लिङ्गदर्शनम्	२. वाक्यश्रवणम्
३. व्याप्तिस्मृतिः	३. पदार्थस्मृतिः
४. अनुमितिः	४. वाक्यार्थबोधः

किन्तु प्रशस्तपादस्य समानविधित्वादिति कथनेनैव ज्ञायतेऽनुमितौ शब्दे च समानता भवेन्नाम, तथापि शब्दस्यानुमितावन्तर्भावो न सम्भाव्यते। समानता पृथग्भूतयोः वस्तुनोरेव भवतीति रीत्या शब्दस्य पार्थक्यं स्पष्टं प्रतीयते। अनुमितौ व्याप्तिग्रहो भवति, शब्दे च शक्तिग्रहः, ग्रहसाम्यं त्वस्ति, किन्तु व्याप्तेः शक्तेश्च साम्यं को विवेकशीलो मन्येत? द्वितीयविधौ तु समतापि नास्ति, अनुमितौ लिङ्गदर्शनं भवति, शब्दे च वाक्यश्रवणं लिङ्गेन सह वाक्यस्य दर्शनेन सह श्रवणस्य साम्यं नास्ति। तृतीयविधौ स्मृतिसाम्यमस्ति। किन्तु व्याप्तेः पदार्थस्य च समता कथं भविष्यति। तुरीये विधावनुमितिर्भवति, शब्दे च वाक्यार्थबोधो भवति। अत्रापि न किमपि साम्यम्।

अपराप्यसमानता[1]—अनुमाने साध्यरूपेण धर्मेण सह धर्मिणः प्रतीतिर्भवति। किन्तु शब्दे न कस्यचिदपि पक्षस्य प्रतीति सम्भवः। अर्थो न पक्षत्वेनोपस्थातुं शक्यः, तस्याज्ञातत्वात्। पक्षस्य च पूर्वत एव निश्चितिरावश्यकी। यदि शब्दः पक्षत्वेनोपस्थाप्येत, तर्ह्यनुमानस्य साध्यं किं भविष्यतीति प्रश्नः। अर्थवत्त्वं न साध्यत्वेनोपस्थातुं शक्यम्, यतो पर्वतादिपक्षाणां बाह्यादिसाध्यैर्यथा संयोगसमवायादयः सम्बन्धेन तथा शब्देन सहार्थस्य कोऽपि संबन्धो निर्धारयितुं शक्यते। शब्दार्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकसंबन्धः एव सम्भाव्यते, किन्तु तस्य संबन्धस्य ज्ञानं शब्दादर्थप्रत्ययानन्तरं भविष्यति, न त्वर्थप्रतीतेः प्राक्। शब्दार्थयोर्व्याप्तिरपि ग्रहीतुं न शक्यते, यतो यस्मिन् देशे काले वा शब्दार्थौ, तस्मिन् देशे च काले च द्वयोर्विद्यमानतावश्यकी। कलियुगे युधिष्ठिररूपस्यार्थस्याभावेऽपि युधिष्ठिरशब्दस्य प्रयोगो भवति। अतः समानविधित्वाभावाद् न शब्दप्रमाणमनुमानेऽन्तर्भवितु-

---

१. प्रशस्तपादभाष्यस्य न्यायकन्दली (अनुमाने शब्दान्तर्भावप्रकरणम्)।

मर्हति। धूमस्य वह्निना साकं न किञ्चिद् व्यभिचारोऽवलोक्यते किन्तु शब्देन सहार्थस्य व्यभिचारो दृश्यते। यथैकमेव चौरशब्दं दाक्षिणात्या भक्तार्थे किन्त्वार्यास्तस्करार्थे प्रयुञ्जते।

अपरोऽपि हेतुः शब्दस्यानुमानेऽन्तर्भावस्य विरोधी। सर्वेष्वनुमानेषु पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तैर्ज्ञानमपेक्ष्यते, न त्वाप्तोक्तत्वनिश्चयस्यापेक्षा। यदि शब्दे आप्त-त्वनिश्चयानन्तरमेव प्रामाण्यम्, तदा शब्दस्यानुमानेऽन्तर्भावो दुर्लभः।

न्यायकन्दलीकारेणोपरिनिर्दिष्टानां युक्तीनां निरासाय प्रयत्नो विहितः। किन्तु स आभास एव। स्थालीपुलाकन्यायेनैकस्य समाधानस्याभासता प्रदर्श्यते। शब्दार्थ-योर्व्याप्तिसाधनावसरे न्यायकन्दलीकारेणोक्तम्—'अत्रोच्यते यदूर्ध्वीकृतायां तर्जन्यां देशकालव्यवहितेष्वर्थेषु दशसंख्यानुमानम्, न तत्र संख्या धर्मिणी, अप्रतीयमानत्वात्। नापि तर्जनीविन्यासो धर्मी, तस्य प्रतिपाद्यमानतया दशसंख्यया सह संबन्धान्तराभावेन तद्विशिष्टप्रतिपादनायोगात्। नाप्यनयोरेकदेशता, नाप्येककालत्वम्, कथमनुमानप्रवृत्तिः?' इत्यादि। ऊर्ध्वीकृतया तर्जन्या या दशसंख्यायाः प्रतीतिर्भवति, तत्र संकेतेनैव निदानेन भूयते। संकेतस्थले च नानुमानं प्रसरति। सा तु साक्षात् संकेतिताया अभिधाया एव विषयः। काव्यप्रकाशकारेण मम्मटेन भर्तृहरिप्रोक्तायामभिधानियामक, 'संयोगो विप्र-योगश्च' इत्यादिकारिकायां संकेतस्याप्यर्थनियामकता स्वीचक्रे[२]। अत्राप्यनुमाने अतोऽत्र धर्मिणोऽन्वेषणे प्रयास एव विफलः।

अनुव्यवसायपार्थक्याच्च नहि शब्दोऽनुमानेऽन्तर्भवितुमर्हति। अनुमितेरनुमिनोमी-त्यनुव्यवसायो भवति। शब्दस्य च शाब्दबोधं करोमि (शब्दात्प्रत्येमि) इत्येवमनुव्यवसायो भवति।

उदयनाचार्यः शब्दप्रमाणस्य खण्डनावसरे पूर्वपक्षे पदार्थसंसर्गबोधरूपं शाब्दबोध-मनुमानप्रमाणेन गतार्थयति। संसर्गबोध एव वाक्यार्थबोध इति शब्दप्रमाणवादिनः कथयन्ति। अस्य च संसर्गस्य बोधोऽनुमानेनापि सम्भवति। अत्र द्विप्रकारकेऽनुमाने उपस्थापयन्ति। एकस्मिन्ननुमाने पदं पक्षीकृतमपरस्मिंश्चानुमाने पदार्थः पक्षीकृतः। तद् यथा—

१. एतानि पदानि, तात्पर्यविषयस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि योग्यताकाङ्क्षा-सत्तिमत्पदकदम्बकत्वाद् घटमानयेति पदकदम्बकवत्।

२. एते पदार्था मिथः संसर्गवन्तो योग्यताकाङ्क्षासत्तिमत्पदोपस्थापितत्वात्, दण्डेन गामभ्याजेति पदस्मारितपदार्थवत्।

अस्य वैशेषिकमतस्य खण्डनं न्यायकुसुमाञ्जलिकारेणोक्तम्—

---

२. 'आदिग्रहणात् एतावन्मात्रस्तनिका, एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम्, एतावन्मात्रा-वस्था, एतावन्मात्रैर्दिवसैः, इत्यादावभिनयादयः।' (काव्यप्रकाशे, द्वि० उ०, का० १९)

अनैकान्तः परिच्छेदे सम्भवे न च निर्णयः ।
आकाङ्क्षा सत्तया हेतुर्योग्यासत्तिरवन्धना ।।

न्या० कु०, स्त० ३, का० १३

अस्या अयमाशयः पदार्थपक्षकानुमाने एते पदार्थाः परस्परं संसर्गवन्तः केवल संसर्गस्य सम्भावनैव सिद्धयति, न तु संसर्गो निश्चीयते । संसर्गसम्भावनया संसर्गनिर्णयो न जातः । यदि संसर्गो निश्चित इति मन्येत, तदा 'पयसा सिञ्चति' इत्यादौ व्यभिचारः । अत्र पयःशब्दस्य द्वावर्थौ जलं दुग्धं च । सिञ्चनक्रिया द्वाभ्यामप्यर्थाभ्यां सम्भवति । अतः 'पयसा सिञ्चति' इत्यनयोः पदयोर्योग्यताकाङ्क्षासत्तीनां सत्त्वात् पदार्थेषु सम्बन्धः सिद्धयति । किन्तु यत्र जलाभिप्रायेण पयःशब्दोऽभिहितस्तत्र जलस्य सिञ्चनेन सह संसर्गः वक्तृबुद्धावस्ति न तु दुग्धस्य, किन्तु योग्यताकाङ्क्षासत्तिमत्पदस्मारितत्वाद् इति हेतुना दुग्धेनापि तस्य संसर्गो वक्तव्यः । अतः सम्बन्धावश्यम्भावपक्षेऽनैकान्तिकोऽयं हेतुः ।

यदि च सम्बन्धस्य सम्भावना पक्षो ग्रहीष्यते, तदा सम्बन्धो नैव निर्णीतः खलु । अतो न संसर्गस्य सिद्धिरनुमानाद् भवितुमर्हति । हरिदासभट्टाचार्यस्य शब्दा यथा— "अत्र पदार्थपक्षकानुमाने संसृष्टा एवेति यदि संसर्गवत्वं साध्यते, सम्भावितसंसर्गका इति संसर्गस्वरूपयोग्यत्वं वा, आद्ये पयसा सिञ्चतीत्यादावनैकान्तिकः । द्वितीये न संसर्ग-निर्णयः, अन्वयप्रयोजकरूपयोग्यताया हेतुविशेषणीकृतत्वेन सिद्धसाधनाच्च ।" कारिकायां 'परिच्छेदे' इत्यस्य 'अवश्यं संसृष्टे' इत्यर्थः । कारिकायाः पूर्वार्द्धस्यायमर्थः— एतानि पदानि, तात्पर्यविषयस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि, योग्यताकाङ्क्षासत्तिमत्पद-कदम्बकत्वात्, घटमानयेति पदकदम्बवत् इतिपदपक्षकानुमानेऽयं दोष आपतति यदनुपाने लिङ्गज्ञानमेवोपयोगि । अनुमाने हेतुरूपाकाङ्क्षा ज्ञाता सत्येवोपयोगिनी किन्तु शाब्दबोध-स्थले आकाङ्क्षाज्ञानस्य नहि, अपित्वाकाङ्क्षासत्ताया एवावश्यकता भवति । अर्थाद् अनुमाने ज्ञाता सती शाब्दबोधे च स्वरूपसत्याकाङ्क्षा भवति । अतो नानुमानेन संसर्गस्य सिद्धिः । अतः शब्दप्रमाणमावश्यकम् ।

शाब्दबोधे आकाङ्क्षासत्तापेक्ष्यते, न तु तस्या ज्ञानमावश्यकम् । अनुमाने चाऽका-ङ्क्षाया ज्ञानं हेतुर्न तु तस्या सत्तावश्यकी । अतः शब्दानुमानयोर्भेदो वक्तव्यः । नानु-मानस्य शब्देऽन्तर्भावः ।

• अत्र पूर्वपक्षी कथयति—अहमाकाङ्क्षाया हेतुत्वं न स्वीकरोमि, योग्यतासत्त्योरेव हेतुत्वं मन्ये पूर्वपक्षस्येममभिप्रायमभिलक्ष्योदयनाचार्यो ब्रूते—'योग्यासत्तिरबन्धना' कारिकायाम् 'अबन्धना' इत्यस्य 'व्याप्तिशून्या' इत्यर्थः । अर्थाद् योग्यासत्तिः संसर्गेण सह व्याप्तिशून्या भवति । यत्र यत्र योग्यतासत्तिर्वा भवेत् तत्र तत्र संसर्गो भवेत् इति न व्याप्तिः । यथा—'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इति वाक्ये राज्ञः पदं पुत्रेण पुरुषेण चान्वेति । यतस्तस्य योग्यतासत्तिश्चोभाभ्यां सार्द्धमस्ति । किन्तु वक्तुः सम्बन्ध एकेन

सहैवास्ति, द्वितीयेन न । द्वितीयार्थेन सह सत्यामपि योग्यतायामासत्त्यां च संसर्गाभावाद् न व्याप्तिः सम्भवति । हरिदासस्य शब्दा यथा—"द्वितीये प्रयोगे आकाङ्क्षासत्तया इति । आकाङ्क्षा हि समभिव्याहृतपदस्मारितपदार्थजिज्ञासा । घटमित्युक्ते आनय, पश्येति, आनयेत्युक्ते घटं पटं वेति जिज्ञासादयः । ननु योग्यतासहितासत्तिरेव हेतुरस्तु, तत्राह योग्यतासत्तिरवन्धना इति व्याप्तिशून्या, अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम् इत्यत्र निराकाङ्क्षयो राजपुरुषपदयोर्व्यभिचारात् ।"

एवं शब्दस्यानुमानन्तर्भाविता कुसुमाञ्जलिकारेण साधिता । अनेन प्रतिवादित्वेनोपस्थितो वैशेषिको निरस्तः । बौद्धोऽपि प्रमाणद्वयादन्यस्य प्रमाणलक्षणमसंवादित्वं नास्ति, सति चैवान्तर्भावात् पृथङ् नोच्यते प्रमाणान्तरमिति वदन् निरस्तः ।

उच्यते न द्वयादन्यत्प्रमाणमुपपद्यते ।
प्रमाणलक्षणायोगाद् योगे चान्तर्गमादिह ।।

तत्त्वसंग्रहे प्रमाणान्तरपरीक्षा, १४८८ श्लो०

प्रभाकरमतानुयायिनः शालिकनाथमिश्रादयोऽर्द्धं शब्दप्रमाणमङ्गीकुर्वन्ति । तेऽपौरुषेयतया वक्तृज्ञानानुमानासंभवाद् वेदस्य शब्दः प्रमाणमिति कथयन्ति । लौकिकवाक्यानां वक्तृत्वसंभवाद् वक्तृप्रामाण्यादेव वाक्यस्य प्रामाण्यसम्भवादनुमानात् प्रागेव संसर्गबोधो जायते, पश्चाद् शब्दविधिनापि संसर्गो बुध्यतेऽतो लौकिकं वाक्यमनुवादकं भवति, न तु प्रमाणम् । तेषां मतं दूषयितुं कुसुमाञ्जलिकारः कारिकाद्वयमुपस्थापयति—

निर्णीतशक्तेर्वाक्याद्धि प्रागेवार्थस्य निर्णयः ।
व्याप्तिस्मृतिविलम्बेन लिङ्गस्यैवानुवादिता ।।

न्या० कु०, स्त० ३, का० १४

व्यस्तपुंदूषणाशङ्कैः स्मारितत्वात्पदैरमी ।
अन्विता इति निर्णीते वेदस्यापि न तत्कृतः ।।

न्या० कु०, स्त० ३, का० १५

वेदे येषां संसर्गबोधस्य सामर्थ्यं निश्चितं तेषां तैर्वाक्यैरनुमानात् पूर्वं लोकेऽपि पदार्थसंसर्गरूपस्य वाक्यस्यार्थस्य निर्णये जाते तस्य पुनः संसर्गबोधकस्यानुमानस्यैवानुवादकत्वमुचितम् । विलम्बेनानुमानस्य शब्दापेक्षया विलम्बितधीजनकत्वात् ।

लौकिकवाक्ये यथाऽऽप्तोक्तत्वनिश्चयोऽपेक्ष्यते, तथैव वैदिके वाक्येऽपौरुषेयत्वनिश्चयोऽपेक्ष्यते । अतो भवद्रीत्या वैदिकवाक्येष्वप्यनुमानेन संसर्गस्य निर्णयः सम्भाव्यते । तथा च भवद्रीत्या वैदिकवाक्येऽप्यनुवादकत्वमापतितमिति । अतो वैदिक इव लौकिकोऽपि शब्दः प्रमाणम् ।

बौद्धदर्शनस्य प्रधानग्रन्थे तन्त्रसङ्ग्रहे प्रमाणान्तरपरीक्षाप्रकरणेऽपौरुषेयशब्दप्रमाण-

लक्षणस्य निरसनावसरे शान्तरक्षितेनोक्तम् यदपौरुषेयं वाक्यं नैव सम्भवि, व्यापिनः क्षण-भङ्गस्य साधितत्वात्। सत्यपि संभवे तस्यार्थवत्त्वमसम्भवि। अतोऽपौरुषेयाद् वचनात् परोक्षार्थस्य ज्ञानसम्भवात् प्रमाणलक्षणं न सम्भवति—

तत्राकर्तृकवाक्यस्य सम्भवार्थावसङ्गतौ।
तस्मादसम्भवि प्रोक्तं प्रथमं शाब्दलक्षणम्॥

तत्त्वसंग्रहे, १५००

अकर्तृकवाक्यस्य सत्ताभावे द्वितीयश्लोकं प्रस्तौति—

शक्ताशक्तस्वभावस्य सर्वदा ह्यनुवर्तनात्।
तदा तद्भावि विज्ञानं भवेन्नो वा कदाचन॥

तत्त्वसंग्रहे, १५०१

एवम् (१५००) पञ्चशतोत्तरैकसहस्रतमं श्लोकमारभ्य १५०९तमं श्लोकं यावद् अपौरुषेयशाब्दप्रमाणलक्षणं निरस्तमनन्तरं १५१० श्लोकत आरभ्य १५१२ यावत् पौरुषे-यशाब्दलक्षणं दूषितम्। अनन्तरं १५१३ इत्यत आरभ्य १५२५ पर्यन्तं सामान्यतः शाब्द-प्रामाण्यं दूषितम्। एतत्प्रकरणस्यान्तिमः श्लोकः शब्दप्रमाणस्यानुमानेनैव गतार्थतामङ्गी-करोति।

एवं स्थितेऽनुमानत्वं शब्दं धूमादिवद् भवेत्।
त्रैरूप्यसहितत्वेन तादृग्विषयसत्त्वतः॥

तत्त्वसंग्रहे १५२५

एवं च न्यायकुसुमाञ्जलेः पूर्वोक्तोद्धरणेन पूर्वं साधितं यदनुमाने शब्दप्रामा-ण्यस्य नान्तर्भाव इति। तेनैव शब्दप्रमाणस्य तत्त्वसंग्रहोक्तानुमानान्तर्गतभावप्रक्रिया निरस्ता।

योगिराजो भर्तृहरिस्तु शब्दविषयेऽनुमानस्य पङ्गुतामनेकाभिर्युक्तिभिरसाधयत्। तेन कथितम्—यदनुमानस्य लौकिकपदार्थेष्वपि शक्तिभेदेन व्यभिचारो भवति।

अवस्थादेशकालानां भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु।
भावानामनुमानेन प्रसिद्धिरतिदुर्लभा॥

वाक्यपदीय, का० १, का० ३२

यथाऽऽर्द्रायाः पिप्पल्याः कफजननशक्तिः शुष्कायाश्च त्रिदोषशमनशक्तिः, हैमवती-नामपामतिशीतः स्पर्शः, अग्निकुण्डादिषूष्णः, हेमन्ते कूपोदकमुष्णम्, ग्रीष्मे च शीतम्, एवं

च जलत्व हेतुनोष्णत्वस्य शीतत्वस्य च नानुमानं व्यभिचारात्। एवञ्च, यदि लौकिकेषु पदार्थेष्वियं दुर्व्यवस्थाऽनुमानस्य, तर्हि का वार्ताऽप्राकृतगम्ये धर्म इति तमागमचक्षुरन्तरेणाऽनुमानमात्रेण को मूढः साधयितुं प्रयतेत[1] ?

शाङ्करभाष्येऽप्युक्तम्—"तस्माद् शब्दमूल एवातीन्द्रियार्थयाथात्म्यावगमः" शक्तिप्रतिबन्धेनापि व्यभिचारो भवति। अतोऽपि नानुमानस्य सामर्थ्यम्।

निर्ज्ञातशक्तेर्द्रव्यस्य तां तामर्थक्रियां प्रति।
विशिष्टद्रव्यसंबन्धे सा शक्तिः प्रतिबध्यते ॥

वाक्य पदीय, का० १, का० ३३

भर्तृहरिर्व्याप्तिज्ञानजन्यत्वाभावादपि शब्दस्याऽनुमानान्तर्भावं निषेधति। यथा परेभ्यो वक्तुमशक्यं मणिरूप्यादिविज्ञानं रत्नवेत्तॄणामभ्यासादेव जायते नेन्द्रियादिभ्यः, न वानुमानात्, व्याप्तिज्ञानाजन्यत्वात्। नापि प्रत्यक्षं स्वस्थैरपीन्द्रियैरभ्यासविरहितैरधिगन्तुमशक्यत्वाद् इन्द्रियमात्राजन्यत्वात्। अतः शब्दस्यापि व्याप्तिज्ञानाजन्यत्वाद् नानुमानेऽन्तर्भावः।

परेषामसमाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरूप्यादिविज्ञानं तद्विदां नानुमानिकम् ॥

वाक्य पदीय, का० १, का० ३५

मुक्तावलीकृताप्युक्तम्—"तन्न सम्यग् विना व्याप्तिबोधं शब्दादिबोधतः।" एवं लोकेप्यनुमानप्रसारस्यावरोधो दर्शितः। अनन्तरं भर्तृहरिणा स्वसामयिकीं कुड्यादीनामवयवविभागमन्तरैव गृहान्तःस्थितवस्तुविषयकीं दर्शनरूपां सत्यघटनामुपस्थाप्य दर्शितं यत् प्रत्यक्षमनुमानं यत्र बाधिते, तत्राप्यदृष्टविशेषजन्यं किमपि ज्ञानं भवति। एवमेव शब्दमूलकं लौकिकं ज्ञानं भवति।

प्रत्यक्षमनुमानं च व्यतिक्रम्य व्यवस्थिताः।
पितृरक्षःपिशाचानां कर्मजा एव सिद्धयः ॥

वाक्य पदीय, का० १, का० ३६

अलौकिकस्याप्यार्षज्ञानस्याऽऽगममूलकत्वम्। एवञ्च, शब्दप्रमाणात् कुड्यादीनामवयवविभागमन्तरेण गृहान्तःस्थितवस्तुविषयकं दर्शनं तत्र शब्दप्रमाणस्यैव शक्तिः, न तत्र

---

१. वाक्यपदीयस्य पण्डितश्रीसूर्यनारायणशुक्लकृतभावप्रदीपटीकायाम्।

प्रत्यक्ष प्रमाणमनुमानं वा प्रसरति। कथं पुनः प्रत्यक्षेऽनुमाने वा शब्दप्रमाणस्यान्तर्भावः य-ऋषय इन्द्रियैरग्राह्यान् अतएव प्रत्यक्षपूर्वकैरनुमानादिभिरप्यग्राह्यान् पदार्थान् आर्षेण चक्षुषा पश्यन्ति, तेषां वचनामतीन्द्रियार्थे प्रवर्तितुमशक्तेनाऽनुमानेन कथं बाध्यते[1]।

अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥

वाक्य पदीय, का० १, का० ३८

भर्तृहरिणा या सत्यघटना स्वसामयिक्युपस्थापिता तत्समा घटनाऽद्यापि प्राप्यते। पीटरहर्कोसनामक एको युवा हालैण्डदेशीयः कस्यापि वस्तुनोऽतीतानागतं ज्ञानं प्रत्यक्षवत् पश्यति[2]। तस्य दर्शनमतीन्द्रियमतः प्रत्यक्षपूर्वकेणानुमानेन न ग्राह्यं केवलं शास्त्रगम्यम्। पितृरक्षःपिशाचानामदृष्टजा सिद्धिरिवादृष्टं च शास्त्रविहितकर्मविशेषजन्यमेव भवति।

विवरणप्रस्थानानुयायिभिर्दशमस्त्वमसीत्यादिस्थले शब्दादप्यपरोक्षज्ञानं स्वीकृतम्। तेषां मते श्रवणस्य ब्रह्मसाक्षात्कारं प्रति प्रधानकारणता। मनननिदिध्यासने तु श्रुतार्थमेव पुष्णीतः। पञ्चदशीकारेण यथोक्तम्—

वाक्यं प्रतिबद्धं सत् प्राक्परोक्षावभासते।
करामलकवद् बोधमपरोक्षं प्रसूयते॥

विवरणप्रस्थानस्यानेन सिद्धान्तेन प्रत्यक्षप्रमाणस्य महत्त्वमायाति। अतोऽस्मिन् स्थले भामतीप्रस्थानस्य मतमेव ज्यायः प्रतीयते। भामतीप्रस्थाने शब्दप्रमाणेन परोक्ष मेव ज्ञानं भवति, न त्वपरोक्षम्। ब्रह्मसाक्षात्कारः श्रवणानन्तरं कृताभ्यां मनननिदिध्यासनाभ्यां शुद्धेनान्तःकरणो भवति।

अद्य यावद् शब्दप्रामाण्यवादिभिरनुमाने शब्दस्यान्तर्भावखण्डनावसर आलङ्कारिकदृष्टिरुपेक्षिता मम्मटेनानिरसनी याभिर्युक्तिभिः शब्दस्य व्यापाररूपेण व्यञ्जना पोषिता। व्यक्तिविवेककारेण ध्वन्यालोकस्य खण्डनावसरे या उक्तयः प्रदर्शितास्तासां निराकरणं मम्मटेन कृतम्। तत्रोपस्थापिता हेतवो हेत्वाभासाः कृताः। शक्तिवादस्य टीकाकृता हरिनाथतर्कसिद्धान्तभट्टाचार्येण व्यञ्जनाखण्डनायाऽन्य उपाय आश्रितः। अनुमानशरणं विहाय व्यङ्ग्यार्थस्य स्मृतिसहकारेण मानसबोधत्वं स्वीचकार। "स च न सम्भवति व्यञ्जनाया अपि वृत्तित्वावश्यकत्वात्, अन्यथा 'मुखं विकसितस्मितम्, वशितवक्रिमप्रेक्षितम्' इत्यादौ

---

१. वाक्यपदीये ब्रह्मकाण्डे ३६तमाकारिकाया वृत्तिर्द्रष्टव्या।

२. 'नवनीत' (हिन्दी डाइजेस्ट), नवम्बर १९६४ इत्यस्याङ्को द्रष्टव्यः।

परस्परविभागजनकक्रियारूपविकासस्य मुखे बाधाल्लक्षितार्थस्य विस्तृतस्यान्वयबोधानन्तरं मुखे कुसुमतुल्यसौरभवत्तायाश्चमत्कृतीरमणीयताया वा बोधस्यानुभवसिद्धस्यापलापापपत्तिरिति चेन्न। मनसैव तत्तत्पदार्थस्य स्मृतिसहकोरण बोधनिर्वाहात्। तदर्थं व्यञ्जनाया वृत्तेः कल्पनाया अनावश्यकत्वात्।"

(शक्तिवादे विवृतिव्याख्यायां सामान्यकाण्डे)

विवृतिकारेणोपरितनपङ्क्तिभिः यद् व्यञ्जनाया अनावश्यकत्वं प्रदर्शितम्, तन्न रुचिकरम्। कुसुमतुल्यसौरभवत्तारूपार्थस्य स्मृतिसहकृतमानसबोधस्वीकारेऽपि व्यञ्जनाया अनावश्यकता नापाकृता भवति। अभिधयाऽपि स्मृतिसहकारेण मनसैव बोध एवं लक्षणयापि स्मृतिसहकारेण मनसैव बोधस्तथैव व्यञ्जनयापि व्यङ्ग्यार्थस्य बोधः स्यादतो व्यङ्ग्यव्यञ्जनाऽवश्यकी। यथा स्मृतिसहकारेण वाच्यार्थस्य मनसा बोधस्तथा स्मृतिसहकारेणैव लक्ष्यार्थस्यापि मनसा बोधः। पूर्वत्र त्वभिधा, उत्तरत्र च लक्षणा नैयायिकैरङ्गीक्रियते। स्मृतिसहकृतमानसबोधत्वेऽपि यदाऽभिधाया लक्षणायाश्च पार्थक्येन स्थितिरवगम्यते, तदा व्यङ्ग्यार्थस्य कृते व्यञ्जनाया अप्यावश्यकता ऽऽपतति, तुल्यन्यायात्। एवं यदि व्यञ्जना सिद्धयति, तदा शब्देन येषां व्यङ्ग्यार्थानामवगतिर्भवति तेषामनुमानेनावगतिरसंभविनी, तत्र व्याप्तेरभावात्।

महिमभट्टेन—भ्रमधार्मिकविश्वस्त स श्वाद्य मारितस्तेन गोदावरीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन, उत्पन्नव्याप्तिरेकव्याप्तिमाश्रित्य गोदावरीतीरम्, भीरुभ्रमणायोग्यम्, भयकारणसिंहोपलब्धेः, यद् यद् भीरुभ्रमणयोग्यं तत्तद् भयकारणाभाववद् यथा गृहं न चेदं तीरं तथा भयकारणाभाववत् सिंहोपलब्धेः, तस्माद् भीरुभ्रमणायोग्यम् इति पञ्चावयववाक्यरूपानुमानेन भ्रमणनिषेधं साधयति व्यञ्जनावृत्तिं च खण्डयति। किन्तु महिमभट्टोऽस्य हेतावनैकान्तिकविरुद्धस्वरूपासिद्धरूपान् त्रीन् हेत्वाभासान् दर्शितवान्।[1]

अनेन प्रकारेण निश्चीयते, यदि भ्रमधार्मिकोत्पन्नविधिरूपवाक्यार्थेन विरुद्धो यो निषेधरूपोऽर्थः प्रतीयते, स शब्दस्य वृत्तिव्यञ्जनया, न त्वनुमानेन। यदि शब्दप्रमाणं नाङ्गीक्रियेत, तदा व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतीतौ किं कारणं स्यात्।

उपरितनपङ्क्तिषु चार्वाकस्य, वैशेषिकस्य, बौद्धस्य च शब्दप्रमाणपरिपन्थिनां मता-

---

१. अत्रोच्यते भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण, अन्येन चैवंभूतेन सत्यपि भयकारणे, भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि। गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद् वा न निश्चितः, अपितु वचनात् न च वचनस्य प्रमाणमस्ति, अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च। तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः। काव्यप्रकाशे ५ उल्लासे, का० ४७

न्यालोचितानि। शब्दस्याऽनुमानेऽन्तर्भावोऽसम्भवी च प्रदर्शितः वस्तुतस्तु प्रत्यक्षप्रमायाः करणं शब्दप्रमाणमप्यङ्गीकरणीयम्। यथा—'पर्वतो वह्निमान्' इति स्थले पक्षस्य हेतोश्च प्रत्यक्षप्रमाणविषयत्वेऽपि वह्नेरविषयत्वाद् अनुमानप्रमाणस्यावश्यकता तथैवाऽतिवाहिक-शरीरदेवताप्सरआदिभावानां प्रत्यक्षस्यानुमानयोरविषयत्वाद् शब्दप्रमाणमावश्यकम्। लोकेऽपि बहून्येतादृशानि स्थलानि सन्ति, यत्र शब्दप्रमाणमन्तरा न निर्वाहो भवितुमर्हति। कस्यचिद् बालकस्याकृत्या तस्य पिताऽनुमातुं शक्यते, किन्तु तदनुमानं सर्वत्र नाव्यभिचारि तत्र त्वाप्तायाः मातुः शब्द एव शरणम्।
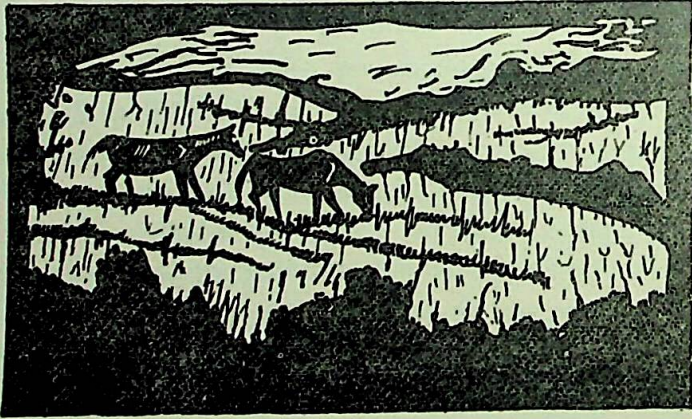
बाह्यार्थविषये ब्रह्मवादिशून्यवादि-मतयोस्तुलनात्मकं विवेचनम्

पण्डितश्री रामनारायणत्रिपाठी

स्वमायया प्रमातृणां दृष्टौ यो भात्यनेकधा ।
तं नौमि परमात्मानं शून्यब्रह्मादिशब्दितम् ॥

निर्दिष्टविषयानुसारेण निवन्धं निरूपयितुं प्रथमत उभयसिद्धान्तानुरूपं बाह्यार्थविषयस्य स्वरूपं समुपस्थाप्य ततः पश्चात् तत्र तयोः सिद्धान्तयोस्तुलनात्मकं विवेचनं करिष्यामि । बाह्यार्थविषयेण चात्मातिरिक्तं सकारणं निखिलं जगद्गृह्यते । यद्यपि सौगता अनात्मवादिनस्तथापि तन्मतेऽपि परमार्थतत्त्वं शून्यादिपदव्यपदिश्यमानं वर्तते तदतिरिक्तमखिलं व्यवहारात्मकं प्रतीयमानं जगद् वाह्यार्थ विषय एव । अत्र तुलनात्मिकीं समीक्षां कर्तुं प्रथमं करणीयमेतद् यद्ब्रह्मवादे शून्यवादे च जगत्पदेन, अर्थाद् वाह्यार्थेन किं कियत् कति च वस्तून्युपादीयते । येनोभयत्र क्व साम्यं क्वासाम्यमिति सम्यक्तया निरूपयितुं शक्येत । एतदर्थमेव निवन्धानपेक्षितत्वेऽप्युभयत्र जगत्स्वरूपं व्यवस्थाप्यते । सामान्यतोऽन्येषु विशिष्टाद्वैतवादादिषु ब्रह्मवादपदव्यवहार्येषु वेदान्तेषु सत्स्वपि विशेषतोऽस्मिन् निवन्धे ब्रह्मवादिपदेनाद्वैतवादिनो वेदान्तिन एव गृह्यन्ते । शून्यवादिपदेन माध्यमिका एव स्वीक्रियन्तेऽत्र । यद्यपि योगाचारा अपि बाह्यार्थविषये माध्यमिकपथानुगता एव, किन्तु न ते पूर्णतया शून्यवादिनः । अतस्तेऽत्रागृहीता एव प्रायः । एवमुभावपि तौ जगतोऽयाथार्थ्यं वर्णयन्तौ परमार्थतत्त्वं स्वस्वदृष्टिकोणेन शून्यं ब्रह्म चेति स्वीकुर्वन्तावपि व्यवहारार्थं परमतत्त्वं ज्ञातुमुपयोगित्वेन जगतो व्यावहारिकीं सत्तां समनुमन्येते । तत्र यद्यपि बाह्यार्थातिरिक्तपदार्थविवेचनानावश्यकत्वेन बाह्यार्थेतरस्य स्वरूपवर्णनादौ न काचिदभिप्रीतिस्तथापि पदार्थत्वेन तत्रापि जायमानायाः जिज्ञासायाः शान्तये संक्षेपेण सर्वेषां पदार्थानां स्वरूपं प्रदर्श्य बाह्यार्थं विशेषतो विविच्योभयवादिनोर्मते साम्यवैषम्ये वक्ष्ये ।

तत्र ब्रह्मवादिनोऽद्वैतवेदान्तिनः स्वप्रकाशप्रत्यक्चैतन्याभिन्नस्य स्वगतसजातीयविजातीयभेदरहितस्य ब्रह्मणो विवर्तोऽयं प्रपञ्चो न परिणाम इति मन्यन्ते । तथा चाचार्य-

वाचस्पतिमिश्राः—

विवर्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः।
अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते ॥

स० ह० सं०, पृ० १४५

न चात्र ब्रह्मविवर्तस्य जडस्यास्य प्रपञ्चस्य चैतन्येन ब्रह्मणा सह सारूप्यं येन प्रपञ्चस्य चिद्विवर्तत्वं स्यादिति वाच्यम् सारूप्यस्याप्रयोजकत्वात् कादाचित्के विभ्रमे भवेदपि सारूप्यापेक्षा, अनाद्यविद्यानिवन्धने प्रपञ्चविभ्रमे तु नतरां तदपेक्षा नीरूपेऽपि नभसि तलमलिनताद्यारोपदर्शनात्। विवर्तस्तूपादानविषमसत्ताकोऽन्यथाभाव इति। स चायं विवर्तोऽनादिवासनया जातः, अनादिवासना अविद्या-माया-प्रकृतिरज्ञानं चेत्युच्यते। विवर्तस्तु स्वरूपा परित्यागेन रूपान्तरापत्तिरिति सत्यमिथ्याख्यावभास इत्यवभासोऽध्यास इति पर्यायः (स० द० सं०, पृ० १५३)। अध्यासश्च स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभास इति। तत्र ज्ञानविशिष्टोऽर्थः, अर्थविशिष्टं च ज्ञानमिति द्विविधोऽध्यासः, पुनरपि निरुपाधिक-सोपाधिकभेदाद् द्विविधः। एवं धर्मिधर्मादिभेदादनेकेऽध्यासा भवन्ति। अज्ञानं चानिर्वाच्यं ज्ञाननिवर्त्यं भावरूपं यत् किञ्चिदिति, तदेवावरणविक्षेपशक्तिमत् पूर्वपूर्वसंस्कारजीव-कर्मप्रयुक्तं सन्निखिलजगदाकरेण परिणमते। विवर्तस्यास्य प्रपञ्चस्योपादानम-ज्ञानमधिष्ठानं च ब्रह्मेति। तदुक्तं पञ्चपादिकायां पद्मपादाचार्यैः—"ननु कथं मिथ्याऽज्ञान-मध्यासस्योपादानम्? तस्मिन् सत्यध्यासस्योदयादसति चानुदयादिति ब्रूमः" इत्यादि (पृ० ८९ कलकत्तामुद्रित भा०) निखिलजगदुपादानत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्, उपादानत्वं च जगदध्यासाधिष्ठानत्वं जगदाकारेण परिणममानमायाधिष्ठानत्वं वा, (वे० प०, पृ० १६२; चौ०मु०)। तदित्थं जगन्मूलत्वेन द्वौ पदार्थौ ब्रह्म च माया च। तत्र ब्रह्म सत्यम्, माया मिथ्या। तदेतद् विजृम्भितं जगदपि मिथ्येति वेदान्तनयस्य पन्था अग्रे निरूपयिष्यते।

ब्रह्मवादिमते पदार्थविभागः

वेदान्तमते च पदार्थो द्विविधः दृग् दृश्यं चेति। एतदेव, आत्मानात्म-चेतना-चेतन-सदसद्-वाह्याभ्यन्तर-युष्मदस्मत्प्रतीत्यापन्न—इदमहमास्मदादिपदैः प्रकीर्त्यते। तत्र दृक्-पदार्थ आत्मा। स च परमार्थत एकः, किन्त्वौपाधिकभेदेन त्रिविधः—ईश्वरो जीवः साक्षी चेति। अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यमीश्वरः अन्तःकरणतत्संस्कारावच्छिन्नाज्ञानप्रतिविम्बितं चैतन्यं जीव इति प्रतिविम्बवादिनो विवरणकाराः। अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वरः, बुद्धिप्रतिविम्वतं चैतन्यं जीव इति संक्षेपशारीरककाराः। अज्ञानोपहित आत्मा अज्ञान-तादात्म्यापन्न ईश्वरः, बुद्ध्युपहितश्च तत्तादात्म्यापन्नो जीव इत्याभासवादिनो वार्तिक-काराः। अज्ञानविषयीकृतं चैतन्यमीश्वरः, अज्ञानाश्रयीभूतं चैतन्यं जीव इत्यवच्छेदवादिनो

वाचस्पतिमिश्राः। अज्ञानोपहितं बिम्ब चैतन्यमीश्वरः, अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीवः, अथवाऽज्ञानानुपहितं शुद्धचैतन्यमीश्वरः, अज्ञानोपहितं जीव इति दृष्टि सृष्टिवादिनः। अविद्याप्रतिबिम्बेश्वरपक्षे बिम्बचैतन्यम्, बिम्बेश्वरपक्षे तु बिम्बप्रतिबिम्बमुखानुगतमुखस्व-रूपवज्जीवेश्वरानुगतसर्वानुसन्धातृ चैतन्यं साक्षी। वाचस्पतिमते त्वीश्वर एव साक्षी। कूटस्थदीपप्रकरणे विद्यारण्येन देहद्वयाधिष्ठानभूतं कूटस्थचैतन्यं स्वावच्छेदकस्य देहद्वयस्य साक्षादीक्षणान्निर्विकारत्वाच्च साक्षीत्युच्यते। तत्रैव नाटकदीपप्रकरणे जीवविषयबुद्धी-न्द्रियाणि दीपयन् तदभावे सुषुप्तो स्वयं दीप्यमानो जीवेश्वरविलक्षणो जीव भ्रमाधिष्ठान-कूटस्थ चैतन्यात्मा साक्षीति। तत्त्वप्रदीपिकायां तु विशुद्धं ब्रह्मैव साक्षी। वेदान्तकौमुद्यां परमेश्वरस्यैव रूपभेदः कश्चिज्जीवप्रवृत्तिनिवृत्त्योरनुमन्ता स्वयमुदासीनः साक्षी नामे-त्युक्तम्। तत्त्वशुद्धिकारा अपि ब्रह्मकोटिरेव साक्षी प्रतिभासतो जीवकोटिरित्युक्त्वाऽमुमेव पक्षं समर्थयन्ति। केचित्तु अज्ञानोपहितजीव एव, केचन लिङ्गोपहितो जीवः साक्षीति वर्णयन्ति। तत्रेश्वरोऽपि स्वोपाधिभूताविद्यागुणत्रयभेदेन विष्णुब्रह्मरुद्रनामधेयैस्त्रिविधः। कारणीभूतसत्त्वगुणावच्छिन्नो विष्णुः पालयिता। कारणीभूतरज उपहितो ब्रह्मा स्रष्टा। कारणीभूततम उपहितो रुद्रः संहर्ता। एवमेकस्यैवैते पुरुषाकारा लक्ष्मीभारतीभवान्यः स्त्र्या-काराः जीवोऽपि स्वोपाध्यवान्तरभेदेन विश्वतैजसप्राज्ञनामभिस्त्रिविधः। तत्राविद्यान्तःकरण-स्थूलशरीरावच्छिन्नो जाग्रदवस्थाभिमानी विश्वः स एव स्थूलशरीराभिमानरहित उपाधि-द्वयोपहित स्वप्नाभिमानी तैजसः। शरीरान्तःकरणोपाधिद्वयरहितोऽन्तःकरणसंस्कारावच्छिन्नाविद्यामात्रोपहितः सुषुप्त्यभिमानी प्राज्ञः। एतेषां स्वतन्त्रोपाधिभेदाभावेन स्वतन्त्र-भेदाभावेप्यवान्तरोपाधिभेदादेकत्वेऽप्यवान्तरभेदो व्यवह्रियते। साक्षी तु द्विविधः, जीव-साक्षी, ईश्वरसाक्षी चेति। अन्तःकरणावच्छिन्नस्य जीवस्य साक्षी त्वन्तःकरणोपहितचैतन्य-मेव। अयं च जीवसाक्षी प्रत्यात्मं नाना। ईश्वरसाक्षी तु मायोपहितं चैतन्यम्। स चैक एव।

> एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
> कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

इति श्रुत्या साक्षी तु सर्वानुसन्धाता सर्वानुगतस्तुरीयालय एकविध एव। इति संक्षेपेण निरूपितो दृक्पदार्थः।

दृश्यपदार्थस्तु—अविद्या तद्व्याप्यतत्कार्यात्मकः प्रपञ्चः। स च प्रपञ्चोऽपार-मार्थिकोऽपि व्यावहारिकः, अर्थक्रियाकारित्वेनोपासनोपयोगित्वे च स्वाप्निकपदार्थाद् भिन्नः। सोऽपि प्रपञ्चस्त्रिविधोऽव्याकृतमूर्तामूर्तभेदात्। तत्र साभासा अविद्या तद् व्याप्यैश्चैतन्य-संबन्धादिभिः सहिताऽनादिर्मूर्तामूर्तप्रपञ्चबीजशक्तिरूपाऽव्याकृतमित्युच्यते। बीजरूपा शक्तिश्च त्रेधा—जीवादृष्टम्, प्रपञ्चसंस्काररूपा सूक्ष्मावस्था, अज्ञाननिष्ठावरणविक्षेप-

शक्ती च। ननु चैतन्याविद्यासंवन्धादेरविद्याकार्यत्वाभावात् कथं तद् व्याप्यतेति चेदुच्यते। यद्यपि तन्नाविद्याकार्यम्, तथापि यदा यदा चैतन्यतत्संवन्धादि तदा तदाऽविद्येति कालिकव्याप्तिरस्त्येव। अविद्योच्छेदक्षण एवाविद्याचित्संवन्धादेरुच्छेदात् शुक्त्याद्यवच्छिन्नचिदविद्यासंवन्धादौ तथा दर्शनात्। सा चाविद्या चिदविद्यासंवन्ध—जीवेश्वरभेद—वृत्तिप्रतिबिम्बादिरूप—चित्तादात्म्यापन्नाभासैः सहिताऽनादिरूपा। तदुक्तम्—

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥

अयं चाव्याकृतपदार्थ ईश्वरोपाधिः। सा चाविद्या स्वयं जडाप्यजडेन चिदाभासरूपेणेश्वरेण चिदाभासाविवेकेनेश्वरेण वाऽधिष्ठिता पूर्व-पूर्वसंस्कारजीवकर्मसहकृता सती शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकान्याकाशवायुतेजोजलपृथिव्याख्यानि पञ्च महाभूतानि जनयति। यद्यपि वहुषु ग्रन्थेषु गुणसृष्टिमुक्त्वा पश्चात् ततो भूतसृष्टिरुक्ता, तथाप्यत्र गुणगुणिनोस्तादात्म्यमङ्गीकृत्योक्तम्। अपि च, श्रुतिषु गुणानां पृथक् सृष्टिर्नोक्ता। तेषु तेषु भूतेषु मध्ये पूर्वपूर्वभूतरूपेण परिणताया अविद्याया आकाशरूपेण परिणताया वायुं प्रति वायुरूपेण परिणतायास्तेजः प्रतीत्येवंरूपाया उत्तरोत्तरं प्रतिकारणत्वात् पूर्वपूर्वभूतगुणानामुत्तरोत्तरभूतेष्वनुप्रवेशः। एतेनाविद्यैव यदि साक्षात् सर्वेषां जनिका, तदापि भूतपरिणामविशेषगुणादिव्यवस्था च सम्यक्तरत्वेन सम्पद्यते। तथा च पूर्व पूर्वभूतानामप्युत्तरोत्तरभूतेषूपादानत्वं 'आकाशाद् वायुर्वायोरग्निः' इति श्रुतेः। अत एवाकाशादीनां वाय्वाद्यपेक्षया महत्त्वं पुराणादिषूक्तं युज्यते। नह्याकाशादीनां कार्त्स्न्येन वाय्वादिपरिणामः। तथा सति, उत्तरोत्तरभूतोत्पत्तिकाले पूर्वपूर्वभूतोच्छेदप्रसङ्गः, किन्त्वेकदेशेन परिणामः। तथा च, सुतरां पूर्वपूर्वमहत्त्वम्। 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारम्भन्ते' इति न्यायाद् आकाशादिगुणानां वाय्वादावुत्पत्तिः, न तु कार्यगुणानां कारणेष्वासक्तिः। तेन स्वस्वकारणगुणविशिष्टतया क्रमेणैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणात्मकानि पञ्चभूतानि जायन्ते। 'तद्धेदन्तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते' इत्यादिश्रुतिभिस्तु व्याक्रियमाणाकाशादिकार्याणामव्याकृतपदार्थैकदेशस्यैवाज्ञानस्योपादानत्वादिकमुच्यते। वार्त्तिककारमते तु शक्तिद्वयोपहिताऽज्ञानस्य परिणामित्वेनोपादानत्वमज्ञानगतचिदाभासस्य कर्त्तृत्वम्, अज्ञानसंवन्धादेरदृष्टादेश्च कालविधया निमित्तत्वमुक्तम्। एवमविद्यात एव भावरूपोऽन्धकार आवरणात्मकश्चाक्षुषज्ञानविरोधी, आलोकनाश्यो जातः। तत् तर्हि कथमुत्पत्तिप्रकरणे श्रुतौ तमसश्चर्चा नास्तीति नाशङ्कनीयम्, देहानुपयोगित्वात्। दिक्कालौ त्वाकाशातिरिक्तौ पदार्थाविव न स्तः। नामसत्वेन प्रमितस्य श्रोत्रस्य दिग्जन्यत्वबोधिकया 'दिशः श्रोत्रम्' इत्यादिश्रुत्याऽऽकाशस्यैव दिग्व्यवहारबोधकत्वसंभवात्। पराभिमतदिश एवाकाशस्यापि सर्वगतत्वाद् दिक्कृतविशेषणता संवधेन सर्वाधारत्वसंभवादुदयाचलसनिकृष्टमूर्तविशेषो-

पहितत्वादिरूपेण प्राचीत्वादिव्यवहार संभवः। कालस्त्वविद्यैवाविद्याया एव कालिक-संबन्धेन स्वेतरसर्वदृश्याधारत्वात्। अयं साभासाविद्यारूपोऽव्याकृतपदार्थः। अविद्या-गताभासाविविक्तचित एव ईश्वरत्वस्योक्तत्वात् साभासाविद्यायामीश्वरोपाधित्वम्।

अमूर्तपदार्थस्तु—अपञ्चीकृतानि शब्दादितन्मात्राण्यमूर्ताख्यानि कारणैक्यात् सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकानि सत्त्वांशप्राधान्येन ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मकमेकं प्रतिजीवं स्थूल-शरीरवच्चित्प्रतिविम्बयोग्यं सकलवृत्त्याश्रयीभूतं चित्ररूपमिव मिलित्वा जनयन्ति। तस्य च ज्ञानशक्तिप्रधानोंऽशोऽन्तःकरणम्। तच्च बुद्धिर्मन इति द्विधोच्यते। बुद्धेरप्यहमित्या-कारकनिश्चयतदन्यनिश्चयरूपवृत्तिभेदेनाहंकारोऽनहङ्कारश्चेति द्वैविध्यम्। मनोऽपि द्विविधं—संशयवृत्त्या चित्तम्, संकल्पादिवृत्तिभिरचित्तम्, कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव (बृ०, १-५-३) इति श्रुतेः। तदुक्तम्—

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयोः गर्वः स्मरणं विषया इमे॥ वे० प०

मनोबुद्धिरहङ्कारचित्तमित्यन्तरात्मकम्।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्यालक्षणरूपया॥ भा० ३।२६।१४

संशयवृत्त्यात्मकं चित्तं यदुक्तं तद् विचिकित्सेति श्रुत्युक्त्यनुरोधात्। दीर्घकालिक-विषयस्मृतौ संशयपूर्वकनिश्चयेन संशयवृत्तेश्चित्तीयस्मरणवृत्त्या सहाऽविरोधः। क्रिया-शक्तिप्रधानांशः प्राणः, स च पञ्चधा—प्राणापानोदानसमानव्यानभेदात्। तदुक्तम्—

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिदेशगः।
उदानः कण्ठदेशे तु व्यानः सर्वशरीरगः॥ इति।

हृदयाद्यवच्छिन्नक्रियाजनकत्वमेव प्राणत्वादिकम्। तथा चैकैकगुणप्रधानेभ्यो भूतेभ्यो ज्ञानशक्तिमदेकं क्रियाशक्तिमदेकमितीन्द्रियद्वयमुत्पद्यते।

आकाशाच्छ्रोत्रवाचौ, वायोस्त्वक्पाणी, अद्‌भ्यो रसनपायू, तेजसश्चक्षुष्पादौ, पृथिव्या घ्राणोपस्थौ। इन्द्रियादीनामुत्पत्तिविषये बहुधा विचारा विचारकाणां सन्ति, किन्त्वप्रकरणत्वात् ते नात्र विचारिताः। अनवसरत्वादेवाधिष्ठातृदेवानां कार्यादीनां च चर्चोपेक्षिता। एवं पञ्चप्राणदशेन्द्रियमनोबुद्ध्यात्मकं लिङ्गशरीरं भवति। तदेव ज्ञान-शक्तिप्राधान्येन हिरण्यगर्भ इति, क्रियाशक्तिप्राधान्येन सूत्रमिति चोच्यते। समष्ट्यैतद् बोध्यम्, न तु व्यष्ट्या। अयममूर्तपदार्थः कार्यत्वाद् व्यष्टौ समष्टौ च जीवोपाधिरेव। सोपाधिकस्येश्वरस्य सर्वकार्यजनकत्वाद् एतत्सर्वं कार्यं नेश्वरस्योपाधिर्भवतीति विवेचनं संक्षेपेण वादविचाररहितं सम्पन्नममूर्तपदार्थस्य।

मूर्तपदार्थस्तु—अपञ्चीकृतानि सूक्ष्माणि भूतानि भोगायतनं शरीरं भोग्यं च विषयमन्तरेण भोगं जनयितुं न शक्नुवन्ति । जीवकर्मप्रत्युक्तत्वात् शरीरादिनिष्ठस्थूलताकारणं स्थौल्यं प्राप्तुं पञ्चीकृतानि भवन्ति । पञ्चीकरणप्रकारश्चेत्थम्—

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते ॥

अत्र भाष्यकारादयः पञ्चीकरणं मिश्रपादास्तु त्रिवृत्करणं मन्यन्ते । तदुक्तं कल्पतरुकारैः —

सम्प्रदायाध्वना पञ्चीकरणं यद्यपि स्थितम् ।
तथापि युक्तिरूढत्वाद् वाचस्पतिमतं शुभम् ॥ इति ।

एवं पञ्चीकृतानि पञ्च पृथिव्यादिमहाभूतानि मूर्तपदार्थाख्यानि मिलित्वैकं कार्यमन्द्रियाणामधिष्ठानं भोगायतनं शरीरमुत्पादयन्ति । तत्र सत्त्व-प्रधानं देवशरीरं, रजोगुणप्रधानं मानवशरीरं, तमोगुणप्रधानं पश्वादिस्थावरान्तशरीरम् ।"एषु शरीरेषु पञ्चभूतानां न्यूनाधिकभावोऽपि वर्तते चित्ररूपमिव यथा मनुष्यादिशरीरे भूतान्तरापेक्षया पार्थिवभागस्य देवादिशरीरे तेजोभागस्याधिक्यम् इति । एवं विषया अपि पञ्चीकृतैकैकभूतजन्याश्चतुर्दशभुवनाख्या ऊर्ध्वमध्याधोभावेन सत्त्वरजस्तमोंऽशप्रधानाः । एतत् सर्वं ब्रह्माण्डाख्यं विराडिति मूर्तमिति चोच्यते । ईदृशी भूतभौतिकसृष्टिः तद् विपरीतो लयः, स च चतुर्विधो नित्यः प्राकृती नैमित्तिक आत्यन्तिकश्च । तत्राद्यः सुषुप्तिः, द्वितीयस्तु कार्यब्रह्मविनाशनिमित्तकः सकलकार्यनाशः, तदानीं सर्वेषां प्रकृतौ (मायायां) लयो भवति । कार्यब्रह्मणो दिवसावसाननिमित्तकस्तृतीयः, चतुर्थस्तु ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तः । सर्वं चैतत् सृष्टिप्रलयादिकं स्वप्नप्रलयवदपारमार्थिकमपि वासनादार्ढ्याद् व्यवहारक्षममिति मायिकत्वेऽपि नालीकम् । एतेनेदमायाति यत् पदार्थो हि द्विविधः—ब्रह्म च माया तत्कार्यं चेति तत्र ब्रह्म सत्यं माया तत्कार्यं च मिथ्या तत्कार्ये निखिलं जगत्, सकलभेदश्च समायाति, तेन ब्रह्मातिरिक्तं सर्वं मायिकं मिथ्यासत् व्यावहारिकमिति वेदान्तनयः ।

शून्यवादिमते पदार्थविभागः

वादेऽस्मिन् शून्यातिरिक्तं किञ्चिदप्यतिरिक्तं वस्तु परमार्थतो नास्ति, किन्तु तेऽपि व्यवहरन्ति संसारे भेदव्यवहारैः । अतः सर्वशून्यवादिनो माध्यमिका मन्यन्ते सांवृत एवाऽयं भेदव्यवहार इति । संवृत्तिरविद्या यथाभूतस्यावरणादयथाभूतस्य प्रकाशनाच्च संवृत्तिरुच्यते । उक्तं च बोधिचर्यावतारपञ्चिकायाम् ३५२तमे श्लोके—

अभूतं ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते ।
अविद्या जायमानेव कामलातङ्कवृत्तिवत् ।।

अविद्या मोहो विपर्यास इति पर्यायाः । तया कल्पितमेतत् सर्वं सांवृतं जगत् मायिकमेव । सिद्धान्तेऽस्मिन् द्वे सत्येऽङ्गीकृते संवृतिसत्यं पारमार्थिकसत्यं च । तदुक्तम्—

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।
बाह्योऽर्थः सांवृतं सत्यं चित्तमेकमसांवृतम् ।। इति ।

तत्रावितथं रूपं लोकस्येति संवृतिसत्यमुच्यते ।

यच्च परमार्थसत्यं तस्य द्वारं भवति सांवृतमपि व्यवहारत उपदेशाय प्राभवत्, इत्यतश्च सांवृतमपि सत्यमुच्यते—

व्यवहारमनाश्रित्य परामार्थो न देश्यते ।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ।। बो० प० ३६५ ।

उपायभूतं व्यवहारसत्यम् उपेयभूतं परमार्थसत्यम्, इति । बो० प० ३७२ ।

संवृतिमपेक्ष्यैव तु परमार्थस्वरूपं कथञ्चिदुपदेशपदमाविशति । अतो निश्चितं यद् व्यवहर्त्तुमस्मिन्नपि वादे लोकस्य व्यावहारिकी सत्ताऽवश्यमङ्गीकरणीयेति । तत्र व्यवहृतिपथे व्यवहारशीलस्य जगतो व्यवहृतये कीदृशी प्रक्रिया किं स्वरूपं को भेदः कश्च पदार्थविभाग इत्यादिविवेचनं कैश्चन शून्यवादिभिर्नकृतम्, नापि सर्वास्तित्ववादिप्रस्तुतपदार्थविभागादि सर्वं प्रतिक्षिप्तमेव, ऋते पारमार्थिक विवेचनात् । यद्यपि बाह्यार्थपरीक्षायां बाह्यार्थास्तित्वे तु सर्वास्तिवादस्य मतं भूरिशः प्रतिक्षिप्तं किन्तु पारमार्थिकसत्यत्वेन न तु व्यवहृतिसत्यत्वेन । तस्मादनुमीयते यत् सौत्रान्तिकवैभाषिकप्रस्तुतपदार्थविभागः शून्यवादस्य न विप्रतीप इत्यपि त्वङ्गीकृत एवेति । अतः शून्यवादेऽपि सर्वास्तित्ववादिनामेव पन्थानमवलम्ब्य क्रियते पदार्थविभागो नान्यथा कश्चनापरो मार्गो वर्ततेऽस्मिन् वादे । यतो हि परमार्थदृष्ट्या जगन्निराकर्तुं पूर्वपक्षत्वेन सौत्रान्तिकवादानुपक्षिप्यैव स्वसिद्धान्तः स्थापितः । बोधिचर्यावतारपञ्जिकायां नवम् परिच्छेदेऽस्तस्तमनुसृत्यायं विभागः—

पदार्थो द्विविधो बाह्य आभ्यन्तरश्च । बाह्यश्च द्विविधः—पृथिव्यादिः, विषयेन्द्रियादिश्च । तत्राद्यो यथा रूपरसस्पर्शगन्धस्वभावाः पार्थिवाः परिमाणवः, रूपरसस्पर्शस्वभावाश्चाप्याः, रूपस्पर्शस्वभावाश्च तैजसाः, स्पर्शस्वभावाश्च वायवीयाः, पृथिव्यप्तेजोवायुरूपेण संहन्यन्त इति तत्तत्परमाणुसमुदाय एव पृथिव्यादिर्नेतरः । एष एवात्रभूतपदवाच्यः । प्रलयाकाशादिनिर्हेतुकं निरूपाख्यं वस्त्वभावमात्रं तुच्छम् । तेभ्य एव पृथिव्या-

---

१. पञ्चीकरणम् (शंकराचार्यकृतम्)

दिभ्यश्चतुर्विधशरीरदशेन्द्रियपञ्चविषयरूपाः संघाता उत्पद्यन्ते, एत एव भौतिकपद-वाच्याः भूतं भौतिकं चेत्युभयं बाह्यपदार्थ एवास्मि न्नये । न केवलं पार्थिवाप्यतैजसवाय-वीयपरमाणवः क्रमशः कठिनस्निग्धोष्णेरणुस्वभावा एवेति ज्ञेयम्, एतत्परमाणुजातानां पृथिव्यादीनामेकद्वित्रिचतुर्गुणात्मकत्वस्य दृष्टत्वात् । सत्सु कारणगुणेष्वेव कार्यगुणा (स्वभावाः) भवन्तीत्युचितत्वात् । अन्यथा कठिनेतरादिगुणानुदयप्रसङ्गः स्यात् । अतो निश्चप्रचमेतद् यत् पृथिव्यादिपरमाणवोऽप्येकद्वित्रिचतुःस्वभावाः सन्तः स्वस्वसंघातेषु पृथिव्यादिषु स्वस्वैकद्वित्रिचतुःस्वभावानुद्भूतरूपत्वेनोपभोग्ययोग्यान् प्रकटयन्ति । भाम-त्यादिग्रन्थेषु कठिनादिस्वभावप्रकथनं यदवलोक्यते तत्त्वाचार्यपादैः स्वभाववैशिष्ट्ये-नोक्तम् । आभ्यन्तरश्च द्विविधश्चित्तं चैत्तं चेति तत्र विज्ञानस्कन्धश्चित्तम्, रूपवेदना-संज्ञासंस्कारस्कन्धाश्चैत्तास्तत्र विज्ञानस्कन्धः—अहमिति प्रत्यय इति केचित्, अहमह-मित्यालयविज्ञानप्रवाह इत्यपरे, अहमित्याकारो रूपादिविषय इन्द्रियादिजन्यो वा दण्डा-यमान इत्यन्ये । स च चक्षुर्विज्ञान श्रोत्रविज्ञान-घ्राणविज्ञान-जिह्वाविज्ञानकाय(त्वक्)-विज्ञानमनोविज्ञानैः षट्शाख आलयसन्ततिभेदेन द्विविधः । एतस्यैव विज्ञानस्कन्धस्य मनश्चित्तमात्मेत्यर्थान्तिरम् ।

रूपस्कन्धः—कर्मकरणव्युत्पत्तिभ्यामेकादशविधः, चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं जिह्वा कायः (त्वक्) रूपं शब्दो गन्धो रसः स्पर्शोऽविज्ञप्तिश्चेति । अविज्ञप्तिः कुशलाकुशलविशेष-लक्षणा । यत इयं नाभिव्यञ्जते (इन्द्रियैः) सेयमविज्ञप्तिरुच्यते । तथा च वचनम्—'यस्माद् रूपक्रियास्वभावापि सति विज्ञप्तिवत् परं न विज्ञापयति तस्माद् अविज्ञप्तिः (अभि० को०, १ अ)। वाचिकाविज्ञप्तिकर्म-कायिकाविज्ञप्तिकर्मेति च कर्मविभागप्रकरणे विभजनाच्च संभाव्यते पुण्यापुण्यस्थानीया सेयमविज्ञप्तिरिति । इन्द्रियपञ्चकं भूतचतुष्टयं विषयपञ्चकं चेति रूपस्कन्धः कैश्चिन्मन्यते । एतेषां रूपस्कन्धगतानां पदार्थानां सिद्धेऽपि बाह्यत्वे देहस्थत्वाद् इन्द्रियसंबन्धाच्चान्तरत्वमवगन्तव्यम् ।

वेदनास्कन्धः—सुखाद्यनुभवो वेदनास्कन्धः । स च सुखदुःखोपेक्षात्मना त्रिधा विभिन्नः । अर्थात् येष्टानिष्टोदासीनविषयप्राप्तौ सुखदुःखतटस्थावस्था चित्तस्य जायते स एवेत्यर्थः ।

संज्ञास्कन्धः—'संज्ञानिमित्तोद्ग्रहणात्मिका, निमित्तं वस्तुनोऽवस्थितिविशेषो नीलत्वादि, तस्योद्ग्रहणं परिच्छेदः (अभि० को० व्या०), स च नीलोऽयम्, गौरश्वः इत्येवं नामविशिष्टसविकल्पप्रत्ययः ।

संस्कारस्कन्धः—चित्तसम्प्रयुक्तचित्तविप्रयुक्तभेदेन द्विविधाः संस्काराः संस्कार-स्कन्धः चित्तविप्रयुक्तवर्गे रागद्वेषमानमदमोहमात्सर्यधर्माधर्मादीनां बहूनां समावेशः ।

---

१. बो० प०, पृ० ३८, ३८८, ३८९

चित्तविप्रयुक्तवर्गे तु जातिजरामरणादिक्लेशानां समावेशः।

यथा वैशेषिकेषु द्रव्येषु स्वभावविशेषयोगाद् भूतमूर्तविभुविभागस्तथैवात्र पञ्च-स्कन्धेषु स्वभाववैशिष्ट्यादयमपरो विभागोऽप्यभिमतो वर्तते—आयतनं धातुश्चेति तत्रा-यतनं द्वादशधा धातुरष्टादशधा। चक्षुः श्रोत्रघ्राणजिह्वाकायमन आयतनानि रूपरसगन्ध-शब्दस्पर्श धर्मायतनानि चेति द्वादशायतनानि चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाकायमनोरूपगन्धशब्द-रसस्पर्शधर्मधातवः, चक्षुर्विज्ञान-श्रोत्रविज्ञान-घ्राणविज्ञान-जिह्वाविज्ञान-कायविज्ञानमनो-विज्ञानधातवश्चेत्यष्टादश धातवः। एते पञ्चस्कन्धा अध्यात्मं सर्वव्यवहारास्पदत्वे संह-न्यन्ते। स चायं पञ्चस्कन्धसंघात एव सकललोकयात्रानिर्वाहकः। इतो भिन्नो – कश्चि-च्चेतनश्चेतयिता नास्त्यस्मिन्मते। इति चित्तचैत्त भेदात्मक आभ्यन्तरपदार्थो निरूपितः संक्षेपेण।

इदमभिमतं सौत्रान्तिकवैभाषिकयोश्चत्वार्यार्यसत्यानि, यद् विज्ञानं निःश्रेयस-द्वारम्—दुःखं समुदयो मार्गो निरोधश्चेति। तत्र दुःखं नाम पञ्चस्कन्धा एव। तस्यास्य दुःखस्य येन समुदयो भवति स समुदय उच्यते। एष एव प्रतीत्यसमुत्पादो भवति। धर्मता-दिपदैरपि कीर्त्यते। स च प्रतीत्यसमुत्पादो बाह्य आभ्यन्तरश्चेति द्वावपीमौ हेतूपनिबन्धतः प्रत्ययोपनिबन्धतश्च भवतः। प्रत्ययो हेतुसमवायः। हेतुप्रत्ययविभागः स्फुटप्रतिपत्तये तथा चाभिधर्मकोशव्याख्यायाम्—'हेतूनां प्रत्ययनाच्च कः प्रतिविशेषः? न कश्चिदित्याह—उक्तं हि भगवता द्वौ हेतू द्वौ प्रत्ययौ सम्यग् दृष्टेरुत्पादाय.........हेतुप्रत्ययो निदानं कारणं निमित्तं लिङ्गमुपनिषदिति पर्याया इति। तत्र बाह्येऽयं हेतूपनिबन्धः बीजादङ्कु-रोऽङ्कुरात् पत्रं पत्रात् काण्डं काण्डान्नालो नालाद् गर्भो गर्भाच्छूकः शूकात् पुष्पम् पुष्पात् फलमिति। असति बीजेऽङ्कुरो न भवति। यावदसति पुष्पे फलं न भवति, सति बीजेऽङ्कुरस्यापि निर्वृत्तिः, सति तु पुष्पे फलस्यापि निर्वृत्तिर्भवति। अस्मिन् हेतूपनिबन्धे बीजादौ न कस्यापि 'अहमिदं निर्वर्तयामि' इति, न वा कस्यापि निर्वर्त्यस्याङ्कुरादेः 'अने-नाहं निर्वर्तितः' इत्यभिसंधिर्भवति। सति बीजादावङ्कुरादि। नात्र बीजादीनां कार्य-कारणभावे कश्चन चेतनोऽधिष्ठाताऽपेक्ष्यते।

बाह्ये प्रत्ययोपनिबन्धः—पृथिव्यादिधातुसमवायाद् बीजहेतुरङ्कुरो जायते। तत्र च पृथिवीधातुर्बीजस्य संधारणकृत्यं करोति, यतोऽङ्कुरो कठिनो भवति, अब्धातुर्बीजं स्नेह-यति, तेजोधातुर्बीजं परिपाचयति, वायुधातुर्बीजमभिनिर्हरति। एष्वेको यदा विकलो भवति न तदा बीजादङ्कुरस्याभिनिर्वृत्तिर्भवति। समवाये चैषां बीजे निरुध्यमानेऽङ्कुरस्याभिनि-र्वृत्तिः। नैकस्याप्येषु पृथिव्यादिषु 'अहं बीजस्यास्य कृत्यमिदं करोमि' इति, न वाऽङ्कुरस्य 'एभिर्हेतुभिरहं निर्वर्तितः' इति भवत्यभिसन्धिः। तदयमङ्कुरादिः प्रतीत्यसमुत्पादः। यत् प्रतीत्य प्राप्य कारणं सपदि समुत्पद्यते केवलं न चेतयितारमपेक्षते, न वाऽयमहमेतेनाभि-निर्वर्तित इति चेतयते। वादेऽस्मिन् स भावो नास्ति यः प्रतीत्यसमुत्पादो न स्यात्। क्षणि-

काश्च सर्वे भावाः ।

आध्यात्मिके प्रतीत्यसमुत्पादे हेतूपनिबन्धः—अविद्यासंस्कार-विज्ञान-नामरूप-षडायतनस्पर्शवेदनातृष्णोपादानभवजातिजरामरणशोकपरिदेवनादुःखदुर्मनस्तादयः। तत्रोत्तराः पूर्वपूर्वप्रत्ययाः। एतेषामेव परस्परहेतुत्वेन पञ्चस्कन्धसंघातो जायते ।

यथा—अप्रतिपत्तिरन्यथाप्रतिपत्तिरविद्या सेयं संसारानर्थसंभारस्य मूलकारणं तस्यां च सत्यां रागद्वेषमोहास्त्रिविधाः संस्कारा भवन्ति। तैश्च संस्कारैर्विज्ञानं (वस्तुविषया विज्ञप्तिः) जायते विज्ञानाच्च पृथिव्यादिचतुष्टयं नाम ततो रूपं (शुक्रशोणितादिकललाद्यवस्था) तस्मात् षडायतनं (इन्द्रियाणि) ततः स्पर्शः (नामरूपेन्द्रियाणां संयोगः) ततः सुखादिलक्षणा वेदना वेदनया च तया तृष्णा (यथेदं सुखं साध्यमित्यव्यवसायलक्षणा) तत उपादानमपरित्यागलक्षणम् (मा भवतु विप्रयोगः प्रियैरिति भूयोभूयः प्रार्थनम्) तस्माच्च भवः (संसारजनकं कायिकं वाचिकं मानसं कर्म पुण्यापुण्यरूपम्) ततो जातिः (देहजन्म, पंचस्कन्धसमुदायः), ततो जरा (स्कन्धानां परिपाकः), ततो मरणं (स्कन्धानां नाशः) ततः शोकः (पुत्रकलत्रादिस्नेहादन्तर्दाहः), ततः परिदेवना (हा पुत्रेत्यादिविलापः, ततो दुःखम् (अनिष्टानुभवः), तेन दुर्मनस्ता (मानसी व्यथा) जायते। ततश्च पुनरविद्यादयो यथोक्ता इत्यनादिरियमविद्यादिकाऽन्योन्यमूला चक्रपरिवृत्तिः । एते परस्परहेतुका अर्थादविद्यादिहेतुका जन्मादयो जन्मादिहेतुकाश्चाविद्यादय इति मिथो हेतुहेतुमद्भावात् संघातसिद्धिरर्थत आक्षिप्ता निरन्तरमावर्तते। हेतूपनिबन्धत्वञ्चात्र यद्यविद्या नाभविष्यत् संस्कारा नाजनिष्यन्त, एवं यदि जातिर्नाभविष्यत् जरामरणादयो नोदपत्स्यन्त तत्राविद्याया न भवति 'अहं संस्कारानभिनिर्वर्तयामि' इत्यभिसन्धिः, न वा संस्काराणं भवति 'वयमविद्यया निर्वर्तिताः' इत्यभिसन्धिः। एवमन्यत्रापि बोध्यम् । अपि च, सत्स्वेषूत्पत्तिः, इदं प्राप्येदमुत्पद्यत इति ।

आध्यात्मिके प्रतीत्यसमुत्पादे प्रत्ययोपनिबन्धः—पृथिव्यादीनां समवायात् कायः प्रादुर्भवति। तत्र पृथिवी धातुः कायस्य काठिन्यं निर्वर्तयति, अब्धातुः स्नेहयति, तेजोऽशितपीतादि पाचयति, वायुः श्वासादि करोति, यद्येषु कश्चिद् विकलो भवति तदा न कायस्यापि निर्वृत्तिर्भवति। समवाये चैषां भवत्युत्पत्तिः कायस्य, तत्र पृथिव्यादीनां नैव भवति। 'वयं कायस्य काठिन्यादि निर्वर्तयामः' इत्यभिसन्धिः, न वा भवति ज्ञानं कायस्य 'अहमेभिर्निर्वर्तितः' इति ।

अथ च पृथिव्यादिधातुभ्योऽचेतनेभ्यश्चेतनान्तरानधिष्ठतेभ्योऽङ्कुरस्येव कायस्योत्पत्तिः। सोऽयं प्रतीत्यसमुत्पादो नान्यथयितव्यः ।

यो निरोधो दुःखस्यास्य स निरोधसत्यम् । प्रतिसंख्यानिरोधाऽप्रतिसंख्यानिरोधभेदेन द्विधाऽभिमतयोर्निरोधयोः प्रतिसंख्यानिरोधकोटावनुप्रविशतीदं निर्वाणलक्षणं निरोध सत्यम् । यस्य द्वारं मार्गसत्यं चतुर्थमुच्यते ।

मार्गश्च यो हि चतुर्थ आर्यसत्यपदेनाभिधीयते स ह्यष्टविधः—सम्यग् दृष्टिः, सम्यक् संकल्पः, सम्यग् वाक्, सम्यक् कर्मान्तः, सम्यगाजीवः, सम्यग् व्यवसायः, सम्यक् स्मृतिः, सम्यक् समाधिरिति ।

अपरश्चायं भवति विभागक्रमः—यस्मिन्नेषां प्रकारान्तरेण भवत्यन्तःपातः । यथा-संस्कृतो धर्मः असंस्कृतश्च । यस्योत्पादादि स धर्मः संस्कृत उच्चते । स च चतुर्विधो रूप-चित्तचैत्तचित्तविप्रयुक्तभेदात् । योऽयं रूपस्कन्धः सोऽयं रूपधर्मः सर्वेषां चैत्तधर्माणामा-स्थानमहंग्रहारूढं चित्तमुच्यते । स चित्ताख्यो धर्मः । चैत्तश्च धर्माश्चित्तसम्प्रयुक्तसंस्कारा उच्यन्ते ।

येषां च शाखाः समासतः—महाभूमिकाधर्माः, कुशलमहाभूमिकाधर्माः, क्लेश-महाभूमिकाधर्माः, अकुशलमहाभूमिकाधर्माः, उपक्लेशमहाभूमिकाधर्माः, अनियतमहाभूमिका धर्मभेदेन षोढा । अनयोश्चित्तचैत्तधर्मयोर्यथायथं विज्ञानस्कन्धस्य संस्कारस्कन्धैकांशस्य च समावेशः । समुदायमार्गयोस्तु समावेशो यथायथं रूपचित्तचैत्तेषु बोध्यः । असंस्कृतस्त्रेधा-आकाशम् प्रतिसंख्यानिरोधः, अप्रतिसंख्यानिरोधश्चेति । निरोधसत्यस्यास्मिन्नसंस्कृते समा-वेशः । एवं निरूपितः संक्षेपेण वाह्याभ्यन्तरभेदः सर्वास्तित्ववादिमतमनुसृत्य यो ह्युपादेयो देयो व्यवहारकाले शून्यवादिभिः ।

एतावतोभयवादसंमतवाह्याभ्यन्तरपदार्थस्वरूपनिरूपणेनेदमायात्युभयवादे यद-विद्या तत्कृतकार्यं च सर्वं बाह्यं तच्च मिथ्या, एतदतिरिक्तं परमार्थतत्त्वं तच्च सत्यमिति । तत्रैकैकशो वचनपुरःसरं समीक्षणं समुपस्थापयामः—

माध्यमिकानां मते—मायिकस्यैतस्य जगतो मूलं सर्वानर्थकर्यविद्यैव सा युक्त्यागमाभ्यां विचारणीया येनाविपरीतवस्तुतत्त्वप्रविचयः समुपजायते । तदित्थम्—द्वे सत्ये संवृतिसत्यमेकम्, परमार्थसत्यमपरम् । तत्र संवृतिसत्यमवितथं रूपं लोकस्य, परमार्थसत्यं च सत्यमविसंवादकं तत्त्वमार्याणामिति विशेषः तदुक्तम्—"संवृतिः परमार्थश्च सत्यद्वयमिदं मतम् । बुद्धेरगोचरस्तत्त्वं बुद्धिः संवृतिरुच्यते" (बो० प० ९।२)। संव्रियत आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभावावरणादावृतप्रकाशनाच्चानयेति संवृत्तिः[1]। अविद्या मोहो विपर्यास इति पर्यायाः । अविद्या ह्यसत्पदार्थस्वरूपारोपिका स्वभावदर्शना-वरणात्मिका च सति संवृतिरुपपद्यते । तत्त्वेऽप्रतिपत्तिर्मिथ्याप्रतिपत्तिरज्ञानमविद्येति ।

---

१. म० का० २४।८ व्याख्यायां चन्द्रकीर्तिनोक्तम्—समन्ताद् वरणं संवृत्तिः । अज्ञानं हि समन्ता सर्वपदार्थतत्त्वचावच्छादनात् संवृत्तिरुच्यते । परस्परसंभवनं वा संवृत्तिरन्योन्य-समाश्रयेणेत्यर्थः । अथवा संवृत्तिः संकेतो लोकव्यवहार इत्यर्थः । स चाभिधानाभिधेयज्ञान-ज्ञेयादिलक्षण इति ॥

तदुक्तम्—

अभूतं ख्यापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते।
अविद्या जायमानेव कमलातङ्कवृत्तिवत्॥

बो० प०, पृ० ३५२।

अतः प्रतीत्यसमुत्पन्नं वस्तुरूपं संवृतिरुच्यते। तदेव लोकसंवृतिसत्यमित्यभिधीयते। लोकस्यैव संवृत्या तत् सत्यमिति। तदुक्तम्—

मोहः स्वभावावरणाद्धिः संवृतिः, सत्यं तयाख्याति यदेव कृत्रिमम्।
जगाद तत् संवृतिसत्यमित्यसौ मुनिः पदार्थं कृतकं च संवृतिम्॥

बो० प०, पृ० ३५३।

सा च संवृतिर्द्विविधा लोकत एव। तथ्यसंवृतिर्मिथ्यासंवृतिश्चेति। तथा हि किञ्चित् प्रतीत्य जातं नीलादिकं वस्तुरूपमदोषवद् इन्द्रियैरुपलब्धं लोकत एव सत्यम्। मायामरीचिप्रतिबिम्बादिषु प्रतीत्यसमुपजातमपि दोषवद् इन्द्रियोपलब्धं लोकत एव मिथ्या। तदुक्तम्—

विनोपघातेन यदिन्द्रियाणां षण्णामपि ग्राह्यमवैति लोकः।
सत्यं हि तल्लोकत एव शेषं विकल्पितं लोकत एव मिथ्या॥

बो० प०, पृ० ३५३।

एतदुभयमपि सम्यग्दृशामार्याणां मृषा परमार्थदशायां संवृतिसत्यस्यालीकत्वात्।

एतदुक्तं भवति यद् सर्वं एवामी आध्यात्मिका बाह्याश्च भावाः स्वभावद्वयमाविर्भूतः समुपजायन्ते। तत्र सांवृतम् अविद्यातिमिरावृतबुद्धिलोचनानाम् अभूतार्थदर्शिनां पृथग्जनानां मृषादर्शनविषयतया समादर्शितात्मसत्ताकम् पारमार्थिकंतु प्रविचयाञ्जनशलाकोद्घातिताविद्यापटलसम्यग्ज्ञाननयानां तत्त्वविदामार्याणां सम्यग् दर्शनविषयतयोपस्थितरूपम्। तदेतत् स्वभावद्वयं सर्वे पदार्था धारयन्ति। चतुर्णामार्यसत्यानां दुःखसमुदयनिरोधमार्गलक्षणात्मकानामनयोरन्तर्भावः। तत्र संवृतिसत्ये दुःखसमुदयमार्गसत्यानां त्रयाणां संवृतिस्वभावतयाऽन्तर्भावः। निरोधसत्यस्य परमार्थसत्येऽन्तर्भावः। संवृतिर्विचाराच्छतशो विशीर्यमाणा लोकाध्यवसायतः संवृतिसत्यमित्युच्यते। लोक एव हि संवृतिसत्यमिह प्रतिपन्नः। वस्तुतस्तु परमार्थ एवैकं सत्यम्। "यथोक्तं भगवता—'एकमेव भिक्षवः परमं सत्यं यदुताप्रमोषधर्मनिर्वाणं सर्वसंस्काराश्च मृषा मोषधर्माण" इति (बो० प०, पृ० ३६३) संवृतिसत्यं तु लोकव्यवहारमाश्रित्य प्रकाशते। द्विविधाभ्यां संवृतिपरमार्थसत्याभ्यां द्विविधो लोको प्रवर्तते योगी प्राकृतकश्च। तत्र संवृतिसत्यवेदी प्राकृतकः, प्रकृतिः संसारप्रवृत्तेः कारणमविद्या तृष्णेति तस्या जातः प्राकृतः स एव प्राकृतकः। योगः समाधिः सोऽस्यास्तीति योगी सर्वधर्मानुपलम्भलक्षणः। तत्र योगी प्रधानतत्त्वमविपरीतं पश्यति

प्राकृतकस्तु विपरीतम् ।

इदानीं विचार्यन्ते भावानां (वाह्यपदार्थानाम्) उत्पत्तिस्थितिलया माध्यमिकानां मते—सौत्रान्तिकादिमते धर्मो द्विविधः संस्कृतोऽसंस्कृतश्च । यस्योत्पादादि स धर्मः संस्कृतधर्म उच्यते । तत्र संस्कृतस्वभावाः स्कन्धायतनधातव इति । तदेव शून्यवादिना पूर्वपक्षत्वेनाक्षिप्य साङ्गोपाङ्गविवेचनेन निरस्तं माध्यमिकवृत्तौ सप्तमप्रकरणे बोधिचर्यावतारपञ्जिकायां नवमप्रकरणे च । तस्यायं निष्कर्षः—उत्पादादित्वादयः संस्कृतस्य लक्षणत्वेन परिकल्प्यमानाः, किं ते व्यस्ताः समस्ता वा । व्यस्ताश्चेत् तर्हि ते न युज्यन्ते लक्षणत्वेन । ते च युगपदेकस्मिन् धर्मिणि संस्कृते एकदा नोपतिष्ठन्ति, अर्थाद् यदा यस्य भावस्योत्पादस्तदा तदुत्पत्तिकाले स्थितिभङ्गौ न स्याताम्, एवं स्थितिकाल उत्पादभङ्गयोरभावः, भङ्गकाले तु स्थित्युत्पादयोरभावोऽतः स संस्कृतपदार्थः संस्कृतलक्षणत्वेनानुपपाद्य एव । समस्ताश्चेत् तदापि ते न युज्यन्ते, एकस्मिन् पदार्थे एकदा परस्परविरुद्धत्वेन सहसंभवाभावात् ।

यद्युत्पादस्थितिभङ्गानामन्यदुत्पादादिकं संस्कृतलक्षणमिष्यते तदाऽनवस्थादोषः स्यात् । अतस्ते न संस्कृताः । यथा प्रदीपः प्रकाशस्वभावत्वादात्मानं प्रकाशयति घटादींश्च, एवमुत्पादोऽप्युत्पादस्वभावत्वादात्मानमुत्पादयिष्यति परञ्चेति, तन्न युक्तम्, दृष्टान्तवैषम्यात् । प्रकाशो नाम तमसो वधः । तमश्च प्रदीपे सति न संभवति विरोधात्, नापि प्रदीपप्रदेशे तमस्तिष्ठति, तर्हि कथं प्रदीपस्य स्वपरप्रकाशत्वम् । तदुक्तम्—

> प्रदीपे नान्धयकारोऽस्ति यत्र चासौ प्रतिष्ठितः ।
> किं प्रकाशयति दीपः प्रकाशो हि तमोवधः ।। मा० वृ०, पृ० १५१।

अनेनाद्युत्पादो निषिद्ध एव—

> सतश्च तावदुत्पत्तिरसतश्च न युज्यते ।
> न सतश्चा सतश्चेति पूर्वमेवोपपादितम् ।।
> नैवासतो नैव सतः प्रत्ययोऽर्थस्य युज्यते ।
> न सन्नासन् सदसन् धर्मो निर्वर्तते यदा ।।

वेदान्तमते जगतो मायिकत्वम्—

आत्मैकत्वबुद्धिरेव सम्यग्दर्शनं नानात्वबुद्धिस्तु तस्य कार्यम् 'एकमेवाद्वितीयम्', 'तत्तेजोऽसृजत्', 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' न तु तद् द्वितीयमस्ति, इत्यादिश्रुतेः । स्वचित्तस्पन्दनाभावे समाधौ मूर्च्छायां सुषुप्तौ च द्वैताभावादिति युक्तेश्च । तच्च परमार्थसदद्वैतं मायया भिद्यते तैमिरिकानेकचन्द्रवद् न परमार्थतः, निरवयवत्वादात्मनः । तत्त्वतो भिद्यमानेऽजमद्वैतं मर्त्यतां व्रजेत्, यथाग्निः शीतताम् । तच्चानिष्टं स्वभाववैपरीत्यगमनं सर्वप्रमाणविरोधात् । नहि लोके स्वभावस्यान्यथाभावः कथञ्चित्, यदि स्वभावेनामृतो-

भावः परमार्थतो जायते तदाऽमृतत्वेऽतिप्रतिज्ञाहानिः स्यात्। तस्मान्न द्वैतं परमार्थसत्-सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिस्त्वविद्यासृष्टविषयैव, न परमार्थतः 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' इति श्रुतेः। यदि परमार्थतः सृष्टिः स्यात् तदा 'नेह नानास्ति किञ्चन' इति द्वैतभावप्रतिषेधः कथं भवेत्। तस्मादात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्था कल्पिता सृष्टिरभूतैव प्राणसंवादवत् 'अजायमानो बहुधा विजायते' इति श्रुतेः। तस्मान्माययैव जायते, अन्यथाऽजायमानत्वं बहुधा विजाय' इति श्रुतेः। तस्मान्माययैव जायते, अन्यथाऽजायमानत्वं बहुधा जन्म चैकत्र कथं संभवति? श्रुतिरपि सृष्टिं निन्दति—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इहनानेव पश्यति' इति; तथा ऽसृष्टिमभिनन्दति—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इति। अपि च—'अन्धं तमःप्रविशन्ति ये संभूतिमुपासते' इति श्रुत्या संभूतेरुपास्यत्वापवादात् संभवः प्रतिषिध्यते। नहि परमार्थतः संभूतायां संभूतौ तदपवाद उपपद्यते। एवं 'को न्वेनं जनयेत्' इति श्रुत्या न कश्चिदेनं जनयेदित्यर्थिकया कारणमपि प्रतिषिध्यते। पुनरपिश्रुतिः कार्यकारणप्रतिषेध-माह—'नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्' इति। इतोऽपि द्वैतं वस्तु न भवति 'अथात आदेशो नेति नेति' इति, मूर्तामूर्तादि सर्वमेव त्याज्यमग्राह्यं नेतिनेतीति वीप्सया यतो निषेधति श्रुति-रतः स एष आत्मा जिज्ञासित इति विशिष्टेन निर्देशेनाद्वैतं बोधयति च। एवं श्रुतिवाक्यैः स बाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वमद्वयं न ततोऽन्यदस्तीति निश्चितमेतत्। युक्तिश्चात्र—यथा सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादेः सर्पादिवन्मायया जन्म युज्यते, न तु तत्त्वतः। तथा-ऽग्राह्यस्यापि सत एवात्मनो रज्जुसर्पवज्जगद्रूपेण मायया जन्म युज्यते, न तु तत्त्वत एवाजस्यात्मनो जन्म।

मायिकत्वेऽपि जगत आवश्यक्ता वेदान्तमते—

विवेचने सति सिद्धेऽपि जगतो मिथ्यात्वे तदन्तर्गतनानाभेदव्यवहारास्तदुत्पत्ति-स्थितिलयाश्च मृषैव, इत्येष वेदान्तसिद्धान्तः। एवं सत्यपि मिथ्याभूतस्य जगत आवश्यकता प्राणिकल्याणाय। विद्यमाने हि भेदे उपास्योपासकभावो भवति। ययोपा-सनयाऽन्तःकरणशुद्धिद्वारा परमतत्त्वं ज्ञातुं शक्नुवन्ति। या तूत्पत्तिप्रतिपादिका श्रुतिः। सा त्वन्यार्थाऽर्थाज्जीवपरमात्मैकत्वबुद्धिव्यवस्थापनार्था। श्रुतिरभिनिष्कलङ्के निरञ्जने एक-स्मिन् ब्रह्मणि नानात्वमारोप्य प्रतिषिध्य चैक्यं स्थापयति—'नेह नानास्ति किञ्चन' इति। अध्यारोपापवादाभ्यामभेदं बोधयति न खलु भेदबुद्धिं जययति। तदुक्तम्—

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन॥

मा० का०, ३।१५

मृल्लोहविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तोपन्यासैः सृष्टिर्या चोदिता प्रकाशिताऽन्यथाऽन्यथा च स सर्वः सृष्टिप्रकारो जीव-परमात्मैकत्वबुद्ध्यवतारोपायोऽस्माकमित्यर्थः।

अथ च वर्णाश्रमादिविभागा देवतिर्यङ्नरादिभेदा अपि कल्पिता एव। कल्पितस्यास्य प्रयोजनमुक्तं माण्डूक्यकारिकायाम्—

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ॥ ३।१६

मन्दमध्यमदृष्ट्याश्रमाद्यर्थं जगतो भेदयुक्तानि कर्माणि उपासनोपयुक्तानि। न चोत्तमबुद्धीनां कृते। तदुक्तम्—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥इति।

ईदृशी एव व्यवस्था शून्यवादमतेऽपि। मिथ्यात्वेऽपि जगतः परमोपदेशाय आवश्यकता वर्तते। तदुक्तम्—

अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का।
श्रूयते देश्यते चार्थः समारोपादनक्षरः॥

बो० प०, पृ० ३६५।

व्यवहारमाश्रित्य परमार्थो देश्यते—

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।

बो० प०, पृ० ३६५।

एवं परमार्थदेशनोपायभूतं जगत्। एतस्य जगतस्तदन्तर्गतानां सर्वेषां भावानां वस्तुतो निःस्वभावत्वेऽपि नाथेन नरकादिदुःखात् सत्त्वान् परिरक्षताऽभ्युदयानिःश्रेयससुखं प्रापयता सत्त्वाशयादिवेदिना बुद्धेन भगवता भावादयः प्रकाशिताः, न तु परमार्थतः। तदुक्तम्—

लोकावतारणार्थं च भावा नाथेन देशिताः।
तथा कार्यवशात्प्रोक्ताः स्कन्धायतनधातवः॥
न दोषो योगिसंवृत्या लोकात् ते तत्त्वदर्शिनः॥

बो० प०, पृ० ३७६-३७७।

उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम् ॥

म० का०, ६।६०

असत्यतोऽपि सत्यताप्राप्तिर्भवति, इत्यस्मिन् विषये भगवता भर्तृहरिणाप्युक्तं

वाक्यपदीये—

उपायाः शिक्षमाणानां　बालानाञ्चोपलालना ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥

अत उभयत्रास्य प्रपञ्चस्यावश्यकता परमार्थज्ञानोपयोगित्वेनाङ्गीकृता ।

जगतो हेतौ स्वरूपे च शून्यवादि-ब्रह्मवादिनोरुभयोस्तुल्यता यतोऽस्य मायिकत्वं मिथ्यात्वं व्यावहारिकत्वमुपयोगित्वं चोभौ स्वीकुरुतः । अत्र माध्यमिकवचनानि—जगतो मिथ्यात्वे मायिकत्वे च ।

अलातचक्रनिर्माणस्वप्नमायाम्बुचन्द्रकैः　।
धूमिकान्तः प्रतिश्रुत्कामरीच्यभ्रैः समो भवः ॥

च॰ श॰, ३०० ।

कल्पवशेन विकल्पितु लोकः संज्ञग्रहेण विकल्पितु बालः ।
सो च गहो अगहो असभूतो मायामरीचिसमा हि विकल्पाः ॥

मा॰ वृ॰, पृ॰ १९१ ।

केशोण्ड्रुकं यथा मिथ्या गृह्यते तैमिरिकैर्जनैः ।
तथा भावविकल्पोऽयं मिथ्या बालैर्विकल्प्यते ॥

न स्वभावो न विज्ञप्तिर्न च वस्तु न चालयः ।
बालैर्विकल्पिता ह्येते शवभूतैः　कुतार्किकैः ॥

मा॰ वृ॰, पृ॰२६२ ।

तस्मान्मायास्वप्नादिस्वभावाः सर्वधर्मा इति निश्चितमेतत् ।

बो॰ प॰, पृ॰ ३७९ ।

यथा माया यथा स्वप्नो गन्धर्वनगरं यथा ।
तथोपादस्तथा स्थानं तथा भङ्ग उदाहृतम् ॥ माध्यमिक कारिका ।

यथैव गन्धर्वपुरं मरीचिका यथैव माया सुपिनं यथैव ।
स्वभावशून्या तु निमित्तभावना तथैवमाज्जानथ सर्वभावान् ॥

म॰ वृ॰, पृ॰ १७८ ।

गन्धर्वनगराकारा मरीचिस्वप्नसन्निभाः । ल॰ सू॰, १०।१४४
गन्धर्वनगरस्वप्नमायानिर्माणसदृशाः　॥ ल॰ सू॰, १०।८७५

मायास्वप्ननिभा माया　गन्धर्वनगरोपमाः ।
मरीच्युदकचन्द्राभाः स्वविकल्पं विभावयेत् ॥ ल॰ सू॰, १०।२७९

उत्पादभङ्गरहितो　लोकः　खपुष्पसन्निभः ॥ ल॰ सू॰, २।१

तस्मान्मायास्वप्नादिस्वभावाः सर्वधर्मा इति निश्चितमेतत्। बो० प० पृ० ३७९।

मायाया अनेकत्वम्—

सापि नानाविधा माया नानाप्रत्ययसंभवा॥ बो० प० ९।१२

मायाऽऽकृतिः—चित्तमेव माया चित्तमाया तया समेते।
मायास्वभावेन चित्तेन संबद्ध इत्यर्थः। (बो० प०, पृ० ३८३)

जगतोऽन्मिथ्यात्वे मायिकत्वे च—वेदान्तवचनानि—

भातीति चेद् भातु नाम भूषणं मायिकस्य च।
यदसद् भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत्॥ प० द०

स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता। मा० का० १।७

मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः। मा० का० १।१८

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेपि तत् तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥ मा० का० २।६

मायास्वप्ने यथादृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥ मा० का० २।३१

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च॥ मा० का०

यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च॥ मा० का०

यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च॥ मा० का०

संघताः स्वप्नवत् सर्वे, आत्ममायाविसर्जिताः।
आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते॥ मा० का० ३।१०

संकल्पमात्रकलनेन जगत्समग्रं संकल्पमात्र कलने हि जगद्विलासः।
संकल्पमात्रमिदमुत्सृजनिर्विकल्पमाश्रित्य मामकपदे हृदि भावयस्य॥

संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुलः॥ वराहोपनिषद्।

मायाया अनेकत्वम्—

तुच्छानिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः॥ पं० द०

मायाऽऽकृतिः—चित्तमेव सकलाऽऽम्बरकारिणीमविद्यां विद्धि। सा विचित्रकेन्द्र-जालवशादिदमुत्पादयति। अविद्याचित्तजीवबुद्धिशब्दानां भेदो नास्ति। वृक्षतरुशब्दयोरिव॥ योगवाशिष्ठे ३।११६।८

सर्वधर्माणामथवा सर्वभावानां पारमार्थिकत्वम्—

शून्यवादे—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन॥ म० का०, १।१

न स्वतो जायते भावः परतो नैव जायते।
न स्वतः परतश्चैव जायते जायते कुतः॥ म० का०, २१।१३

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते॥
म० का०, १।१३; च० श०, १५

एवं च सर्वधर्माणामुत्पत्तिर्नावसीयते। बो० च०, ९।१०

नैवासतो नैव सतः प्रत्ययोऽर्थस्य युज्यते।
असतः प्रत्ययः कस्य सतश्च प्रत्ययेन किम्॥ म० का०, १।६

एवं च न निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति सर्वदा।
अजातमनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत्॥ बो० च०, ९।१५०

कस्यचित् केनचित् सार्धं बन्धो नाम न विद्यते।
परेण सह बन्धस्य विप्रयोगो न युज्यते॥ च० श०, १७९

न बध्यन्ते न मुच्यन्त उदयव्ययधर्मिणः। म० का०, १६।५

न सन्न चासन्न तथा न चान्यथा,
न जायते व्येति न चावहीयते।
न वर्धते नापि विशुध्यते पुन—
विशुध्यते तत् परमार्थलक्षणम्॥ म० सू० लं० ६।२

अद्वैतवेदान्ते—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥ मा० का०, २।३२

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम् ।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ।। मा० का०, ४।५

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते ।
सदसत् सदसद् वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते ।। मा० का०, ४।२२

अजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्तथा ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद् भविष्यति ।। मा० का०, ४।२९

एतेनोभयवादेऽजातित्वविषये तुल्यविचारः साक्षादेव प्रतिभाति ।

एवं वेदान्ते—

जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः ।
जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तन्मनीषया ।। मा० का०, ४।१०

शून्यवादे—

पूर्वं जातिर्यदि भवेज्जरामरणमुत्तरम् ।
निर्जरामरणा जातिर्भवेज्जायेत चामृतः ।।

पश्चाज्जातिर्यदि भवेज्जरामरणमादितः ।
अहेतुकमजातस्य स्याज्जरामरणं कथम् ।। मा०का०, ११।३-४

यद्यपि परमतत्त्वविषयकविचारस्य निबन्धनिरपेक्षत्वेऽपि प्रसङ्गात् तत्रापि किञ्चित् तौल्यप्रदर्शनाय लेशमात्रं कथ्यते—

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ।।

कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।
भगवानाभिरसंस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ।।
मा० का०, ४।८३।८४

इति भगवता गौडपादेनात्मनश्चतुष्कोटिविनिर्मुक्तत्वमुक्तम् ।

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ।। सु० सं०, पृ० १७ ।

कारणैः प्रत्ययैश्चापि येषां लोकः प्रवर्तते ।
चातुष्कोटिकया युक्त्या न ते मन्मतकोविदाः ।। ल० सू०, ३।२०

इति शून्यवादिनाप्यङ्गीकृतं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तत्वम् । एतेन बाह्यार्थतोऽन्यत्रापि विषये समानताऽवलोक्यते यथा चापि ब्रह्मवादे—

निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः । मा० का० २।३५

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।
सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथञ्चन ।। मा० का०, ३।३६

परं गुह्यमिदं स्थानमव्यक्तं च निराश्रयम् ।
व्योमरूपं कलासूक्ष्मं विष्णोस्तत् परमं पदम् ।।

उपाधिरहितं स्थानं वाङ्मनोऽतीतगोचरम् ।
स्वभावभावनाग्राह्यं संघातैकपदोज्झितम् ।।

सर्वं तत् परमं शून्यं न परं परमात् परम् ।
अचिन्त्यं प्रबुद्धं तत् तु न च सत्यं न संविदुः ।।
मुनीनां तत्त्वयुक्तं तु न देवा न परं विदुः ।।

तेजोबिन्दूपनिषत् ।

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्टा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः ।। मा० का० २।३८

शून्यवादेप्येवम्—

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् ।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ।।

यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम् ।
देशयामास संबुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम् ।। म० वृ०

सर्वोपलम्भोपशमः प्रपञ्चोपशमः शिवः ।। म० का०, २५।२४

शून्यमाध्यात्मिकं पश्य पश्य शून्यं बहिर्गतम् ।। म० वृ०, पृ० ३४८ ।

सर्वारोपविनिर्मुक्तं स्वतस्तत्त्वं चकाशति ।
शून्यताद्यभिधानैस्तु तत्रारोपनिराक्रिया ।।

तत्त्वरत्नावली ।

अवाचनक्षराः सर्वशून्याशान्तादिनिर्मलाः ॥ म० वृ०, पृ० ५३९ ।

तत्त्वं यत् सततं द्वयेन रहितं भ्रान्तेश्च संनिश्रयः ॥ सू० लं०, पृ० ५८ ।

यः शून्यतां जानति सोऽप्रमत्तः ॥ म० वृ०, पृ० २३९ ।

इत्यादि सर्वं बाह्यार्थातिरिक्तविषयेऽपि समानतां भूरिशो निर्वहति ।

खण्डनकारा अपि क्वचिच्छून्यवादब्रह्मवादयोरेककोटावभिनिवेशं कुर्वन्तः प्राहुः---'यदि शून्यवादानिर्वचनीयपक्षयोराश्रयणं तदा तावदमूषां निराबाधैव सार्वपथीनता' इति। ख० ख० खा० परि० १, पृ० १३९ शङ्करमिश्रकृतटीकासनाथे ।

भक्तिरसविमर्शः

पडितश्री श्रीकृष्णमणित्रिपाठी

आरतभूमिर्हि भक्तिरसस्य स्निग्धया धारया सिक्ता आप्यायिता च वर्तते। भारते भक्ति-रसस्य प्रवाहोऽनादिकालत एव प्रचलन्नास्ते। स्निग्धानुरागसम्बन्धः भावप्रवणा भक्ति रसाप्लाविता बहवो विद्वांसः सन्तो महान्तो महात्मनश्चेह परमात्मानमवाप्य कृतकृत्यता-मगुः।

यद्यपि रसविषयकचिन्तनपरम्पराया उदयो बहुपूर्वत एव जात आसीत्, परन्तु उपलब्धसामग्रीप्रामाण्यात् तस्य प्रवर्तनं भरतमुनित एव मन्यते रसशास्त्रविद्भिः। भारते भरतेनमुनिना रसनिष्पत्ति सूत्ररूपेण निर्दिशता तत्र पानकरसन्धायेन दृष्टान्तमुप-स्थाय सन्तोषो विहितः। आनन्दसाधनमेव रसतत्त्वस्यास्ति चरमं लक्ष्यम्। "रसो वै सः, रसं लब्ध्वा ह्यान्दी भवति, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन, आनन्दाद्धेव भूतानि जायन्ते" इत्यादीनि श्रुतिवचनान्यानन्दस्य परमात्मरूपतां प्रतिपादयन्ति। जीवन रूप परमं पुरुषार्थमानन्दमेवामनन्ति। दुःखस्यात्यन्तिकन्निवृत्तेरपि समावेश आनन्द एव जायते।

आनन्दस्याधिष्ठानमस्ति आत्मा। स द्विविधः—एको जीवात्मा, द्वितीयश्च पर-मात्मा। तत्र वस्तुतः परमात्मैवास्ते आनन्दस्याधिष्ठानम्, तथापि जीवात्मन्यपि सच्चिादा-नन्दस्वरूपस्य परब्रह्मोंऽशस्य विद्यमानत्वाद अग्निस्फुलिङ्ग इव समुद्रजलबिन्दुवद्वा जीवे आनन्दानुभूतिर्जायिते, आनन्द प्रतिभासो वा भवति। लौकिकविषयजन्य आनन्दो भवत्य-स्थायी त्वात्मगत आनन्द एव। भरतमुनेर्लक्ष्यं जीवगतस्यानन्दस्योद्बोधनमात्रमस्ति। जीवो ह्यनादिकालतो नानायोनिषु बंभ्रम्यमाणो ऽनेकाभिर्वासनाभिः परिव्याप्तो भवति।

मानवानां मानसेषु विविधा वासनाः सूक्ष्मतया तिष्ठन्ति, काव्यार्थचिन्तनयोग्यतापि तत्र स्वभावत एव समुद्भवति। अतो विभानुभावसञ्चारिभावमाध्यमेन रसास्वादस्य प्रक्रि-यायां विचारे रसाचार्यस्य भरतस्यास्ति लक्ष्यभूतः। वस्तुतोऽयं रसोपक्रमः परमानन्द-स्यास्ति पूर्वपीठिकैव विविध वासनासंसक्तचेतसां सचेतसां कृतेऽधिकः सुगमश्च।

परमतत्त्वपुरुषोत्तमगतायाः पूर्णतया रसानुभूतेः सर्वैर्दुष्करत्वाद्। भरतादिभिरा-चार्यैर्न निःश्रेयसप्राप्तौ समर्थानां श्रवणादि साधनानां विचारः प्रस्तुतो न वा निखिलानर्थ-

निदानभूतस्याज्ञानस्योन्मूलने प्रयासो विहितः। भरतमुनिना महता परिश्रमेण दिव्यज्ञान-मन्दरेण आगमसिन्धोर्मन्थनं विधाय पीयूषवपुषो यस्य नाट्यशास्त्रस्य प्रणयनमकारि, तस्य लक्ष्यं जीवगतानन्दांशस्यास्वादनमात्रमेवास्ते, न तु पूर्णब्रह्मानन्दस्यानुभूतिरपि तस्यास्ति-लक्ष्यभूता।

भक्तिरसाचार्यैस्तु न जीवगतानन्दांशमात्रमेव लक्ष्यीकृतम्, अपि त्वानन्दराशि-भगवद्गतानन्दस्यास्वादनमेवास्ति तेषां लक्ष्यम्। पुष्कलानन्दरसास्वादस्तु तदैवोद्भवति यदा परमानन्दस्वरूपो भगवान् स्वयमेव मनोगतोभवेत्। तथाचोक्तं स्वामिवर्यैः श्री मधु-सूदनसरस्वती यतिवर्यैर्भक्तिरसायने—

भगवान् परमानन्द स्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम्।। १।१०

अपिच यदा भक्त्या भक्तस्य द्रवितं चित्तं नित्यं पूर्णबोधं सुखात्मकं च परमात्मानं नितरां समाश्लिष्यति तदा किमप्यन्यत् कर्तव्यं नावशेषतयाऽवतिष्ठते—

भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णं बोधसुखात्मकम्।
यद् गृह्णाति द्रुतं चित्तं किमन्यदवशिष्यते।।

अर्थात् सर्वदेशव्याप्तस्य निखिलकालसम्बद्धस्य नित्यसुखस्वरूपस्य परिपूर्णस्य परमेश्वरस्य द्रवीभूतेन चेतसा ग्रहणे सति कृतकृत्यतायां न किञ्चित्कर्तव्यमवशिष्यते। अत एवोक्तं ब्रह्मणा श्रीमद्भागवते भगवन्तं श्रीकृष्णं प्रति—

पुरेह भूमन्! बहवोऽपि योगिन—
स्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।
विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया
प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ! ते गतिं पराम्।। १०।१४।५

भक्ति सम्प्रदायस्यायं रससिद्धान्तो नास्ति भरताभिमतरसस्य विरोधी, अपितु तस्यास्ति विकासमात्रम्। विषयेषु भवति मानवानां प्रवृत्तिः स्वाभाविकी, अतस्तत्रापेक्षितो रसास्वादः सरलो जायते। एनमेव सरलं मार्गमङ्गीकृत्य भरतमुनिना परमरसास्वादमार्गः प्रशस्तीकृतः। यावन्मानवमनोवृत्तिः परमरसास्वादस्यैकस्मिन् अंशमात्रे लौकिके रसे पूर्ण-तया न निष्णाता भवति, तावत् परमरसास्वादस्य स्पृहयालुता तत्र न जागृता भवितुमर्हति। अतः प्रथम भूमिकामधिरूढेभ्योऽधिकारिभ्यः प्राकृतरसपरिचयं स्वकीयं लक्ष्यं निर्धार्य भरतेन मुनिना परमतत्त्वविषयकस्याप्राकृतस्य रसस्य स्वीकृतिः प्रदत्ता। अत एवोपक्रमे तेन चतुर्वर्गफलप्राप्तिरेव प्रयोजनं प्रतिपादितम्। अत एव च शान्तरसस्य पार्थक्येन निरूपणं तेनकृतम्।

यथा बिम्बस्थानीयं मुखमेव दर्पणाद्युपाधिसम्बन्धात् प्रतिबिम्बरूपं धत्ते, तथैवेश्वरोऽपि देहोपाधिसंयोगात् जीवरूपं गृह्णाति। अत एव जीवोऽपीश्वरवत् पूर्णरसरूपस्तयोर्भेदोनास्ति। दृश्य-दर्शकयोरभेदानुभव एव रसस्य परमं प्रयोजनम्। कान्तादिलौकिकविषयेष्वपि रसप्रतीतिकारणं सुखस्वरूपं चैतन्यधनमेवास्ति, किन्तु मायाया आवरणशक्त्या आवृतत्त्वान्न तत् प्रतीयते विशुद्धं भगवत्तत्त्वम्। अत एव वैराग्यशतके योगिराजो भर्तृहरि—

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिर सञ्चारजनितं,
तदा दृष्टं नारीमयमिदमशेषं जगदिति।
इदानीमस्माकं पटुतमविवेकाञ्जनदृशां,
शमीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनमपि ब्रह्म मनुते॥

यत्र भरतेन नाट्यशास्त्रे नवसंख्याका रसाः स्वीकृताः, तत्र भक्तिरस सम्प्रदाये पञ्चमुख्याः सप्त च गौणा इति गौणमुख्यभेदाद् द्वादश भक्तिरसाः स्वीक्रियन्ते।
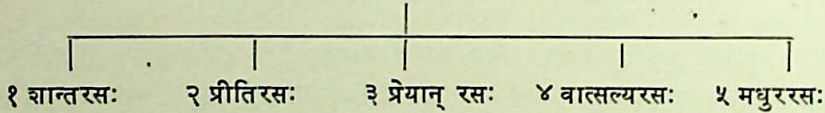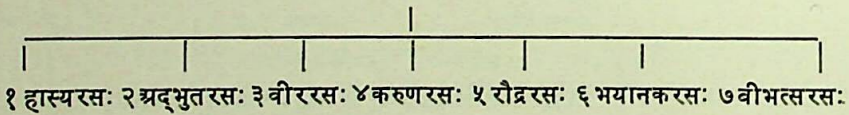
भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिण विभागस्य पञ्चमलहर्यां स्थायिभावस्य विस्तृतविवेचन प्रसङ्गेः स्थायिभावस्य परिभाषां कुर्वता रूपगोस्वामिना प्रोक्तं यद् यो हि भावो विरुद्धान्-अविरुद्धान् वा भावान् स्ववशेकृत्वा उत्तमराजवत् सुशोभेत स स्थायिभावो-निगद्यते—

अविरुद्धान् विरुद्धांश्च भावान् यो वशतां नयेत्।
सुराजेव विराजेत स स्थायीभाव उच्यते॥

भक्तिशास्त्रे रसमात्रं प्रति श्रीकृष्णविषयकरतिरेव स्थायीभावः स्वीकृतोऽस्ति। सा द्विविधा—मुख्य रतिः गौणरतिश्च—

स्थायीभावोऽत्र स प्रोक्तः श्रीकृष्णविषया रतिः ।
इयं चापि रतिर्मुख्या गौणी चेति द्विधा मता ।।

स्थायीभाव एव विभावैरनुभावैः सञ्चारिभिः सुखरूपतया प्रतीयमानो रस इत्युच्यते । तथाचोक्तं भक्तिरसायने—

विभावैरनुभावैश्च व्यभिचारिभिरप्युत ।
स्थायीभावः सुखत्वेन व्यज्यमानो रसो भवेत् ।। ३।२

एष एव भावो भक्तिरसामृतसिन्धौ दक्षिणविभागस्य प्रथम लहर्यामपि रूपगोस्वामिना प्रोक्तोऽस्ति––

सामग्री परिपोषेण परमा रसरूपता ।
विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकै र्व्यभिचारिभिः ।।
स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः ।
एषा कृष्णरतिः स्थायीभावो भक्तिरसो भवेत् ।। २।१।५६

यथा काव्ये रतेः कारणं कार्यं सहकारि च क्रमशो विभावः, अनुभावः, व्यभिचारिभाव इति कथ्यते, तथैव भक्तिरसेऽपि ते स्वीकृताः सन्ति । इत्थं रतेरास्वादनस्य यत्कारणं तद् विभावः प्रोच्यते । विभावयती वासनात्मतया स्थितां रतिमास्वादाङ्कुरयोग्यतां नयतीति व्युत्पत्त्या विभावः । यद्वा विभावयति आविर्भावयति, उद्बोधयति प्रसुप्तं स्थायिनमिति विभावः । आहो स्विद् विभाव्यतेऽनेन रत्यादिरिति कारणमात्रं विभावः, कार्यमात्रमनुभावः, स्थायिभावानां सहकारिकारणं च व्यभिचारी कथ्यते ।

भक्तिसिद्धान्ते सर्वेभावा भगवद्रतेरेव पोषका भवन्ति । अत्र भगवान् आलम्बनमप्यति स्थायिभावरूपेण तत्प्रत्यायनमपि जायते । अतस्तत्र तादात्म्यस्थापनं स्वाभाविकमपि भवति । भक्ताचार्याः सर्वान् भावान् इति मूलकान् मन्यन्ते । आधारममुमाश्रित्यैव तैर्मुख्यामुख्यरसानां कल्पना कृतास्ति । भक्ताचार्याणां मते स्वयं सुखमयः स्थायिभाव एव रसरूपतां प्रतिपद्यते, किन्त्वभिनवगुप्ताचार्येण स्थायिभावविलक्षण एव रस इति ब्रुवता रसस्य स्थायिभावविलक्षणत्वमङ्गीकृतम् । अपि च रसरूपताधारणाय तत्परिपोषकाणां विभावादीनां नितान्तमपेक्षा भवति, किन्तु प्रेमाभक्तितस्तदभावेऽपि स्वसत्तया रसतां प्रतिपद्यते ।

भक्तिरसामृतसिन्धौ भावनिष्पत्तिविषयेऽधिकारि निरूपणप्रसङ्गे द्विविधोभावः प्रोक्तः—कर्कशचित्तः, कोमलचित्तश्च । तत्रापि कर्कशचित्तस्त्रिधोपमितः—वज्रचित्तः, स्वर्णचित्तः, जतुचित्तश्च । तेषु वज्रचित्तो भावाग्निना न कदापि द्रवते, स्वर्णचित्तोऽधिकेन तापेन् द्रवते, जतुचित्तश्च तापलेशमात्रेणापि द्रवते । अस्यैव भावस्य जतुदृष्टान्तेनावबोध-

नाय मधुसूदन सरस्वतीभिरपि भक्ति रसायने प्रोक्तम्--

चित्तद्रव्यं तु जतुवत् स्वभावात्कठिनात्मकम् ।
तापकै र्विषयैर्योगे द्रवत्वं प्रतिपद्यते ।। १।४

लक्ष्यभेदाद् रसस्य निष्पत्तौ आस्वादे च भवति भेदः स्वाभाविकः । विभावानुभावसञ्चारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति भरतसूत्रमवलम्ब्य रसनिष्पत्तिविषये यावत्यो व्याख्याः समुपलभ्यन्ते, ताः सर्वा अपि भक्तिरस निष्पत्तिव्याख्यातो भिन्ना एव दृष्टिगोचरी भवन्ति ।

मीमांसकमतानुयायिनो भट्टलोल्लटस्योत्पत्तिवादो यत्र विभावादिकारणैः सह स्थायिभावस्य दमयन्त्यादिदर्शनज नलादिसमवेतरत्युद्बोधस्य तत्कार्यकटाक्षादि सहचरितोत्कण्ठादीनां चानुकार्य नलादिनैव सम्बन्धात्तत्रैव रसउत्पद्यते, नटे तु तत्तदनुकृत्या सादृश्यमूलकारोपो विधीयते । नैयायिकस्य शङ्कुकस्यानुमितिवादो यत्रानुकार्ये नलादौ गृहीतैर्विभावादिभिर्हेतुभिरनुकार्यभिन्ने नटे रसस्यानुमानं क्रियते । आभ्यामाचार्याभ्यां प्रदर्शित रसनिष्पत्तिप्रकाराद् भिन्नो भक्तिरसनिष्पत्तिप्रकारः । भक्तिरसदृष्ट्या न रसोत्पत्तिरनुकार्ये भवति, नापि नटेऽनुमीयते, प्रत्युत तत्र भक्तस्य भाव एव आस्वादगोचरोभूत्वा रसरूपतां प्रतिपद्यते ।

नाट्येऽनुकार्यगतभावस्य नटे आरोपसम्भवेऽपि भक्तिक्षेत्रीयरसानुभूतौ कर्तृत्वं श्रवणकीर्तनादावेवावधारितमस्ति । अतएव भट्टनायकस्यापि भावकत्वभोजकत्वरूपयो द्वयोर्व्यापारयोर्नवीनकल्पनापि न कृतकार्या भवति--यत्रैकया विभावादीनां साधरणीकरणं क्रियते, द्वितीयया च सत्त्वोद्रेकाज्जायमानामानन्दात्मिकां संविद्विश्रान्ति संसाध्य रसस्यानुभवः क्रियते । नवा व्यञ्जनावादिनोऽभिनवगुप्ताचार्यस्यस्य प्रमातृगत सहजात मनोभावस्यास्वादनादेव निर्वाहो भवितुमर्हति, यतो ह्यन्यपात्रगतभावस्य प्रधानपात्रगतभावे विलयस्य सिद्धान्तो न भक्तिरस सिद्धान्ते मान्यतामर्हति ।

चतुर्षु एतेषु मतेष्वात्मस्वरूपस्य रसस्य नित्यता न सिद्ध्यति । अतो भावत्रयीसमूहालम्बनज्ञानानन्तरं जायमाना व्यवधान रहिता प्रतीतिरेव भक्तिरसः । अतएव भक्तिरसायनेऽयं सर्वमान्यः सिद्धान्तः समुद्घोषितः--

सानन्तर क्षणेऽवश्यं व्यनक्ति सुखमुत्तमम् ।
तद्रसः केचिदाचार्यास्तामेव तु रसं विदुः ।। ३।१३

अपिच--

नित्यं सुखमभिव्यक्तं रसो वै स इतिश्रुतेः ।
प्रतीतिः स्वप्रकाशस्य निर्विकल्प सुखात्मिका ।। ३।२३

किञ्च—

परमानन्द आत्मैव रस इत्यागमा विदुः ।
शब्दतस्तदभिव्यक्तिप्रकारोऽयं प्रदर्शितः ।। ३।२४

भरतसूत्रे पञ्चमी हेत्वर्था । हेतुत्वं च कारकत्व ज्ञापकत्वान्यतररूपम् । ज्ञापकत्वं च तद्विषयक ज्ञानजनक ज्ञानविषयत्वम् ज्ञानं चात्र त्रिविधम्—प्रत्यक्षम्, अनुमितिः, शाब्दधीश्च । तत्रापि प्रत्यक्षं द्विविधं—यथार्थमयथार्थं च । अयथार्थं पुनर्द्विविधं—दोषजन्यं भ्रमत्वेन प्रसिद्धमिच्छाजन्यंचारोपितत्वेन ख्यातम् । एवं च भट्टलोल्लटादीनां मते रसास्पद-नलदुष्यन्तादिनायकेषूत्कण्ठादिभिर्हेतुभीरसउत्पद्यते, ज्ञापकत्वहेतुना च नटादिपात्रेषु रस आरोप्यते । व्यञ्जनावृत्या वा नलदमयन्त्यादीनां गुणविक्रियादिभिर्नटनटीष्वारोप्या यथार्थानुभवस्वरूपो मानसो रस आस्वाद्यते । एवं च स्वस्वशेमुषीविकाशानुसारं भरतसूत्र घटक संयोग-पञ्चमी-निष्पत्त्यर्थविविधतयाऽभियुक्ता भट्टलोल्लट-भट्टनायक-शङ्कुकाभिनवगुप्ताचार्या रसतत्त्वं प्राचीकशन् ।

भक्तिरसक्षेत्रे सर्वाधिका अभिनवता स्थायिभावकल्पनायामस्ति। भक्तिरसाचार्याः केवलामेकां भक्तिमेव स्थायिभावं स्वीकुर्वन्ति । प्राचीनैराचार्यैर्न भक्ते, रसात्मकत्वमङ्गीकृतं नैापि स्थायिभावत्वं स्वीकृतम् । अत एवैतेषां मते भक्तिकाव्यस्य न भावकोटौ न वा रसकोटौ समावेशो भवितुमर्हति । रसशास्त्रे वासनामयाः सहृदयहृदया रसिका एव रसास्वादनस्याधिकारिणोऽभिमतः सन्तिः, परं भक्तिशास्त्रे भक्तिवासनावासितान्तःकरणा भक्तिरसास्वादनाधिकारिणो गण्यन्ते ।

स्थायिभावस्य रसरूपताविषये भक्ताचार्याणां नाट्याचार्येण साकं विशेषो मतभेदो नास्ति । प्रसङ्गेऽस्मिन् भक्ताचार्यैरनेकशो भरतमुनेरेवातिदेशः कृतः । रूपगोस्वामिना तु तत्परिभाषापि साहित्यदर्पणपरिभाषासम्वद्धैव दत्तास्ति। भक्तिरसायने मधुसूदनसरस्वतीभी रसनिष्पत्तिविश्लेषणं कुर्वद्भिः प्रोक्तं यत् स्थायिभावः सामाजिकेष्वेवावतिष्ठते । यदा तस्य संयोगोविभावादिभिर्भावैर्भवति तदा सामाजिकाभिनेययोस्तद्भेदस्तिरोधत्ते, ततोऽभेदप्रतीत्या भगवद्गतायाः परमानन्दरूपतायाः सामाजिकेष्वेवावस्थितत्वात्तेऽप्यानन्दनिमग्ना भवन्ति—

स्थायिभावगिराऽतोऽसौ वस्त्वाकारोऽभिधीयते ।
व्यक्तश्च रसतामेति परमानन्दतया पुनः ।।

विभावानुभाव सञ्चारिसंयोगेनाभिव्यक्तः स्थायिभाव एव सभ्याभिनेययोर्भेदतिरोधानेन सभ्यगत एव सन् परमानन्दसाक्षात्काररूपेणरसतामाप्नोतीति रसविदां मर्यादा (१।६) परिभाषयाऽनया निम्नाङ्कित निष्कर्षाः प्रादुर्भवन्ति—

(१) स्थायीभावः सामाजिकगत एव भवति। सामाजिकचित्तवृत्तिरेव रस-रूपतामापद्यते।

(२) रस सुखात्मक एव भवति।

(३) व्यञ्जनावादानुसारमेव रसोऽभिव्यज्यते।

(४) तादात्म्य सिद्धान्तस्वीकारात् सभ्याभिनेययोर्भेदस्तिरोहितो भवति।

तथाच भक्तिरस सम्प्रदायिनां मतेनालम्बनंविभावो रतेराधारः स्वयं भगवान् श्रीकृष्णः, उद्दीपनविभावो भगवद्गुणालङ्करणस्रक् तुलसीचन्दनादिः, अनुभावः स्वेदाश्रु-रोमाश्च कम्पजृम्भागीतनेत्र वक्त्रविक्रियादिः, व्यभिचारिणो भावाश्च निर्वेदादयोः ज्ञेयाः। तत्र विषयतासम्बन्धेन स्थायिविशिष्टमालम्बनम्, स्वोद्बोधजनकतासम्बंधेन स्थायिविशिष्ट-मुद्दीपनम्, स्थयिपोषकत्वे सत्यालम्बनचेष्टारूपोऽनुभावः, आलम्बनावच्छेदेनाविर्भूष्णुः स्थायिपोषकरूपो व्यभिचारिभाव इति विवेचनीयम्। एभिः समुदितैस्त्रिभिर्विभावादिभी रस आविर्भवति। तथाहि भक्तिरसायने मधुसूदनसरस्वतीमतिः—

अलौकिकस्य रत्यादेः सामाजिकनिवासिनः।
उद्बोधे कारणं ज्ञेयं त्रयमेतत् समुच्चितम्॥

ज्ञातस्वपरसम्वन्धादन्ये साधारणात्मना।
अलौकिकं बोधयन्ति भावं भावास्त्रयोऽप्यमी॥

भावत्रितयसंसृष्ट स्थायिभावावगाहिनी।
समूहालम्बनामैका जायते सात्त्विकी मतिः॥३।१०, ११, १२

भगवद्गुणश्रवणादिना जनितद्रुतिरूपायां मनोवृत्तौ विभावादिसंयोगेन व्यक्ती-भवद्भगवदाकारतारूपरत्याख्यः स्थायीभावः परमानन्दसाक्षात्कारात्मको रस रूपतया आविर्भवति। तमेनं पुरुषार्थचतुष्टयभिन्नं भक्तिरसं स्वतन्त्रं पञ्चमं पुरुषार्थं समामनन्ति भक्तिरसाचार्याः।

अगाधनेहःस्रोतसा उह्यमानानां प्राणिनां प्रवृतेः प्रकृतेश्चानन्तत्वेऽपि मुख्यतया चत्वारो धर्मार्थकाममोक्षा एव पुरुषार्थाः शास्त्रेष्वभिमताः सन्ति। तत्रादृष्टोपायत्वेन धर्मस्य दृष्टोपायत्वेनार्थस्य, जन्यसुखफलत्वेन कामस्य, नित्यमुख्यफलत्वेन च मोक्षस्य चारिता-र्थ्येऽपि—

त्वत्कथामृतपाथोधिं विहरन्तो महामुदः।
कुर्वन्ति कृतिनः केचित् चतुर्वर्गं तृणोपमम्॥

त्वत्साक्षात्करणाह्लाद विशुद्धाब्धिस्थितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्मण्यपि जगद्गुरो!

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धवः!
न स्वाध्यायस्तपो योगो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥

इत्यादीनां मुक्तेरप्यनभिलषणीयतामवगमयतां वचनानां भगवत्प्रेमस्वरूपफलपरत्वस्य न्याय्यत्वेनोक्तेषु चतुर्षु पुमर्थेष्वग्रहणाद् भक्तिः पञ्चमः पुरुषार्थः सिद्ध्यति।

न च भगवत्प्रेम्णि मुक्तेर्नान्तरीयकतया तच्चतुष्टयत्वेनैवोपपत्तौ पुमर्थेषु पञ्चमसिद्धान्तोऽनतिप्रयोजक इति वाच्यम्, भगवत्प्रेमाणमुद्दिश्य साधने प्रवृत्तस्य पुरुषस्य तत्प्रेमत्वस्यैवोद्देश्यतावच्छेदकत्वम्, नत्वानुषङ्गिकमुक्तित्वस्यापि, प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायात्। तस्माद्भक्तेः पञ्चमपुरुषार्थतोक्तिः सुसमञ्जसैव। इत्थं सिद्धे भगवद्भक्तेः पञ्चमपुरुषार्थत्वे तदधिगमोपाय कुक्षि प्रविष्टाः सर्वेऽपि कायिक-वाचिक-मानसिक व्यवहारा भक्तिसाधन व्यवहार्या इत्यत्र न कापि संशीतिः।

नित्यकर्मानुष्ठानाद् विशुद्धेऽन्तःकरणे वैराग्योयोद्वलिते चेतस्यद्रुतचित्तानां तत्त्वज्ञानोदयाद् मोक्षाधिगमो यद्वा श्रवणकीर्तिनादिना द्रुते चेतसि श्रद्धादिक्रमेण भवति भगवति प्रेमोद्गम इत्यधिकारिभेदाद् व्यवस्था निर्द्धारिता शास्त्रैः।

एवं चाद्रुतचित्तानां पुंसामद्वैतसिद्धौ मार्गं प्रदर्श्य द्रुतचित्तानामेतद्दिदर्शयिषुविपश्चिदग्रेसरो मधुसूदनसरस्वतीयतिवर्यो भक्तिरसायने सपरिकरं सोपपत्तिकं च भक्तिरसं व्यवातिष्ठियत्।

भगवतः श्रीकृष्णस्य मधुरलीलायामहर्निशं निमग्नानां चैतन्यमहाप्रभूणां प्रेरणया तन्मतानुयायिभिर्वृन्दावनस्थैर्गोस्वामिवर्यैश्च न केवलं माधुर्यभक्ते, रूपरेखैव प्रस्तुता, प्रत्युत तस्या बाह्याभ्यन्तरं रूपमपि सर्वांगपूर्णं निर्मितम्। एकतस्तैस्तस्यै शास्त्रीयं रूपं प्रदत्तमन्यतस्तत्सिद्धये शास्त्रतो दर्शनतश्च प्रचुराणि प्रमाणान्युपस्थाप्य सुदृढान् तर्कांश्च संगृह्य साहित्यिकाधारेण भक्तिरसरूपे प्रतिष्ठापिता माधुर्यभक्तिः। यत्र श्रीमद्भागवतादिपुराण-महाभारत-शाण्डिल्यभक्तिसूत्र-नारदभक्तिसूत्रादीनामपि पर्याप्तं योगदानं दृश्यते। भक्तिरसनिरूपणे गोस्वामिनां योगदानं सर्वाभ्यर्हितं महत्वपूर्णं च जातमस्ति। भक्तिरसामृतसिन्धौ रूपगोस्वामिना तर्कसम्मत्या शास्त्रीयपद्धत्या सप्रमाणं भक्ते रसरूपता प्रसाधिता। उज्ज्वलनीलमणे च मधुरभक्तेः शास्त्रीयं निरूपणं कुर्वता तेन राधाकृष्णयोः प्रेमपर्यालोचयता विभावाद्यचङ्गसहितो भक्तिरसो रसपदे प्रतिष्ठापितः। जीव-

गोस्वामिना तु भक्तिरसामृतसिन्धावन्वर्थनाम्नीं दुर्गसंगमनीं टीकां कृत्वा वस्तुतो दुर्गमानि मूलस्थलानि समजीगमन् ।

एवं च विविधकण्टकाकीर्णं संकीर्णं वर्त्म विहाय परिष्कृतेन घण्टापथेन सञ्चरिष्णूनां रसविदां विपश्चितां मतेन 'रसो वै सः, रसं लब्ध्वा ह्यानन्दी भवति', इत्यादि श्रुत्यनुसारं स्वरूपतटस्थलक्षणलक्षितो ब्रह्म-परमात्मादिपर्यायो भगवानेव रसः, तमेवैनं लब्ध्वा स्वल्पानन्दो जीवः पूर्णानन्दो जायत इति । परमपुरुषार्थप्रापकतया भक्तिशास्त्रस्य दर्शनतापि संगच्छते । इत्यलं पल्लवितेन ।

श्रीमद्भागवते रासलीला

पण्डितश्री बदरीनाथकाशीनाथ शास्त्री

श्रीमद्भागवते दशमस्कन्धे निरोधलीलायां सर्वेषां टीकाकाराणां मते रासपञ्चाध्याय्यामतत्त्वं गौरवञ्च समानं दृश्यते। तत्र न कमपि समर्थं हेतुं न ते प्रदर्शयन्ति। स्व-स्व-मतेन टीकाकारास्तस्याः लीलाया गौरवं साधयन्ति। भिन्न-भिन्नान्यनेकानि कारणान्युद्भावयन्ति; त तानि विदुषां हृदयङ्गमानि स्यु। लीलायां किं प्रयोजनमिति मुख्यश्रोत्रा परीक्षता एव पृष्टमस्ति। यथा—

'किमभिप्राय एतन्नः संशयं छिन्धि सुव्रत'

अत्र नः इति बहुवचनेन मम मत्सदृशानाञ्चायं संशयः स्यादित्यपि सूचितम् सुव्रत इति संबोधनेन भवादृशा अप्येतां लीलां कीर्तयन्तीति सूचितमाश्चर्यमपि प्रकटीकृतम्। 'एतन्नो ब्रूहि' एतत्कथय इत्याद्यनुक्त्वा विशेषरूपेण संशयपदप्रयोगेणास्य संशयस्य दुरपनेयत्वपि द्योतितम्। तदुत्तररूपेण यच्छ्रीशुकेनोक्तम्—तत्र भगवतः परब्रह्मरूपत्वाद् धर्माधर्मादिगुणदोषजनक क्रियातः परत्त्वं समाधाने मुख्या युक्तिः। भगवद्गीतायाञ्च—"न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन। नानवाप्तमवाप्तव्यम्" इति भगवता स्वयमेव निर्दिष्टमस्ति। तथा "न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा" इत्यपि यद्यपि सर्वत्र व्यापकस्य तत्तद्वस्तुसंसर्गजन्य गुणदोष संसर्गो न भवति। इदन्तु विग्रहवतोऽपि गुणदोषसंसर्गाभाव इत्येतावतोत्त रेण परब्रह्ममाहात्म्य बोधनपरेण रुद्रवह्निदृष्टान्तोद्वलितेन श्रीशुकः परीक्षितं समाहितवान्। भागवते एतमेवार्थं विशदयितुं सन्ति स्पष्टाः शब्दाः। यथा—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणाञ्च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥

नैतत्समाचरेज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्॥

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरणं क्वचित्।
तेषां स्ववचो युक्तं बुद्धिमाँस्तत्समाचरेत् ।।

कुशलाचरितै नैषामिह स्वार्थो न विद्यते।
विपर्ययेण वानर्थो निरहंकारिणां प्रभो ।।

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्य दिवौकसाम्।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ।।

एतत्तु (विग्रहवतो परब्रह्मणः श्रीकृष्णस्य क्रियावत्त्वेऽपि क्रियाफल सम्बन्ध-रहितत्त्वम्) अन्यत्र चरित्रेष्वपि प्रदर्शयितुं वक्तुं च सुशकम्। नैतावता रासलीलाया अहोभाव संपादकं वैशिष्ट्यं वोद्धुं बोधयितुं वा शक्यते।

तत्र भक्ति प्रतिपादनपरे भागवते भक्तानां स्वरूपप्रदर्शनं भक्ति प्रदर्शनं भक्तिफल-प्रदर्शनं चावश्यकं भवति। श्रीमद्भागवतेऽनेकेषां भक्तानामुद्देशरूपेण परिचयो वर्णितः। चरित्राणि च नाऽतिविस्तरेण यथा ध्रुव-प्रह्लादाम्बरीषादयः, अन्ये च वैरभयादिद्वारा-भजमाना भक्ता, हिरण्याक्षादयः, इन्द्रादयो देवाश्च ऋषयश्च तेषां तेषां भक्तानां चरित्राणिः तेषां विपदो भगवत्कृतं विपन्निवारणं वर्णितमस्ति। वैरद्वारा भजमानानां भगवता सह योद्धुमपेक्षितबलप्राप्तये तप आदीनि साधनानि, तेभ्यो अन्यदेवैर्दत्ता वरास्वैश्च वरैः समुन्नद्धानां तेषां देवानां पराभवाय समुद्योगः, देवानां भगवतः शरणागतिः, भगवत्कृतं संरक्षणमेतेषां प्रसङ्गानां साक्षात्परम्परया व भक्तौ समन्वयः तत्र तत्रैतेषु प्रसङ्गेषु वर्णिता भक्तिर्नहि श्रीमद्भागवतेन प्रतिपादयिषिता भक्तिर्भवति। तत्र तत्र च प्रतिपादिता भक्ति सहेतुका व्यवहिता भगवता सामान्यैर्वरैस्तर्पिता च, यथा ध्रुव प्रह्लादादीनाम्। मातृ सपत्निकृतापमानेनोद्वेजितो ध्रुवः नारद प्रदर्शित तपोमार्गेण भगवन्तं भेजे। सच भगवता ध्रुवपदप्रदानेन तोषितः। तथा नारदोपदेशेन प्रह्लादो बाल्याद् भक्तो बभूव। भगवता स च तत् पितृकृतोपसर्गेभ्यः संरक्षितः। अन्ततश्च नृसिंहावतारद्वारा हिरण्यकशिपुं हत्वा प्रह्लादः संरक्षितः। तथा नवमस्कन्धे अम्बरीषो दुर्वाससः शापजन्य-कृत्यातो रक्षितः। तस्य भक्त्या प्रसन्नो भगवान् तस्मै स्वास्त्रं सुदर्शनं दत्तवान्। तेनास्त्रेण कृत्या नाशिता, दुर्वासाश्च त्रासितः। तथा तत्र तत्र असुरेभ्यो देवानां रक्षणं कृतम्। तथैव प्रकारभेदेन भक्तानां पाण्डवानामप्येतेष्वेव समावेशः। एवं विमर्श्यमाणे उपसर्गेभ्यः सर्वत्राऽऽपद्भ्यः संरक्षणं कस्याऽपि फलस्य दानं भगवत्कार्यम् श्रवणकीर्तनादि रूपं कार्यं भक्तकार्यम् इत्युभयकार्यरूपत्वं भक्तेः सिद्धयति। एतस्यार्थस्य प्रतिपादनाय यदि भागवतस्य प्रवृत्तिस्तर्हि तत्त्वविदां न संतोषाय स्यात्। प्रह्लादादीनां रक्षणं तत किं देहस्याऽत्मनो वा ? आत्मा तु संरक्षित एव। तस्य हनने स्वयमीश्वरोऽप्यशक्तः स्यात्।

अवएव आत्मनः सद्रूपत्त्वं तद्विदो वदन्ति वर्णयन्ति च। देहादिषु तु विनाशशीलेषु भक्तानां भगवतश्चानास्था एवोचिता। अथ च तेभ्यो भक्तेभ्यो दत्तानि ध्रुवपदादि फलान्यपि तत्त्वविदां नाकर्षकाणि। समलोष्ठाश्म काञ्चना यतयोऽपि येभ्यो फलेभ्यो न स्पृहयन्ति, तेषु फलेषु भक्तानां यदि कामना स्यात् तदा भक्तानां कोटि नीचा गण्येत। अतएव नेयं भागवत प्रतिपाद्याभक्तिः नीचतमानामाकर्षणाय कदाचित्स्यात्। मर्यादितकालोपभोग्य-सुखासक्ता असुम्भराः प्रवाहपतितानीचतमाः। तेषां कृते इमानि रक्षणानि भगवद्दत्तानि पदानि सुखाय स्युः।

भागवत प्रतिपाद्या भक्तिः

प्रथमस्कन्धस्य द्वितीयाध्याये "स वै पुंसां परो धर्मः यतोभक्तिरधोक्षजे। अहैतुक्य-व्यवहिता ययात्मा सम्प्रसीदति॥" 'अधोक्षजे' इत्यनेन प्रत्यक्ष प्रत्यक्षमूलेतरप्रमाणगम्ये इत्यर्थः। यत्रेन्द्रियजन्यं ज्ञानं जिज्ञासितं न ज्ञापयति तथा व्याप्तिपक्षधर्मताजन्यं ज्ञानं यत्र न प्रवर्तते, यत्र शब्दोऽप्यपार्थः तादृशे भगवत्यहैतुकी प्रयोजनविरहिता एवम् व्यवहिता प्रयोजनसमतिसमकालं विरता न भवति। एतादृशीभक्तिर्धर्मस्यफलम्। तथा कपिले-नाप्युक्तम्— ,

"देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।"

तादृशीभक्तिः स्वात्मन्येव भवति, यथा दशमे उक्तम्—

'सर्वेषामपि भूतानां नृपस्वात्मैव वल्लभः' न ह्यात्मातिरक्ते कस्मिंश्चिदपि वस्तुनि तादृशः स्नेह उद्भवत्ति। अर्थाद् आत्मैव भगवान् आत्मैव भक्तः। एवं विधायां स्थितावेव तत्र स्नेहाधिष्ठानमेव भगवान् यदि भवति, तदा कर्ताऽन्य एवापेक्ष्येत। अन्यस्मिन् कर्तरि भक्ते स्वीकृते भक्तिः स्वरूपं विहन्येत। नहि चक्षुः स्वेतरनिरीक्षकं स्वमीक्षितुं शक्नोति। यदि चक्षुषा स्वं रूपमीक्षणीयं तदा स्वेतरद्रूपं सम्पादनीयं भवेत्। स्वेतरत्स्वरूपं यदि भवेत्तर्हि कृत्रिममेव भवेत्, नहि वास्तविकम्। आदर्शगतं कृत्रिमं चक्षुरेव चक्षुषः स्वस्वरूपं द्रष्टुं शक्नुयात्। तथा भक्ता अपि भगवतः कृत्रिमानि स्वरूपाण्येव। यद्यपि प्रयोजनविरहितं कर्म न किं कस्यचित्प्रेक्षावत आदरणीयं भवति, 'न कुर्यान्निष्फलं कर्मेति' निषेधोऽपि दृश्यते। किन्तु सा कर्ममार्गीया व्यवस्था। भक्तेस्तु निरुपधिस्नेहरूप-त्वान्न कर्मण्यन्तर्भावः। यानि च तान्यपि निरुपधिस्नेहस्य साधनत्वेन क्रियन्ते। निरुपधि स्नेहे सञ्जाते तेषामपि न कर्मरूपत्त्वमपि तु स्नेहरूपत्वम्। साधनत्वे कर्मरूपत्वम्, फलदशायां स्नेहरूपत्वम्। अतएव नात्र प्रयोजनाऽन्वेषणाकाङ्क्षा। निरुपधिस्नेहरूपायाम-हैतुकयां भक्तौ, भक्तेष्वपि भगवत्त्वाऽऽविर्भावः, स्नेहस्य परमा काष्ठा। तदेव भागवते

'कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्' इत्यादि गोपीवचनैः प्रतीयते। अत्रैव "मधुरिपुरहमिति भावनशीला" इति जयदेव वचनमपि सङ्गच्छते। सैव भक्तिरहैतुकी अव्यवहिता निरुपधिस्नेहरूपा रासपञ्चाध्यायी प्रतिपाद्या। अतएवेदं फलप्रकरणमिति श्रीमद्वल्लभाचार्या वदन्ति। एतावता भक्तेरङ्गद्वयं भगवान् भक्तश्चेति सिद्ध्यति। अत्र भगवानिति नन्दकुमारभावमापन्नं ब्रह्मैव। तस्यैव ब्रह्मणो भक्तिसिद्ध्यर्थमाविष्कृतानि रूपान्तराण्येव गोपिकाः। तत्र गोप्यो भगवन्तं कृष्णं भजन्ते भगवांश्च गोपीर्भजते। ये चात्र पञ्चाध्याय्यां विविधाः प्रसङ्गा वर्णितास्ते च भक्तिरसलहर्य एव। यश्च गोपीनां भगवति प्रेमातिशयः स समयवन्ध रहितः शुद्धभक्ति रूपः। नहि गोपीभिः काऽपि लौकिकी कामना प्रार्थिता। भगवत्कृता च गोपीनां भक्तिः समयवन्धसहिता भक्तिः। यथा—'एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानाम्" इति श्लोके भगवदर्थं लोकवेदस्वपरित्यागः यदि क्रियेत, तदा तया भक्त्या भगवान् प्रसीदति। नहि लोकवेद स्वपरित्यागरहिता भक्तिर्भगवत्प्रीतये भवति। अत्र लोकवेदस्व परित्यागः समयः। यत्र लोकवेदस्वपरित्यागाभावस्तेषां ध्रुवादीनां भक्तानां भक्तिर्नहि दशमस्कन्धे गीयते। न निर्गुणभक्तित्वेन व्यवह्रियते। गोपीभिश्च लोकवेदस्वपरित्याग सहिताभक्तिराविष्कृता, सैव निर्गुणा भक्तिः। सर्वत्र भगवानेवं विधामेव भक्ति कामयते। द्रष्टव्यमेतत् गीतायां भगवद्वचनेषु—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।"

अत्र 'अनन्या' इति पदेन लोकवेदस्वपरित्यागः सूच्यते। नित्याभियुक्तानामित्यनेनाव्यवहितत्त्वं सूच्यते। एवं सर्वधर्मान् परित्यज्य मामकं शरणं व्रजेत्यत्राऽपि।

अथ च भक्तानां समयवन्धरहितां भक्तिं कामयमानो भगवान् स्वयं समयवन्धसहितं भक्तानां प्रतिभजनं करोति। इति भगवदपेक्षया भक्तानां विशेषः। अतएव तेषु स्व प्रियत्वं प्रियतमत्वञ्च तत्रतत्रावेदयति भगवान्।

फलम्

ईदृशा भक्ता भगवत्सकाशान्न कमपि भोगमाकाङ्क्षन्ति। इन्द्रियभोग्य शब्दादिविषयराज्यसुखाद्यधिकार-लौकिकयशः परम्पराप्रवाह-मुक्तिसुखादिपारलौकिकसर्वसुखनिस्पृहेभ्यो भक्तेभ्यः फलदाने भगवानपि दरिद्राति। अतएव व्रजे गोप्यो मुक्तिसुखाऽपेक्षाणां संन्यासिनामपि प्रवराः संन्यासिन्यः। तादृशानां भक्तानामग्रेभगवान् स्वस्याऽपि दरिद्रत्वं गौणत्वञ्च स्वयं स्वीकरोति। यथा—

"न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माऽभजन् दुर्जरगेह शृङ्खलाः संवृत्य तद्वः प्रतियातु साऽधुना।।

इत्यत्र स्वस्य द्ररिद्रत्वम्। "सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इत्यत्र

भगवतो गौणत्वं स्पष्टमावेदितम् । तेभ्यो भक्तेभ्योऽन्यत्किञ्चिदपि दानमनुचितमपर्याप्तञ्च मन्वानो भगवानात्मानमेव समर्पयति । अर्थाद्भगवता भक्तेभ्य कृतं स्वात्मदानं सैव रासलीला । यस्यां लीलायां भक्ता भगवांश्च सर्वथा एकीभावं भजन्ते । निगमैर्बोध्यते— 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' एतदेव रासलीलायाः वैशिष्टचम्, यच्छ्रुत्वा भक्तोऽपि हृद्रोगं नाम सर्वविषयाभिलाषमपहाय एतादृशीं भक्तिं लभते। भक्तिस्वरूपाज्ञाने तत्फलाज्ञाने वा विपरीतभावाज्ञाने न हृद्रोगोऽपि गच्छति, न च भक्तिरुपफलमपि प्राप्यते। अतएव फलनिर्देशश्लोके श्रद्धापद प्रयोगोऽत्रधानमर्हति । ईदृशीं भक्तिं प्रतिपादयितुं प्रवृत्ते भागवते तादृश भक्तिप्रतिपादकरासलीलाया महत्त्वं भक्तैरवधेयमिति शम् ।

मीमांसकसम्मता देवता

पंडितश्री पट्टाभिरामशास्त्री

नेदमप्रत्यक्षं कस्यापि—यज्जगतीतले दैवं पुरुषकारश्चेति द्वयं स्व-स्वाभिलषितं मनोरथं पुरुषार्थं वा सम्पिपादयिषूणां मानवानां परमं साधनमिति। परस्परं मिलितयोरनयोस्साधनत्वं दण्डचक्रचीवरन्यायेन? आहोस्वित् पार्थक्येन तृणारणिमणिन्यायेन? तत्रापि देवतायाः प्रावल्यम् पुरुषकारस्य वेति चिरन्तनात्कालादनादौ संसारे वादिनो विप्रतिपन्नाः। दर्शनस्मृतिपुराणादिप्रवर्तकाः प्राञ्चस्सुमतयो महर्षयोऽप्यत्र द्वैविध्यं प्रतिपन्ना विलोक्यन्ते। तत्तन्मतप्रवर्तका आचार्या अपि मिथो विवदन्ते। अत्र चत्वारः पक्षाः भवन्ति प्राधान्येन। केचन दैवं पुरस्कृत्य तदुपरि सर्वमपि भारं निक्षिपन्तः पुरुषकारं तदङ्गत्वेना स्थिषत। अपरे च पुरुषकारं प्रधानीकृत्य तदुपसर्जनत्वेन दैवं मन्यन्ते। अन्ये तु दैवं दूरतो निराकुर्वन्तः पुरुषकारमेव स्वीचक्रुः। इतरे तु पुरुषकारं तुच्छं मन्यमाना दैवमेवैकं प्रधानतमं कारणं सञ्जगदिरे।

तत्र—"अथो खल्वाहु काममय एवायं पुरुषः, स यथाकामो भवति तथा क्रतुर्भवति, यथा क्रतुर्भवति तथा तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।"

करोतु नामनीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः।
फलं पुनस्तदेवास्य यद्विधेर्मनसि स्थितः॥

न दैवमिति सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः।
अनुद्यमेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमिच्छति॥

'दैवे समर्प्य चिरसञ्चितकर्मजालं स्वस्थास्सुखं वसत किं परयाचानाभिः'

'विहाय पौरुषं यो हि दैवमेवावलम्बते।
प्रासादसिंहवत्तस्य मूर्ध्नि तिष्ठन्ति वायसाः'॥

इत्यादिश्रुतिपुराणकाव्यवाक्येषु पर्यालोच्यमाणेषु सर्वेऽपि पक्षास्साधीयांस इवावभान्ति। कोऽत्र पक्षः श्रेयानित्यत्र निर्णयो न सुकरः। विषयोऽयमतिगम्भीरः, तथापि मीमांसकसरणिमनुसरन्त-स्तदुन्नीतं पन्थानमवलम्ब्यान्तरा देवतास्वरूपमपि मीमांसकसम्मतं

किञ्चिदिव निरूपयन्तो विषयमिमं विमृशामः।

मातापितृसहस्रादृप्यधिकं वात्सल्यं मानवेश्वाविश्राणाः श्रुत्याम्नायाद्यपरपर्याया वेदास्तत्तदभिलषितमैहिकम् आमुष्मिकम् ऐहिक संवलितामुष्मिकं वा फलं सुखेन सम्पाद्योपभोक्तुं नैकरूपाणि क्लेशसुलभसाध्यानि कर्माणि तत्तद्वर्णाश्रमानगुण्येन विदधति, येषु कर्मसु यथायथमनुष्ठितेषु कर्तारः स्वस्वाभिलषितफलोपभोगयोग्याभवन्तीति शब्द प्रामाण्याभ्युपगन्तृभिस्सर्वैरपि निर्विचिकित्सं स्वीक्रियते। तत्र योग्यतेयं कर्तृषु कथं समवैति। किं यागदान होम पूजादिभिर्वेदविहितैः कर्मभिः सम्यगाराधिता इन्द्रादयो देवताः प्रसन्नास्तत्तत्कर्मकर्तृभ्यो योग्यतानुसारेण फलं वितरन्ति ? अथवा देवताप्रसादनैरपेक्ष्येण तत्तत्कर्माण्येव स्वजन्यापूर्वद्वारा कर्तॄन् तत्तत्फलोपयोग्यान् विदधतीति ? यदि देवताप्रसाद नैरपेक्ष्येण कर्मणामेवापूर्वद्वारा फलदातृत्वम् पुरुषकारस्यैव तर्हि प्राधान्यम्, देवतायाश्चोपसर्जनत्वम्। यदि च कर्मणां देवताराधनद्वारा तत्प्रसादजनकत्वमेव, तर्हि तैस्स्वनुष्ठितैः प्रसन्ना देवता एव फलप्रदात्र्य इति तासां प्राधान्यम्, पुरुषकारस्य चोपसर्जनतेति फलफलिभावस्सिध्यति। तदत्र किं प्रतिपत्तव्यमिति चिरन्तनोऽयं संशयप्रवाहः।

तत्र चारुचेतसः केचनैवमूचुः—यथा हि गृहान् समागतवद्भ्योऽतिथिभ्यः पाद्यार्घ्याचमनभोजनादि प्रदानेन तेषां तृप्तिं प्रसादञ्च सम्पादयन्ति गृहस्थाः, तथैव यागादिक्रिया अपि तृप्तिद्वारा देवताप्रसादं सञ्जिघृक्षूणां साधनतया विहिता वेदेन। अत एव 'यजदेवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इत्यभियुक्तोक्तिः यागस्य देवतापूजात्मकत्वावद्योतिका सङ्गच्छते। पूजा च पूजनीयापेक्षया उपसर्जनभूतैवेति न विप्रतिपन्नमिदम्। अतः पूजास्थानापन्नस्य यागादिकर्मणोऽपि पूजनीयदेवतापेक्षया गुणत्वमेष्टव्यम्। यागे हि सन्ति त्रयः पदार्थाः—द्रव्यं देवता त्यागश्चेति। तत्र त्यज्यमानहविरुद्देश्यत्वं तावद्देवतात्वम्। तथा च हविर्दाने देवतायास्सम्प्रदानत्वं समायाति सम्प्रदानस्य च 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' इति कर्मकारकापेक्षयाप्यभिप्रेयमाणत्वेन प्राधान्यं स्वीकर्तव्यम्। स्वीकृते च तस्याः प्राधान्ये पूजायाः पूजनीयप्रीतिकरत्वं गुर्वादौ दृष्टमिति यागस्य पूजारूपस्य देवतार्थत्वाश्रयणे लौकिकी रीतिरप्यनुसृता भवति। एवञ्च 'ते देवा हविरदन्तु' 'देवान् यजते यस्स देवानां भोगाय भवति', 'तृप्त एव एनमिन्द्रः प्रजया पशुभिश्च तर्पयति', 'आहुतिभिर्वै देवान् प्रीणयामि', 'देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'। इत्यादिमन्त्रार्थवादेतिहासपुराणान्यप्यनुसृतानि भवन्तीति यागस्य देवताप्रसादजनकत्वम्, तत्प्रसादस्य च फलजनकत्वमित्यभ्युपगन्तव्यम्। देवताप्रसादश्च विग्रहभोगादिव्यतिरेकेणानुपपन्न इति तासां विग्रहादिपञ्चकम्—

विग्रहो हविषां भोग ऐश्वर्यञ्च प्रसन्नता।
फलदातृत्वमित्येते पञ्चकं विग्रहादिकम्॥

अवगमयति । स्पष्टञ्चैतत्—

'ऋष्वा त इन्द्रस्थविरस्य बाहू उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता'

'आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्या चतुर्भिरा षड्भिर्हूयमानः ।
अष्टाभिर्दशभिस्सोमपेयमयं सुतस्सुमुख मा मृधस्कः ॥'

'तुभ्यं सुतो मघवन् तुभ्यं पक्वोऽद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य'
'आ श्रुत्कर्ण श्रुधी हवम्'

इत्यदिषु मन्त्रेष्वर्थतः पर्यालोच्यमानेषु इन्द्रादीनां देवतानां विग्रहवत्वं हविर्भोक्तृत्वं पुरुषविधत्वञ्चेति । तथा च यागाराधिताश्चेतना देवता यागीयं हविरश्नन्त्यः, तेन च तृप्तास्सत्यो यजमानाय फलं वितरन्तीति प्रधानीभूतदेवताप्रसादस्यैव फलप्रयोजकत्वे सम्भवति नाश्रुतापूर्वकल्पनाद्वारा गुणभूतस्य यागस्य फलजनकत्वं समुचितमिति निर्गलति । अतश्च पुरुषकारस्य दैवापेक्षयोपसर्जनत्वं प्रसिध्यतीति ।

तदिदं न्यायविदो नानुमन्यन्ते—'यजेत स्वर्गकामः' इतीदमधिकारवाक्यं यागस्य स्वर्गः फलमित्याह । यागश्चायं 'यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति' इत्युत्पत्तिवाक्येन विहितः । अत्र च 'आग्नेयः' इत्यनेन पदेनाग्निदेवताकपुरोडाशइत्यर्थकेन पुरोडाशापेक्षया अग्नेर्देवताया गुणत्वं प्रतीयते । द्रव्यदेवतासम्बन्धाच्च कल्प्यमानो यागस्तदनुगुण एव कल्प्यते—अग्निदेवताकाष्टाकपालपुरोडाशद्रव्यको याग इति । एवं विध एव यागोऽधिकारवाक्ये याजिना परामृश्यते इति देवतागुणभूतैव त्यागांशं प्रतीति युक्तम्; न तु प्राधान्यम्, उत्पत्तिवाक्यगतगुणभावविरोधात् । उत्पत्तिवाक्ये देवतायास्त्यागांशं प्रति गुणभावः, अधिकारवाक्ये च त्यागात्मकयागस्य देवतां प्रति गुणभाव इति विरोधस्समापतेत् । अतो ययैव रीत्या उत्पत्तिवाक्ये देवताया भानं तयैव रीत्या सर्वत्रापि तदविरोधेन तस्या भानं स्वीकर्तव्यम् । उत्पत्तिवाक्यविहित कर्मणामेव खलु गुणविधानाय गुणवाक्यानि फलसम्वन्धबोधनायाधिकारवाक्यानि च प्रवर्तन्ते । तत्रापि 'अस्मिन् कर्मणीयं देवता' इति परिज्ञानं विधिनैव सम्पादयितुं शक्यम् नान्येनोपायेन । तदिदमुक्तं भट्टपादैः—

विधिनैव हि देवत्वं प्रतिकर्मावधार्यते ।
न जात्या देवतात्वं हि क्वचिदस्ति व्यवस्थितम् ॥

तं० वा०, पृ० २३७, पूना० सं० इति ।

अयञ्च विषयः—'विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावस्स्यात् तेन चोदना' (जै० सू० १०।४।२३) इति दाशमिकाधिकरणे सुविशदं प्रत्ययादि भाष्यवार्तिककारादिभिः । तत्र

हि—'आग्नेयोष्टाकपालः' इत्यादिविधिगतदेवताशब्द एव किं निगमेषु-त्यागादौ च प्रयोक्तव्यः ? उत पर्यायशब्दोऽपि प्रयोक्तुं शक्यते ? इति सन्दिह्य पूर्वपक्षः कृतः—यदि शब्दस्यैव केवलं कर्मसु देवतात्वं भवेदपि तर्हि विधिगतस्यैव तस्य निगमादिषु नियमः। तत्रैप प्रश्नउदेति—किं शब्दस्य देवतात्वे तस्यार्थोऽस्ति न वेति ? यदि नास्ति, तर्हि लोकवेदयोरग्न्यादिशब्दानामर्थपरत्वप्रसिद्धेर्व्याहतिस्स्यात् लोकवेदाधिकरणविरोधोऽपि भवेत्। अर्थपरत्वाभावे च 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' इति प्रातिपदिकसंज्ञाभावेन विभक्त्याद्यनापत्तिश्च स्यात्। यद्यस्ति तर्हि तस्यैव देवतात्वोपपत्तौ निगमेष्वग्न्यादिपदनियमे प्रमाणाभावः। यद्यपि त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वरूपदेवतात्वस्यार्थेऽसम्भव एव, द्रव्यत्यागकालीनोच्चारणकर्मत्वरूपस्य तस्य शब्दधर्मत्वात्, तथापि उद्देश्यत्वस्योच्चारणघटितत्वे प्रमाणाभावेन द्रव्यत्यागकालीनज्ञानकर्मत्वरूपस्य देवतात्वस्यार्थेऽप्युपपत्तेर्न कोऽपि दोषः। अतोऽर्थमङ्गीकृत्य यदि देवतात्वं शब्दस्येष्यते, तर्ह्यर्थस्यैव प्राधान्यं देवतात्वञ्च स्वीकर्तव्यम्। तदिदमुक्तं कुमारिलैः—'शब्दोऽर्थं प्रत्यत्यन्तगुणभूतः। अर्थ एव कार्योपयोगी, प्रधानत्वात्। अग्निशब्दो न स्वयं कार्येण द्रव्येण सह सम्बध्यते। किं तर्हि ? अर्थेन सम्बध्यते। अर्थपरत्वाच्च निर्देशस्य पर्यायशब्दानामनिवृत्तिः.........तस्मादग्निशब्दो न शक्यो नियन्तुम्' (तं० वा० पृ० १९२६) इति। अतश्चार्थस्यैव देवतात्वात् न क्वापि निगमेषु विधिगतशब्दनियम इति।

सिद्धान्तस्तु—उच्चारणमन्तरेण केवलं ज्ञानमात्रेणार्थस्य देवतात्वं न युक्तियुक्तम्। तथा सति पवमानेष्टिविधायके 'अग्नये पावकाय, अग्नये शुचये' इत्यादावेकेनापि पदेनार्थस्य विधानसम्भवे पदद्वयवैयर्थ्यापत्तेः। यद्यप्यत्र पावकपदं पुराणादिपर्यालोचनया अग्निविशेषवाचि, तथापि तेनैवाग्नित्वसमानाधिकरणविशेषधर्मोपस्थित्युपपत्तेरग्निपदवैयर्थ्यापत्तिः। देवतोद्देश्यकद्रव्यत्यागकाले शब्दोच्चारणमवश्यं कर्तव्यमिति शिष्टाचारसमयः। अतएव—

> नामगोत्रे समुच्चार्य सम्यक् श्रद्धान्वितो ददेत्।
> सङ्कीर्त्य देशकालादि तुभ्यं सम्प्रदद इति ॥
> न ममेति स्वसत्ताया निवृत्तिमपि कीर्तयेत्।
> दानहोमादिकं कुर्यादेवं श्रद्धासमन्वितः ॥

इति वृद्धवसिष्ठवचनमपि सङ्गतार्थं भवति। अतः केवलार्थस्य देवतात्वपक्षे देवतास्वरूपमिदमेव—यद् द्रव्यत्यागकालीनोच्चारणकर्मीभूतशब्दप्रतिपाद्यत्वमिति, तच्च 'अग्नये पावकाय' इत्यादावेकेनापि पदेनार्थस्य विधानसम्भवे पदद्वयवैयर्थ्यापत्तेदुष्टमित्यवोचाम। तथा च त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वं देवतात्वमित्यत्रोद्देश्यत्वमात्रं देवतात्वमित्यङ्गीकारे प्रतिनिधीयमानस्यापि देवतात्वसम्भवेन 'न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थत्वात्' (जै०

सू० ६।३।१८) इति षष्ठोक्तस्य देवताप्रतिनिध्यभावस्यानुपपत्तिप्रसङ्गाद्विधेरपि तत्रो-पलक्षणत्वमङ्गीकर्तव्यम्—शब्दविशेषेण या उद्देश्यतया विधीयते सा देवतेति। न चैवं विधानाद्देवतात्वम्, देवतायाश्चसत्या विधानमितीतरेतराश्रयत्वं शङ्क्यम्, न हि देवतायाः सत्या विधानं, किन्तु शब्दोद्देश्यतामात्रेण विहिता पश्चाद्देवतात्वं प्रतिपद्यत इत्यङ्गी-कारात्। इयञ्च रीतिः 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत' इत्यादिस्थलेषु स्वीकृता वर्तते।

एवञ्च लाघवाद्धविस्त्यागकालीनविहित शब्दोच्चारण कर्मत्वमेव देवतात्वम्, न तु निरुक्तज्ञानकर्मत्वम्, नापि त्यागकालीनोच्चारण कर्मीभूतशब्दप्रतिपाद्यत्वम्, गौर-वात्। एतादृशदेवतात्वमेव 'आग्नेयः' इत्यत्र तद्धितार्थः। अतः प्रधानभूततदर्थानुरोधेना-ग्न्यादिप्रातिपदिके शब्दलक्षणामप्यङ्गीकृत्य तस्यैव देवतात्वं विधिना विधीयते, अर्थस्य तु आनुषङ्गिकतया प्रतीतेः तादृशशब्दप्रतिपाद्यत्वरूपं भाक्तं देवतात्वमिति न तच्छास्त्रेण विधीयते। सति चैवं सर्वत्र शब्द एव वाक्यार्थान्वयीति नान्यशब्दप्रयोगस्त्यागकाले सिध्यतीति।

अतएव देवतास्वरूपं विशदयितुमारब्धा भाष्यकाराः श्रीशबरस्वामिनः 'का पुन-रियं देवता नाम' इत्यारभ्य 'एकं तावन्मतम्', 'अपरं मतम्' इत्यादिना मतद्वयं प्रतिपाद्य तत्रारुचिञ्चोद्भाव्यान्ते एवमुपसमाहार्षुः—'किं तर्हि? शब्द एव हविषा सम्बध्यते। तत्सम्बन्धादर्थोऽपि देवता भविष्यति। यस्यां हि शब्दो हविषा तादर्थ्येन सम्बध्यते सा देवता। शब्दे कार्यस्यासम्भवादर्थे कार्यं भविष्यति। इह तु शब्द एव कार्यं सम्भवति, तस्मान्नार्थ प्रत्यायनार्थः शब्दः' (१०।४।१२) इति। इदञ्च भाष्यं वार्तिककारैरेवं विवृ-तम्—'अग्निशब्द एवाष्टाकपालेन सम्बध्यमानोऽर्थात्तस्य देवतात्वं प्रतिपादयति। यथा 'वैष्णवीमनुब्रूयात्' इति ऋगुच्यमाना ऋगर्थं प्रतिपादयति। न च विवक्षित ऋगर्थः कार्य-योगेन। एवमिहाप्यग्न्यर्थो न कार्ययोगेन विवक्षितः। अपि च यः—अर्थमष्टाकपालेन सम्बन्धयितुमिच्छति, तस्यापि वाचिका श्रुतिरुच्चारयितव्या। ·········यस्य पुनरग्नि-श्रुतिरेवाष्टाकपालेन सम्बध्यते, तदुच्चारणमेव विधीयते—अग्नय इत्युच्चार्याष्टाकपाल त्यजेदिति। तस्याग्न्यर्थेदेवतेत्यनुवाद एव' (तं० वा० पृ० १६२८) इति।

मीमांसानिकेतनस्य स्तम्भभूताः खण्डदेवाचार्या अपि 'न देवताग्निशब्दक्रियम्' इत्यत्र षष्ठे देवतानां प्रतिनिध्यभावमुपपादयन्तोऽन्ते प्रत्यपादयन्—'यदा तु दाशमिका-धिकरणवक्ष्यमाणरीत्याविधिगतशब्दविशिष्टस्यार्थस्य, तादृशशब्दमात्रस्य वा देवतात्वम्, तदा कः प्रसङ्गश्शब्दान्तरस्य? न हि हविस्त्यागकालीनोच्चारणकर्मत्वविशिष्टविधिगत शब्दत्वसमनियतमखण्डोपाधिरूपं वृद्धव्यवहारसिद्धं देवतात्वं शब्दान्तरे समस्ति। यदि त्वर्थस्यापि देवतात्वं कथञ्चिदङ्गीक्रियेत, ततस्तत्रापि तादृशविधिगतशब्दप्रतिपाद्यत्व-समनियतमेव तदङ्गीकृत्य प्रतिनिध्यभावस्समर्थनीयः' इति।

एतेन प्रमाणजाते नेदमत्र निर्गलितम्—यच्छब्दविशिष्टस्यार्थस्य देवतात्वम्, शब्द-

मात्रस्य वा, न त्वर्थस्य। विधिरेव च देवतास्वरूपावगमे शरणम्, देवता च यागादिक्रियां प्रति गुणभूतैव, न प्रधानभूतेति। एवञ्चार्थवादमन्त्रपुराणानां देवताविग्रहादिकं पुरुषविधत्वञ्च प्रतिपादयतां यथा विध्यानुगुण्यं भवेत् तथा शक्यार्थं परित्यागपुरस्सरं तात्पर्यं वर्णनीयम्, अन्यथा तेषां प्रामाण्यस्यैव भङ्गस्स्यात्। अतश्च देवताप्रसादनैरपेक्ष्येण सम्यगनुष्ठितानि कर्माण्येव मानवेभ्यः फलं वितरन्ति स्वजन्यापूर्वद्वारेति पुरुषकारस्यैव प्राबल्यं दैवापेक्षया स्वीकर्तव्यमिति प्राचीनमीमांसकोन्नीतः पन्था इति शम्।

गुह्यवज्रयोगस्वरूपविमर्शः

पण्डितश्री राधेश्यामधर द्विवेदी

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ ।
यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।।

यथैकस्यां स्त्रियां रागिणः रागबुद्धिः, पुत्रस्य श्रद्धाबुद्धिः, साधकस्य च देवीबुद्धिर्जायते, तथैव वज्रयोगी सर्वं जगत् स्वशरीरे एव आरोप्य रागात्मना तं वशीकर्तुमुत्सहते, कश्चिच्च स्वयं स्थास्यन् अन्यानपि स्थापयति, कश्चिच्च देवीरूपेण स्वीकृत्य तामेव पूजयति । एत एवाध्याशया जनानाम् । एतस्मादेव लोको दुःखार्णवे निमग्नो वर्तते । एतासां दृष्टीनां कारणं च भवति चित्तम् । तदेव च जगतोत्पत्तेर्मूलम् । चित्तादेव अहंकारममकारौ, ग्राह्यग्राहकभावौ, कुशलाकुशलवृत्ती च समुत्पद्यतः । सौगतमार्गेण चित्तमेव विशोध्य शान्तं शुद्धं निर्मलं च निर्वाणमधिगम्यते । तच्चितं च साधनया एव प्राप्यते । योगी शमथविपश्यनाभ्यां चित्तं परिशोधयति, कुशलकर्माणि च सम्पादयन् कामावचररूपावचरभूमीश्च पारयन् अर्हत्वमधिगच्छति । किन्त्वर्हत्वावाप्तिस्तु क्लेशार्तितस्यैकस्य पुरुषस्य शान्त्युपलब्धिरस्ति । एतेन नायं समग्रसंसारिणं तारयितुं समर्थः । तदर्थं चायं स्वस्मिन्नेव बोधिचित्तं समुत्पादयति । तस्य स्वरूपं च बोधिचर्यावतारे उक्तम्—

रात्रौ यथा मेघघनान्धकारे विद्युत्क्षणं दर्शयति प्रकाशम् ।
बुद्धानुभावेन तथा कदाचिल्लोकस्य पुण्येषु मतिः क्षणं स्यात् ।।

बोधिचर्यावतारे, प्र० परि०, श्लो० ५

एवं च बोधिचित्तं प्राप्य योगी दानादिपारमिताः शमथविपश्यनाभ्यां सम्पादयन् बुद्धत्वमधिगच्छति । किन्त्वस्मिन् कर्मणि अनल्पासंख्येयजन्मानां भवति क्षयः । तस्मादेकस्मिन्नेव जन्मनि बुद्धत्वमधिगतं स्यात्, एतदर्थं वज्रयोगस्य मार्ग अनुसरणीयो भवति । वज्रयानेनोपायेन योगी एकस्मिन्मेव शरीरे एवं परिकल्प्य स्त्रीपुंप्रकृतिरूपेणं कर्ममुद्रां भावयति । तस्मिन्नेव गंगायमुने, त्रिवेणिसङ्गमं काशीप्रभृतीन् तीर्थान् भावयति । मानसभूमौ बुद्धादीनां शक्तिभिः सहितः ज्ञानमुद्रायाः स्वरूपं भावयति । एवं च सः देवरूपेण दुःखार्तितानां क्लेशशमनाय बोधिचित्तमुत्पादयति । तच्च महाकरुणया उत्पन्नो भवति । ततश्च प्रज्ञा उत्पद्यते, एषा एव दृष्टिः तन्त्रयानस्य । तस्मात् एतस्य यानस्य वैशिष्ट्यं

न्यायत्रयप्रदीपे आचार्योद्भटेन उक्तम्—

एकार्थत्वेऽप्यमोहानेकोपायाकृष्टकृत्वतः ।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकृत्यत्वात्तन्त्रयानं विशिष्यते ।।

बौद्धसिद्धान्तसंग्रहे, पृ० ८५ ।

एवं च उत्तमोत्तमाध्याशयानां तीक्ष्णेन्द्रियाणां प्रज्ञाशालिनां शिष्यानां कृते भगवता बुद्धेन तन्त्रयानस्योपदेशः कृतः। एतेन चैकस्मिन्नेव जन्मनि बुद्धत्वावाप्तिरित्युच्यते—

"तदिहैवास्मिन् जन्मनि गुह्यसमाजाभिरतो बोधिसत्त्वः सर्वतथागतानां बुद्ध इति संख्यां गच्छति" (गुह्यसमाजतन्त्रे, पृ० १४४)

तन्त्रयाने 'देवो भूत्वा देवं यजेत' इति रीत्या देवस्याकृतिस्थानादिसाधर्म्येण स्वस्याकृतिस्थानादिसाधर्म्यं भावयित्वा योगस्थापनं क्रियते। तेन पारमितायानादयं विशिष्यते, गुह्यवज्रयाने अयमेव गम्भीरोपायः।

गुह्यवज्रयाने किं गुह्यमिति विषये उक्तं भवति—कायवाक्चित्तानि गुह्यानि तच्च बोधिचित्तात् भेद्याभेद्यस्वभावः। वज्रं किमिति प्रश्ने वदति—

दृढं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ।।

एवमच्छेद्यमदाह्यमविनाशि दृढं च वज्रं भवति। वज्रयानं च सर्वताथागतं ज्ञानं कथ्यते। तद्यथा—

सर्वताथागतं ज्ञानं वज्रयानमिति स्मृतम् ।

ज्ञानसिद्धि, १।३७

कश्च वज्रयोगः इति विषये उक्तम्—

'प्रज्ञोपायसमापत्तिः योग इत्यभिधीयते।' गुह्यसमाजतन्त्रे, पृ० १३५।

वज्रयाने गम्भीर एव उपाये दृढो नियोगः। एतस्य पातञ्जलयोगेनापि सम्मानता अस्ति। उपायश्चात्र चतुष्प्रकारः—सेवा, उपसाधनम्, साधनम्, महासाधनं च। उक्तं यथा गुह्यसमाजतन्त्रे—

सेवाविधानं प्रथमं द्वितीयमुपसाधनम् ।
साधनं तु तृतीयं वै महासाधनं चतुर्थकम् ।। गु० स०, पृ० १६२।

सेवा द्विधा, सामान्या उत्तमा च। सामान्या पुनः चतुष्प्रकारिका तद्यथोक्तम्—

वज्रचतुष्केण सामान्यमुत्तमं ज्ञानामृतेन च।
प्रथमं शून्यताबोधि द्वितीयं बीजसंहृतम्॥

तृतीयं बिम्बनिष्पत्तिश्चतुर्थं न्यासमक्षरम्।
एभि वज्रचतुष्केण सेवा सामान्यसाधनम्॥

उत्तमा सेवापि षट्प्रकारिका तदप्युक्तम्—

प्रत्याहारस्तथाध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडंगो योग उच्यते॥
(गुह्यसमाजतन्त्रे)

एतेषां च षडङ्गयोगानां पातञ्जलेः अष्टाङ्गयोगेन सह साधर्म्यं वर्तत एव।

तत्र प्रत्याहारो दशानामिन्द्रियाणां स्वस्ववृत्तौ स्थापनमुच्यते। एवं च ध्यानमपि यावच्चराचरस्य पंचबुद्धस्वरूपेण कल्पनमेव। पंचज्ञानमयं पंचभूतस्वभावकं च श्वासं पिण्ड-रूपेण निश्चार्य नासिकाग्रे कल्पनमेव प्राणायामः। एवं मानसं त्राणभूतं स्वमन्त्रं हृदये कर्णिकात् कर्णिकामध्ये ध्यात्वा ललाटे निरोधयेत्, तत्रैव च सेन्द्रियंरत्नं गमनागमनरहितं धारयन्सन् धारणा भवति। प्रत्याहारध्यानाङ्गाभ्यां यद्विभाव्य स्थिरीकृतं त्रैधातुकप्रतिभा-सात्मकं संवृतिसत्यं तस्य समस्तनभस्तलव्यापकं दर्शनमनुस्मृति भवति। प्रज्ञोपायसमापत्त्या निष्पन्दादिक्रमेण व्योमकमलोद्गमक्षरसुखेव परमानावमहासुखैकरसप्रभास्वरस्सूयं मध्ये विम्बं संवृतिसत्यात्मकं भावयेत्। ततश्च ज्ञानस्य सत्यद्वयाद्वैधीभावस्य झटितिनिष्पत्ति-रधिगमः समाधिः कथ्यते।

एतस्य महासुखात्मकज्ञानस्य प्राप्त्यै गुरुरेव शरणं नान्यत्सैव च उपायः। गुरोः उपदेशं विना तत्त्वप्राप्तिः सुदुर्लभा भवति। तन्त्रयानं साधनामार्गोऽस्ति। अत एव तत्त्वा-धिगमनाय सद्गुरो नितान्तमावश्यकतास्ति। गुरुश्च प्रज्ञोपायस्वरूपः। वज्रयाने शून्यता-करुणयोरपि प्रज्ञोपायस्वभावः। एतयो सामरस्यमेव निर्वाणम्। एतेषां सामरस्यात्मक रूपत्वात् गुरुरपि मिथुनाकारः स तु मौनमेन सम्भाषणेन मुद्रया समन्विताय साधकाय महा-सुखस्य ज्ञानं विस्तारयति। साधकोऽपि गुरौ, त्रिरत्ने, बोधिचित्ते, करुणायां च भक्तिमान् भूत्वा नौरिव संसारनदीं पारयति। तत्र गुरुः नाविको भवति, नौका एव धर्मः, तमारोह-यैव संसारपारगाः गन्तुं शक्नुवन्ति एतदेव वज्रसत्वेनापिदेशितम्, उक्तम् च—

"नौकारूढो यथा कश्चित् कर्णधारः सुशिक्षितः।
पारं महोदधेः याति नान्यथा पारगो भवेत्॥

तद्वत गुरौ, त्रिरत्ने च बोधिचित्ते च भक्तिमान् ।
करुणा च तथा लोके नौरियं संप्रकीर्तिता ।।

गुरुः कर्णधरो विद्वान् नौका धर्मः प्रकीर्तितः ।
संसारपारगन्तॄणां वज्रसत्त्वेन देशितम् ।।

ज्ञानसिद्धिः, परि० १४, श्लो० १-३

एवं यथा वज्रयाने सद्गुरोः माहात्म्यं तथैव सच्छिष्यस्यापि माहात्म्यम् । शिष्योऽपि वन्दनक्रियायां संलग्नः, अक्रोधी, अविसंवादी, त्यागी, गुरोः आदेशानां सदानुसर्ता च भवितव्यः । गुरौ श्रद्धा परमावश्यकी । सैव च कालकृष्ण यामारीतन्त्रे भोटभाषाया-मुक्तम्, तद्यथा—

र तोग् चिङ् दप्योद् पई र्तोङ्ग गेवा ।
दे ल स्व्योन् पई दङोस् ड्रुव् रिङ् ।
वु मस् मन् ङग् वस्तन् व्यस् क्यङ् ।
स् लोव् मा यिद् गञिरन् योद् पा न ।
दे ल द्ङोस ड्रुव् रिङ् वर् वशद् ।
ब्ल मस् मन् ङग् वस्तन् व्यस् क्यङ् ।
स् लोव् मा यिद् गञिस् मे ज शिङ् ।
ब्ल मई मद ङग् दम् पा शेस् ।
ग चेस् स्प्रस व्यस् न अड्रुव पन्ङेस ।

(ग्शिन ज्रेद् दग्र नग गी र्ग्युर् लस्)

"तार्किकाः सिद्धिं नाधिगच्छन्ति, गुरोः उपदेशे संदिह्यमानानामपि शिष्याणां सिद्धयः न भजन्ते, अपितु शंकारहिते श्रद्धासमन्विते एव शिष्ये सिद्धिः प्राप्यते । यावन्मात्रोपदेशशालिनि गुह्यतत्त्वेऽपि श्रद्धावान् शिष्ये सिद्धिः झटिति समागता भवति ।"

एवं मुद्रयासह समागतं भक्तिमन्तं शिष्यं गुरुः वज्रमार्गे अभिसेचति । तेन च सकलप्रपञ्चान् दूरीकृत्य सम्यग्सम्बोधिप्राप्तये उपदिशति—तेन च अभिषेकेण बोधिचित्त-मुत्पद्यते । स च चतुष्प्रकारकः, तद्यथा—

प्रथमं कलसाभिषेको द्वितीयं गुह्यमुत्तमम् ।
प्रज्ञाज्ञानं तृतीयं स्याच्चतुर्थं तत्पुनस्तथा ।।

(अद्वयवज्रसंग्रहात्)

तत्र प्रथमः कलसाभिषेकः—स च षड्प्रकारः, कलसाभिषेकेन साधकस्याविद्या-मलक्षालनाय बाह्यजलस्य प्रयोगः क्रियते। एतस्मिन् षटतथागताः आमन्त्रयन्ते। एतेन साधकस्य धर्मे श्रद्धा जायते। तदनन्तरमसौ गुह्योपदेशेन उपदिष्टः सन् प्रज्ञोपायस्वभावात्मकं बोधिचित्तोत्पादं प्राप्नोति। अस्मिन् गुरु शिष्याय बोधिचित्तस्य कथं अधोगमनं अवरोधयेत्, कथं चोर्ध्वगमनं विधीयेत, निर्वाणं च कथं प्रापयेत इति उपदिशति। एतदनन्तर-मसौ प्रज्ञाभिषेकेनाभिषिक्तः सन् सर्वे धर्मा शून्याः सर्वे पुद्गलाश्च शून्याः इति उपदिशति। तत्रैव प्रज्ञायाः यौगिकेभ्यः, नियमेभ्यः कथमवाप्तिरित्युप्युपदिशति। अन्तिमे चाभिषेके साधकः वज्राभिषेकेन अभिषिक्तो भवति। अयमेव परमोभिषेकः, सर्वविशुद्धोऽभिषेकः, सर्वेषामत्रैवान्तर्भावः, वज्रात्मकतत्त्वावगमनाय अयमत्यन्तमावश्यकः। अतः अस्यापि गुरुणा परिपूर्णता विधाय—मण्डले प्रवेशाय अनुमतिं ददाति।

अत्रेदं चिन्तनीयं यत् वज्रयानं साधनामार्गः, तत्र साधकः मुद्रयासह सदैव बुद्धानुगमं विचिन्तयति। एवं च स बुद्धरूपो भवति। तथैव बुद्धस्य शक्तयः मुद्रास्वरूपा भवन्ति। तस्मात् प्रज्ञोपायात्मकमनुभवाय साधकः बुद्धस्य ताभिश्शक्तिभिः सह स्वस्मिन् साम्यं स्थापयति। एवंचासौ प्रज्ञोपायात्मकं महासुखं लभते। चतस्रः मुद्राः भवन्ति ताः च सम्यक् भावयति। एताः सर्वाः क्रियायोगी स्वशरीरे एव करोति। तस्य काये जगतः सर्वं वस्तु संध्याभाष्यमिव दरीदृष्यते। इदानीं योगिकायस्य विश्लेषणं उपस्थाप्यते।

साधकः काये सुषुम्नाशीर्षात् विश्लेषणं कर्तुमारभते। सुषुम्ना तु मानवस्य कटि-प्रदेशात् शिरःदेशं यावद् गच्छति। शिरसि एव सहजकायस्य निकेतनम्, तस्य ज्ञानं सुषुम्नायामेव प्रवर्तमानायां अवधूतेः ज्ञानेन भवति। अवधूतेः वामदक्षिणभागयोः ललना-रसने स्तः। ललनारसने एव प्रज्ञोपायौ भवतः। एतयो अवधूत्यां सम्मिलनं भवति। एताभ्यां नाडीभ्यामुपरि नीचैः च श्वासप्रश्वासः चलन्ति। त एव प्राणरूपाः एतयोः शुक्ररक्तस्वभावम्। यावच्चितं नियन्त्रितं न भवति, तावत् श्वासप्रश्वासानाम् गमना-गमनं प्रचलत्येव। अस्मादेव हेतोः, वज्रयोगी चित्तस्य नियन्त्रणाय वामनाडीललनायां आलिवर्णानां स्वराणां गमनागमनं कल्पयति तथैव दक्षिणनाडीरसनायां कालिवर्णानां व्यञ्जनानां गमनागमनं कल्पयति। यत्रेमे नाडी मिलतः सैव अवधूतिः इति कथ्यते। एतस्यां सम्मेलनमपि शरीरस्य नाभिप्रदेशे, हृदयदेशे, कण्ठदेशे, शिरःप्रदेशे च भवति। यत्रैतेषां सम्मेलनं तत्प्रदेशं क्रमशः निर्माणचक्रं, धर्मचक्रं, संभोगचक्रं, महासुखचक्रं चोच्यते। एतेषु चक्रेषु कमलदलानि अपि भवन्ति। एवं च नाभिचक्रं चतुःषष्टिदलसंयुक्तं, धर्मचक्रम-ष्टदलसंयुक्तं, संभोगचक्रं षोडशदलसंयुक्तं, महासुखचक्रं च द्वात्रिंशद्दलसंयुक्तं भवति। एवमन्यान्यपि चतुःसंख्याकानि विविधानि यौगिकानि साधनानि भवन्ति। तद्यथोक्तं हेवज्रतन्त्रे—

"सम्वरभेदश्च कथ्यते—आलि-कालि, चन्द्र-सूर्य, प्रज्ञोपाय, निर्माण-धर्म-संभोग-

महासुख, कायवाक् चित्तम् । एवं मया—

एकारेण लोचनादेवी वंकारेण मामकी स्मृता ।
मकारेण पाण्डुरा देवी च याकारेण तारिणी स्मृता ।।

निर्माणचक्रं पद्मं चतुःषष्टिदलम् । धर्मचक्रमष्टदलम् । संभोगचक्रं षोडशदलम् । महासुखचक्रं द्वात्रिंशद्दलम् । चतुःसंख्याक्रमेण व्यवस्थापनम् । चत्वारः क्षणाः—विचित्र-विपाक-विमर्द-विलक्षणश्चेति । चत्वारि अङ्गानि सेवा-उपसेवा-साधना-महासाधनाश्चेति । चत्वारि तत्त्वानि, आत्मतत्त्वं-मन्त्रतत्त्वं-देवतातत्त्वं-ज्ञानतत्वञ्चेति । चत्वारः आनन्दाः—आनन्दः परमानन्दो विरमानन्दः सहजानन्दश्चेति । चत्वारो निकायाः—स्थावरी-सर्वास्तिवादी-सम्मिदी-महासंघी चेति । चन्द्र-सूर्य-आलिकालि । षोडशसंक्रान्तिश्चतुःषष्टि दण्डो, द्वात्रिंशन्नाडी, चत्वारः प्रहारा । एवं सर्वे चत्वारः ।

हेवज्रतन्त्रे, १ भागे, १ पटले

एवं चतुर्णां क्रमेण वज्रयोगे सर्वासां क्रियाणां स्वरूपमिति। निर्माणचक्रात्मके नाभौ एव ललनारसनयो सङ्गमः । एवमवधूतिः 'अ'रूपेण जागृता सति बोधिचित्तस्वभावात्मिका, चण्डाली, डोम्वी, मध्यनाडीरूपेण ख्याता, उष्णीशकमले वर्तमानस्य महासुखेन मिलितुमुद्विग्ना क्रमशः निर्माण-धर्म-संभोगचक्राण्यतिक्रम्य जाज्वल्यमाना शिरसि महासुखचक्रमधिगच्छति । तत्र शशिः स्रवते तेन ज्वलिता चण्डाली शान्ता भूत्वा 'हं' रूपमधिगच्छति । उक्तं च—

चण्डाली ज्वलिता नाभौ दहति पञ्च तथागतान् ।
दहति च लोचना नाडी दग्धेऽहं स्रवते शशी ।।

हेवज्रतन्त्रे १ पटले, १ भागे

एवं पुनः सा मध्यनाडीमुखेनैव शरीरे अधः चक्रेषु परिभ्रमन् निर्माणचक्रे गत्वा 'अ' तथा 'हं' रूपेण समन्विता 'अहं' स्वरूपमधिगच्छति । अस्मिन् कर्मणि गुरुकृपावश्यकी । अस्याञ्च स्थितौ योगिनां येऽनुभवाः ते प्रतिपाद्यन्ते उक्तञ्च सरहपादेन—

एत्थु से सुरसरि जमुणा एत्थु गंगा साअस ।
एत्थु पयाग वारणसी एत्थु ते चन्द दिवा अस ।।

क्वेत्थ पीठ उपपीठ एत्थु महभमह परिटढ्यो ।
देह सरिसऊ तित्थ महं सुह अण्ण (सुणेह) ण दिठ्ओ ।

दोहाकोष—Buddhist text carrior (1954) pp. 230.

अत्रेदमवधेयं भवति यत् या मातृका 'अ'रूपेण नाभिप्रदेशे निर्माणकाये जागर्ति ।

सा पुंप्रकृतिरूपेण बोधिचित्तं स्त्रीप्रकृतिरूपेण चण्डाली कथ्यते। एतौ एव प्रज्ञोपायौ भवतः। हृदयदेशे धर्मकाये एतयो 'हूँ' रूपं, कण्ठदेशे संभोगकाये 'ओं' रूपमेवं शिरसि महासुखकाये 'हं' रूपं भवति। किन्तु ध्यानीबुद्धाः पञ्च भवन्ति। अतो एतेषां चतुर्णां क्रमेण संयोजनं भवितुं नार्हति। अतएव हृदयचक्र एव अक्षोभ्यबुद्धो हेरुकरूपेण मध्ये तिष्ठति। अस्य 'हूँ' मातृका भवति। तस्य पार्षदा भूत्वा अन्ये बुद्धाः तिष्ठन्ति। तत्र वैरोचनो 'वुं' अभिताभः 'ज्रीं' रत्नसम्भवः 'अं' अमोघसिद्धिश्च 'खं' मातृकया युक्तः स्वस्वशक्तिभिः समन्वितो भवति। अक्षोभ्य एवास्य मायाजालस्य कर्ता। सैवोपायः मुक्तेः। तस्मात् तस्यैव रूपं सर्वेषां योगिनां कृते नितान्तमावश्यकं भवति। किन्तु हेवज्रस्यायं मायाजालः द्विप्रकारको भवति—उत्पत्तिक्रमः, उत्पन्नक्रमश्च। एतावेव आरोहावरोहक्रमौ आवर्तनप्रत्यावर्तनक्रमौ सृष्टिसंहारक्रमौ च कथ्येते। एतेनैव लोकस्य स्थितिः निवृत्तिश्च भवतीति संक्षेपः।

किन्त्वेतस्याः अवस्थायाः प्राप्तेः पूर्वं प्रायः सर्वेषु एव श्रावकपारमितावज्रयानेषु वज्रोपमसमाधेः स्वरूपमधिगन्तव्यं भवति। श्रावकयाने दर्शनमार्गस्य षोडशक्षणेषु मध्ये पञ्चदशक्षणानन्तरं भावनामार्गः प्राप्यते। अन्त्यक्लेशस्य अधिमात्रमधिमात्रं भावनया श्रावकवज्रोपमसमाधेरधिगमः। एवमेव पारमितायाने बोधिसत्त्वानां भावनामार्गेण नवभूमिपश्चादेव दशम्यां भूमौ चरम भाविकानन्तर्यमार्गस्य उपलब्धिः। अयमेव वज्रोपमसमाधिसदृशः। एतयोरेव विकासः वज्रयाने संजातः। किन्त्वेतस्य अभीष्टावाप्तेः पूर्वं विमोक्षाणां ज्ञानमावश्यकं भवति। विमोक्षा एव मुक्तेर्द्वाराणि। तच्च शून्यतानिमितताप्रणितास्वरूपाः। एतच्च वस्तुनः स्वरूपज्ञानेन बोध्यते—यथा घटस्य निष्पत्तये घटस्य स्वरूपं, घटस्य कारणं एवं घटस्य फलज्ञानमावश्यकं भवति। तथैव एतेषां त्रयाणां शून्यताज्ञानमेव विमोक्षः। तेन वस्तुनः धर्मस्वरूपस्य शून्यताज्ञानं शून्यता विमोक्षः, हेतोः शून्यताज्ञानं अनिमित्तविमोक्षः एवं फलशून्यताज्ञानं अप्रणिहितविमोक्षो भवति। एतद् ज्ञानानन्तरमेव तत्त्वाधिगमः, तत्त्वञ्च वज्रस्वरूपात्मकं भवति, तदनन्तरं साधकस्याध्याशयानुसारं निर्वाणाधिगमो बुद्धत्वाधिगमो वा।

वज्रयाने तु योगी एकस्मिन्नेव पिण्डे सर्वं ब्रह्माण्डं पश्यति। अतएव तत्पिण्डमेव वज्रं भवति। स च तं तथैव विचिन्त्य तस्य चतुर्धा विभागं करोति। तेन च सः क्रमशः कायवज्रयोग-वाक्वज्रयोग-चित्तवज्रयोग-ज्ञानवज्रयोगान् साधयति। एवञ्चासौ तत्रैव विमोक्षब्रह्मविहारबुद्धकायादीनामपि भावनां करोति। एवं च तेन शून्यतानिमिताप्रणिहितानभिसंस्कारनामकैः विमोक्षैः करुणामैत्रीमुदितोपेक्षाख्यैः ब्रह्मविहारैः, सहजधर्मसंभोगनिर्माणकायैश्च समन्वितो वज्रस्वरूपात्मको योगः प्राप्यते।

तत्र प्रथमो विशुद्धियोगः। अस्य शून्यताविमोक्षप्राप्तेरनन्तरमेवाधिगमो भवति। शून्यता तु निःस्वभावतारूपा। इयं च शून्यतासमाधिरूपा एतत्प्राप्त्यनन्तरमक्षरसुख-

स्वरूपात्मकः तुरीयः प्रज्ञोपायात्मकश्च सहजकायः ज्ञानवज्रयोगः प्राप्यते। अयमेव विशुद्ध-योग अपि कथ्यते।

द्वितीयः धर्मयोगः। अस्मिन् अनिमित्तविमोक्षलाभः क्रियते। एतदवाप्तेरनन्तरं सुषुप्तिक्षयः नित्यानित्यवस्तुद्वयग्राहराहित्यञ्च भवति। अत्रैव मैत्रीचित्तस्योदयः। अयमपि प्रज्ञोपायात्मकः ज्ञानकायः चित्तवज्रयोगः।

तृतीयः मन्त्रयोगः। अस्मिन् अप्रणिहितविमोक्षलाभः। एतस्य प्राप्तौ सति अनाहतध्वनिरुत्पद्यते। स्वप्नानां क्षयोऽपि जायते। सत्त्वेषु मुदितावृत्तिरुदेति। अयमेव संभोगकायस्वभावात्मको मन्त्रयोगः। सैव च वाक्वज्रयोगः।

चतुर्थः संस्थानयोगः। अस्मिन् अनभिसंस्कारविमोक्षस्य लाभः। अत्र दिव्यज्ञानानामुदयः। जाग्रदवस्थाक्षयकारकः, निर्माणकायस्वरूपात्मकः, कायवज्रयोगः अयमपि प्रज्ञोपायात्मकः।
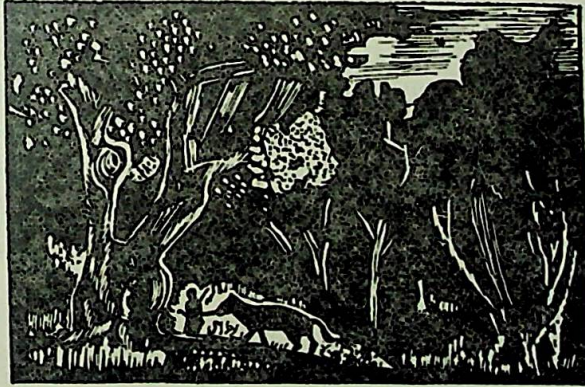
गोरक्षसिद्धान्तानुरोधेन पिण्डसंवित्तिः

पण्डितश्री रामनारायण त्रिपाठी

पिडि सङ्घाते (भ्वा० आ० २७४। चु० १६७०) इत्यस्माद् धातोः पिण्डते संहतेभवतीति-कर्तरि अच्, पिण्ड्यते राशीक्रियत इति कर्मणि घञ् वेति निष्पन्नः पिण्डशब्दः 'आजीवनायोबलसान्द्रदेहैकदेशागारैकदेशदेहमात्रगोलसिद्धकौण्ड्रपुष्पवृन्दकवलगजकुम्भमदनवृक्ष-किलाटकूर्च्चिकाद्यर्थेषु बहुषु पुंल्लिङ्गतया क्लीबतया कोशशास्त्रादिषु व्यवहृतोप्यस्मिन् गोरक्षसिद्धान्ते तन्त्रे वा मुख्यतया देहवाचित्वेनोपादीयते। तत्रापि विशेषतो मानवशरीर-मेवोपसंगृह्य पिण्डपदं व्याख्यातम्। तस्य संवित्तिः (ज्ञानादि) इति पिण्डसंवित्तिरिति। एवं पिण्डसंवित्तौ कः पिण्डः, कतिविधः, कस्कः, कौतस्कुतः, कीदृशः, किं प्रयोजनात्मकश्चेत्यादिविषया विमृश्यत्वेनोपस्थितास्तान् यथामति वक्ष्यामः। प्रथमत आवश्यकत्वेन गोरक्षसिद्धान्ते विहङ्गमदृष्टिं न्यस्यैवाग्रे गन्तुकामाः स्मः।

प्रायो ह्यत्र सर्वाणि शास्त्राणि, आगमास्तन्त्राणि च परमपुरुषार्थप्राप्त्यर्थमेव प्रधानतया यतमानानि संतिष्ठन्ते। तेषु शैवागमं शैवतन्त्रं चोपजीव्य तत्रापि विशेषतो योग-मार्गमवलम्ब्यैव साधनापरोऽयं गोरक्षसिद्धान्तः प्रवर्तते। अयं हि सिद्धान्तो नहि शाङ्कर-मतवन्नितान्तमद्वैतवादी, नापि नैयायिकादिवद् द्वैतवादी, अपितु द्वैताद्वैतविलक्षणवादी। यदुक्तं गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहे—'यदि ब्रह्माद्वैतमस्ति, तर्हि द्वैतं कुत आगतम्? ··· (इत्यादिनाऽद्वैतमतं विखण्ड्याग्रे) महासिद्धैरुक्तं यद् द्वैताद्वैतविवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यते, तदेव सम्यग् इत्यभ्युपगमिष्यामः, इति, पृ० १६।

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्॥

यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना॥ इति। पृ० ११।

निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः।
तदा विवक्षतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः॥ शि० सं० १।६८

असमं ससमं शान्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ।
अचिन्त्यचित्तकं चैव सर्वभावस्वभावकम् ।। इति ।।

सिद्धान्तेऽस्मिन् प्रपञ्चोत्पत्तिः शक्तिस्फुरणान्तरं भवति, अतः शक्तिरेव जगत्कर्त्री सा चैवोपास्या। शिवः केवलो ज्ञेयः। स च सर्वोपाधिरहितोऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः। कार्यकारणानुपपत्तिनुत्तये शिवशक्तिकल्पना, यथा वेदान्तमते मायाकल्पना, तथैवात्र शक्ति कल्पना किन्तु तत्र माया जडा, अत्र शक्तिश्चेतना, धर्मधर्मिणोरभेदात्। एवं सत्यपि व्यवहारे धर्मधर्मिणोः किञ्चिदन्तरमङ्गीकृत्य लोकयात्रा निर्वहति। अतः शिवशक्त्योरभिन्नत्वेपि व्यवहारानुरोधेन भेदता। एवं सति शिवस्य रूपातीतत्वात्, गुणातीतत्वात्, निरालम्बस्वभावत्वात् स्वरूपनिर्धारणाशक्यत्वेनोपासनायै अनुपयुक्तत्वात् परमार्थतः तदभिन्ना व्यवहारश्च भिन्नरूपा शक्तिरेवोपास्या भवितुमर्हति। अनयैवोपासनया शिवशक्त्योरभेदज्ञानं तदेव च साधकलक्ष्यम्।

तां शक्ति समुपासितुमितस्ततो गमनस्य न काचिदावश्यकता, अपि तु सा निखिलपिण्डेषु सकलपरमाणुषु व्याप्ता। सर्वे प्राणिनस्तामेवेच्छाज्ञानक्रियारूपेणानुभवन्ति । ब्रह्माण्डव्याप्ता सा शक्तिर्मानवदेहे कुण्डलिनीरूपेण स्थिता । नाथसम्प्रदायिनः साधकाः शक्त्युपासनासाधनं कलेवरमेव मन्यन्ते। देहिषु मानवः सर्वापेक्षया सत्त्वगुणीति। मानवशरीरं योगसिद्ध्यै महत्साधनम्। तत्साधनं केवलशरीरधारणमात्रेण नोपपद्यते, अपितु शरीरज्ञानेन। तदुक्तं गोरक्षनाथेन—

षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ।।

एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ।।

गो० श०, १३-१४

अपि च, शक्त्युपासनयैव शिवशक्तिसामरस्यरूपः सहजसमाधिर्जायते येन समाधिना परमपुरुषार्थावाप्तिर्भवति। उक्तं च अमरौघशासने—

यत्र सहजसमाधिक्रमेण 'मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः' (पृ० ९)। मोक्षो हि सर्वेषां जनानामभिप्रेतो वर्तते। एतस्यैव मार्गाः सर्वत्रोपदिष्टाः स्वस्वसम्प्रदायानुसारेण। अस्मिन् सम्प्रदाये शक्त्युपासनोपदिष्टा। तदुपासनार्थं यावत्यः सामग्र्योऽपेक्षिता वर्तन्ते, तदर्थं बाह्यजगति परिभ्रमणस्य न काचिदावश्यकता, अपितु ताः सर्वा इहैव स्वशरीरे सन्निहिताः। सर्वे देवाः सर्वाणि तीर्थानीहैव निवसन्ति, मा वृथा पर्यटनेनायुषः क्षपणं कुरु,

एतदर्थं पिण्डज्ञानस्य महत्यावश्यकता। अत एतत् सिद्धान्तानुरोधेन, यत् किञ्चिद् ब्रह्माण्डेऽस्ति तत् सर्वं पिण्डेऽपि वर्तते । तदुक्तं सिद्धसिद्धान्तसंग्रहे—

ब्रह्माण्डवर्ति यत्किञ्चित् तत् पिण्डेप्यस्ति सर्वथा। ३।२

शिवसंहितायां द्वितीयपटले च—

ब्रह्माण्डे यानि वै सन्ति तानि सन्ति कलेवरे।
ते सर्वे प्राणसंलग्नाः प्राणातीतो निरञ्जनः।। ३८।

तदेतदागतं यद् ब्रह्माण्डस्य संक्षिप्ता प्रकृतिरेव पिण्ड इति। अतः पिण्डब्रह्माण्ड-योरैक्यं सुनिश्चितम्। तदुक्तम् शाक्तानन्दतरङ्गिण्याम्—

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं शृण्विदानीं प्रयत्नतः।
पातालभूधरालोकास्तथान्ये द्वीपसागराः।।

आदित्यादिग्रहाः सर्वे पिण्डमध्ये व्यवस्थिताः।
पिण्डमध्ये तु तान् ज्ञात्वा सर्वसिद्धीश्वरो भवेत्।।

एवं शिवसंहितायां द्वितीयपटलेऽपि सर्वेषां ब्रह्माण्डपदार्थानां देहे स्थितिः कथिता, किन्तु विस्तरभयान्नात्रोद्धृतं तद्वचनम्। ब्रह्माण्डपदार्थानां मानवशरीरे क्व-क्व कस्य-कस्य स्थितिरंशावेति विषये निर्वाणतन्त्रे तत्त्वसारे प्राणतोपिणीतन्त्रे च विस्तरेण वर्णितम्। तद् यथा—

मूलाधारे तु भूर्लोकः स्वाधिष्ठाने भुवस्तथा।
अस्तिस्थाने महेशानि जम्बुद्वीपो व्यवस्थितः।।

मेरुदण्डे सुमेरुस्तु पीठमध्ये हिमालयः।
गङ्गा सरस्वती गोदा नर्मदा यमुना तथा।।

त्रयस्त्रिंशत्कोटयस्तु निवसन्ति च देवता।
ब्रह्माण्डे ये गुणाः सन्ति ते तिष्ठन्ति कलेवरे।।

एवंभूत तीर्थादिनिवासस्योपयोगिता प्रदर्शिता तन्त्रेषु—

इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः।
आत्मतीर्थं न जानन्ति कथं मुक्ता वरानने।।

ज्ञानसंकलिनीतन्त्रम्

इडासुषुम्णे शिवतीर्थकेऽस्मिन् ज्ञानाम्बुपूर्णे वहतः शरीरे।
ब्रह्माम्बुभिः स्नाति तयोः सदा यः किं तस्य गाङ्गैरपि पुष्करैर्वा ।।

शि० सं०, पटल ५

एवं रुद्रयामलतन्त्रे २१तमेपटले षट्चक्राण्येव महातीर्थानि प्रोच्य तदुपयोगं च निर्दिश्य मोक्षमार्गस्थितायाः कुण्डलिन्याः स्वरूपं तदुद्बोधनेन मोक्षद्वारमनावृतं भवतीति विस्तरेण प्रतिपादितम्। अत एतदर्थं पिण्डज्ञानमावश्यकम्। अनेन पिण्डब्रह्माण्डैक्यज्ञानेन बाह्यगमनस्यानावश्यकत्वं भवति, स्वस्मिन्नेव सर्वपदार्थावाप्त्या परमसन्तोषश्च संजायते।

एवं पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं प्रदर्श्याधुना पिण्डप्रकारं तदुत्पत्तिं स्थापयामः। यस्मिन् हि पिण्डे सर्वस्थितिः स च पिण्डः षड्विधः—१. परपिण्डः, २. आद्यपिण्डः, ३. साकार-पिण्डः, ४. महासाकारपिण्डः, ५. प्राकृतपिण्डः, ६. गर्भपिण्डश्चेति ।

इमे पिण्डाः स्वपूर्वपिण्डेभ्यो जायमानाः स्वोत्तरपिण्डजनकाः क्रमशः स्वपूर्वापेक्षया स्थूलां स्थूलतरावस्थां गच्छन्ति। तत्र गर्भपिण्डात् स्थूलशरीरस्योत्पत्तिर्जायते। एषां पिण्डानामुत्पत्तिक्रमः सिद्धसिद्धान्तसंग्रहे प्रथमाध्यायपुष्पिकायां सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ चाधो निर्दिष्टरूपेण वर्तते। तथाहि—

अयं सिद्धान्तः शैवसिद्धान्तानुयायी शैवप्रतिपादितसिद्धान्तमेवानुसरति। अत्रापि शैवागमोक्तषट्त्रिंशत्तत्त्वानि स्वीकृतानि अन्यसिद्धान्तवद् अत्र शिव एव सर्वप्रधानः। तस्यज्ञानमेव परश्रेयः।

प्रलयकाले केवलमद्वैतं परमशिवतत्त्वं विराजते। तदानीं शिवशक्तिसदाशिवेश्वर-शुद्धविद्यामायाविद्याकलारागकालनियतिजीवप्रकृति मनोबुद्ध्यहङ्कारश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वा-घ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाकाशवाय्वग्निजलपृथिवीति षट्त्रिंश-त्तत्त्वग्रामात्मकं समस्तप्रपञ्चं स्वस्मिन्नात्मसात्कृत्य निखिलप्राणिकर्मफलञ्च कवलीकृत्य तत्त्वरूपा भगवती शक्तिः शक्तिशक्तिमतोरैक्यतया परमशिवे स्थिता। अस्यामवस्थायां परमशिवः कार्यकारणकर्तृताकुलाकुलभेदतादिरहितः स्वयंपदवाच्यो भवति। तदुक्तं सिद्ध-सिद्धान्तसंग्रहे—

कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम् ।
अव्यक्तं परमं तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत् ।। १।४

यदा पुनः प्राणिकर्मफलपरिपाकार्थं शिवेऽव्यक्तभावेन स्थिता शक्तिः सिसृक्षारूपेणा-त्मनं व्यनक्ति, तदेयमाविर्भूता शक्तिस्त्रिपुरेति नाम्ना तन्त्रागमे प्रसिद्धाऽसौ चिच्छीला चिच्छक्तिरनन्तरूपाऽनन्तशक्तिरूपाजगदाकारेण परिणमनशीलो चिद्रूपा, न तु वेदान्त-

मताङ्गीकृतमायावज्जडा। सा चेयं स्वयमाविर्भूता स्वयं प्रपञ्चं प्रपञ्चयति। नैनां विना परतत्त्वं किञ्चित् कर्तुं समर्थम्। ज्ञानज्ञेयज्ञातृरूपेण त्रिपुटीकृतस्यजगतः आदिभूतत्वेन त्रिपुरेति गीयते। तदुक्तं वामकेश्वरतन्त्रे—

त्रिपुरा परमा शक्तिराद्या ज्ञानादितः प्रिये।
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन त्रैलोक्योत्पत्तिमातृका।।

कवलीकृतनिःशेष तत्त्वग्रामस्वरूपिणी।
तस्यां परिणतायां तु न कश्चित् पर इष्यते।। ४।४५

कौलज्ञाननिर्णये मत्स्येन्द्रनाथेनोक्तं यत् समस्तं जगद् शिवेच्छया जायते लीयते चेति। अतोऽस्येदं तात्पर्यं शक्तिरेवजगत्कारणं सा च शिवेच्छा सिसृक्षेति।

एवं सिसृक्षुः परमशिवः शिवः शक्तिरिति रूपद्वयेनाविर्भवति। परमशिवो निर्गुणा निरञ्जनः शिवः सगुणः सिसृक्षोपाधियुतः। शिवस्य धर्म एव शक्तिः। नहि धर्मधर्मिणोः शक्तिशक्तिमतोर्वा भेदः। अतः शिवव्यतिरिक्ता शक्तिः शक्तिव्यतिरिक्तः शिवो नास्ति। सा चेयं सिसृक्षात्मिका शक्तिः क्रमशो निजा-परा-अपरा-सूक्ष्मा-कुण्डलीभिः पञ्चभिरवस्थाभिः स्फुरन्ती विकसति। ताभिः शक्त्यवस्थाभिर्युक्तः शिवः क्रमेण अपर-परम-शून्य-निरञ्जन-परमात्मसंज्ञाभिः प्रसिद्धयति। तदुक्तम्—

ततोऽस्मितापूर्वमर्चिर्मात्रं स्यादपरं परम्।
तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परमं पदम्।।

स्वेच्छामात्रं ततः प्रोक्तं सत्तामात्रं निरञ्जनम्।
तस्मात् ततः स्वसाक्षाद्भूः परमात्मपदं मतम्।।

सि० सि० सं०, १।१४-१५

निजापिण्डपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे।।

सि० सि० सं०, १।१३

इत्थं परमानन्दसन्दोहः परमशिवः पञ्चभिरवस्थाभिर्गच्छन् परमात्मरूपेण सगुणशिवरूपेण वाविर्भवति। इदमेव प्रथमं तत्त्वम्। शक्तिरपि पञ्चभिरवस्थाभिरग्रेसरन्ती कुण्डलिनीरूपेण प्रादुर्भवति। इदं चापरं तत्त्वम्।

इयं कुण्डली कुण्डलिनी नामधेयैव निखिले विश्वेऽस्मिन् व्याप्ता शक्तिश्चिद्रूपा। उक्तञ्च—

चिच्छीला कुण्डलिन्यतः, सि० सि० सं० १।६
सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावमता हि सा, सि० सि० सं० ४। ३०

'चितो धर्मत्वाच्चित्तत्वमेवोपयुज्यते', कौ० तं०। अस्या इच्छया साहाय्येन च शिवः प्रपञ्चस्य सृष्टिस्थितिसंहारेषु शक्तो नान्यथा। तदुक्तं कामेश्वरान्त्रे —

परो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन।
शक्तस्तु परमेशानि शक्तया युक्तो यदा भवेत् ॥४।६

एवं परमशिवात् प्रथमत इमे द्वे तत्त्वे अत्यन्तसूक्ष्मे परमात्मकुण्डल्यौ, अथवा शिवः शक्तिश्चाविर्भवतः। आभ्यामेवातिसूक्ष्मः परपिण्डः समुत्पद्यते।

१. परपिण्डः—स चायम्-अव्यक्त परमतत्त्वस्य पञ्चपञ्चगुणोपेताः पञ्च शक्तयो निजा-परा-अपरा-सूक्ष्मा-कुण्डली नामधेयाः सन्तिः। तत्र निजायां निराकृतित्वम्, नित्यत्वम्, निरन्तरत्वम्, निष्पन्दत्वम्, निरुत्थत्वमिति पञ्च गुणाः, परायाम्—अस्तित्वम्, अप्रमेयत्वम्, अभिन्नत्वम्, अनन्तत्वम्, अव्यक्तत्वं चेति पञ्च गुणाः। सूक्ष्मायां नैरन्तर्यं वैरस्यं नैश्चल्यं निश्चयत्वं निर्विकल्पत्वं चेति पञ्च गुणाः। अपरायां स्फुरत्ता, स्फारता, स्फुरता, स्फोटता स्फूर्तिश्चेति पञ्च गुणाः। कुण्डल्यां पूर्णत्वं प्रतिबिम्बत्वं प्रकृतिरूपत्वं प्रत्यङ्-मुखत्वम् औज्ज्वल्यं चेति पञ्च गुणा वर्तन्ते। एता एव पञ्च शक्तयः पञ्च पञ्चगुणोपेताः पञ्चविंशतितत्त्वात्मक परपिण्डनामधेयाः।

ततो निखिलविश्वव्याप्ता कुण्डली शक्तिः सृष्टिक्रममेधयितुं स्थूलता-मापद्यते यतोऽहं प्रधानात्मकः सदाशिवः, इदं प्रधानात्मक ईश्वरः, उभयप्रधानात्मिका शुद्ध विद्या, इति त्रीणि तत्त्वानि क्रमशः स्फुरन्ति। तदुक्तं महार्थमञ्जर्याम्—"अहन्तेदन्तालक्षणयोर्ज्ञानक्रिययोराद्योद्रेकादुन्मीलितचित्रन्यायेन व्यक्ताव्यक्त विश्व-मातृतास्वभावं सदाशिवाख्यं तत्त्वम्'। एतद्विपर्ययेण क्रियाशक्तयौज्ज्वल्ये व्यक्ताकार-विश्वानुसन्धातृरूपम् ईश्वरतत्त्वम्।

"ज्ञातृत्वधर्म आत्मा ज्ञेयस्वभावश्च लोकव्यवहारः।
एकरसां संस्कृष्टिं यत्र गतौ खलु विस्तुषा विद्या॥"

पृ० सं० ४४, ४६।

सृष्टिव्यापारं विकासयितुं प्रयतमाना कुण्डलीशक्तिरहन्ताख्यसदाशिवतत्त्व-निर्माणे पञ्चभिरवस्थाभिः सम्पन्ना भवति। ताश्चावस्था आनन्दपदेनाभिधीयन्ते।

ते च पञ्च आनन्दाः—परमानन्दः प्रबोधः चिदुदयः प्रकाशः सोऽहं चेति । एभिरेवानन्दैः सम्पृक्तः क्रमशो जीवरूपतां भजते। एवं ज्ञायमाने सति द्वितीयपिण्डस्योत्पत्तिः प्रकारद्वयेन ज्ञातुं शक्यते । एकस्तु शक्तभवस्थासहकृतशिवरूपेण, द्वितीयस्तु पञ्चानन्देन । एतदुभयमग्रे स्फुटीभविष्यति ।

२. आद्यपिण्डः—अयं खलु द्वितीयो हि पिण्डः परपिण्डाज्जातः पञ्चविंशतितत्त्वात्मकः । तदित्थम्—शक्तेर्निजाख्यावस्थया युक्तोऽपराख्यः शिवोऽकलत्व-असंशयत्व-अनुमतत्व-अन्य-पारता-अमरत्वेति पञ्चगुणोपेतः, तथा च, परावस्थाविशिष्टः परमनामधेयः शिवो निष्कल अलोल-असंख्येय-अक्षय-अभिन्नेति पञ्च गुणोपेतः एवम्—परावस्थासंस्थः शून्यसंज्ञः शिवोनीलता-पूर्णता-मूर्च्छा-उन्मनी-लयेति-पञ्चगुणसम्पन्नः । अपि च, सूक्ष्मावस्थासम्पन्नो निरञ्जन नामकशिवः सहज-सामरस्य-सत्यत्व-सावधानता-सर्वगतत्वेति पञ्चगुणसहितः । अथ च, कुण्डल्यवस्थासहकृतः परमात्माभिधेयः शिवोऽभयत्व-अभेद्यत्व-अच्छेद्यत्व-अनाश्यत्व-अशोष्यत्वेति पञ्चगुणावृतो मिलित्वाऽऽद्यपिण्डो भवति । अथवा—

कुण्डल्याः सदाशिवतत्त्वनिर्माणे याः पञ्चावस्था आनन्दपदाख्यातास्ताः एव पञ्चपञ्चगुणोपेता आद्यपिण्डेनाभिहिताः । तदित्थम्—

उदय-उल्लास-अवभास-विकासन-प्रभेति पञ्चगुणोपेतः परमानन्दः, निष्पन्द-हर्ष-उन्माद-स्पन्द नित्यसुखेति पञ्चगुणोपेतः प्रबोधः, सद्भाव-विचार-कर्तृत्व ज्ञातृत्व स्वातन्त्र्येतिपेपञ्चगुणोतश्चिदुदयः, निर्विकार-निष्फलत्व-सद्बोध-समता-विश्रान्तीतिपञ्चगुणोपेतः प्रकाशः, अहन्ता-खण्डितैश्वर्य-स्वानुभूति-सामर्थ्य-सर्वज्ञतेति पञ्चगुणोपेतः सोऽहमिति । एतैः पञ्चानन्दानां पञ्चविंशतिगुणैः पञ्चविंशतितत्त्वात्मकं आद्यपिण्डो भवति ।

३. तृतीयसाकारपिण्डः—अयं खलु तृतीय आद्यपिण्डाज्जायमानः स्वांशसमन्वित पञ्चमहातत्त्वमयः पञ्चविंशतितत्त्वात्मकः साकार पिण्डः । तथा हि—अवकाश-छिद्र-अस्पृश्यत्व-ख-नीलवर्णेत्यंशान्वितो महाकाशः, संचार-चलन-स्पन्द शोषण-धूमवर्णेत्यंशान्वितो महावायुः, दाहकत्व-पावकत्व-सूक्ष्मत्व-रूपभासित्व-रक्तवर्णेत्यंशान्वितं महातेजः, प्रवाह-आप्यायन-रस-द्रव-श्वेत-वर्णेत्यंशसमन्वितं महाजलम् । स्थूलता-नानाकृतिता-काठिन्य-गन्ध-पीतवर्णेत्यंशान्विता महापृथिवीति । एतदंशसमन्वितमहाकाशादि संघातः साकारपिण्डः ।

४. चतुर्थो महासाकारपिण्डः—अयं खलु साकारपिण्डाज्जातो महासाकारपिण्डोऽष्टमूर्तिमयश्चतुर्थः । अस्मिन् पिण्डे शिवो भैरवः श्रीकण्ठः सदाशिव ईश्वरो रुद्रो विष्णुर्ब्रह्माचेत्यष्टौ मूर्तयः क्रमशो जायमानाः सन्ति ।

५. प्राकृतपिण्डः—एष पञ्चमः प्राकृतपिण्डो महासाकारपिण्डाज्जायमानः पृथिव्यादितत्त्वांशपरिवृतः पञ्चविंशतितत्त्वात्मकः । तथा हि—

अस्थि-त्वक्-मांस-लोम-नाडीतिपृथिव्यंशाः, लाला-मूत्र-असृक्-स्वेद-शुक्रेति-जलांशाः, क्षुत्-तृड-आलस्य-निद्रा-कान्तीत बह्व्यंशाः, धावन-चलन-रोधन-प्रसारण-अकुञ्चनेति वाय्वंशाः, राग-द्वेष-भय-लज्जा-मोहेत्याकाशांशाः, एतत्समुदायः प्राकृतपिण्डः कथ्यते ।

६. गर्भपिण्डः—प्राकृतपिण्डाज्जातोऽयं गर्भपिण्डः षष्ठः पिण्डः । अस्मिन् हि पिण्डे-द्वासप्ततिसहस्रनाड्यस्तासु—इडा, पिंगला, सुषुम्णा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, यक्षिणी, पूषा, अलम्बुषा, पयस्विनी, कुहूः इति दशनाड्यो मुख्याः। पञ्च प्राणाः—प्राणः, अपानः, समानः, व्यानः, उदानः, इति । षट् चक्राणि —मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहतविशुद्धाख्य-आज्ञेति' । षोडश आधाराः—पादाङ्गुष्ठ-मूलाधार-गुह्याधार-बिन्दुचक्र-नाड्याधार-नाभि मण्डलाधार हृदयाधार-कण्ठाधार-क्षुद्रघण्टिकाधार-तालवन्तराधार-रसाधार-ऊर्ध्वदन्त-मूल-नासिकाग्र नासामूल-भ्रूमध्याधार-नेत्राधारेति । दश द्वाराणि—मुखम्, श्रोत्रे, नासिके, चक्षुषी, पायुः, उपस्थः, ब्रह्मरन्ध्रम् । व्योमपञ्चकम् इत्यादयः पदार्थाः सन्त्यत्र ।

सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र महामहोपाध्यायपण्डितप्रवर श्री गोपीनाथकविराजमहोदयेन सिद्ध-सिद्धान्तसंग्रहभूमिकायामयमपरः पिण्डप्रकारः प्रदर्शितः। स चायम्—१. परपिण्डः आद्य-पिण्डो वा, २. साकारपिण्डः, ३. महासाकारपिण्डः, ४. प्राकृतपिण्डः ५. अवलोकनपिण्डः, ६. गर्भपिण्ड इति षट् पिण्डाः । अस्मिन् हि प्रकारे परपिण्ड आद्यपिण्डश्चैक एव पिण्डो न तु भिन्नः । अवलोकनपिण्डोऽतिरिक्तो यो हि पूर्वस्मिन् प्रकारे न प्रदर्शितः । अन्ये च पिण्डाः पूर्ववज्ज्ञेयाः ।

स चावलोकनपिण्ड इत्थम्—संकल्प विकल्पजडतामूर्च्छनामननेतिपञ्चधर्मोपेतं मनः, विवेक वैराग्यपराप्रशान्तिक्षमेति पञ्चधर्मोपेता बुद्धिः, मान-ममता-सुख दुःख मोहेति पञ्चधर्मोपेतं चित्तम्, विमर्षहर्षधैर्यचिन्तननिःस्पृहेति पञ्चधर्मोपेतं चैतन्यम्, इत्यन्तः-करणधर्मोपेतः पञ्चविंशतितत्त्वात्मकोऽवलोकनपिण्डो भवति ।

अथवा—उन्मेषत्रासनावीप्सा चिन्ताचेष्टात्मिकेच्छया,स्मृत्युद्यमोद्वेगकार्यनिश्च-यात्मकेन कर्मणा, मदमात्सर्यकपटकर्तव्यासत्यात्मिकया मायया, आशातृष्णाऽकाङ्क्षास्पृहा-मृषात्मिकया प्रकृत्या, परापश्यन्तीमध्यमावैखरीदृष्टाक्षरमातृकात्मिकया वाचा सहितः पञ्चविंशत्यात्मकोऽवलोकनपिण्डो भवति ।

अथवा—रतिप्रीतिलीलाऽऽतुरताऽभिलाषात्मकेन कामेन, शुभाशुभकीर्त्यकीर्ती-च्छात्मकेन कामेन, उल्लोल-कल्लोलोच्चलत्वोन्मादविलेपनात्मकेनाग्निना, स्रवन्तिका नाम-प्रवाहा सौम्या प्रसन्नात्मकेन चन्द्रेण, तपिनी-ग्रसिनी-क्रूरा-कुञ्चनी-शोषिणी-बोधिनी अस्मरा-कर्षिणी-अर्थतुष्टिवर्धिनी-उर्मिरेखाकिरणिनी प्रभावलगात्मकेनार्केण च संहतोऽवलोकनपिण्डो भवति ।

श्रीमता विद्वन्मूर्धन्येन श्रीहजारीप्रसादद्विवेदिना 'नाथसम्प्रदाय' नामक पुस्तके पं० श्री विश्वेश्वरनाथविरचित पुस्ताकाधारेण जोधपुरराजकीय सरदार संग्रहालय

स्थितिचित्राधारेण च संकलितोऽपरः पिण्डप्रकारः। त्रिगुणात्मक आदिपिण्डस्ततो नील वर्णो महाकाशः, ततो धूमवर्णो वायुः, ततो रक्तवर्णो महातेजः, ततः श्वेतवर्णं महा सलिलम्, ततः पीतवर्णा महापृथिवी जायते। एवं शिवात् क्रमशो भैरवादि ब्रह्मपर्यन्ता अष्टमूर्तयो जायन्ते। ततो ब्रह्मणः स्त्रीपुसांत्मकः प्रकृतिपिण्डो जायते। स्त्रियाः पुंसश्च संयोगाद् नरा नार्यश्चोत्पद्यन्ते। विवेचितं चेत्थमत्र द्विवेदिना—प्रथमपिण्डः परपिण्डो यो हि त्रिगुणातीतः, द्वितीय आद्यपिण्डो वस्तुतस्तस्यैवावस्थान्तरं नाम। साकारपिण्डो महासाकारपिण्डोऽपि पृथक्-पृथक् नास्ति अपितु, साकारपिण्ड एव महासाकारपिण्डोऽस्ति। एवं सति षट् मुख्यपिण्डा इत्थं भवन्ति—परपिण्डः, आद्यपिण्डः, साकारपिण्डोऽथवा महा-साकारपिण्डः, प्राकृतपिण्डः, अवलोकनपिण्डः, गर्भपिण्डः,। एषु परपिण्डः शिवशक्ति-संयोगादुत्पद्यते। अस्मिन पिण्डे तत्त्वद्वयम्। सदाशिव ईश्वरः शुद्धविद्येति तत्त्वत्रयादा-द्यपिण्डो जायते। ततो मायाकलाविद्या रागनियति प्रकृतिपुरुषपर्यन्तं साकारपिण्डः। ततो महत्तत्त्वादिपञ्चतन्मात्रापर्यन्तात्मकोऽष्टादशतत्त्वमयः प्राकृतपिण्डः। एकादशेन्द्रियात्म-कोऽवलोकनपिण्डः, पञ्चमहाभूतात्मको गर्भपिण्डः। एषां पिण्डानामुत्पत्तिसामञ्जस्यं षट्त्रिंशतत्त्वोदयेनैव भवति।

मन्ये यथा वादान्तरे कारण सूक्ष्मलिङ्ग शरीराणि भिन्नभिन्नरूपेण वर्णितानि, अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयकोशाश्च भिन्नतया व्यवस्थिता स्तथैवास्मिन् सिद्धान्ते पिण्डा इति। यथा तत्र, अन्नमयादिकोशेभ्यः त्रितयशरीराच्चात्मानं मुञ्जादिषी-कैव विवेचनीयो वर्तते, तथात्रापि पिण्डात् पृथगात्मविवेचनं करणीयमस्ति। एतदात्म-विवेचनमुभयत्र तुल्यं तथाऽत्मविवेचनार्थं पिण्डशरीरज्ञानमावश्यकं सर्वेषां वादानां कृते।

नेदं खलु पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं योगे तन्त्रे वा नूतनमपि तु वैदिकम्। प्राचीना शैलीयं भारतीयानां प्रतिपादने बहवः श्रुतयः समुपतिष्ठन्ते। एवं पुराणेपि बहुशः प्राप्यते पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यम्।

卐

भारतीयदर्शनानां तापत्रय प्रशामकत्वम्

पण्डितश्री चन्द्रदेव त्रिपाठी

विश्वप्रपञ्चप्रसरे समन्ताद् यत् सारभूतं परमार्थरूपम्।
तापत्रयं यत् क्षिणुते क्षणेन तद् वैष्णवं धाम चकास्तु नोऽन्तः ॥ १ ।

तापत्रयोन्मूलनचिन्तनं तद् विष्णोः परं धाम विभावयेऽन्तः।
न यत्परः सीदति जातु भूयोऽभिभूयमानः प्रकृतेर्विकारैः ॥ २ ।

तापप्रहाणं परमार्थलाभं तत्साधनं चाव्यभिचारिभूयः।
प्रवृत्तिहेतुं भुवि दर्शनानां विभावयन्ते सुधियां धुरीणाः ॥ ३ ।

प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते किं पुनः परावरदृश्वानो भर्जिताखिलकलुषकषाया निर्मुक्तसमस्तवन्धनास्तपः स्वाध्यायसिद्धाः प्रत्यक्षितपरमार्थरहस्या आर्याणां वर्णाश्रमधर्मवतां पूर्वपुरुषा भारतीया महर्षयः। तत् तेषां निविष्टदर्शनानां सर्वतोनिःस्पृहाणामपि भुवि स्वदर्शनाविष्कारे भवितव्यमेव केनचिन्महीयसा प्रयोजनेन। तच्च न तेषा माधुनिकपण्डितानामिव किञ्चिद् भौतिकार्थसाधनम्, न च भुवि स्वयशःप्रसारणम्, न वा कस्यचिन्नृपस्य श्रेष्ठिनोऽधिकारिणो वा चेतसः सन्तोषणम्, नापि वादविवादप्रतियोगितायां प्रथमं स्थानमासाद्य तदनुरूपपारितोषिकाद्यर्जनम्, शास्त्रार्थे प्रतिपक्षिणां मुखभञ्जनं वा, महामनसां परमार्थपदमारूढानां नितान्तमेव भौतिकभावेष्वनासक्तचेतसां प्रकृतेः कामाद्यखिलविकाराणां मूर्ध्नि पदं निहितवतां तेषां क्षुद्रैरेभिः प्रयोजनैः सर्वथाऽसम्पृक्तत्वात्। शास्त्रार्थे परमुखावमर्दनस्य तु गर्हणा दृश्यते महाभारते—

अधीयानः पण्डितंमन्यमानो,
यो विद्यया हन्ति यशः परेषाम्।
तस्यान्तवन्तश्च भवन्ति लोका
न चास्य तद् ब्रह्म फलं ददाति ॥

तर्हि किं तन्महीयः प्रयोजनं सूक्ष्मतमबुद्ध्या नियन्त्रितेन तपःसंशितेन स्वान्तेन

स्वदर्शनानामाविष्कारे तेषां प्रवृत्तेरिति चेदवधीयताम्—

तापत्रयप्रशमनं परमार्थलाभं
तत्साधनं सुलभमव्यभिचारिभूयः।
हेतुं वदन्ति मुनयोऽखिलदर्शनाना—
मेकान्तचिन्तनभुवां भुवि सम्प्रवृत्तेः ॥ इति।

रागद्वेषमूलककामक्रोधाद्युद्भवविविध सङ्घर्षणैः सङ्घृष्य सङ्घृष्य संसारेऽस्मिन् महदुत्पीडनमवाप्नुवतां जीवानामव्यभिचारिणा सुलभेन साधनेन तापत्रयप्रशमनपूर्वकपरमार्थलाभ एव भारतीयदर्शनानां प्रवृत्तेः प्रयोजनमिति सुधियो विभावयन्तु।

तथा च श्रुतिः—

तद् यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते।

स्मृतिरपि—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ मनु० ६।७४
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ मनु० ६।८०

एतदेव सर्वं कात्स्न्र्येन क्रोडीकृत्य दर्शनसूत्रकारा अपि स्वस्वदर्शनप्रयोजनं विभिन्नभङ्ग्या सूत्रयन्ति स्म, तद् यथा—

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ।
वेदान्त सूत्रे अ० ४, पा० १, सू० १३
प्रमाणप्रमेय···तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।
न्यायसूत्रे अ० १, सू० १
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
वैशेषिक दर्शन, अ० १, सू० २
अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।
सांख्यदर्शनम् अ० १, सू० १
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।
पातञ्जलयोगसूत्रे, समाधिपादे, सू० २-३

तापो नाम सन्ताप उत्पीडनम्। तच्च प्रातिकूल्येनावभासमाना मनसः परिस्थितिरपरितोषो वा। इदमेव दुःखमिति लोके प्रसिद्धम्। दुष्ठु दुरवस्थितं खं आकाशं

दुःखम्। आकाशं नाम हार्दाकाशम्, तत्रोपाधिरूपेण समुत्थितस्य वैषयिकप्रत्ययसाधनस्य मनसो दुरवस्थित्या तस्यापि दुरवस्थितत्वोपचारात्। एतेन मनसः प्रतिकूलपरिस्थितिरेव दुःखमित्यायातम्, स एव च तापः। मनोवृत्तीनामानन्त्येन तदानन्त्येऽपि प्राधान्येन, सर्वत्र तथानुगमेन च तत्त्रैविध्यम्। मनोऽनुगतकामक्रोधादिजन्या प्रतिकूला परिस्थितिराध्यात्मिकस्तापः। आत्मशब्देनात्र मनसोऽवधारणात्। दैवदुर्योगनिबन्धना प्रतिकूला परिस्थितिराधिदैविकस्तापः। प्रतिकूलभौतिकवस्तुसंयोगजन्या प्रतिकूला परिस्थितिराधिभौतिकस्तापः।

एतस्य त्रिविधस्यापि तापस्यैकं निदानं मनसो विक्षेपः। स च बाह्यविषयसम्पर्कनिबन्धन एव। प्रातिकूल्येनानुगतानां बाह्यविषयाणां तत्तद्ग्राहकैरिन्द्रियैर्मनसि यत् सन्निधापनं तज्जन्यस्तद्विक्षेप एव तापत्रयस्य मुख्यं निदानम्। नित्यत्वेनावगतायाः प्रकृतेर्विकाराणां विभिन्नविषयस्वरूपाणां सर्वत्र स्वभावतः सन्ततानां सान्निध्यं तु सर्वथा दुर्निवारं कस्यचित् सिद्धपुरुषस्यापि, किन्तु तज्जन्यो मनोविक्षेप एवान्तःकरणस्य दुरवस्थासम्पादनेन तापत्रयस्य हेतुर्भवति। तादृशहेतुजन्यं तापत्रयं पूर्वं मनोऽनुपक्तं सज्जगद् व्याकुलयति। तदनु च बहिश्चेष्टादौ प्रस्फुटं सत् सन्तप्तोऽयमुत्पीडितोऽयं दुःखितोऽयमित्यादि व्यपदेशान् जनयति जगति, येन हाहाकृतं जगत् सर्वत्र क्रन्दति।

एतस्या दुरवस्थाया निवारणाय तन्निदानभूतस्य मनोविक्षेपस्यैव तावत् प्रतिषेधश्चिन्त्यः। मनोविक्षेप एव हि मनस्विनोऽपि महतो मलिनयति क्लेशयति सर्वत्राक्रन्दनाय च विवशीकरोति। मन एव मनुष्याणां कारणं सुखदुःखयोरिति। अत्र विक्षुब्धं मन इति ज्ञेयम्। अत एव वाल्मीकीये लङ्कायां राक्षसीषु सीतां निचिन्वन् ब्रह्मचर्यव्रती हनूमान् परस्त्रीमुखप्रेक्षणेन पूर्वं भृशं विषण्णः पश्चादात्मानं सम्भालयत्येतेन विज्ञानेन—

मनो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने।
शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम्॥
वाल्मीकीय सु० का० ११।४२

अत्र सुव्यवस्थितमिति विशेषणेन विक्षुब्धमेव मनो दुरवस्थानियोजकम्, सुव्यवथितं पुनरखिलानिष्टनिर्वहणमितिस्फुटं प्रतीयते।

सोऽयं मनोविक्षेपो मनसः संशोधनेनैव निराकर्तुं शक्यते। तत्संशोधनं च सर्वविधासक्तिपरिवर्जनम्। आसक्तिश्चैषा मनसस्तावत् त्रिधाऽध्यवसीयते—द्रव्यासक्तिर्भोगासक्तिः सुखासक्तिश्च। सर्वजनप्रत्यक्षमिदं यज्जन्तूनां मनः क्वचिदनुकूल विषयेषु तत्प्राप्तिकामनया क्वचिच्च प्रतिकूलवस्तुषु तत्परिहारकामनया च नितान्तमासक्तम्। तथैव द्रव्याणामुपभोगेषु तत्तद्द्रग्राहकैरिन्द्रियैस्तदुपयोगेष्वपि स्वानुकूल-

प्रतिकूलेषु तत्तत्प्राप्तिपरिहाराभिलाषुकतया तन्नितरामनुपक्तम् । एवमेव तत्तद्द्रव्य-सम्पर्कोपभोगजन्यसुखेष्वपि तत्तत्प्राप्तिपरिहारानन्तरभाविषु तत्तथैवाबद्धम् । एवं तिसृभिरेताभिरासक्तिभिः समन्वितं मनो रागद्वेषादिदोषैर्मालिन्यमुपेत्य सततं विक्षिप्यते ततश्च तन्मानानर्थगर्तेषु जगन्निपातयति । विक्षिप्तमनसो जन्तवः स्वयंतूच्चावचे-ष्वनर्थेषु निपतन्त्येव परानपि स्वसंसर्गिणस्तथैव तेषु भृशं निपातयन्ति । यदर्थमाजीवनं जन्तूनां महीयान् प्रयासस्तानि बाह्यविषय सम्पर्कजन्यानि सुखान्यपि तत्तद्विषय-संयोगवियोगजन्यत्वादादौ मध्येऽवसाने च सर्वथा विविधैर्दुःखैरनुस्यूतान्येवेति तेष्वपि सुखाभासेषु सुखेषु नाभिरमन्ते सम्यग्दर्शनवन्तो मनीषिणः।

एवं त्रिविधासक्तिर्मनोविक्षेपस्य, मनोविक्षेपश्च तापत्रयस्य निदानमिति निश्चिते सर्वविधासक्तिपरिवर्जनलक्षणं मनःसंशोधनं सर्वैरुपास्यं मनस्विभिरिति सुनिष्पन्नम् । आसक्तिपरिवर्जनस्य बहिरङ्गान्तरङ्गभेदेन द्विविधास्तावदुपायाः शास्त्र-कृद्भिरुद्दिष्टास्ते, यथा—

द्रव्यत्यागे तु कर्माणि भोगत्यागे व्रतानि च।
सुखत्यागे तपोयोगं सर्वत्यागे समापना ॥
महाभारते शान्तिपर्वणि २१९।१८

द्रव्यासक्तित्यागे विविधानि श्रौतस्मार्तानि सात्त्विकानि यज्ञमयानि कर्माणि विहितानि तद्द्वारा महताऽऽयासेनोपार्जितानां द्रव्याणां सत्पात्रप्रतिपत्त्या तदासक्ति-त्यागात् । भोगासक्तित्यागे विविधोपयुक्तकालेषु नानाविधानि व्रतान्युपदिष्टानि । तत्रोपवासादिनियमेन विषयोपभोगस्य सर्वथा परित्यागाद् व्रताभिनिवेशसम्पन्नया बुद्ध्या तदासक्तिपरिहारात् ।

सुखासक्तित्यागे मनोवाक्कायैः सम्पाद्यमानानि तपांसि विविधान्युपदिष्टानि तदभिनिवेशेन सुखाशायाः परित्यागेन तदासक्तिपरिहाणात् । तपांसि च गीतो-पनिषदि भगवता विवृतानि शरीरवाङ्मनोभिः सम्पादनार्हाणि । एतेष्वेव तपोव्रतयज्ञेषु दानमप्यन्तर्भवति, सर्वत्र तस्यानुप्रवेशात् । तदेतत् त्रयं बहिरङ्गं साधनं मनः-संशोधनस्य यच्चान्तरङ्गसाधनसम्पादने नितान्तं प्रयोजकम्, अत एव—

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

इति भगवता गीतोपनिषत्सु सप्रयोजनमपरिहार्यत्वमुक्तमेतत्त्रयस्य ।

अतः परं चतुर्थमन्तरङ्ग साधनम्—'सर्वत्यागे समापना' इति सर्वविधा-सक्तिपरित्यागे ऐहिकामुष्मिकदृष्टश्रुतानुभूतदिव्यभौम विविधभोगवासनोपरञ्जित-

मनोभावजन्यविविधविक्षेपस्य परिहारार्थं समापना ऽनुष्ठेयेत्यर्थः । समापनाऽत्र समाधिः । स च प्रकृतेः प्राकृतिकविकारप्रपञ्चस्वरूपात् संसरणशीलात् संसाराच्च परतः प्रकाशमाने परतत्त्वे मनसः सम्यगाधानम् । एभिरुपायैः शनैः शनैरसङ्ग-मभ्यस्तैर्मनोविक्षेपे यथेष्टं प्रशममुपगते प्रशान्ते गम्भीरे निर्मले वलान्विते च मनसि सुखमुत्पद्यते—

"सुखमुत्पद्यते पुंसः क्षयात् पापस्य कर्मणः" इति ।

सुखं नाम सुष्ठु अर्थात् सुव्यवस्थितं स्वस्थं खं हार्दाकाशम् । तच्च विक्षेप-रहितेन मनसैव सम्पद्यते । मनसोऽनुकूला परिस्थितिस्तद्विक्षेपराहित्ये सति यदैव सम्पद्यते, तदैव हार्दाकाशं निर्मलं सत्पदार्थावभासयोग्यं सत् तादृश सुखरूपता-मापद्यते । मनसोऽनुकूलपरिस्थितिरेव सुखम् । सा चानुकूला परिस्थितिरभीष्ट-भौतिकवस्तुसंयोगजन्या तदनासक्तिजन्या चेति द्विविधा । आद्यपरिस्थितिजन्यं सुखं भौतिकम्, अनासक्तिजन्यं चाध्यात्मिकम् । भौतिकसुखस्य वस्तुविशेषसम्पर्कजन्यत्वात् तदपाये तदपायादध्रुवत्वं क्षणिकत्वमन्ते सन्तापकत्वं चेति तत्र प्राकृतानामेवा-दूरदर्शिनां प्रयासः । उत्पत्तिस्थितिविपरिणामवृद्ध्यपचयक्षयवतां सर्वेषां भावानां क्षणिकत्वात् तत्सम्पर्कजन्यस्य सुखस्यापि तथात्वं निश्चिन्वतां विदुषां तत्र सर्वथो-पेक्षा । तादृशदोषसम्पर्कवर्जितस्य कस्यचित् परमार्थपदस्य प्राप्तावेव हि तेषामपेक्षा दृश्यते श्रूयते च । तच्च परमार्थपदं श्रुतावेवमाम्नायते—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ।।

अव्यक्तैरभिव्यक्तैश्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैः समवेतं सर्वमपि सूक्ष्मं स्थूलं च वस्तु विकार्यनित्यं सादि सान्तमध्रुवं च । तादृशवस्त्वधिरूढं मनस्तत्संयोगवियोगाभ्यां नितान्तं रागद्वेषाद्युपहितमनुक्षणं विक्षुभ्यत्येवेति न जातु शान्तिं लभते ।

तदतिरिक्तं परमार्थपदं तु प्राकृतिकविकारैरेभिः सर्वथाऽसंस्पृष्टं नित्य-मविकारि सर्वतः परमाद्यन्तरहितं ध्रुवं स्वसत्ताया प्रकृतेस्तद्विकाराणां चोज्जीवकतया सर्वहेतुभूतमपि तैरप्रभावितं सद् निरतिशयानन्दस्वरूपं शुद्धमनामयं च, तदधिरूढं मनो यदाध्यात्मिकं सुखमनुभवति तत् पूर्वोक्तदोषेभ्यो दवीयस्त्वादनपायि शाश्वतमत-स्तदधिगम एव विदुषां प्रयत्नः । तदेव परमार्थपदमात्मपरमात्मब्रह्मपरब्रह्मविष्णु शिवादिपदैरभिधीयते शास्त्रेषु योगार्थभावनया । तद् यथा—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ।।

ऐतरेयोपनिषद् अ० १, मं० १

समस्तसाक्षि सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ।।
कैवल्योपनिषद्, खं० २, मं० २४

ब्रह्मविदाप्नोति परम्, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।।
तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथमोऽनुवाकः

तान् हो वाचैतावदेवाहमेतत् परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति ।।
प्रश्नोपनिषद्, प्रश्नः ६, मं० ७

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम् ।।
कठोपनिषद्, अ० १, वल्ली ३, मं० ९

सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः ।। इत्यादि ।
श्वेताश्वतरोपनिषद्, अ० ३, मं० ११

तत्तद्विभिन्नैः पदैरभिधीयमानमपि शाश्वतं तत् परमार्थपदं लक्षणतः स्वरूपतो माहात्म्यतश्च सर्वत्र समानमेव प्रस्तूयते श्रुतिषु । तदधिगम एव च सर्वानिष्टनिवृत्तिरित्युद्घुष्यते तत्र तत्र । तस्य च सर्वत्र स्वतः सिद्धत्वात् सर्वात्मस्वरूपत्वात् सर्वगतत्वात्सर्वभूतहृदम्बरे सततमविच्छेदेन भासमानत्वात् सर्वस्थितिहेतुत्वात् सर्वाधारत्वात् तदुपलब्धये न क्वचिद् गन्तव्यम्, न किञ्चदन्वेष्टव्यम्, न वा किञ्चित् प्रष्टव्यम्, किन्तुसर्वविधवासनारहितेऽन्तःकरणे स्वतस्तत्प्रकाशस्तत्सत्ता चानुभूयते विशुद्धान्तःकरणैर्मनस्विभिरिति तदर्थमन्तःकरणस्य निर्वासनत्वसम्पादनेन तत्संशोधनमेव नितान्तमपेक्षितम् । वासनावासितं हि मनो विविधविक्षोभान्वितमशान्तं मलिनं चेति तत्प्रकाशस्य तत्सत्तायाश्च तत्रानुभवितुमशक्यत्वात् । यथा धूलिपङ्कादिभिराविले सलिले दर्पणे वा न कश्चित् स्वमुखमवलोकितुं प्रभवेत्, तथैव नानाविधवासनावासितेऽन्तःकरणे न कश्चित् तदनुभवितुं प्रभवेत् । तथा च श्रुतिः—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नसमाहितः ।
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।
कठोपनिषद्, अ० १, वल्ली २, मं० २३

अतो मनसो निर्वासनीकरणेन तत्समाधानरूपं संशोधनमावश्यकम् । शुभाशुभाभ्यां कूलाभ्यां वहन्ती वासना सरिदशुभात् कूलान्निवर्त्य शुभे कूले तावदवतारणीया, चेतसोऽशुभवासनां निर्हृत्य शुभवासना तत्राधेयेति यावत् । तदर्थं तपःसत्यस्वाध्यायप्रवचनादिषु साधनेषु सत्स्वपि तत्र स्वाध्यायप्रवचनयोरुत्कृष्टत्वम्,

तत्रैव सर्वेषां साधनानामन्तर्भावात् । तथा च श्रुतिः—

"सत्यमिति सत्यवचाराथीतरः तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यःतद्धि तपस्तद्धि तपः"

तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षाध्याये, नवमोऽनुवाकः ।

मनुरपि—

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥

मनु० २।८७

जप्यस्यापि स्वाध्याय एवान्तर्भावः ।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् दान्तो मैत्रः समाहितः ॥

मनु० ६।८

एवं तपः सत्यस्वाध्यायप्रवचनादिसाधनैरनासक्तया सेवितैर्मनसोऽशुभवासनाः सर्वथा निर्हृत्य तत्र शुभवासनायामाहितायां भौतिक प्रपञ्चमतीत्य प्रकृतेरपि परमनुपदमुक्तं सर्वश्रेष्ठं वस्तु परमार्थरूपं सर्वदाहृदि चिन्तनीयं तापत्रयनिबर्हणाय ।

तादृशश्रेष्ठचिन्तनस्य, माध्यमस्तदवलम्बभूतः प्रणव एव श्रुतिभिरादिष्टः सौलभ्येन तत्प्रतिपत्तये तथा हि प्रणवमधकृत्य —

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

कठोपनिषद्, अ० १, वल्ली २, मं० १७

अत्र प्रणवरूपस्यालम्बनस्य श्रेष्ठत्वं परत्वं च सौकर्येणेतरसाधनापेक्षया सद्यो मनोविक्षेपनिवारकत्वेन चाभिहितम् । 'ज्ञात्वा' इत्यनेन स्वरूपतोऽर्थतश्च सरहस्यं तज्ज्ञानं विहितम् ।

तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् ।
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परञ्च ॥

प्रश्नोपनिषद्, प्रश्नः ५, मं० ७

अत्रैवकारेण तत् परं पदं प्रतिपत्तुमोङ्कारस्यैवान्तरङ्गत्वमभिहितम्—यज्ज-

रामरणभयवर्जितं शान्तम् । ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पराय तमसः परस्तात् ।

मुण्डकोपनिषद्, मुण्डकः २, खण्डः २ मं० ६

अत्र 'इति, एवम्' पदाभ्याम् ओमित्यस्य प्रतीकत्वं वाचकत्वं च सूचितमात्मनः। माण्डूक्य श्रुतौ तु—

"ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव" इति ।

कालत्रयावच्छदेने वर्तमानस्य प्राकृतिकप्रपञ्चस्य त्रिकालातीतस्य परमार्थपदस्य च प्रतीकत्वं वाचकत्वं च प्रणवस्य प्रतिपादितम् । वस्तुतो विचारणया सृष्टेरादौ प्रलयावस्थायां नाम ब्रह्म च द्वयमप्येकात्मकमभिन्नमनिर्वाच्यमव्याकृतमासीत् तदेव सर्गोन्मुखं सत् पूर्वं नामरूपेण ततश्चार्थरूपेण व्याकृतं जगदुदभावयत्—'नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतेः ।

निरस्तनिःशेषविशेषं निलीनसर्वजगदुपादानं निपीताखिलक्रियाकारककलापं समन्तात् ततं नित्यं निरतिशयानन्दं समाधिस्थं ब्रह्म व्युत्थानकाले सर्गप्रवर्तनोन्मुखत्ववेलायाम् 'ओमितिशब्दस्वरूमेव व्याकृतं बभूव' । प्रणवापरपर्यायविषयस्यास्य शब्दस्य माण्डूक्यश्रुत्यनुसारेणं सकलस्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चात्मकत्वात्, तदसम्पृक्तनिर्विशेषस्वरूपत्वात् सर्वोपाध्यायनवच्छिन्न तुरीयात्मनाऽवस्तिथत्वाच्च । तथा हि—

> सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति । जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद् वा स्वप्नस्थानस्तैजस उकारोद्वितीया मात्रोकर्षादुभयत्त्वाद् वा सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा, अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैवेति ।

माण्डूक्योपनिषत्

निरस्तनिःशेषविशेषाया निपीताखिलप्रपञ्चायाः सुषुप्तेरुत्थाय सर्वोपि जनः सर्वप्रथमं यत्किञ्चिच्छब्दात्मकमेवात्मचैतन्यमनुभवति, ततः स्वसंस्कारानुगुणमर्थात्मकमिति व्यक्तमेव विदुषाम् । अन्तस्ततं तमोऽपसार्य राजश्च परिमृज्य सत्त्वसम्पन्नायां बुद्धिवृत्तावशेषत इदं श्रौतं तत्त्वमनुभवितुमर्हमार्याचारनिपुणैर्बुधांवरैः । एतद्विचारानुगुणमेव जपप्रकर्षमाहात्म्यमपि स्वान्तरनुवेदनीयम् । निखिलं विश्वं तदन्तर्गतमण्वण्वपि चेत् स्वस्वानुगुणशब्दप्रभावेण प्रभावितं सदेव विविधोच्चावचभावमापद्यते, कथं न दिव्यशब्दरूपाणां मन्त्राणां भूयोऽभ्यावृत्तिपुरःसरानुसन्धानाद्

दिव्यभावापत्तिरक्षयशक्तिसम्पत्तिश्चापद्येत सात्त्विकश्रद्धाशीलसदाचारादितदनुरूपगुणापन्नानां सताम्।

अस्यैव प्रणवस्य व्याख्यानस्वरूपो महाव्याहृतित्रयसमन्वितो गायत्रीमन्त्रोऽपि। तद् यथा—

भूः स्थूलात्मकोलोकः भुवः सूक्ष्मात्मकोलोकः स्वः एतदुभयलोकासम्पृक्तः सुखात्मको लोकस्तदेतल्लोकत्रयस्य सवितुरुत्पादकस्य प्रेरकस्याभ्यनुज्ञातुरीशनकर्तुश्च (पूङ् प्राणिप्रसवे, पू प्रेरणे, पु प्रसवैश्वर्ययोः प्रसवोऽभ्यनुज्ञानमिति व्याकरणस्मृतेः) देवस्य द्योतनात्मकस्य प्रकाशरूपस्य सच्चिदानन्दात्मकस्य निखिलप्रपञ्चस्वरसस्वरूपस्य वरेण्यं सर्वैर्वरणीयं श्रेष्ठतमं भर्गोऽखिलदुरितभर्जकं तेजःस्वरूपं धीमहि ध्यायेम=चिन्तयेम, यो देवो नो ऽस्माकं धियो बुद्धिवृत्तिरितस्ततो ऽसद्विषयेपु विक्षिप्ताः प्रचोदयात् स्वानुगुणं स्वाभिमुखं सच्चिदानन्दात्मकेन भावेन प्रेरयेद् इत्यर्थकं गायत्र्यपरपर्यायं सावित्रीमन्त्रं सार्थं साङ्गं सरहस्यं सोपस्थानं सोपसंहार गुरूपदिष्टवर्त्मना प्रत्यहं शतशः सहस्रशोऽनेकवारान् मुहुर्मुहुस्तदर्थभावनानुभावनपूर्वकं यो जपति तदनुगुणं निरस्ताखिलविषयवन्धनेन प्रशान्तेन स्वान्तेनावर्तयति च। नूनमेव तस्य तन्मन्त्रगतार्थेतरभावना विलीयन्ते। स च देवः सुप्रशस्तं प्रकाशते कात्स्न्र्येन धूमापसारणे विशुद्धप्रदीप्तपावक इव। ततश्च तदैक्यानुभावनया कैवल्यसम्पत्तेः सर्वोपद्रव सर्वविधावरण विक्षोभविलयात् परां शान्तिं परिनिष्ठितं परमार्थसुखं चानुभवत्येवासौ सत्पुरुषः। एष परमः सम्प्रसादो न जपादतिरिक्तेनोपायेन लोके विपयिणां विविधरूप रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दादिभूयोभावनया तन्मयत्वं तत्प्रभावित्वं तदनुगुणसुखदुःखादिमत्त्वं चेत् प्रत्यक्षतोऽवगम्यते। कथं न पुनस्तादृशसर्वोत्कृष्ट सर्वात्मसर्वोपाध्यसम्पृक्तभर्गोभावनया तन्मयत्वसम्पत्तिनिरतिशयानन्दावाप्तिश्च। कश्चातः परो महीयाँल्लाभः। सर्वविधभावनानां सूक्ष्मशब्दमयत्वमनुभवैकवेद्यम्। तदेतत्साधनरहस्यं सर्वैर्मननीयं समनुवर्तनीयं च विशेषतो गृहस्थैर्विषयसंग्रहपरैस्तत्सम्पर्कजन्यदोषापनोदपूर्वकपरमप्रसादसम्पत्तये। एष समुच्छृङ्खलस्य मनसः परमोनिरोध इत्यलम्।

एवं मनसि विशुद्धे वाचोऽपि सुतरां विशुद्धिस्तदनु कायस्य च। सर्वेषां शुभाशुभभावनानामङ्कुरस्तावन्मनस्येवोत्पद्यते। ततो वाचि स्फुटीभवति। तदनु च स्वस्य परस्य च काये तत्प्रभावः प्रतिकूलोऽनुकूलो वा पततीति मनोवाक्कायकर्मजन्यान्येव विश्वस्य सर्वाणि परिवर्तनानि चङ्क्रमणानि परिस्थितयश्च। अतोऽस्य परिस्थितिं विशुद्धामनुकूलां सुखावहां च सम्पादयितुं मानसं वाचिकं कायिकं च तपोऽनुष्ठाय तत् त्रयं नितरां परिशोधनीयम्। पूर्णं च परिशोधनं त्रयस्यास्यानुपदमुक्तयोपासनया साधु सम्पद्येत ध्रुवम्।

विविध क्रियाप्रतिक्रियापरिस्थितिसमन्वितं सर्वमिदं जगन्मनोमूलकम् । सङ्कल्प-विकल्पात्मकं च मनः। सम्यग् विविधं च कल्पनं तस्य प्रकृतिः । तदेव हार्दाकाश-सन्निविष्टे विशुद्धेऽन्तरात्मनि सर्वद्वन्द्वविनिमुक्ते विविधान् भावान् सम्यक् कल्पयति, तत्र तत्र च पुनर्विविधं स्वरूपं विकल्पयति । अनुक्षणं प्राणिनां विशुद्धमन्तश्चिदा-काशं नाना द्वन्द्वैर्विभर्ति । शान्तमशान्तमशान्तं च शान्तं विदधद् विविध-परिस्थित्या विश्वं संयोजयति वियोजयति च । तदेवविजितं वशीभूतं सज्जनान्नु-न्नयति, अजितमवशस्थितं च तान्नीचैर्निपातयतीति विचिन्त्य तज्जये यथेष्टः प्रयत्न आधेयः। मनो वशी कर्तुमर्थाद् विषयेषु तस्या नियन्त्रितमनुधावनं निरोद्धुं मन-स्विभिर्विविधायोगा ज्ञानकर्मभक्तिप्रभृतयस्तदङ्गानि च यमनियमासनप्राणायाम प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिस्वरूपाणि निरूपितानि । सर्वाण्येवेमानि साधनानि मनोविक्षेपं निरसितुं विषयेभ्यस्तन्निवर्त्य परमार्थपदे च स्थिरीकर्तुं चित्तवृत्तिनिरोध-रूपं योगं सम्पादयितुं परमोपयोगीनि साधनैरेभिर्मनसः सूक्ष्मत्वसम्पादनेन तत्र परमात्मपदस्य सुप्रकाशात् । स्थूलस्य मनसः स्थूलानामेव वस्तूनां ग्रहणसमर्थत्वात् सूक्ष्मस्य वस्तुन आकलने तत्सूक्ष्मत्व सम्पादनमनिवार्यम् ।

अथेदानीं यावद् यद् यद् वस्तु विवेचितम्, यद् ग्रहीतुं यच्च परिहर्तु-मालोचितं तस्य सर्वस्य स्फुटप्रतिपत्तये लोके प्रायोगिकं किञ्चित् तत्त्वं प्रति-पत्तव्यमेव सत्पुरुषैः, व्यावहारिकतत्त्वप्रतिपत्तमन्तरा सैद्धान्तिकतत्त्वप्रतिपत्ते-रकिञ्चित्करत्वात् । तादृशं च तत्त्वं सत्सङ्गात्मकमेव । सत्सङ्गेन हि सुस्पष्टं प्रकाशन्ते सूक्ष्मतमानि निगूढतत्त्वानि । सत्सङ्गस्तु ज्ञानविज्ञानसम्पन्नानां सदाचार-वतामाप्तानां प्रकृतिविकृति पुरुषविकारात्मकसङ्घातान्तर्निहितविभिन्नभावानामिङ्गितै-श्चेष्टितैः प्रमाणान्तरैश्च यथार्थज्ञानवतां शमदमादिगुणसम्पन्नानां निर्व्याजं दयावतां सतां सङ्गः, सतां सद्वस्तुना परमार्थपदेन च सङ्गः । ईदृशं सत्सङ्गं विना नानाविधै-र्भ्रमात्मकैः कुहकैरबाध्यमानस्य यथार्थज्ञानस्य प्रकाशासम्भवेन सोऽवश्यमपेक्षणीयो लोकस्य स्वस्य च भद्रेप्सुभिः । तथा हि—

> सङ्गसर्वात्मना त्याज्यः सचेत् त्यक्तुं न शक्यते ।
> स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ।।

एतदर्थं सदसतोर्विवेचनमावश्यकम् सतां प्राप्तयेऽसतां च परिहाराय । अत्र श्रुतिः—

> असन्नेव स भवति वसद् ब्रह्मेति वेद चेत्
> अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति ।
>
> तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, षष्ठोऽनुवाकः ।

सततपरिवर्तितक्षणिकानित्यव्यावहारिक वस्तुन्यनासक्तो ब्रह्मसत्तायामव्यभिचारिनिष्ठावान् सन्=सत्पुरुषः । तद्विरुद्धो ब्रह्मसत्तामस्वीकृत्य तादृग्व्यावहारिकवस्तुन्येवनितरामासक्तोऽसन्=असत्पुरुष इति तत्तात्पर्यम् ।

सतां प्राप्तये ऽसतां च परिहाराय पुरुषैर्यथेष्टं प्रयतनीयम् तदर्थं स्वस्मिन् सत्पात्रता सम्पादनीया । मनसो गाम्भीर्यं बुद्धेर्वैशद्यमाश्रयणीयम् । कामक्रोधलोभजन्य दुरन्तव्यसनेभ्यो मनुक्तेभ्यः सदाऽऽत्मा परिरक्षणीयः । तानि च यथा—

मृगयाऽक्षो दिवा स्वप्नः परीवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाद्या च कामजो दशको गणः ।।

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्या सूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ।।

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ।।

मनुस्मृतिः, ७।४७–४९

वैशेष्याद् राजधर्मप्रकरणे चर्चितो ऽप्ययं विषयः सामान्यात् सर्वसाधारणैरनुसरणीयं इति वयं प्रतीमः सर्वानुषक्तत्वादस्य । ततश्चेश्वरप्रणिधाने सदैवात्मा नियोजनीयस्तदनुकम्पयैव सतां प्राप्तेः सौलभ्यात् ।

निबन्धे ऽस्मिन्सबद्धानि सर्वाणि ज्ञानविज्ञानानि योगायोगाङ्गानि चावश्यमेवानभ्यसनशीलैर्दुष्कराणि प्रतीयरेन् किन्तु तदभ्यसनशीलैः सत्पुरुषैः सौकर्येणैव तान्यात्मसात्क्रियन्त इत्यभ्यासयोगस्तदर्थमनुवर्तनीयोऽनिवार्यतया सद्भिः ।

उपरिष्टाद् विहिते सदसद्विवेचने सतां लक्षणैरुपलक्षित एव गुरुरमायया शरणीकृतः स्वशिष्याननर्थसार्थादुद्धर्तुमीशीत । तस्योपर्युक्तविज्ञानस्य क्रोडीकृत्यात्मनि सन्निधायकत्वात् साधन सम्पत्समन्वितत्वाच्च प्रकाशपुञ्जत्वम् दीपस्य दीपान्तरेष्विव स्वानुवर्तिनां सतामुरसि प्रकाशप्रसारकत्वं च अत एव तद्विषये श्रुतिः—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० ६, मं० २३

卐

सृष्टि-रचना-मीमांसा

पण्डित श्रीश्यामसुन्दर शुक्ल

प्राचीनतमकालादारभ्याद्यावधिपर्यन्तं सृष्टिरचनाया मीमांसाभवन्त्यः सन्ति । वैदिक-पौराणिक-तान्त्रिक-दार्शनिक-वैज्ञानिकमतानुसारेण सृष्टिवर्णनस्य प्रकारोऽपि विभिन्नाकारा इति कियन्तो विद्वांसो वर्णयन्ति । तत्र किञ्चित्प्रस्तूयते—

केचित्परमाणुभ्यः सृष्टिः, केचिद्गुणेभ्यः सृष्टिः, केचिदीश्वरात्सृष्टिः, केचित्स्व-भावात्सृष्टिः, केचित्प्रकृतेः सृष्टिः, केचिन्मायायाः सृष्टिः, केचिद्दृष्टेः सृष्टिरिति विवेचय-द्भिर्बहुविधविद्वद्भिर्विचारो व्यधायि, तत्र तत् तद्विद्वत्सम्मतविचाराणामुल्लेखः संक्षिप्त-रीत्या क्रियते—

१. परमाणुभ्यः सृष्टिः—गौतमाक्षपाद-काश्यपकणादमतेन ईश्वरेच्छया पर-माणुषु क्रिया, ततः परमाणुद्वयसंयोगः, परमाणुद्वयसंयोगाद् द्व्यणुकस्योत्पत्तिः, द्व्यणुकद्व-यसंयोगात् त्रसरेणोरुत्पत्तिः, एवं क्रमेण त्रसरेण्वादिभ्यः स्थूल पाञ्चभौतिकसृष्टिः, स्थूल पञ्चभूतेभ्यो महाभूतानां सृष्टिः, ततो जङ्गमादिचतुर्विधानां सृष्टिः ।

२. त्रितत्त्वेभ्यः सृष्टिः—एलक्ट्रान् (विद्युत्), जल (प्राक्ट्रान), न्यूट्रान (पृथिवी) परमाणुभ्यः सृष्टिः, ततो महाभूतानां, तेभ्यः स्थूलाकारप्रत्यक्षगोचर-जङ्गम-स्थावर-उद्-भिजोष्मजानां सृष्टिः ।

३. पञ्चभूतेभ्यः सृष्टिः—कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहितानुसारं तु आकाशा-द्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधिः, औषधेरन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः ।

४. अज्ञानात्सृष्टिः—अज्ञानरूपाया मायाया जगदाकारेणपरिणममानत्वात् अज्ञा-नादेव सृष्टिः । चैतन्यस्य ब्रह्मण आवरकत्वात्—

'अज्ञानेनावृतं देहं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'

५. ईश्वरात्सृष्टिः—ईश्वर एव सर्वस्य जगतः कारणं, तस्येच्छा रूपा शक्तिः, तया सर्वाः सृष्टीः करोति—

'तदैक्षत बहुस्यांप्रजायेम' तथा च गीतायाम्—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' ।।

६. **स्वभावात्सृष्टिः**—सर्वेषां जगज्जातानां स्वभावात्सृष्टिः, स्वभावतः पुष्प-फलादि-वस्तूनां धरणी-जलाग्नि-वायु-संयोगेभ्य उत्पत्तिर्दृश्यते, नहि कस्यापि वस्तुन उत्पत्यर्थं कश्चित्पृथिवी जलाग्नि-वायूनां संयोगं करोति, स्वभावादेव सर्वेषां संयोगः, ततोऽङ्कुरादि क्रमेण वृक्षलतादीनां यावद्वस्तूनामुत्पत्तिः, न कर्त्ता, करणं, कर्माणि, न साध्य-साधक-साधनानि, न प्रमाता, प्रमाणं, प्रमित्यादीनि भवन्ति।

७. **प्रकृतेः सृष्टिः**—सर्वेषां वस्तूनां जगद्रूपाणां सृष्टिः प्रकृत्या भवति, ईश्वरस्तु साक्षिरूपः—तथा च—'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्' श्वेताश्वतरोपनिषदि तु—

अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाम्।
अजो ह्येको जुष्माणानुशेते जहात्येनां भुक्त-भोगां नुमस्ताम्॥

शुक्ल (सत्त्वगुण) कृष्ण (तमोगुण) लोहित (रजोगुण) त्रिगुणात्मक सृष्टि-कारिणी प्रधाना जाया सृष्टेरुत्पादकत्वस्य भोग-त्यागकर्त्तुः पुरुषस्य च प्रतिपादकत्वात् अनेन सृष्टिजनिकायाः प्रकृतेर्मुख्यरूपेण विधानं दृश्यते। तथैव गीतायाम्—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कार विमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते॥

८. **दृष्टेः सृष्टिः**—अनेन मतेन यावज्ज्ञानं तावत्सृष्टिः, ज्ञानसमकालिकसृष्टि रिति यावत्, ज्ञानाभावात्सृष्टेरभावो दृश्यते।

९. **चिदात्मिका सृष्टिः**—चिद्-ज्ञानम् तदात्मिका सृष्टिः।

चिदचिद्विशिष्टा सृष्टिः—चित्=ज्ञानम्, अचित्=जडः, उभयविशिष्टा सृष्टिः अयम्भावः चिद्=ब्रह्म, अचित्=माया, प्रकृतिर्जडोवा, एतदुभयविशिष्टो जीवस्तदा-त्मिका सृष्टिः। एवमेव—

११. अद्वैतात्मिका सृष्टिः।
१२. द्वैतात्मिका सृष्टिः।
१३. द्वैताद्वैत विशिष्टा सृष्टिः।
१४. विशुद्धाद्वैतात्मिका सृष्टिः।
१५. शुद्धाद्वैतात्मिका सृष्टिः।

एवमादीनि सृष्टि-रचना-विषयकवचनानि वादि-प्रतिवादिभिर्विहितानि तत्र तत्प्रतिपादक समाधिकालानुभूत प्रत्यक्ष-गोचर वेदार्थप्रतिपादक सिद्धान्तरूपात्मिका भार-तीयपरम्परागत प्रचलित पौराणिक सृष्टेरुल्लेखः किञ्चित्संश्रितरूपेणेह क्रियते—
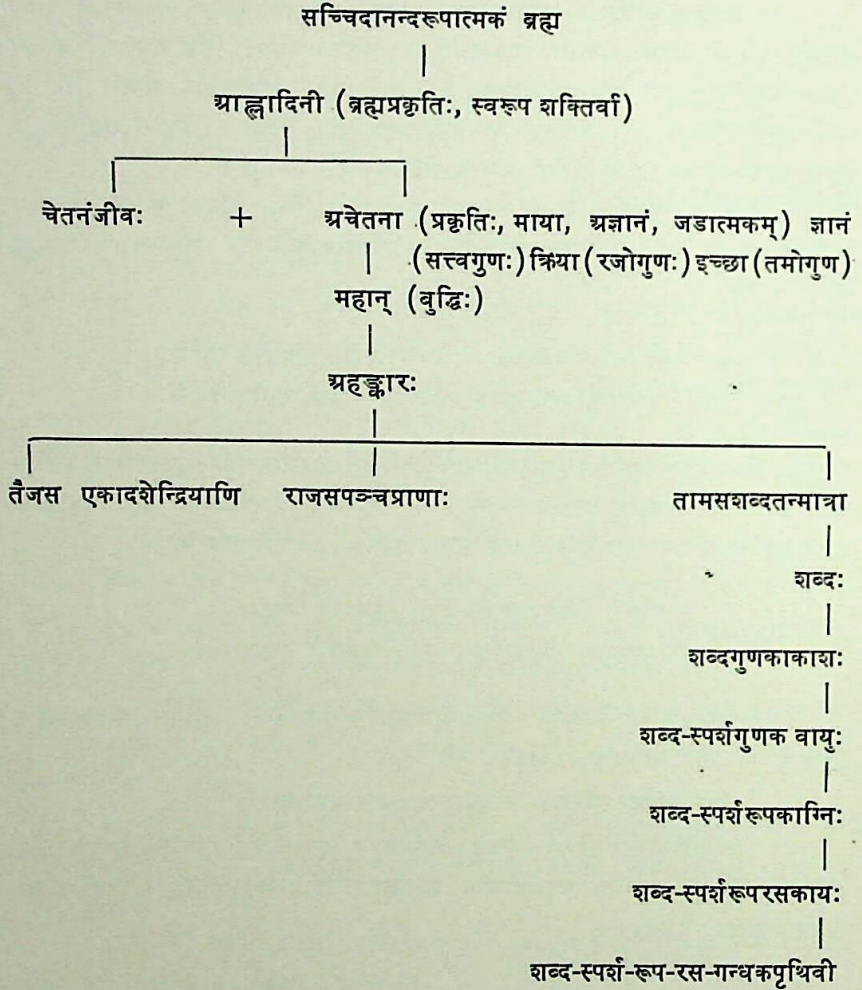
उपरिनिर्दिष्टशब्दादिक्रमेण इच्छात्मकतमोगुणप्रधानेन सूक्ष्मपञ्चभूतपरमाणूनामुत्पत्तिरुत्तरोत्तरा जायते, ततः पञ्चभूतात्मकपरमाणुद्वयसंयोगाद् द्व्यणुकादिक्रमेण स्थूलपञ्चभूतात्मक जगतां सृष्टिः। ततो हि ज्ञानरूपात्मकसत्त्वगुणप्रधानविष्णोः स्थितिकर्त्तुरुत्पत्तिः, ततः क्रियात्मकरजोगुणप्रधानब्रह्मण उत्पत्ति कर्त्तुरुत्पत्तिः, तत इच्छारूपात्मकतमोगुणप्रधानरुद्रस्य संहारकर्त्तुरुत्पत्तिः। एवं पञ्चमहाभूतात्मकस्थूलपृथिव्या ओषधिः, ओषधेरन्नं, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषाः, स्थावर-जङ्गमादि भेदेन जायन्ते, तेषु

चतुर्विधानां जीवानामुत्पत्तिर्ब्रह्मणा कृता। एवं क्रमेणसप्तमब्रह्मणा उत्पन्नसृष्टेः प्रायः सपादसप्तदश-लक्षाधिक (१७,३१,०००) वर्षानन्तरमूर्ध्वस्रोतसां भृग्वादीनां ब्रह्मर्षीणामुत्पत्तिः संजाता, तस्या विवेचनं पुराणेषु निम्नलिखितरूपेण दृश्यते—

वेदमूलक-पौराणिक-सृष्टि-विवेचना—

> अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमुत्तमम्।
> मन्वन्तरे सानुकथा विरोधो मुक्ति-साधनम्॥
> वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा॥
>
> श्रीमद्भागवतमहापुराण २।१०।१-२

पूर्वोक्ता सृष्टिश्चतुर्धा-प्राकृत-ब्राह्म-मानस वैजी-भेदात्।

१. **प्राकृतसृष्टिः**—प्राकृत-सृष्टेर्नाम सर्गः, यदाऽव्यक्त-प्रकृतिर्महदादिरूपेणव्यक्ता भवति, सृष्टेराधारभूतस्थूलमहाभूतपर्यन्तं जडात्मकसमूहा उत्पन्ना भवन्तः सन्ति, साऽवस्था प्राकृत-सृष्टेः प्रारम्भकालः, तस्मिन् काले प्रत्येकब्रह्माण्डस्य सृष्टिकर्त्तृ ब्रह्म-स्थितिकर्त्तृ-विष्णु-प्रलयकर्त्तृरुद्राणां प्राकट्यं न भवति, किन्तूक्तकार्याणि आह्लादिनी (ब्रह्मप्रकृतिः-) स्वरूपशक्तिर्वा) स्वकीयज्ञानशक्ति-(सत्त्वगुणात्मिका-)भिः, क्रियाशक्ति-(रजोगुणात्मिका-भिः, इच्छाशक्ति-(तमोगुणात्मिका-) भिः स्वयं करोति। यदायञ्चभूतेभ्य उत्पन्नब्रह्माण्ड-गोलकस्य खण्डद्वय भूत्वा ब्रह्म-विष्णु-रुद्राणां त्रिमूर्तिरूपाणां प्राकट्यं भवति तदा तस्य प्रतिसंज्ञा भवति, सेयं प्राकृतसृष्टिः सर्गरूपेति।

२. **ब्राह्म सृष्टिः**—प्रथमप्राकृतसर्गसृष्टिजननान्तरं द्वितीयायाः सृष्टेस्त्रिदेवानां दिव्यदृष्टेः प्रमौख्यादतीतानागतवर्तमानकालिकसम्पूर्णवस्तूनामुत्पत्ति-स्थितिलयविषयकज्ञानानि स्वत एव जायन्ते, इत्थं योगिनामनुभवः। ज्ञानशक्ति सत्त्वगुणप्रधान विष्णुना सृष्टिः रक्षा, क्रियाशक्तिरजोगुणप्रधान प्रधान ब्रह्मणोत्पत्तिः, इच्छाशक्ति तमोगुणप्रधान रुद्रेण सृष्टेर्लयो भवन्नस्ति। अनया रीत्या एकैक गुणप्रधान पुरुषाणामर्द्धाङ्गिनीशक्तयः क्रमशः लक्ष्मी-सरस्वती-कालिकारूपात्मिका व्यक्ताः। अर्थात् ब्रह्मप्रकृतिः, स्वरूपशक्तिराह्लादिनी वा लक्ष्मीरूपेण व्यक्ती भूत्वा विष्ण्वाकारेण, सरस्वतीरूपेण व्यक्ती भूत्वा ब्रह्माकारेण, कालीरूपेण व्यक्ती भूत्वा रुद्राकारेण परिणता, इत्यनेनाङ्गाङ्गीभावो व्यक्तः तेन लोकप्रसिद्धिः—अर्द्धाङ्गी पुरुषः, अर्द्धाङ्गिनी स्त्रीः।

३. **मानस सृष्टिः**—ब्राह्मीसृष्टेः पश्चात् प्रजापति-पिता-पितामहब्रह्मणां प्रजापतीनां सृष्टिर्मनः सङ्कल्पेन जाता, तथैव प्रजापति ब्रह्मर्षीणामपि मनः सङ्कल्पेन सृष्टिर्जाता, सकल विषयक ब्रह्म साक्षात्कृतधर्मशालिमहर्षीणां सर्वशक्तिमत्त्वात्, यतो हि ते योगिनः। उक्तप्रजापतीनां सन्तानेषु मनु-इन्द्र-सप्तर्षि-देव-पितृ-दिक्-क्षेत्र-

पालादि पदाधिकारिणो जाताः।

४. वैजी सृष्टिः—प्राकृत-ब्राह्मी-मानस सृष्टेः पश्चात स्त्री-पुरुष संयोगाज्जायमाना सृष्टिः वैजी, मैथुनी, चर्षिणी वा कथ्यते। प्राकृतसृष्टेरारभ्य वैजी सृष्टिपर्यन्तं पञ्चमहाभूतात्मक चराचर दृश्यजगतः सृष्टिः।

काश्यप-कणाद मुनि प्रणीत वैशेषिकदर्शनस्य १।१।४ सूत्रानुसारेण धर्मविशेषात्पदार्थानामुत्पत्तिः, तथा हि—

'धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां-तत्त्व-ज्ञानानिः श्रेयसाधिगमः'। स च धर्मः श्रीमद्भागवत महापुराणस्य पञ्चम स्कन्धे गद्यानुसारेणेश्वरसाक्षात्करणमेव, तथा हि—

'परपुरुषसाक्षात्कृतो योऽसौ धर्मः;'
तेनैवाभ्युदय-निःश्रेयसौ भवतः। तथा च वैशेषिक दर्शनम्
'यतोऽभ्युदनिःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः' १। १। २

सदैव कल्पान्ते चेतनाचेतन भेदेन द्विविधासृष्टि जायते, अयञ्च श्वेतवाराहकल्पः, स च सप्तम ब्रह्मणः पञ्चाशद्वर्षोत्तर सप्तम द्विवसात्मकः, तथा हिं वायुपुराणस्योपोद्घातपादस्य २१। १२ श्लोकानुसारेण—

आसीत्तु सप्तमः कल्पः पद्मो नाम द्विजोत्तम।
वाराहः साम्प्रतं तेषां तस्य वक्ष्यामि विस्तरम्॥

तथैव वायुपुराणस्य २३। ११४ श्लोकेनाप्युक्तम्—

ततस्तस्मिं तदा कल्पे वाराहे सप्तमे प्रभो।

हरिवंशे ब्रह्मणः संख्या तु विशेषरूपेण प्रतिपादिता—

यदिदं सप्तमं जन्म पद्मजं ब्रह्मणो नृप।

एतेन ब्रह्मणः षड् जन्मनामन्ते सप्तमं जन्मेति समायातम् तस्यायं सप्तमो वाराहकल्पः, तस्मिन्कल्पे स्थूलपृथिव्यानाशे जलशायिविष्णुर्जलेशेते—मार्कण्डेय पुराणे—

योगनिद्रां यदा विष्णुर्जगदेकार्णवीकृतः।
आस्तीर्य शेषमभजत्कल्पान्ते भगवान् प्रभुः॥

सप्तमकल्पेष्वपि प्रथमस्वायम्भुव मन्वन्तरे सृष्टिरियं जाता, तथा हि वायु-

पुराणस्योपोद्‌घात पादे ३० । १ श्लोके—

ब्रह्मणः सृजतः पुत्रान् पूर्वे स्वायम्भुवन्तरे।

तत्पुराणस्यैव ६२ । २० श्लोके देवादीनामुत्पत्तेश्चापि परिचयः—

ऋषीणां देवताः पुत्राः पितरो देवसूनवः।

स त्रिपादर्त्रिशकोटिवर्षाधिकमन्वन्तरस्यसत्त्वात्कस्मिं युगे ब्रह्मपुत्राणामुत्परिति-प्रश्नस्य समाधानं वायु पुराणस्योपोद्धातपदस्य ५९ । ३९ श्लोके विहितम्—

तत्र त्रेतायुगस्यादौ मनुः सप्तर्षयश्चये।
श्रौतं स्मार्त्तञ्च धर्मञ्च ब्रह्मणा च प्रचोदितम् ।।

अर्थात् सप्तम वाराहकल्पस्य प्रथमस्वायम्भुवमन्वन्तरस्य प्रथम कृतयुग (कृतः प्रारम्भः प्रथमो युगः तस्य) स्य १७, ३१ सहस्र वर्षान्तिरं भृग्वादि ब्रह्मर्षीणां जन्म, तस्मिन्काले श्रौत धर्माणां प्रतिपादका महर्षयः, स्मार्त्तवर्णाश्रमाचार धर्माणां प्रतिपादकः स्वायम्भुवोमनुरभूत्, तथाहि—

दाराग्निहोत्र संयोगमृग्यजुः सामसंज्ञितम्।
इत्यादिलक्षणं श्रौतं धर्मं सप्तर्षयो विदुः।।

स्वायम्भुवो मनुना प्रथम सम्राट् पदभाजा राजर्षिणा तु—

परम्परागतं धर्मं स्मार्त्तञ्चाचारलक्षणम्।
वर्णाश्रमाचारयुतं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।।

मनु-ऋषि-देव-देवेन्द्र-पितरो वैदिकमन्त्रद्रष्टारोऽभुवन्; तथाहि—

आदिकल्पेषु देवानां प्रादुर्भूतास्तु ते स्वयम्।५९।४३
सप्तर्षीणां मनोश्चैव आद्ये त्रेतायुगस्य तु।

सर्वस्मिन्कल्पेऽन्ते चेतना-चेतन-भेदेन द्विविधा सृष्टिर्जाता, न्यायदर्शन शास्त्रे द्रव्यादि षट् पदार्थेषु सर्वेषां पञ्चपदार्थानामन्तर्भावः, सांख्ये प्रकृतौ, वेदान्ते तु ज्ञानात्मनि सच्चिदानन्दे सर्व पदार्थानां चराचरजगतामन्तर्भावः, तज्जन्यत्वात्सर्वेषाम्। अत्र द्रव्यान्तर्गतत्वादन्येषां पदार्थानां तस्यैव विचार प्रारभ्यते।

१. चेतनम्—यस्मिन् चेतनादि क्रिया तच्चेतनम्, यथा मनुष्य-पशु-पक्षी-मृग-वृक्ष-लता-गुल्मादयः। यस्मिश्च ज्ञान क्रियादीनामभावस्तदचेतनम्—प्रस्तरादयो-यथा, इत्थं सचेतनाचेतन भेदेन द्रव्याणां द्विविधा सृष्टिः मार्कण्डेयपुराणानुसारेण अचेतना सृष्टेराकाशादिक्रमेण पृथिव्यन्तस्याविर्भावः, ततः सचेतना सृष्टेरभिव्यक्तिः।

२. सचेतना सृष्टिस्त्रिधा-अन्तश्चेतन-बहिश्चेतनोभयचेतन भेदात्।

(क) अन्तश्चेतनं—वृक्षलतागुल्मादयः।

वृक्ष-गुल्मं बहुविधं तथैव तृण जातयः।
तमसा धर्मरूपेणच्छादिता कर्म हेतुना।
अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः॥

इति स्वायम्भुवमनुनाप्रतिपादिता भृगुमहर्षि लिखिता 'मनुस्मृतिः'। आयुर्वेदिक चरक संहिता सूत्रस्थानस्य १। ४८ सूत्रेऽपि—

'सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्' इत्युक्तम्।

(ख) बहिश्चेतनम्—पशु-पक्षि-सर्पादयः, तेषां बाह्यविषयक ज्ञानस्यैव सर्वदा वर्त्तमानत्वात्।

(ग) उभयचेतनम्—मनुष्या ब्रह्मज्ञानि भृग्वादिमहर्षयः, सनकादि कौमाराः। पृथिव्या उत्पद्यमाने सति लता-गुल्म-वृक्ष-पशु-पक्षि-सर्पादीनामुत्पत्तिः, ततः सनकादीनां सृष्टिः, ततो रुचि-अथर्व-कर्दमादीनामुत्पत्तिः, एतावत्कालपर्यन्तं प्रथम कृतयुगस्य (१७, ३१०००) समयो गतः ततः प्रथम त्रेतायुगस्य (१२,९९९) समयस्यारम्भः, तस्य प्रारम्भे ऊर्ध्व स्रोतसां स्वायम्भुवमनुभृग्वादिमुनीनामुत्पत्तिः। सोवर्त्तमानकालः प्रथम स्वायम्भुवमनोरासीत्। सन्धि-सन्ध्यांशसहित प्रत्येकमनोः (३०,६७,९१०००) समयो भवति। श्रीमद्भागवत महापुराणानुसारेण 'साधिका ह्येकसप्ततिः' मनोः कालः। अर्थात् सप्ताधिक सप्ततियुगो मनोः कालो भवति, तेन वर्त्तमानश्वेतवाराहकल्पस्य सप्तम वैवस्वत श्राद्धदेव मनोरष्टाविंशतितमकलियुगस्य ५०६९ वर्ष पर्यन्तं (विक्रम संवत् २०२५) वर्त्तमान सृष्टेः १,९७,१९,७९,३०७ वर्षाणि भवन्ति।

एतावत्कालेषु भृग्वादि प्रजापत्यर्षयः, तेषां पुत्रा ऋषयः, तेषां पुत्राः देवाः, तेषां पुत्राः पितरोऽपि तेषामधिपतिरिन्द्राः वेदमन्त्रस्य समाधिष्ठमन्त्रद्रष्टारऋषयोऽभूवन्, यत्सूक्तानां मन्त्राणां वा द्रष्टार ऋषयस्तेषां चरिते तत् तत्सूक्तानां मन्त्राणां वा ऽर्षीनां पुराणेषु वर्णनं दृश्यते, तथैव ब्राह्मणारण्ययोः पूर्वोक्तर्षीणामपि कालस्य परिच्छेदो मन्वन्तरारम्भादेव तत्-तद् युगेषु दीयते। अन्यत्र प्रक्षिप्तमतिं परित्यज्य प्रकृतिमनुसरामः—

प्रथम सृष्टौ चेतनायाः स्फुटपूर्णाभिव्यक्तिर्नभवति—जीवनसंवेदना स्फुट-प्रच्छन्-रूपेण प्रचलति, द्वितीय सृष्टौ चान्तश्चेतनायाः बाह्याभिव्यक्तिरपि स्फुट-पूर्णरूपेण-भवति, यथौद्भिद्जङ्गमौ।
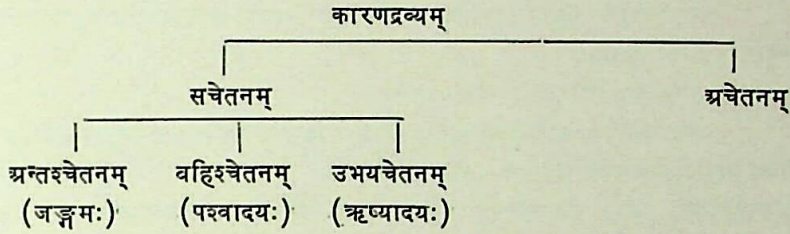
वस्तुतस्तु प्रथमसर्गदशायामाह्लादिनी शक्तिः (ब्रह्मप्रकृतिः स्वरूपशक्तिर्वा) निर्गुणं ब्रह्मं सगुणं करोति, तस्या ज्ञान-क्रियेच्छात्मिकानां सत्त्व-रज-स्तमोगुणानां शक्तीनां दर्शन-पुराणदौ सत्त्व-रजस्तमोगुणशब्देन व्यवह्रियते, अस्य त्रितयसमुदायस्य साम्यावस्था प्रकृतिः, मूलप्रकृतिर्वा प्रधानं कारणमव्यक्तं माया वेति कथ्यते, ततो विराण्नामक सृष्टिः प्रारम्यते । पञ्चमहाभूतै निर्मित ब्राह्मण्ड-पिण्डयोरात्म प्रकृत्योः (चेतन-जडयोः) ग्रन्थी जीवो भवति ।

सृष्टिविषयकाचार्यव्याख्यानम्—

वर्त्तमान श्वेतवाराह कल्पस्य सप्तम वैवस्वतमन्वन्तरस्याष्टविंशतितमत कलियुगस्य ४२६७ वर्षे जायमान शङ्कराचार्यादारभ्य विक्रम संवदि १८ शततमे जायमान वल्लभाचार्य पर्यन्तं पूर्वकालिकाष्टाविंशतितमद्वापर युगस्य सन्ध्याकाले जायमान वशिष्ठ प्रपौत्रस्य, शक्ति पौत्रस्य, पराशर पुत्रस्य व्यास कृष्णद्वैपायनस्य वेदान्त सूत्रस्य व्याख्यानं कुर्वन्तोऽनेके सम्प्रदायाचार्याः जाताः, न्याय-मीमांसा-सांख्य-वौद्ध सम्प्रदायाचार्याश्चापि ख्यातिवादांश्च प्रतिपादितवन्तः, तेषां नामपुरसरोल्लिखोऽधः क्रियते—

संख्या आचार्यः	ख्यातिः	वादः
१. योगाचार्यः	असत्ख्यातिः	विभेदवादः
२. माध्यमिकः	सर्वासत्ख्यातिः	विभेदवादः
३. सौत्रान्तिक-वैभाषिकौ	आत्मख्यातिः	विभेदवादः
४. प्रभाकरः	अख्यातिः	भेदवादः
५. कपिलः	सत्ख्यातिः	अभेदवादः
६. शङ्करः	अनिर्वचनीयख्यातिः	अद्वैतवादः
७. निम्वार्कः	साकार ख्यातिः	भेदवादः
८. माध्यमिक-कुमारिल-नागेशः	सदसत्ख्यातिः	भेदाभेद-अचिन्त्यभेदवादः
९. वल्लभः	अन्यथा ख्यातिः	भेदवादः
१०. न्याय-वैशेषिकौ	असत्ख्यातिः	विभेदवादः
११. आयुर्वेदः	सत्ख्यातिः	अभेदवादः

नवधा ख्याति षट्धा वादभेदेन विप्रतिजनक विचारा आचार्यैर्दर्शिताः, तज्ज्ञानञ्च तदुक्त ग्रन्थेभ्यो ग्राह्यम् ।

सृष्टेर्व्यवस्थाकारक देवास्तत्कालश्च—

ज्ञानशक्त्यात्मकसत्त्वगुणप्रधानो विष्णुः क्रियाशक्त्यात्मकरजोगुणप्रधानो ब्रह्म-उञ्छाशक्त्यात्मकतमोगुणप्रधान-रुद्रयोरुत्पत्तिस्थित रूपाणि कार्याणि नियन्त्रितरूपेण सञ्चालयित, येन सुव्यवस्थित समये जगतामुत्पत्ति-स्थिति-लयानां सञ्चालनं भवति । उक्त त्रिदेवाधिमूर्त्तीनां कालः सप्तमब्रह्म कथनाद् विक्रमाब्दपूर्वः प्रायः ८७ नील ७९ खर्व ७६ अर्बुद ५८ कोटि ९ लक्ष १ सहस्र ४ संख्याक मानववर्षः समायाति । भारतीयपरम्परानुसारेण स्थूलसंसारस्योत्पत्तिर्ब्रह्मणैव जाता । अयं सप्तमो ब्रह्मा, तस्य पञ्चाशतवर्षोत्तर सप्तमकल्पस्य श्वेतवाराहस्य (दिवस एव कल्पः) द्वितीयपरार्द्धो गच्छति, तेन विक्रमाब्दात्पूर्वः १,८५,१४,२८,५६२ वर्ष ६ मास २३ दिन ३४ घटिका १२ पल ६ विपलात्मकः समायाति । विस्तृतन्तु 'भारतवर्ष का प्रामाणिक इतिहास' नामक ग्रन्थे प्रपञ्चितम् ।

पाठकाः ! इदानीं ब्रह्म-विष्णु-रुद्रविषये स्वं स्वं ज्ञानं केन्द्रितं विधाय विश्वेतिहास्य सूत्रपात इत्यत एव प्रारभ्यते, इत्यतो भारतीयसंस्कृति-सभ्यता-समाज-राज-नीति-धर्म-कर्म-वर्णाश्रमाचार-व्यवस्था-साहित्यानां सर्जनमप्यभूवन् ।

मधुरभक्तौ विहङ्गमदृष्टिः

पण्डितश्री कृष्णमणि त्रिपाठी

विविधकण्टकाकीर्णं संकीर्णं वर्त्म विहाय परिष्कृतेन घण्टापथेन संचरिष्णूनां रसविदां विपश्चितां मतेन 'रसो वै सः, रसं लब्ध्वा ह्यानन्दी भवति' इति श्रुत्यनुसारं स्वरूपतटस्थ लक्षणलक्षितो ब्रह्मपरमात्मेत्यादिपर्यायो भगवानेवास्ति रसः तमेव साक्षात्कृत्य स्वल्पानन्दोजीवः प्रशस्तानन्दो भवतीतिपरमपुरुषार्थप्रापकतया देवर्षिणा नारदेन ज्ञानकर्मयोगेभ्यो भक्तिःश्रेष्ठतमा स्वीकृता।

नित्यकर्मानुष्ठानाद् विशुद्धेऽन्तःकरणे श्रवणकीर्तनादिना भवति भगवति प्रेमोद्भव इत्यभिलक्ष्य विपश्चिदग्रेसरो यतिवर्यः श्रीमधुसूदन सरस्वती भक्तिरसायने सपरिकरं सोपपत्तिकं च भक्तिरसं व्यवतिष्ठियत्।

भारतीयप्रेमपद्धतौ प्रेम अनेकेषु रूपेषु अभिव्यक्तं भवति—मित्रयोः परस्परं प्रेम, पतिपत्न्योरन्योऽन्यं प्रेम, पितापुत्रयोरितरेतराश्रयं प्रेम, गुरुशिष्ययोः मिथः प्रेम। प्रेमप्रेरितः पित्रादिः यथा स्वसन्ततिं प्रेम्णा पालयति, पोषयति, सर्वतोऽभिरक्षति च तथैव भगवानपि भक्तप्रेमाभिभूतो भक्तान् पालयति, तेषां हितं विधत्ते, निरन्तरं च तदर्थं चिन्तयति। यथा पर्वतीयोच्चावच पाषाण प्रदेशेषु मेघात् निर्गतं वर्षाजलं शिलाखण्डैः संघट्टमानमितस्त उपढौकमानं यावत् समतलभूमौ तोपतिष्ठते तावन्न निर्मलं नापि स्थिरं भवति तथैव जीवोऽपि प्रभुपादपद्मतः पृथग् भूत्वा विभिन्नासु योनिषु बंभ्रम्यमाणोऽनेकान् क्लेशान् सहमानो विविधाश्च यातना अनुभवन यावत् प्रभुपादपद्मं नोपतिष्ठते तावत् तस्य पाप-तापयोः शान्तिर्न भवति। अतः स आनन्दधामानं परमात्मानं प्राप्य आनन्दरसमनुभवितुमहर्निशं प्रयतते।

देवर्षिणा नारदेन भगवति परमप्रेमरूपा भक्तिः स्वीकृता, महर्षिणा शाण्डिल्येन ईश्वरे अनन्यानुराग एव भक्तिः प्रोक्ता। तथात्र तत्सूत्रम् 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा, अमृततत्वरूपा च' (नारद भक्तिसूत्रम् २-३) 'सा परानुरक्तिरीश्वरे (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र १, २) तस्मात् परमप्रेमास्पदस्य भगवतः प्राप्तये तत्र मधुरं प्रेमैव पर्याप्तं भवति। अतस्तदर्थमनादिकालतो विषयासक्तस्य जीवस्य मधुरभक्तिरेवास्ति परमं साधनं सर्वतः सरलश्चमार्गः।

यद्यपि मध्ययुगो ह्रासस्य युगो निगद्यते अथापि भक्तिसाधन-साहित्य-

दृष्ट्याऽप्यमुत्कर्षस्य युगोऽङ्गीक्रियते तज्ज्ञैः । युगेऽस्मिन् भारतस्य सर्वेषु भागेषु तत्त्वज्ञानिनो दार्शनिकाः मननशीला विचारकाः, उच्चकोटिकाः, साधकाः वीतरागाः महात्मानः, भगवद्भक्ताः सन्तश्च प्रादुरभवन् । न केवलं शास्त्रवेत्तारो विद्वांस एव अपितु अनधीतशास्त्रा अपरिचिताक्षरा अपि अनुभविनः सन्तो महान्तश्च भगवद्भक्ति-विषये शास्त्रसम्मतान् स्वानुभूतिनिर्भरान् स्वतन्त्रान् विचारान् वा उपस्थापितवन्तः। फलतः तदानीं योग-तन्त्र-साधनोपासनार्चनादयो विविधा मार्गा दृष्टिगोचरता-मागताः ।

त्रिविधायाः श्रौतस्मार्तागमोपासनायाः सूक्ष्मतमा वृहद्धारीतस्मृतौ समुपलब्धावपि संहिताग्रन्थेषु आराधनाप्रक्रियायाः सविस्तरो विचारो जातः । अत्रिसंहितानुसारं साधानाया द्वे प्रक्रिये स्तः—एका अमूर्तोपासना द्वितीया च समूर्तोपासना प्रक्रिया । तत्राग्नौ आहुतिप्रक्षेपमाध्यमेन क्रियमाणोपासना अमूर्तो-पासना निगद्यते, प्रतिमादिपूजननं च समूर्तोपासना कथ्यते ।

मध्यकालीन वैष्णवसम्प्रदाये मधुरभक्तेः प्रथममुदयो जातः दाम्पत्य प्रेम-वर्णनं माधुर्यभाव स्यास्ति मूलं स्रोतः । ऋग्वेदीयमधुविद्यायाः अथर्ववेदीय मधुलता-याश्च प्रतिपाद्यास्ति मधुरोपासनोति केषाञ्चिन्मतम् ।

वैष्णवभक्तौ माधुर्योपासनाभावस्य मूलान्वेषणे क्रियमाणे तेष्वेव स्रोतःसु अवगाहनं समीचीनं प्रतीयते येषु मधुराया भक्तेः तत्त्वं स्पष्टतो लक्ष्यते । पाञ्च-रात्र संहितासु ज्ञानपाद-योगपाद-क्रियापाद-चर्यापादाख्या चत्वारः पादाः विद्यन्ते । तत्राद्ये ज्ञानापादे ब्रह्म-जीव-जगत्सम्वन्धिनां सिद्धान्तानां निरूपणं विद्यते, द्वितीये योगपादे यौगिक प्रक्रियाया विवेचनं वर्तते, तृतीये क्रियापादे मन्दिर-मूर्तिनिर्माण-स्थापन-पूजनादि-विधीनां समावेशोऽस्ति, चतुर्थे च चर्यापादे सगुणोपासनायाः प्रामुख्यं दृश्यते। जयाख्यसंहितायां समूर्तार्चनस्य विस्तारो विद्यते । अहिर्वुध्न्यसंहितायां वर्णित षड्विधा शरणागतेः मधुरभक्तेः पूर्वावस्थिते प्रपत्तेः पुष्टेर्वा परिचयं उपलभ्यते । ज्ञानामृत संहितायां प्रभोः सेवायाः स्मरणं-कीर्तनं-प्रणतिः-पादवन्दनम्-अर्चनं-समर्पणं-चेति षड्विधयो वर्णिताः सन्ति । तत्प्रसंगे भगवतः श्रीकृष्णस्य तत्प्रणयिनीनां गोपीनां च प्रचुरं प्रेम प्रदर्शितमस्ति। मध्ययुगस्योत्तरभागे पाञ्चरात्रसंहिता अनु-सरन्त्यो नृसिंहतापिनी-रामतापिनी-गोपालतापिनीत्यादि नाम्ना अनेका उपनिषदोऽपि दृष्टिगोचरतामागताः ।

श्री स्वामिशङ्कराचार्य-अप्पयदीक्षिताभ्यां पाञ्चरात्रसंहितानां वर्ण्यविषयान् विविच्य तासामवैदिकत्वमुद्घोष्य तत्प्रतिपादित पद्धतेः उपेक्षित्वं प्रतिपादितम् । तत्परिणामतः श्रीशङ्कराचार्यस्य विरोधे विशिष्टाद्वैतमत प्रवर्तकेन श्री रामानुजा-चार्येण पाञ्चरात्रसंहितासिद्धान्तस्य वेदवत् प्रामाण्यमङ्गीकृत्य साटोपं तत्समर्थनं

कृतम् । पाञ्चरात्रमते क्रियाचर्यातिरिक्ता प्रेममाधुर्ययोरपि स्वीकृतिरस्ति। मध्ययुगे शैवशाक्त मतयोरपि प्रभावः चरममुत्कर्षमुपगत आसीत। शासक वर्गेऽपि वैष्णवमतापेक्षया शैवमतानुयायिनोऽधिका आसन् । शैवागम शाक्त तन्त्रशासनपद्धतेः आंशिकः प्रभावेऽपि माधुर्यभावस्य राधातत्त्वे बहुभिर्विद्वद्भिः प्रदर्शितः।

शैवेषु भक्तेषु शिवभक्ते यादृशी कल्पनास्ति शाक्तेषु च त्रिपुरसुन्दर्याः यद्रूपमुपवर्णितं तादृगेव वर्णनं राधाभावेन गोपीभावेन च बहुल उपलभ्यते । युगल तत्त्वस्य मूल बीजानि, शैवसाधनसरणिषु दृश्यन्ते । तन्त्रे भगवान् श्रीकृष्णः कामबीजात्मकः, राधादेवी च रति बीजात्मिका प्रोक्तास्ति। बौद्धतान्त्रिक समाराधनाया अपि मधुरभक्तिविकासे अप्रत्यक्षो योग आसीत् । दक्षिणभारतीयालवारभक्तानां मनोमुग्धकारिषु गीतेषु मधुरभक्तेः सुन्दरं रूपं दृश्यते । सूफीमतसाधकेष्वपि मधुरभक्तेश्चमत्कारो विलोक्यते।

राष्ट्रभाषायाः हिन्द्या मध्यकालीन निर्गुणधारायां सन्तकवीनामभिव्यक्तिषु अपि माधुर्यस्य प्राचुर्यं दृष्टिगोचरी भवति । दाम्पत्यसम्बन्धरूपकेषु मधुरभक्तेः बाहुल्यन्तु दादू-कबीर-नानकादिषु साधकवरेषु समुपलभ्यते । निर्गुणो पासकाना सन्तकवीनां माधुर्यभावस्य मर्यादारूपे दृढो विश्वास आसीत् । सन्त कवीरस्तु आत्मनं रामस्य वधूं मत्वा अमन्दनानन्दमनुभवति स्म। एवं सत्यपि उच्छृङ्खलं प्रेम अनैतिकाचरणस्य वर्णनं च एतेषां सन्तकवीनां न दृश्यते । कौलकापालिक-पाशुपतादि मतेषु साधनावर्णनप्रसंगे नारी-पुरुषमाध्यमेन मधुरभावस्याभिव्यक्तिर्दृश्यते । परिवर्तिनि सहजियासम्प्रदाये तु मधुरभावः परकीयाभावमाध्यमेन चरमं सीमानमुपगतं वर्तते।

इत्थं पाञ्चरात्रसंहितातः आरभ्य सहजिया सम्प्रदायसाधनापद्धतिपर्यन्तं मधुरभक्तेः उपकरणानां चयनमुपलभ्यते। मधुरभक्तेः शास्त्रीयरूपस्य विकासस्तुचैतन्यमतानुयायिनां वृन्दावनस्थानां ग्रन्थैरेव षड्गोस्वामिनां जातः। तेषां ग्रन्थप्रणयनमूल प्रेरकः स्वयं चैतन्यमहाप्रभुरेवासीत्। तेन तु स्वयमहर्निशं श्रीकृष्णलीलायां निमग्नतैव स्वीकृतासीत्, किन्तु तद्भक्तानां कृते शास्त्रीयसुदृढाधारेण मधुरभक्तेः शास्त्रीयं पक्षं प्रतिपाद्य तस्याः समुज्ज्वलं रूपं समुपस्थापयितुं गोस्वामिवर्या प्रेरिताः।

महाप्रभो प्रेरणामवाप्य तैः चैतन्यमतानुयायिभिः विद्वद्भिः न केवलं मधुरभक्तेः रूपरेखैव प्रस्तुता, प्रत्युत तस्याः बाह्यमाभ्यन्तरञ्च रूपमपि सर्वाङ्गपूर्णं परिकल्पितम्। एकतस्तैः तस्मै शास्त्रीयं रूपं प्रदत्तमन्मतश्च तत्सिद्धये शास्त्रतो दर्शनश्च प्रचुराणि प्रमाणानि उपस्थाय सुदृढान् तर्कांश्च संगृह्य स्वस्वग्रन्थेषु साहित्यिकाधारेण भक्तिरसरूपे प्रतिष्ठापिता मधुरभक्तिः, यत्र श्रीमद्भागवतादिपुराण—महाभारत—नारदभक्तिसूत्र—शाण्डिल्यभक्तिसूत्रादीनामपि पर्याप्तं योगदानं दृश्यते।

वस्तुतोः रूपगोस्वामि-सनातनगोस्वामिनोः प्रगल्भया प्रतिभया, प्रखरेण

पाण्डित्येन, सूक्ष्मया समीक्षणधिया च चैतन्यमतस्य धार्मिकं दार्शनिकं साहित्यिकं च स्वरूपं प्रकाशे समागतम्। पञ्चमपुरुषार्थ भक्तिरसनिरूपणे गोस्वामिनां योग-दानं सर्वाभ्यर्हितं महत्त्वपूर्णं चास्ति। भक्तिरसामृतसिन्धौ रूपगोस्वामिना तर्कसम्मतया शास्त्रीयपद्धत्या सप्रमाणं भक्तेः रसरूपता प्रतिपादिता। उज्ज्वल नीलमणौ च मधुरभक्तेः शास्त्रीयं निरूपणं कुर्वता राधाकृष्णयोः परस्परं प्रेम पर्यालोचनप्रसंगे विभावानुभावसञ्चारिभावनामङ्गोपाङ्गैः सह भक्तिरसो रसपदे प्रतिष्ठापितः। दानकेलिकौमुद्यां च श्रीकृष्णविषयिणी भक्तिः मनोरमया युक्तया प्रसाधिता। भक्ति-रत्नाकारस्तु अन्वर्थनामैवास्ते यत्र साङ्गोपाङ्गा भक्तिविषयाः सविस्तरं समुपस्था-पिताः सन्ति। जीवगोस्वामिनस्तु भक्तिरसामृतसिन्धौः अन्वर्थनाम्नीं दुर्गसंगमनीं टीकां कृत्वा वस्तुतो दुर्गमानि मूलस्थलानि समजीगमन्।

एवं वेदादुद्भूता उपनिषद्भ्यः स्पष्टमग्रेसरन्ती, अमूर्तं मूर्तवन्ती, भगवद्गुणलीला-धामचरितानि च चर्चयन्ती, तदर्चनादिविधानं बोधयन्ती पौराणिकी भगवद्भक्ति-विचारधारा मध्यकालीनानां महात्मनां विद्वद्धौरेयाणां च बुद्धिषु विशदतया अभिनवरूपेण परिणता सती शैव-शाक्त-वैष्णवादिधारासु प्रसृता। तदानीन्तनानां भक्तकवीनां हृदय-पटलेषु काव्यप्रवृत्त्या सह भक्तिप्रवृत्तिरपि जागृता या शनैः-शनैः संस्कृतप्रणयिभिः हिन्दीप्रेमिभिः अन्यभाषाविज्ञैश्च विपश्चिद्भिः विवेकपूर्णो विपुलो विचारः प्रस्तुतः, येन भव्या भक्तिस्रोतस्विनी भारतीय जनमानसं भगवदुन्मुखं विदधाना संस्कृत-प्राकृत-पाली-अपभ्रंश-हिन्द्यादिभाषाद्वारा प्रस्फुटिता जाता। साधकैः अनुभूतेः यस्मिन् उच्चशिखरे ब्रह्मानन्दस्योपलब्धिः कृतः तस्यैवानिर्वचनीयस्यानन्दस्याभिव्यक्तिः भक्त-कवीनां रचनासु अपि उपलभ्यते।

यद्यपि भक्ति सम्बन्धिनी रचना प्राचीनसाहित्येऽप्युपलभ्यते तथापि मध्य-कालीनभक्त कवीनां कृतिषु यथा निपुणतया, तल्लीनतया एकात्मतया च भक्ति-भावनायाः यादृशं विविधं मनोरमं रूपं व्यक्तीभवति न तादृगन्यत्रोपलभ्यते। युगेऽस्मिन् प्रधानतया हिन्दी साहित्यक्षेत्रे भक्तिविकासाय निर्गुणकबीर—सूफी-जायसी — कृष्णभक्तसूरदास — रामभक्तगोस्वामितुलसीदास प्रभृतीनां महत्त्वपूर्णं योगदानं जातम्। अतएव हिन्दीसाहित्यस्यायं कालो भक्तिकाल इति नाम्ना व्यव-ह्रियते। भक्तिकालोऽयमादौद्वयोर्धारयोः विभक्तो यत्रैका निर्गुणधारा द्वितीया च सगुण-धारा कथ्यते। इमे द्वे अपि धारे पुनःद्वयोर्द्वयोर्धारयो विभक्ते स्तः। तथात्र निर्गुण-धाराया ज्ञानाश्रयी प्रेमाश्रयी चेति द्वे शाखे जाते। सगुणधारायाश्च रामभक्तिः कृष्णभक्तिश्चेति नाम्नयौ अपि द्वे शाखे अभूताम्। तत्र ज्ञानाश्रीशाखाया प्रमुखः प्रतिनिधिः कविः कबीरोऽस्ति, प्रेमाश्रयी शाखायाश्च मलिकमुहम्मद जायसी। एवं यत्र कृष्णकाव्यस्य प्रातिनिध्यं कविवरः सूरदासः करोति तत्र रामभक्ति-

काव्यस्य च गोस्वामितुलसीदासः। एवं पारसीक-बौद्ध-जैन-ईसाई-इस्लाम धर्मेषु अपि भक्तिप्रणालीनां प्रचुराचर्चास्ति। स्वेष्टदेवताराधनं विना न कैश्चिदपि सम्प्रदायैः नवा कैश्चित् पुरुषैः उत्कर्षमवाप्तुं शक्यते। अत एव विश्वस्मिन् सर्वेषुस म्प्रदायेषु स्वस्व-विश्वासानुसारं विभिन्ना भक्तिसम्बन्धिनो विशेषा दरीदृश्यन्ते।

भगवन्नामगुणादि श्रवणं भक्तेरस्ति आरम्भकं सोपानं यद्धि यदा कीर्तनस्मरणादि-सोपानान्तरे नयत आत्मनिवेदनद्वारा साधकं भगवत्पादपद्मे प्रापयति, तदा स कृतकृत्यो भूत्वा लोकातीतं पूर्णं सुखमनुभवति।

मधुरभक्तिमार्गो हि न लौकिक जीवनमुपेक्षते अपि तु लोकवासनां स्वीकृत्य तस्याः मार्जनं संशोधनं विशुद्धिरुन्नयनं वा प्रक्रियया अनया क्रियते। अस्याः प्रधानं लक्ष्यं सांसारिकव्यवहार स्वीकृतिपूर्वकं मानवमनसि अनुद्बुद्धानन्दोद्बोधनमेवास्ते। यथा साधकवर्ग इन्द्रियदमनेन अन्ते भगवत्प्रेमैव प्राप्यते तथैव माधुर्यभावस्य साधको-ऽपि तदेवाभिलक्ष्य तत्र प्रवर्तते। क्रियमाणैरप्यनेके प्रयासे मानवो मनोगतां कामवासनां न सहसा सर्वथा समुच्छेतुं पारयति। अतः तां साधनं विधाय तस्या उन्नयने मार्जने संशोधने च प्रवर्तते। अत एव शाक्तैः, तान्त्रिकैः, बौद्धैः, जैनैः, ईसाई-सूफी मतानुयायिभि विभिन्नैः साधकैरपि काममतिरस्कृत्य मधुरभक्ति द्वारा तं दिव्यप्रेम्णः उदात्तभूमौ शनैः-शनैः प्रतिष्ठाप्य तस्य संशोधनाय विशुद्धये उन्नयनाय च महान् प्रयासो विधीयते। वस्तुतो मधुरभक्तौ यस्योदात्तभावस्य कल्पनास्ति न तत् यौनेन सम्बन्धेन समुद्भूतं कामेच्छा परकं प्रेम अभिधातुं शक्यते। यतो लौकिके कामजन्ये प्रेम्णि स्वसुखस्य प्रमुखं प्राधान्यं तिष्ठति न तत्र प्रियतमस्य सुखेनसुखित्व-मपेक्षितं भवति, किन्तु भगवति उत्कटं प्रेम स्वसुखविवर्जितं तत्सुखप्रधानमेव भवति। न तत्र स्वसुखस्य कापि कल्पनाक्रियते, किन्तु मनोवाक्कायकर्मभिःसमाराध्यस्य प्रियतमस्यैव सुखार्थं सर्वोऽपिप्रयासः क्रियते। लोके दाम्पत्यभावसंश्लिष्टः शृंगारात्मकोभावो निम्न कोटिको मन्यते, तदुन्नतो वात्सल्यभावः, तदनु सख्यस्यास्ति स्थानम्, तदुपरि दास्यभावः, तदनन्तरं निर्वेदपोषकः शान्तभावो मान्यो भवति, किन्तु माधुर्यभावे क्रमस्यास्य पूर्णतया विपर्ययो जायते। अत्र शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्य-दाम्पत्यभावक्रमः उत्तरोत्तरोत्कर्ष-दृष्ट्या ग्राह्योऽस्ति।

मधुरभक्तिः सर्वोच्चकोटिका भक्तिरभिधीयते। अस्या अस्ति इयमपरा विशेषता यदस्यां विधिनिषेधयोः ब्राह्मप्रपञ्चाज्जायते विमुक्तिः। गृहस्थाश्रमे स्थितानां भक्तिपथे समारोढुमनया मधुरभक्त्या सम्भवति सुखदं साहाय्यम्। समाराध्ययोः राधाकृष्णयोः दाम्पत्यभावं स्वीयदाम्पत्यभावेन मेलयित्वा शनैः-शनैः लौकिककाम-वासनायासमुन्नयनं संशोधनं मार्जनं विशुद्धि वा विधाय भक्तिमार्गेऽग्रेसर्तु शक्यते। उदात्ततमस्य मधुरभक्तिमार्गस्यास्य रहस्यं सम्यगनवबुध्य यदि सामान्य लौकिक

कामवासनारूपे ग्रहणं क्रियेत तर्हि समस्तं माधुर्यतत्त्वं कामकेलिकर्दमकलुषितं सत् यौनभावनातृप्तिपर्यन्तमेव सीमितं स्यात् । दशायामस्यां न शृंगारस्योन्नयनं मार्जनं संशोधनं विशुद्धिर्वा सम्भवति नापि साधकस्याभ्युदयो भवितुमर्हति । अतः साधकैः स्वसुखमुपेक्ष्य केवलं भगवत्सुखायैव तत्र सर्वथा आत्मानं समर्प्य मधुरभक्तेः आदर्शः स्थाप्यते ।

भक्ते विकासेन सह परमात्मानं प्रति अनुरागस्याभिव्यक्तेः क्रमिकविकास-स्यानुशीलने न स्पष्टं प्रतीयते यत् पाञ्चरात्रसम्प्रदाये भक्तैरीश्वरभक्तेः यद्रूप-मङ्गीकृतं तत्र प्रेमनुरागयोः विशिष्टं स्थानमस्ति । महाभारतकाले भक्तानां मनस्सु अनुरागस्य भावःपूर्णतया समाविष्ट आसीत् । पुराणकाले नवधाभक्तिमूले भावस्यास्य प्राधान्यं प्रचुरतया दृश्यते । चैतन्यसम्प्रदाये तु भावस्यास्य सर्वाधिको विकासो जातः । तत्र स्वतन्त्रस्य भक्तिरसस्य साङ्गोपाङ्गं निरूपणं विधाय मधुरभक्तेः विकासः विकासः चरमं सीमानमुपगतः ।

भक्तेराचार्यैः गोपीनां भगवति श्रीकृष्णेऽनन्यं प्रेम आदर्शभक्तिरभिमता । तथाहि नारदभक्तिसूत्रम्—यथा व्रजगोपिकानाम् (२१) शाण्डिल्यभक्ति सूत्रे महर्षिः शाण्डिल्योऽपि—अतएव तदभावाद् वल्लभीनाम् (१।२।५) । वस्तुतो भगवति वासुदेवे गोपिकानामादर्शमयस्य प्रेम्णः तुलना विश्वप्रेमपरम्पराया न भवितुमर्हति । साधनमार्गे यावती प्रेममात्रा अधिकाभवति तावत्येव श्रेष्ठतमा मन्यते भक्तिः । गोपीनामपूर्वस्य प्रेमाः केन्द्रविन्दुः षोडशकलः पूर्णचन्द्र इव साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आसीत् । यस्मिन् ताभिः सकलाः शारीरिक्यः चेष्टा अखिलानि मानसानि सुखानि दुःखानि च समर्पितान्यासन् । क्षणमात्रमपि श्रीकृष्णविरहे तासां जीवनं जलविहीनमीन इव व्याकुलमासीत् केवलं तत्प्राप्तिलालसायमेव ताभिः प्राणधारणं कृतं विविधाश्च यन्त्रणा अनुभूताः ।

इदमेवास्ति विशुद्धस्य प्रेम्णः सत्यं स्वरूपं यतो हि तत्र न लौकिकरागजन्यबन्धनस्य वषयवासनाया वा सत्ता तिष्ठति । अत एव भक्तिसम्प्रदाये विशुद्धस्यप्रेम्णोऽपूर्वं स्थानमङ्गी-कृतमस्ति । वस्तुतो विशुद्धं प्रेमैवास्ते भक्तिभूमिकाया आधारस्तम्भः । समस्तानि साधनानि इदमेव लक्ष्यीकृत्य प्रवर्तन्ते । भगवत्यनन्यं प्रेमैवास्ति भक्तिमार्गस्य प्राणः यद्विना भक्तिर्भवति निष्प्राणा आडम्बरमात्रं वा । महत्वमेतत्स्वीकृत्यैव भक्तिसूत्रकारैः भक्ति लक्षणे भगवति अनन्यस्य प्रेम्णो निवेशः कृतः ।

भगवति श्रीकृष्णे, गोपीनामपूर्वं विशुद्धं प्रेमपर्यालोच्य ज्ञानिनाप्युद्धवेन तासां चरणरेणु स्पर्शस्पृहया वृन्दवनस्थेषु तृणगुल्मतरुलतादिषु किमपि जन्म वाञ्छता आत्म-नस्सौभाग्यवैभवं सूचितम्—

आसामहो चरणरेणु युषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ।।

श्रीमद्भागवते १०।४७।८१

योगिराजस्यारविन्दस्य मतेनापि भगवत्प्राप्तिमार्गे प्रचुरं प्रेमैवैकं पाथेयमस्ति, येन निश्चप्रचं प्रभु प्राप्तं शक्येत । 'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्' (५१) इति सूत्रयता देवर्षिणा नारदेन प्रेमस्वरूपस्या निर्वचनीयमुपस्थाय प्रोक्तं यदवस्थायामस्यां भक्तो भगवत्स्वरूपामृतमास्वादयन्नपि न वाणीद्वारा स्वानुभवं व्यक्तीकर्तुं प्रभवति —'तत् प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव श्रृणोति, तदेव चिन्तयति च' (५५) भक्तो यदा आत्मानमसहायं मत्वा प्रेममयस्य परमात्मनः चरणकमलयोः आत्मानं समर्प्य तच्छरणागतो जायते तदा स एव तस्य योगक्षेमं निर्वहन्नात्मनो भक्तवत्सलतां प्रमाणयति । इयमस्ति गीतोक्ता भगवतः शरणागतिः, इदममेव च संसारसागरसन्तरणाय सुगमं साधनं, सर्वाश्रयाश्रये परमात्मनि सच्चिदानन्दस्यस्वरूपे तल्लीनता सम्पादनाय च श्रेयस्करः पन्थाः ।
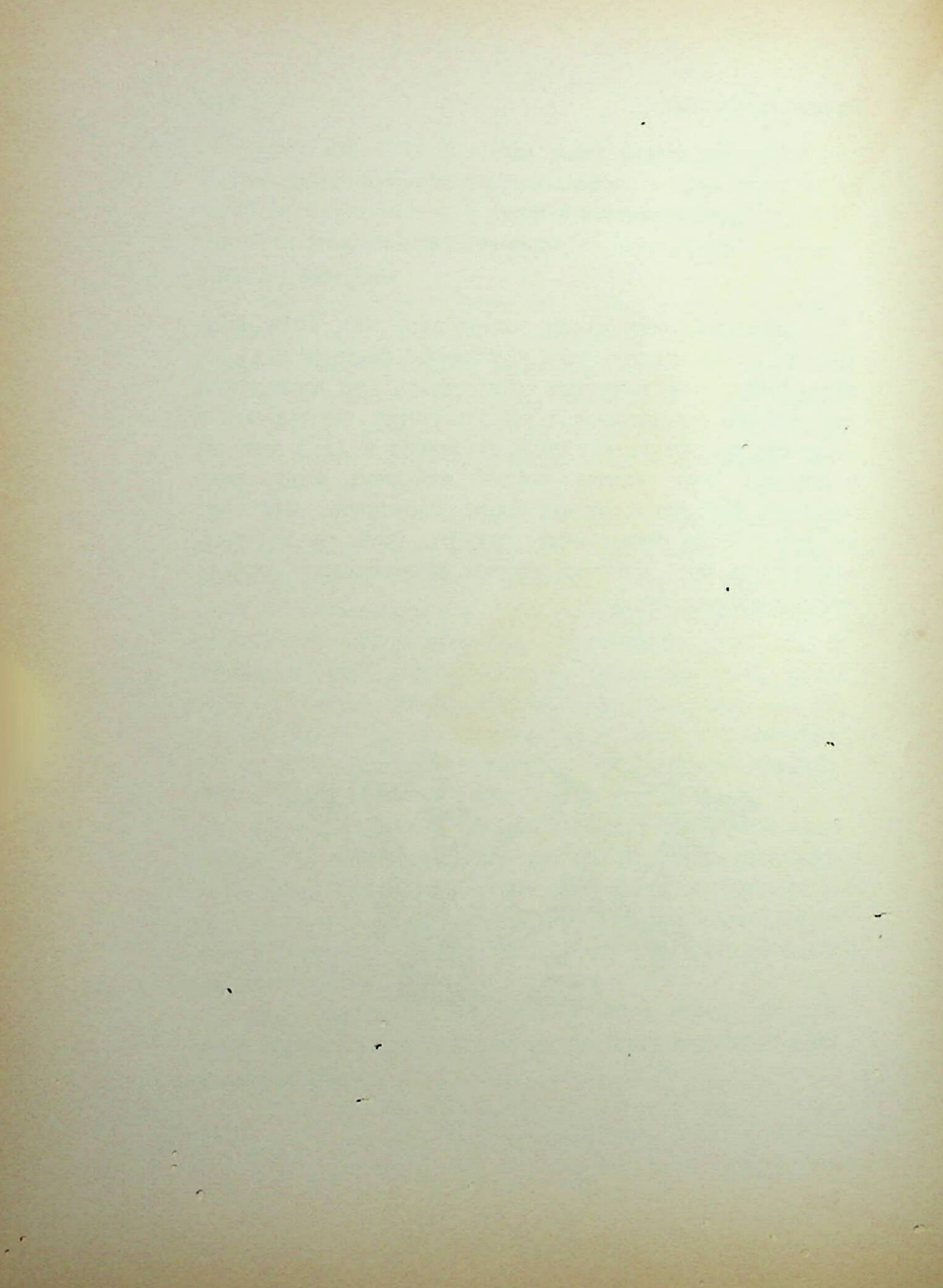
डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थः

शक्तिग्रहः

पण्डितश्री कालीप्रसाद मिश्रः

दिशदिशेतिदिश्यान्मे श्रेयश्चरणपङ्कजम्।
गुरोराराध्यमानस्य श्रौतस्मार्तक्रियाजुषः ॥

यद्यपि शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानेत्यादिना बहूनां शक्तिग्राहकताऽभिहिताऽस्ति, तथापि व्यवहारादेव प्रथमतो भवति शक्तिग्रहः। अन्येषां संकेतग्राहकाणां तु शाब्दबोधसापेक्ष्यतया प्राथम्याभावात्। व्यवहारश्च प्रयोज्यवृद्धस्य गवानयनप्रवृत्त्यादि-रूपः सर्वदैव प्रयोजकवृद्धोक्तगामानयेत्यादिवाक्यश्रवणादेव भवति न कदापि गोप्रद-मात्रश्रवणात्। वाक्यस्थितानां तु पदानामर्थागमानयेत्यादावानयनेन, गां रक्षेत्यादौ रक्षणादिनेत्येवंरीत्या नियतमेवापरपदार्थान्विताः, अतो व्यवहारमूलकः संकेतग्रहोऽन्वित-गवादिष्वेव भवतीति तदुत्तरभाविनोऽपि व्याकरणादिभ्यः शक्तिग्रहास्तथैवान्वितपदार्थ-विषयका एवेतिनान्वयबोधार्थं पृथग्वृत्तिग्रहापेक्षा सर्वेषां पदानामेवान्वयविशिष्टे शक्तिः। न च यद्यपि व्युत्पित्सुर्बालोऽखण्डवाक्यस्याखण्डार्थः प्रथमं प्रतिपद्यते पश्चाच्च घटं नय, अश्वं बधानेत्यादि पृथक्-पृथग् वाक्येषु प्रयुक्ततत्तत्पदार्थमात्र एवान्वयांशरहिते तत्तत्पदानां शक्तिमवधारयेत्, न त्वन्विते गौरवादिति वाच्यम्, प्रथमगृहीतान्वयशक्ते-रूपजीव्यत्वेन तदपरित्यागाद् नापि च शक्तिं विनावाक्यात् तत्संसर्गधीर्युज्यते लक्षणा-देरपि शक्तिधीर्पूर्वकत्वान्न लक्षणापि। नापि नैयायिकसमर्थितसंसर्गमर्यादयाऽपि, तस्या शब्दवृत्तित्वाभावाद्, शक्तिलक्षणयोरेव शब्दवृत्तित्वात्—न च शब्दतात्पर्यगोचरत्वमेव शाब्दत्वम् इति भाट्टसम्मततात्पर्याख्यवृत्त्याऽन्वय धीरिति वाच्यम्, तदभावेऽपिशुक-बालाद्युच्चारितेनाबोधकाचापत्तेरिति। अगत्येतरान्वितघटादौघटादिपदानां शक्ति-रितीतरान्वितो घटो घटपदशक्य इत्येतादृशमेवशक्तिज्ञानं शाब्दबोध प्रयोजकम्। घटो घटवाच्य इत्याकारकस्यान्वयांशानन्तर्भाविण शक्तिग्रहस्यशाब्दबोधप्रयोजकत्वे च शक्तिग्रहाविषयतया पदार्थसंसर्गस्य शाब्दबोधविषयता भज्येत। न चानयनाद्यपर-पदार्थघटितस्य घटादेर्घटमानयेत्यादिवाक्यप्रतिपाद्यतया तादृशवाक्यजन्यशाब्दबोधात्प्राक् पदार्थान्तरघटितघटादौ घटादिशब्दस्य शक्तिग्रह एव न सम्भवति, अनुपस्थितत्वात्, उपस्थिते एव पदार्थे शक्तिग्रहसम्भवात्। तथा च पदार्थान्तरसंसर्गस्य शक्तिग्रहा-

विषयतया घटादिपद वाच्यत्वं न सम्भवतीति वाच्यम्; विशेषत आनयनत्वादिविशेष-धर्मेण, आनयनादिपदार्थान्तिरघटितस्य घटादिपदार्थस्य वाक्य प्रतिपाद्यस्य शाब्द-बोधात् प्रागनुपस्थितत्वेऽपीतर पदार्थत्वादिसामान्यधर्मेण, आनयनाद्यन्वितघटादौ शक्ति-ग्रहस्य सम्भवात्। यथा नैयायिकमते गोत्वेन सामान्यतः शक्तिग्रहेऽप्याकाङ्क्षादिवशाद्-गोविशेषबोधो भवति, तथा सामान्यतोऽपरपदार्थोन्वितत्वेन शक्तिग्रहेऽप्याकाङ्क्षादि-वशाद् गवान्वितत्वरूपविशेषान्वयस्य बोधो भवति। अपर पदार्थानयनत्वादिसामान्य-प्रकारेण गृहीतसंकेतः सर्व एवानयनाद्यर्थः। एवमेवापरपदार्थान्वित घटत्वादिसामान्य-धर्मेण गृहीतसंकेतः सर्व एव घटाद्यर्थः। आकाङ्क्षादिवशाद् आनयनाद्यन्वितघटादि-बोधः सम्पद्यते। यथा शेषे षष्ठीति पाणिनिरूपेण शेषे विहिताऽपि षष्ठीसमभि-व्याहारवशात् चैत्रस्य पुत्रः, पाणिः, कम्बल इत्यादौ जन्यत्वादिविशेषसम्बन्धं बोध-यति। अत एव स्वसमभिव्याहृतपदार्थो यदर्थे साकाङ्क्षस्तद्वाचकत्वं षष्ठ्या इति नियमः प्राचोक्तः संगच्छते। तथा च पदार्थान्तरसंसर्गस्य शक्तिग्रहविषयत्वाद् घटादिपदवाच्यत्वे न काचिदनुपपत्तिः। तद्विषयकशाब्दबोधं प्रति वृत्तिज्ञानजन्य-तदुपस्थितिर्हेतुरित्यन्वयव्यतिरेकगम्यः सर्वसम्मतः कार्यकारणभावोऽप्यत्रमतेऽनुकूलः। अन्यथा वृत्तिज्ञानादन्वयानुपस्थितौ तस्यशाब्दबोधविषयतैव भज्येत। न च संसर्गता-भिन्नविषयकत्वस्य वृत्तिज्ञानजन्योपास्थितिजन्यतावच्छेदकत्वं कल्प्यते न तु सामान्य-तस्तद्विषयकशाब्दबोधं प्रति वृत्ति ज्ञानजन्योपस्थितेः कारणत्वमिति वाच्यम्, संसर्गता-भिन्नविषयकत्वस्य, वृत्तिज्ञानजन्यत्वस्य, चोभयोर्जन्यताऽवच्छेदकत्वे गौरवात्। एवं प्रकारतासम्बन्धेन शाब्दबोधे विषयतासम्बन्धेन वृत्तिज्ञानजन्योपस्थितेः कारणता तथा-विशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबोधं प्रति विषयतासम्बन्धेन वृत्तिज्ञानजन्योपस्थितेः कारण-तथा विशेष्यता सम्बधेन शब्दबोध 'प्रति विषयता सम्बन्धेनवृत्तिज्ञानजन्योपस्थिते कारण-तेति पृथक् कार्यकारणभावेन यद्यपि कार्यतावच्छेदकद्वयकल्पनागौरवं नास्ति, तथापि कारणद्वयकल्पनायामेव गौरवम्, तस्मात् सामान्यतस्तद्विषयकशाब्दबोधे वृत्तिज्ञान-जन्यतदुपस्थितित्वेनैव हेतुतायां संसर्गेऽपि वृत्तिकल्पनमावश्यकम्। नन्वन्वयविशिष्टार्थे पदानां शक्तौ पदमात्रादप्यन्वयप्रतीतिः स्यादिति चेन्न। अन्वयविषयकशाब्दबोधे-तत्तदानुपूर्वीज्ञानस्य हेतुत्वात्। न चाप्यन्वयसामान्ये शक्तिस्वीकारेऽन्वयविशेषस्य शाब्द-त्वानापत्तिः शक्तिज्ञानशाब्दबोधयोस्समानप्रकारकत्वनियमादिति वाच्यम्, इतरान्विते शक्तावपि विशेषाविषयसामान्यज्ञानाभावात्, समभिव्यवहारविशेषकारणत्वरूपाकाङ्क्षा-बलात् तत्तत्पदार्थविशेषनिरूपितान्वयविशेषस्वीकारात्। अत एव पदप्रयोगेऽप्यन्वय-विशेषजिज्ञासोपपत्तिः, अन्वयविशेषजिज्ञासाया अन्वय सामान्यज्ञानपूर्वकत्वनियमादि-तरान्विते शक्तिरित्यस्यघटेऽन्वयेऽनुयोगिनि च शक्तिरित्यर्थः। न चान्विते शक्ति-स्वीकारे घटादिपदमात्रादन्वयबोधापत्तिरिति वाच्यम्, पदान्तरसमभिव्याहारे एव

तच्छक्त्युद्बोध इति घट इत्येतन्मात्रान्नान्वयधीरिति नियमात् । घट इत्यतोघटमात्र-बोधस्तु शक्तिभ्रमात्, विशिष्टविषयायाः शक्तेस्तन्मात्रविषयकत्वमपि भ्रम एव । घटपटोभयवति भूतले घटमात्रवद्भूतलमिति ज्ञानमपि भ्रम एव अन्वयविशिष्टघट-निरूपितशक्तिमति घटपदे घटमात्रनिरूपितशक्तिमद्घटपदमिति ज्ञातस्यापि भ्रमत्वमेव, उभयनिरूपितशक्तिमति घटपदे घटमात्रनिरूपितशक्त्यभाव सत्त्वेन घटमात्र निरूपित शक्त्यभाववद् घटपदनिष्ठविशेष्यता निरूपितघटमात्र निरूपितशक्तिनिष्ठप्रकारताकत्व-सत्त्वात् । यद्वापदैकदेशन्यायेन घटमात्रस्यापि बोधो भवति । यथा भीमपदेन भीम-रूपानुपूर्व्यवच्छिन्नस्य भीमसेनरूपानुपूर्व्यवच्छिन्नस्य च बोधो भवति । एवमेवान्वित-घटस्य केवलस्यापि बोधो भवति घटपदेनैव । च च नानार्थतापत्तिः, एकवृन्तगत-फलन्यायेन शक्तेरैक्यात्, शक्यतावच्छेदकताभेदेन शक्तिभेदस्वीकारात्, प्रकृते शक्यता-वच्छेदकभेदेऽप्यन्वयत्वघटत्वोभयपर्याप्ताया एकस्या एवावच्छेदकतास्वीकारात् । न नानार्थकता नानाशक्तिमत एव नानार्थकतेतिव्यवहारात् । अत एव धेन्वादिपदानां न नानार्थकता तत्रापिधानकर्मस्त्वगोत्वयोरेकस्या एवावच्छेदकतायाः पर्याप्तिस्वी-कारात् । अत एव न प्रवृत्तिनिमित्तैकदेशे परित्यज्य शक्त्या बोधो भवतीति सिद्धान्तितम् । शुद्धतद्धर्मप्रकारकशाब्दबोधे तदन्यरूपावच्छिन्नत्वानवच्छिन्नबोधविशेष-विषयत्वीयप्रकारतात्वेनप्रकारताघटितसम्बन्धावगाहिशक्तिज्ञानस्य कारणत्वात् । यत्तु कैश्चिदुक्तं संसर्गसामान्ये शक्तौ सर्ववाक्यानां पर्यायतापत्तिरिति तदपि न, स्वशक्यतावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपितशक्तिमत्त्वस्यैव पर्यायपदार्थतयेतरान्वितघटादौ घटादिपदानां शक्तिस्वीकारेण शक्यतावच्छेदकभेदात् । शक्तिज्ञानशाब्दबोधयोः सामान्य-रूपेण कार्यकारणभावकल्पने स्वतन्त्रवृत्तिज्ञानाद् विशृङ्खलभावेन घटपदं घटत्वे शक्तं घटे शक्तं पशुपदं लोम्नि शक्तं लाङ्गूलवति च शक्तम्, धेनुपदं धानकर्माणि शक्तम्, गवि च शक्तिमिति शक्तिज्ञानादुपस्थितयोः पदार्थतत्त्वावच्छेदकयोरपि । विशेष्य-तावच्छेदकप्रकारताकविशेष्यनिष्ठविशेष्यताकबोधापत्तिः स्यादिति सामान्यरूपेण कार्यः-कारणभावं परित्यज्य तद्धर्मप्रकारेण तद्विषयकशाब्दबोधे वृत्तिज्ञानजन्यतद्धर्मावच्छिन्न-तद्विषयकोपस्थितित्वेनैव कारणता वाच्या । एञ्च, तत्संसर्गकबोधस्य किञ्चिद्धर्म-प्रकारेण तद्विषयकत्वाभावाद् वृत्तिज्ञानात् तदनुपस्थितावपि तत्संसर्गकशाब्दबोधो भवत्येवेति न तत्र शक्तिकल्पनावश्यकता न वा सामान्यतो वृत्तिज्ञानशाब्दबोधयोः कार्यकारणभावकल्पनाऽवश्यकतेतिनैयायिकाः, तदपि न समीचीनम्, संयोगादेः स्व-रूपेण भावस्यानुभवविरुद्धत्वात् । संसर्गतावच्छेदकधर्मेणैव तद्भावदर्शनात् । न च तावतापि संभोगत्वादौ प्रकारताख्यविषयता न स्वीक्रियते, अपि तु विशेषणताख्य-विषयतैव, उपस्थितिविषयस्यैव प्रकारतयाभानात् । प्रकारतात्वञ्च विशेषणतात्वव्या-प्यधर्मविशेष इति विशेषरूपेण शक्तिज्ञानशाब्दबोधयोः कार्यकारणभावेनैवोपपत्तौ

संसर्गे वृत्तिस्त्रीकारस्यानावश्यकत्वमिति वाच्यम्, विशृङ्खलभावेन गृहीतशक्तिकयोरपि पदार्थतत्तावच्छेदकयोः 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्यादिस्थल एवकारार्थयोरन्वयदर्शनेन पदार्थयोरन्वय आकाङ्क्षाज्ञाननियम्यत्वस्य प्राधान्येन सति तस्मिंस्तथान्वयस्याङ्गीकारात् विशेषकार्यकारणभाव एव घटमानयेत्यादिस्थले घटस्य विशेषणतयाऽनुपस्थितस्याप्याधेयत्वेन कर्मतायामन्वयदर्शन निरूपितत्वेनाधेयत्वे वाऽन्वयस्य सर्वं सम्मततयाऽनङ्गीकारादन्वयव्यतिरेकगम्यस्य सामान्यकारणभावस्यैव सर्वमनोहरत्वात् । अथ च घटमानयेत्याद्यर्थं प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः समभिव्याहारस्य पृथक् कार्यकारणभावकल्पनया घटमानयेत्यादावापत्तिवारणेऽपि यो दण्डी पुरुषस्तमानयेत्स्यादौ दण्डादेः पृथगुपस्थिति काले तच्छब्देन दण्डप्रकारेण पुरुषस्य बोधवारणाय दण्डप्रकारकशाब्दबोधं प्रति दण्डप्रकारकोपस्थितित्वेन कारणत्वस्यावश्यकतया दण्डी पुरुष इत्यतः शाब्दबोधाभावः प्रसज्ज्येत् । किञ्च, संयोगादेः स्वरूपेण भानस्वीकारे भूतलं द्रव्यवदित्यादि भूतलावच्छेद्यत्वावगाहिप्रतीते भ्रमत्वं स्यात्, यावन्तः संयोगाः सन्ति तेषां प्रत्येकं संयोग व्यक्त्या निखिलभूतले सर्वस्यैव द्रव्यस्य च बाधात् । तस्माद् विशिष्ट कार्यकारणापेक्षया ऽन्वय व्यतिरेकसिद्धस्य सामान्यतः शक्तिज्ञानशाब्दबोधयोः कार्यकारणभावे स्वीकृते संसर्गेऽपि शक्तिरवश्यमादरणीयेति । प्रविशपिण्डीमित्यादिपदैरपीतरान्वितस्वार्थबोधकता दृश्यत एव गृहादिकर्मदर्शने शक्त्या गृहकर्मदर्शनविषयकबोधस्य प्रसिद्धत्वाच्च । न च वृत्तिज्ञानजन्योपस्थितिविषयस्यैव शाब्दे भाननियमेन प्रविशपदस्य तादृशार्थे शक्तचभावात् कथं तादृशार्थ बोध इति वाच्यम्, विशिष्टवाक्यस्य शक्तिग्रहकालेऽमुनिष्पाद्यवयवानामपि तत्र शक्तिग्रहात् । यथाभामादयः यदैकदेशपदस्यार्थे प्रयुज्यते, भीमसेनपदं पृथक् प्रयुज्यमानं तदवयव भीम पदं च तत्र भीमसेने शक्तं दृश्यते । इति शम् ।
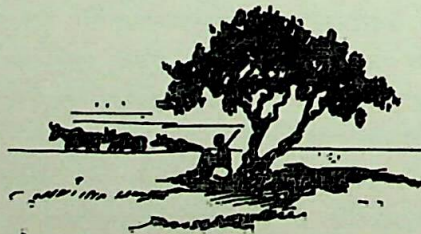
यस्य च भावेन भावलक्षणम् (२।३।३७), षष्ठी चानादरे (२।३।३८)

डा० पी० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री

भगवतः पाणिनेः कृतौ अष्टाध्याय्यां द्वितीयाध्याये तृतीयपादे **'यस्य च भावेन...'** इति पठितम्। अत्र **'षष्ठी चानादरे'** इत्येतत् भट्टोजिदीक्षितप्रभृतिभिः सूत्रैकत्वेन गृहीतम्। तत्र काचिद्विप्रतिपत्तिः। रामायणमहाभारतादिषु लक्ष्यग्रन्थेषु अन्यथा प्रयोगो दृश्यते। तथा हि—

वसतस्तस्य रामस्य वने वनचरैः सह।
ऋषयोऽभ्यागमन्सर्वे वधायासुररक्षसाम्॥

रा० १।१।४३–४

इति प्रत्यर्च्य तान्राजा ब्राह्मणानिदमब्रवीत्।
वसिष्ठं वामदेवं च **तेषामेवोपशृण्वताम्**।

रा० २।३।३

दृढं त्वभिहितश्चाहमर्जुनेन पुनः पुनः।
मध्ये सर्वस्य सैन्यस्य **वासुदेवस्य शृण्वतः**

म० भा० द्रो० १११।१०

इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम्।
अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुमाववृते वनात्॥

रघु० १।८२

वसतस्तस्य रामस्य, तेषामेवोपशृण्वताम्, वासुदेवस्य शृण्वतः, इति वादिन एवास्य इत्यत्रप्रयोगेषु अनादरो न विवक्ष्यते। अतः **षष्ठी चानादरे** इत्येतत् षष्ठी च, अनादरे इति सूत्रद्वयेन भाव्यम्॥

卐

चतुर्दशसूत्री विमर्शः

पण्डितश्री रामप्रसाद त्रिपाठी

अस्मिन्निबन्धेऽधोलिखिता विषया विमर्शनीया भविष्यन्ति ।

१—सूत्रस्य लक्षणं भेदस्तत्समन्वयश्च, २—चतुर्दशत्वसंख्याया द्विविभक्तिककारादिवर्णनिष्ठसाधुत्वस्य च समन्वयः, ३—पाणिनिकृतत्वाक्षेपपूर्वकं महेश्वरादागतत्वस्य समन्वयः, ४—प्रयोजनसमन्वयः, ५—वर्णोच्चारणे दोषाः, ६—स्थानप्रयत्नाभ्यां वर्णानामत्र क्रमः, ७—वर्णोच्चारणे हेतुभूतानि स्थानानि, ८—तादृशप्रयत्नाः, ९—प्रसङ्गेन वर्गेष्वपि वर्णानां क्रमः, १०—आद्यसूत्रचतुष्टयस्याध्यात्मपरत्वम्, ११—मध्यवर्तिनां सूत्राणां सृष्टिपरत्वम्, १२—अन्त्यस्य सूत्रस्य पुनरध्यात्मपरत्वम्. १३—एतत्फलभूताष्टाध्याय्याः महत्त्वम्, १४—परिशिष्टम् ।

(१) **सूत्रस्य लक्षणं भेदस्तत्समन्वयश्च**—ऐहिकामुष्मिकोभयविधाऽभ्युदयसाधनं वेदार्थाऽवगमः । स च वेदाङ्गाध्ययनादृते न सम्यक्तया भवितुमर्हति। षडङ्गानि च वेदानां शिक्षा निरुक्तं छन्दः कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं च । तत्र मुखस्थानीयस्य व्याकरणस्य षट्स्वङ्गेषु प्राधान्यम् । तच्च व्याकरणमद्यत्वे पाणिनीयमेव । तस्य मूलभूतेयं चतुर्दशसूत्री या व्याख्यातुमुपक्रान्ताऽऽस्ति । तत्रादौ लक्षणेन सूत्रपदार्थः प्रमीयते । उक्तं च सूत्रस्य लक्षणं शिष्टैः—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।। इति ।

असारगर्भमप्यल्पाक्षरं भवितुमर्हति, तद्व्यावर्तनाय सारवदिति पदमत्र लक्षणे उपात्तम् । अनेकरूपेण व्याख्येयत्वमादृत्य विश्वतोमुखमिति । यथा शाङ्करवेदान्तिनां नयेऽद्वैतप्रतिपादकत्वम्, रामानुजीयनये द्वैतप्रतिपादकत्वमेकत्रैव सूत्ररूपे 'तत्त्वमसि' इति श्रुतिवाक्ये । हाऊ, हाऊ, इति मध्ये मध्ये सामवेदपाठे उच्चार्यंते वैदिकैः, स एव स्तोभ इत्युच्यते, तद्राहित्यबोधनाय अस्तोभमिति । अनवद्यमित्यनेन सर्वदोषराहित्यमुच्यते । एवं च अस्तोभमिति कथनं ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन बोध्यम् । एवमेवासन्दिग्धमित्यपि प्रकृते अ इ उ ण् इत्यादिष्वल्पाक्षरत्वं सर्वदोषशून्यत्वमग्रिमै-

व्याख्यानैः सारगर्भत्वं विश्वतोमुखत्वं चेति सुष्ठु सूत्रलक्षणमेषु संघटते।

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड् विधं सूत्रमुच्यते॥

इति शिष्टोक्त्या षड् विधं सूत्रेषु विधिसूत्राणि एतानि। अत्वाऽवच्छिन्नः साधुः, इत्वाऽवच्छिन्नः साधुरित्यादिरीत्या वर्णसाधुत्वविधायकत्वात्। उक्तं च महाभाष्ये—'इष्टबुद्ध्यर्थश्च वर्णानामुपदेशः' इति। न हि संज्ञासूत्राणि, शक्तिनियामकत्वाभावात्। नाऽपि परिभाषासूत्राणि, अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितलक्ष्यधार्मिक साधुत्वप्रकारकशास्त्रजन्यबोधोपयोगिबोधजनकत्वाभावात्। नाऽपि नियमसूत्राणि, अन्यनिवृत्तफलकत्वे सति सिद्धार्थ प्रतिपादकत्वाभावात्। नाऽप्यतिदेशसूत्राणि, आरोपाप्रतिपादकत्वात्। नाऽप्यधिकारत्वमेषु, स्वदेशे वाक्यार्थबोधाजनकत्वे सति विधिसत्रैकवाक्यतया बोधजनकत्वाभावात्।

यत्तु 'आदिरन्त्येन', इत्यनेनैकवाक्यतया एषां संज्ञासूत्रत्वमिति शेखरकृद्भिरुक्तम्। तन्न रोचते, विधिसूत्रैः सहैकवाक्यतामापन्नस्य परिभाषासूत्रादेरपि विधित्वप्रसङ्गेनोक्तहेतोर्दुष्टत्वात्।

(२) **चतुर्दशत्वसंख्याया निर्विभक्तिकाकारादिवर्णनिष्ठसाधुत्वस्य च समन्वयः**—इमानि च सूत्राणि चतुर्दशानुबन्धघटिततया चतुर्दशसंख्याकानि। उक्तं च—

अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यं वर्णचतुर्दशम्।
धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये॥ इति।

अन्त्यवर्णणकाराद्यनुबंधयुक्तानि चतुर्दशसूत्राणि च। (१) अ इ उ ण् (२) ऋ लृ क् (३) ए ओ ङ् (४) ऐ औ च् (५) ह य व र ट् (६) ल ण् (७) ञ म ङ ण न म् (८) झ भ ञ् (९) घ ढ ध ष् (१०) ज ब ग ड द श् (११) ख फ छ ठ थ च ट त व् (१२) क प य् (१३) श ष स र् (१४) ह ल्, इति। अध्यात्मपरत्वपक्षे ह् य व र ट्, ल ण् इत्यनयोरैक्ये त्रयोदशैव भविष्यन्तीत्यपि बोध्यम्।

ननु 'अपदं न प्रयुञ्जीत' इति भाष्यानुशासनेनापदस्य प्रयोगे निषिद्धे कथमिमानि तादृशान्येव प्रयुक्तानि इति चेत्। उच्यते—अनुकरणानुकार्ययोर्भेदाभेदावुभावपि प्रामाणिकौ। तत्राभेदपक्षेऽनुकरणभूतेष्वेष्वकारादिवर्णेष्वनुकार्यनिरूपितशक्तेरभावेनार्थवत्त्वाभावान्न प्रातिपदिकसंज्ञेति न स्वाद्युत्पत्तिः। अपदं न प्रयुञ्जीतेत्यत्रापदमित्यस्यापरिनिष्ठितमित्यर्थः। परिनिष्ठितत्वं च अप्रवृत्तनित्यविध्युद्देश्यताऽवच्छेदकानाक्रान्तत्वरूपम्। एवं च कस्याऽपि नित्यविधेरत्राप्राप्तौ परिनिष्ठितत्वमेव। अत एव 'प्र-परा-अप-सम्' इत्यादिर्गणपाठोऽपि संगच्छते। भेदपक्षे त्वन-

कार्यनिरूपितशक्तेः सत्त्वेनार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वे प्रत्येकं वर्णाद् विभक्तिरुत्पद्यत एव । 'सुपां सुलुग्' इति सूत्रेण तस्या लुग् भवतीति पदत्वं तत्र पक्षे सुतरां वर्तत एव ।

एवमेव 'रोगाख्यायां ण्वुलवहुलम्' इतिसूत्रस्थेन 'वर्णात्कारः' इति वचनेन प्रत्येकं वर्णात् कारप्रत्ययः प्राप्तो वाहुलकान्निवृत्त इति न तदभावकृतमप्यसाधुत्वम् । एवमेव संहिताया अविवक्षया एषु न गुणादिकार्यमिति सन्धिकार्याभावेऽपि न साधुत्वाभावः ।

(३) **पाणिनि कृतत्वाक्षेपपूर्वकं महेश्वरादागतत्वस्य समन्वयः**—'अथ शब्दानुशासनम्' इत्यारभ्य एतानि चतुर्दशसूत्राणि पाणिनि कृतान्येवेति केषांचिन्मतं तु न समीचीनं प्रतिभाति। यतश्च 'अथातो धर्मजिज्ञासा', 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादिषु प्रथमतो यथा अथशब्दः प्रयुक्तः, तथाऽत्राऽपि प्रथमम् अथशब्देन भाव्यम् । किञ्च पाणिनिकृताष्टाध्याय्या मूल भूतानामेषां सर्वत्राष्टाध्याय्याः प्रथममुपलब्धिर्दृश्यत इति प्रत्यासत्त्या एतान्यपि पाणिनी यान्येवेति हेतुद्वयं तैरुपन्यस्यते। तत्र नहि धर्मसूत्रकाराः पठन्ति, नाऽपीश्वर आज्ञापयति यत् शास्त्रारम्भः सर्वत्राथशब्देनैव करणीय इति । प्रत्युत 'गौः ग्माः' इति निरुक्तस्य, 'म य र स त ज भ न ल ग संहितम्', इत्येवं ज्योतिषस्य चाथशब्दं विनैव प्रारब्धत्वादिति प्रथमो हेतुरहेतुरेव सम्पन्नः ।

एवमेव द्वितीयकल्पे प्रत्यासत्त्या तदा पाणिनिर्धर्तुं शक्यते, यदाऽन्यदीयत्वे साधकं प्रवलं प्रमाणं न स्यात् । प्रकृते तु—

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ।।

नृत्ताऽवसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धान् एतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ।।

इति पाणिनीयशिक्षास्थस्य काशिकास्थस्य च प्रमाणस्य साधकस्य जागरूकत्वात् कथं प्रत्यासत्तेरादरः स्यात् । यदि चानयोः प्रमाणयोरनार्षत्व शङ्का, तदाऽपि 'मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते' इति 'वृद्धिरादैच' इतिसूत्रस्थंभाष्यमेव वलवत्तरं मानं प्रत्यासत्तिवाधकतायाम् । अन्यथा वृद्धिशब्दस्य मध्यमङ्गलत्वे आदिमङ्गलत्वकथनं कथं संगतिमाप्नुयात् ? एवं चान्यदीयत्वसिद्धौ पूर्वोक्तप्रमाणाभ्यां माहेश्वरत्वमेव मन्तव्यम्, ततोऽन्यदीयत्वे सम्प्रदायप्रसिद्धचभावात् । यद्यपि शाकटायनेन ऋक्तन्त्रव्याकरणेऽस्याश्चतुर्दशसूत्र्या वंशपरम्परा इत्थमुक्ता—"इदमक्षरच्छन्दोवर्णशः समनुक्रान्तं यथाचार्या ऊचुर्ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच बृहस्पतिरिन्द्रायेन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाज

ऋषिभ्यऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते। न भुक्त्वा न नक्तं प्रब्रूयाद् ब्रह्मराशिः" इति। तथाऽपि कलियुगस्यादौ तपस्यते पाणिनये व्याकरणशास्त्र-प्रवृत्त्यर्थं सनकादिभ्यश्चात्मविद्याप्रतिपत्त्यर्थं ढक्कानिनादव्याजेनोप दिष्टवान् भगवान् महेश्वर इत्यपि पूर्वोक्तिभ्यां कथासरित्सागराद्युक्तिभिश्च प्रसिद्धमेवेतीयमपि परम्परा प्रामाणिकी एव।

किञ्चाथर्ववेदे निरनुबन्धा एताः श्रुतयोऽनुबन्धसन्धानेन प्रापिता भगवता श्रीशिवेनेत्यपि न तिरोहितंसचेतसामितिवेदात्मिकाया अस्या महेश्वरादागतत्वं सर्वथा सिद्धम्। तत्राऽप्यागतत्वमेव, न तु महेश्वरेणाऽपि कृतत्वम् वेदानामपौरुषेयत्वात्।

(४) **प्रयोजनसमन्वयः**—ननु 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इति सिद्धान्तेन जिज्ञास्यते किं प्रयोजनकानीमानि सूत्राणि? इति प्रश्ने भाष्योक्तानि वाक्यानि स्मारये। (क) वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः। पाणिनेर्लाघवेन शास्त्रे प्रवृत्तिः वृत्तिस्तस्याः समवायो वर्णानामानुपूर्व्येण सन्निवेशस्तदर्थ उपदेशः (ख) अनुबन्धकरणा-र्थश्च। णकाराद्यनुबन्धकरणार्थो वर्णोपदेश इत्यर्थः। तदिदमनुबन्धकरणं वृत्तिसमवायश्च प्रत्याहारसिद्धये। प्रत्याहारश्च वृत्त्यर्थः। (ग) इष्टबुद्ध्यर्थश्च। सति ह्युपदेशे कलादिदोषरहिता ये वर्णा उपदिष्टास्तथैव ते प्रयोक्तव्या इत्युक्तं भवतीति, भावः। किञ्चात्मविद्याप्रतिपत्तिरूपं फलमपि 'उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धान्', इत्यने-नोक्तं न विस्मर्तव्यम्।

(५) **वर्णोच्चारणेदोषाः**—इष्टबुद्ध्यर्थ इति भाष्योक्तौ प्रदीपकृता कलादयो दोषा वर्णोच्चारणे स्मारितास्ते प्रसङ्गान्निरूप्यन्ते वर्णानां शुद्धोच्चारणसम्पत्त्यै। येन च शुद्धोच्चारणेनार्थावगतिर्लोकव्यवहारसिद्धिश्च भवति, पुण्यफलाऽवाप्तिश्च भवति। अशुद्ध-मुच्चारणं चेत्क्रियते? अनर्थाऽवगतिरतदर्थाऽवगतिर्विरुद्धार्थाऽवगतिश्च। उक्तं च—"दुष्टः शब्दःस्वरतो वर्णतो वा···" इत्यादि।

अथ के तावद्दोषाः? इति चेत्। उच्यते—

अ—संवृतत्वम्—विवृततरविवृततमानामेकारादीनां चतुर्णां ह्रस्वोच्चारणेऽयं दोषः। यथा छन्दोगाः सात्यमुग्रिराणायनीया ह्रस्वमेकारमोकारं पठन्ति। अन्य-शाखासु तदुच्चारणे दोषः। राणायनीयानां कृते तु विवृततमयोरैकारौकारयोरेवो-च्चारणे स दोषः।

आ—ध्मातत्वम्—श्वासनिष्ठतया ह्रस्वोऽपि दीर्घ इव लक्ष्यते।

इ—अर्धकत्वम्—दीर्घोऽपि ह्रस्व इव लक्ष्यते।

ई—एणीकृतत्वम्—ओकारौकारयोरविशेषेणोच्चारणं येन भेदो न प्रतीयते किमयमोकार औकारो वा? इति।

उ—अम्बूकृतत्वम्—यो व्यक्तध्वनिः सोऽप्यन्तर्मुख इव श्रूयते।

ऊ—ग्रस्तत्वम्—कण्ठे एव निगृहीतोऽव्यक्त इव श्रूयते भक्षित इवेत्यर्थो न तूद्गीर्ण इति।

ऋ—प्रगीतत्वम्—अस्थानेऽपि सामवदुच्चारितत्वम्।

ॠ—उपगीतत्वम्—समीपस्थवर्णान्तर्गीत्यनुरक्तत्वम्।

लृ—सन्दष्टत्वम्—वृथैव वर्धितत्वम्

ए—अलविम्तत्वम्—अन्यवर्णावलम्बितत्वम्, वर्णान्तरेणासम्भिन्नत्वमिवेति यावत्।

ऐ—द्रुतत्वम्—योग्यकालात् प्रागेवोच्चरितत्वम्।

एवमेव निर्हतत्व निरस्तत्व रोमशत्वप्रभृतयोऽपि वहवः स्वरदोषाः सन्ति।

ओ—कलत्वम्—स्थानान्तरनिष्पन्नः काकलिकत्वेन प्रसिद्धः ककारो यदा स्वस्थानात् किञ्चिदग्रत उच्चार्यते—क़ इव। यथा च आरवीकभाषायां 'क़ाफ़' इति क़लक़लाशब्दः उच्यते। स एव अमनजदोषः काकलिकत्वेन प्रसिद्धोऽत्रशास्त्रे। अत एव चतुर्दशसूत्र्यां 'क़ ख़ ग़ ज़ त़ फ़, इत्येवमादयो दुष्टा वर्णा न गृहीताः।

औ—विकीर्णत्वम्—रेफोच्चारणेऽकाराद्यव्यवहितत्वेऽप्यनेकरेफोच्चारणमेकमप्यनेकनिर्भासि। यथा 'अ र् र् र् र् र्। इति यावच्छ्वासस्तिष्ठति तावद्रेफ उच्चारितो भवति। अयमेव आरवीकभाषायां 'सिफ़त तकरार' इत्युच्यमानो दोषोऽस्ति। एतद्द्वयं व्यञ्जनदोषतयां ज्ञात्वा एवमेवाशक्तिप्रमादादिकृता अन्येऽपि दोषा ऊहनीयाः।

(६) **स्थान प्रयत्नाभ्यां वर्णानामत्र क्रमः**—अथ ढक्कात उच्चारितेष्वेष्वकारादिवर्णेषु कश्चन क्रमो गृहीतो न वा? इति संशये निःशङ्कं मयोच्यते—गृहीतोऽस्ति क्रमोऽतीव वैज्ञानिकः। स च क इति चेत् इत्थम्—

क—प्रथमे सूत्रे 'अ इ उ' इति त्रयः स्वराः कण्ठ ताल्वोष्ठस्थानानां पौर्वापर्येण पठिताः।

ख—द्वितीयेऽपि सूत्रे व्यञ्जनमिश्रितं स्वरद्वयमपि स्वस्थाने तादृशमेव क्रममनुभवति। क्रु सृ कृ क्रुपु-इत्यादिधातुकल्पनार्थं कल्पितमेतत्। पक्षे मौलिकमपि एतत्स्वरद्वयम्।

ग—तृतीयचतुर्थसूत्रयोस्तु विवृततरौ विवृततमौ संयुक्तस्वरौ क्रमशः पठितौ। पूर्वं हि कण्ठयतालव्यस्ततः कण्ठयौष्ठ्य इति। तत्र ए ओ इति इमौ गुणसंज्ञार्थौ, अन्यौ द्वौ वृद्धिसंज्ञार्थौ।

घ—अनुनासिक इत्यादि निर्देशरूपाचाराल्लोपशास्त्रस्य वलवत्त्वाच्च अनुबन्धानां प्रत्याहारे ऽग्रहणात्तेषां क्रमो न विचार्यते।

ङ—ह य व र ट्, लण् इति सूत्रद्वये 'य व र ल' इति चत्वारो यणः सन्ति निर्दिष्टाः। तत्र इ उ ऋ लृ एतेषणां स्वराणां स्वरपरत्वे उक्ता यणः क्रमशो भवन्तीति यण्कार्यार्थं स्वरसमाम्नायं समाप्य व्यञ्जनसमाम्नाय उक्तरूपेणोपक्रान्तः। न चैतत्सूत्रद्वयमेकमेव कथं न कृतमिति शङ्क्यम्, अट् प्रत्याहारे लकारग्रहणस्यानिष्टत्वात्। एवं च प्रकल्पनमित्यादौ लकारेण व्यवधाने 'कृत्यचः' इति नकारस्य णत्वं न भवति।

च—अथ हल् इति सूत्रे हकारोपदेशोऽस्त्येवेति 'ह य व र ट्' इत्यत्र हकारोपदेशो व्यर्थ इति चेत् उच्यते—

हकारो द्विरुपात्तोऽयमटि शल्यपि वाञ्छता।
अर्हेणाधुक्षदित्यत्र द्वयं सिद्धं भविष्यति॥

इति कारिकया प्रयोजनस्य स्फुटं निर्देशान्न वैयर्थ्यमिति।

ननु पुनरपि 'य व र ह ट्' इत्येव सूत्रं भवत्विति चेन्न, यय् प्रत्याहारे हकारग्रहणापत्तेः। तथा सति 'देवं हसन्ति' इत्यत्रानुस्वारस्य ययीत्यनुवृत्तौ 'वा पदान्तस्य' इति परसवर्णः प्रसज्येत। न च रेफोष्मणां सवर्णा न सन्तीति न दोषस्तत्रेति वाच्यम्, 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' इति यरन्तर्गतस्य हकारस्यानिष्टानुनासिकप्रसङ्गात्। यण्प्रत्याहारे हकारस्य मेलनेन इग्यणोः संख्यासाम्याभावे यथासंख्यसूत्राप्रवृत्तेश्च।

ननु तावताऽपि 'ह र य व ट्' इत्युच्यताम्, यणित्यत्र रण्प्रत्याहारोऽभ्युपेयतामिति चेत्तदपि आपातरमणीयम्। पचेरन्नित्यादिलक्ष्ये रेफस्येदानीं वलि ग्रहणाभावे लोपोव्योः' इति लोपानापत्तेः। यद्यपि यथान्यासेऽप्यनुनासिकपरसवर्णद्विर्वचनप्रतिषेधस्य वक्तव्यता उक्ता पूर्वपक्षे, तथाऽपि फलान्यथासिद्धया उक्तवार्तिकस्य प्रत्याख्यानं कुर्वता भाष्यकृता मूलोक्त एव न्यासः समर्थितः।

छ—'ञ म ङ ण न म्'—रेफहकारभिन्नाः सर्वे यणः स्वराश्च अनुनासिका भवन्ति। अतश्च तत्प्रसङ्गे एतत्सूत्रं पठितम्। अथ च "हलः पराश्चेत् य व र ल ञ म ङ ण नाः, तेषां लोपो भवति समाने वर्णे परे" इति कृत्वाऽपि य व र ल् इत्यनन्तरमेव पञ्चमवर्णा इमे पठिताः। यतश्च हलो यमां यमि लोपः प्रसज्येत।

ननु च तावताऽपि ङ ञ ण न म मित्येव यथास्थानं पौर्वापर्यमस्तु किं व्यत्यासेनेति चेत्? उच्यते व्यापकदृष्टिर्भगवान् महेश्वरो विजानाति स्म यत् 'ङमोह्रस्वादचि···' इति पठिष्यति पाणिनिः। तत्र ञकारमकारयोरपि ञुट् मुटौ प्राप्स्यतः। तौ च नेष्टौ। किं चात्राऽपि सूक्ष्मदृशा वैज्ञानिक एव क्रमः समादृतः। तथा हि—ञकारमकारयोस्तालव्यत्वम् ओष्ठ्य-

त्वम्। ङ ण नानां कण्ठचमूर्धन्यदन्त्यत्वमिति।

ज—झ भ ञ्, घ ढ ध ष्, ज ब ग ड द श्। ननु पूर्वं ञ म ङ ण नाः पञ्चमास्ततो झ भ घ ढ धाश्चतुर्थास्ततो ज ब ग ड दास्तृतीया इति। तत्र ञ म ङ ण नानां क्रमस्य सूपपादत्वेऽप्येषु व्युत्क्रमे किं बीजमिति चेत्? उच्यते—क्रमो हि द्विविधः, सव्योऽसव्यश्च। तत्र ञ म ङ इत्यत्रावश्यकतया सव्यक्रमो गृहीतस्तर्हि सति सम्भवे सर्वत्रैव स गृहीतः। न हि आचार्याः कृत्वा निवर्तन्त इति न्यायात्।

वर्गक्रमस्य त्यागे तु यथासंख्यमादेशविधानमेव बीजम्। तथा हि—झ भ घ ढ ध इति चतुर्थाः, ज ब ग ड दा इति तृतीयाः। तत्र तालु, ओष्ठौ, कण्ठः, मूर्धा, दन्ता इति क्रमो वर्तते स्थानानाम्। पश्यति सूक्ष्मदर्शी आचार्यः पदान्तानां झलां स्थाने जशस्तृतीयवर्ग्यवर्णा आदेशाः स्वीकरिष्यन्ते पाणिनिना इति तृतीया वर्णाः पृथक्कृताः। यथासंख्यसिद्धिश्च। झ भ ञ्, घ ढ ध ष् इत्यनयोरेकत्वं नापादनीयम्। यञ् प्रत्यहारे झ भ योरेव ग्रहणं स्यान्न तु एकसूत्रस्थतया घादीनामपि। अन्यथा पचध्वमित्यत्र अतो दीर्घो यञि इति दीर्घः प्रसज्येत।

झ—ख फ छ ठ थ च ट त व्, क प य्। अनयोः पूव द्वितीयास्ततः प्रथमे उक्ताः। अत्राऽपि पूर्ववदेव क्रम आश्रितः। ननु वर्गक्रमः कथमुपेक्षितः? इति चेत्, श्रूयताम्—छव् प्रत्याहाराद् बहिष्करणाय खफयोः पूर्वं पाठ आदृतः। अन्यथा 'नश्छव्यप्रशान्' इति सूत्रेण फकारेऽपि परे नकारस्य रुत्वं स्यात्। चटयोः परयोस्तु न स्यात्, तस्मिन् क्रमे तत्र पाठाभावात्। क प य् इत्यस्य पृथक्पाठस्तु कपयोश्छवि ग्रहणाभावाय। अत्र कपयोरुच्चारणे स्थानक्रम एव समादृतः, क्रमान्तरस्य ग्रहणे प्रयोजनाभावात्। न च प्रतिज्ञाहानिः, यत्र किमपि प्रयोजनं स्यात्, तत्रैव तस्या दोषतयोपन्यासयितुमुचितत्वात्।

ञ—श ष स र्, ह ल्। श ष सा ऊष्माणो वर्णा अपि स्थानक्रममादृत्य सर्वान्ते पठिताः। हलित्यस्य पृथक् पाठस्तु हरिः शेते इत्यादौ 'वाशरि' इत्यनेन विकल्पितविसर्गलाभवद् हरिर्हरतीत्यादावपि स मा भूदित्यर्थकः। वस्तुतस्तु वल् रल् झल् शल्षु हकारग्रहणाय पृथक् पाठ इति मन्तव्यम्।

(७) वर्णोच्चारणे हेतुभूतानि—अथ वर्णोच्चारणसाधनानि स्थानानि प्रसङ्गतो निरूप्यन्ते तत्र पाणिनीय शिक्षायामष्टौ स्थानानि निर्दिष्टानि।

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलमुपध्मा च नासिकोष्ठौ च तालु च॥ इति।

अत्र केचन मन्यन्ते—जिह्वामूलं कंठ एव, उरस्तु फुफ्फुसावेव। अनयोश्च सर्ववर्णोच्चारणे उपयोगोऽस्तीति विशेषतः स्थानत्वाभावोऽतश्च षडेव स्थानानि मन्तव्यानि विशेषतो वर्णोच्चारणे इति।

अत्रोच्यते—पञ्चमवर्णसंयुक्तस्य हकारस्योरः स्थानत्वमनुभवसिद्धमलयितुं न शक्यम्। एवमेव ब्राह्मण वसिष्ठन्यायेन जिह्वामूलस्याऽपि पृथक्स्थानत्वेऽष्टत्वसंख्या समीचीनैव प्रतिभाति।

(८) **तादृश प्रयत्नाः**—अथ वर्णोच्चारणे हेतुभूतप्रयत्नविषयेऽपि प्रसङ्गत एव किञ्चिदुच्यते। तत्रान्तःप्रयत्ने जिह्वा करणमधरौष्ठश्च। अत्र मूलं मध्यमुपाग्रमग्रमिति चत्वारो जिह्वाभागाः करणतया उपयुज्यन्ते। कण्ठच–तालव्य–मूर्धन्य–दन्त्यानां वर्णानां यथासंख्यं कण्ठादिचतुष्टयं करणम्। ओष्ठचस्याधरौष्ठ एव करणम्। वकारस्याऽपि च स एव।

स चायमान्तरः प्रयत्नश्चतुर्विधः। तत्र स्थानैः सहकरणस्य स्पर्शात् स्पृष्टः प्रयत्नः। ईषत्स्पर्शात् ईषत्स्पृष्टः। स्थानकरणयोः सामीप्यमात्रकाले ईषद्विवृतः। असामीप्यकाले विवृतः। ह्रस्वाकारस्य प्रयोगकाले संवृतः।

बाह्यप्रयत्नेषु द्वे करणे। उरः कण्ठश्च। उरसोऽल्पसंकोचादल्पप्राणः प्रयत्नः। तस्यातिसंकोचान् महाप्राणः प्रयत्नः। कण्ठस्याऽसंकोचाद् विवारश्वासाघोषाः। इमे त्रयः स्वाभाविकाः। कण्ठस्य संकोचात् संवारनादघोषा अस्वाभाविकाः। उरःकण्ठाभ्यामुदात्तानुदात्तस्वरितास्त्रयः। यदा गलविलस्य विवृतत्त्वं तदामार्गाऽवरोधाभावाच्छ्वासो जायते, श्वासादघोष एवेति त्रयोऽपि सहस्थायिनः। गलविलस्य संवृतत्वे तु मार्गावरोधाद् मुरलीनादवन्नादो जायते, नादाच्च घोष एवेति त्रयोऽमी सहस्थायिनः। विवारादनु श्वासः संवारादनु नादो जायते, तस्मादनुप्रदानौ एतावुच्येते। नहि श्वासादनु अघोषो नादमनु घोषो जायते, अपि तु सहैव, तस्मान्नेमौ एतयोरनुप्रदानौ। नहि श्वासाघोषौ नादरहितावपि तु हीनध्वनियुक्ताविति बोध्यम्। उच्चारणे यदा वायुवेगो महान् तदा महाप्राणः। यदा चाल्पस्तदा अल्पप्राणः स्वाभाविक इत्यपि बोध्यम्। तत्रोदात्तत्वे कण्ठस्याणुत्वात् संवारोऽपि वाच्यः, तेन सह नादघोषावपि। अनुदात्तत्वे कण्ठस्य विवृतत्वाद् विवारश्वासाघोषा वक्तव्याः। सन्निपाते स्वरितत्वे तु मध्यप्रयत्नाश्च वक्तव्याः।

उदात्तादिविषये आचार्य आपिशलिः सम्मनुते—यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति, तदा गात्रस्य निग्रहः, कण्ठस्य चाणुत्वं स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद्रौक्ष्यं भवति, तदा उदात्त इत्युच्यते।

यदा तु मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्रस्य स्रंसनम्, कण्ठस्य महत्त्वं स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति, तदाऽनुदात्त इत्युच्यते । उदात्तानुदात्तसन्निपातेन स्वरितं इति ।

(९) **प्रसङ्गेन वर्गेष्वपि वर्णानां क्रमः**—प्रसङ्गतो वर्गेष्वपि क्रमो विमृश्यते। तत्राल्पप्राणमहाप्राणयोरल्पप्राणस्य स्वाभाविकत्वात् ककारादिः पूर्वं खकारादिश्च परमुच्चारितः। स्वाभाविकत्वादेव च विवारश्वासाघोषवन्तः प्रथमद्वितीयाः क ख, च छ, इत्येवमादयः प्रतिवर्गं पूर्वं पठिताः। ततः संवारनादघोषवन्तस्तृतीयचतुर्थपञ्चमाः। तत्राऽपि स्वाभाविकोऽल्पप्राणस्तृतीय एव पूर्वमुक्तो न चतुर्थः। अथैवमल्पप्राणतया पञ्चमोऽपि पूर्वं स्यादिति चेन्न, अननुनासिकानामेव स्वभावतः प्राक्प्रयोगः, पश्चाद् ङादिपञ्चमानाम्। य र ल व, श ष स ह इत्यनयोरपि अल्पप्राणतयापूर्वत्वम् महाप्राणतया चोत्तरत्वं ज्ञेयम्।

एवं सम्पूर्णे लौकिकेऽक्षरसमाम्नायेऽन्तः प्रयत्नानुसारी क्रमः गृहीतोऽस्ति । यथा पञ्चवर्गीयाः स्पर्शाः स्पृष्टप्रयत्नाः। तत् ईषत्स्पृष्टा य र ल वाः। तत् ईषद्विवृताः श ष स हा इति। स्वाभाविको हि विवृतान्तः प्रयत्न इति कृत्वा स्वराः सर्वतः पूर्वं पठिता इति मातृकावर्णक्रमेऽपि महती सूक्ष्मेक्षिका प्राचीनाचार्याणाम् ।

(१०) **आद्यसूत्रचतुष्टयस्याध्यात्मपरत्वम्**—अथ 'उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धान्' इत्यंशस्य पूर्तये एषां सूत्राणामन्येन प्रकारेण व्याख्यां चिकीर्षुराद्यसूत्रचतुष्टयस्य तावदध्यात्मपरत्वं व्याख्यातुं प्रयते ।

(क) अ इ उ ण् । अः=परमेश्वरो निर्गुण इं=मायाशक्तिम् आश्रित्य उः=व्यापकः सगुणः ण्=आसीत् । अतति सर्वं जगद् व्याप्नोतीति विग्रहे अत धातोरौणादिको ड प्रत्ययः। अथवा अवति पालयति सर्वं जगदिति विग्रहे अव रक्षणे इति धातो र्ड प्रत्ययः। डित्त्वसामर्थ्याट्टिलोपः। एवम् परमात्मपरः अशब्दो निष्पन्नः। एति शक्तिरूपेण सर्वत्रानुगता भवतीति इः=माया। इण् गतौ इत्यतः कर्तरि क्विप् । आगमेशास्त्रस्यानित्यत्वान्न तुक्। अथवा औणादिको डि प्रत्यय एव । अवति विश्वं पालयति इति उः । अवते र्डु प्रत्ययः। यद्यप्युक्तव्युत्पत्तिभ्याम् अ उ शब्दयोः समानार्थत्वमेव लभ्यते । तथाऽपि लक्षणादिना अ शब्दस्य निर्गुणत्वपरत्वेऽपि न किञ्चिद् बाधकम् ।

अत्र पक्ष ण=इत्यादयोऽनुबन्धा निरर्थका एव, न त्वर्थवन्तोऽसम्भवात् ।

अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यं वर्णचतुर्दशम्।
धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये ।

इत्यत्र पाणिन्यादीनां कृते एवानुबन्धानामुपदिष्टत्वाच्च। एवं च ण् इत्यस्य 'आसीत्' क् इत्यस्य 'अदर्शयत्', इत्याद्यर्थाः काशिकाकृदादिभिरुक्ता अनुभवमात्रगोचरा एव। अस्य सूत्रस्योक्तार्थे इयं शिष्टोक्तिरपि मानम् —

अकारो ज्ञप्तिमात्रमिकारश्चित्कला मता।
उकारो विष्णुरित्याहुर्व्यापकत्वान्महेश्वरः ॥
अकारो ब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुणः सर्ववस्तुषु।

(ख) ऋ लृ क्। ऋ=परमेश्वरः, लृ=मायाख्यां मनोवृत्तिं, क्=अदर्शयत्। उक्तं च—

ऋ लृ क् सर्वेश्वरो मायां मनोवृत्तिमदर्शयत्।
तामेव वृत्तिमाश्रित्य जगद्रूपमजीजनत् ॥ इति।

अत्र ऋच्यते स्तूयते इति आ। ऋच् धातो र्डः। लाति आदत्ते प्रलय-काले सर्वं जगद् आत्मनि प्रविलापयति इति विग्रहे ला धातो र्ॠ प्रत्यये लृशब्दो निष्पद्यते। छान्दसत्वान् ङी बभावः। एवं चात्र ऋ पदार्थः परमात्मा लृ इति तस्य मायारूपा वृत्तिः, वृत्तिवृत्तिमतोश्चानयोर्नहि भेदलेश इति नाद्वैतसिद्धान्तहानिः। उक्तं च—

वृत्तिवृत्तिमतोरत्र भेदलेशो न विद्यते।
चन्द्रचन्द्रिकयो र्यद्वद्यथा वागर्थयोरपि ॥

स्वेच्छया यस्य चिच्छक्तौ विश्वमुन्मीलयत्यसौ।
वर्णानां मध्यमं क्लीबमृलृवर्णद्वयं विदुः ॥ इति।

(ग) ए ओ ङ्। ननु पूर्वसूत्रे मायावृत्तिसमाश्रयणमुक्तम्, तच्च जगत्स-र्जनार्यैवेति जन्यजनकभावे कथं नाद्वैतहानिः? इत्यत उच्यते—ए ओ ङ् इति। तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राविशदिति श्रुत्या स्वस्यैव जगद्रूपेण वर्तमानत्वे बोधिते यथा नाद्वैतहानिः, तथा अकारोकाराभ्यां निष्पन्नप्रणवरूपेणौकारेण सगुणनिर्गुणयोरैक्ये वोधिते तेनैव दृष्टान्तेन सर्वत्रैक्यवुद्धौ द्वैतनिरासो ध्वनितः। समष्टिव्यष्टिभेदेन पूर्व-वर्णयुतद्वितीयस्य तदयुक्ततृतीयस्य च समन्वयवोधकमेतत् सूत्रम्। अः अक्षरात्मकः इ इति मायायुक्तः सन् प्रज्ञानस्वरूपः प्रज्ञानात्मा ए शब्देनोच्यते। एति सर्वं जानातीति विग्रहे इण् गतौ इतिधातोर्विच्प्रत्ययः। ओ इत्यस्यार्थस्तु अ+उ इति विगृह्य अकारोकाराभ्यामित्यादिना उक्त एव। अतश्च—

ए ओ ङ् मायेश्वरात्मैक्य विज्ञानं सर्ववस्तुषु।
साक्षित्वात् सर्वभूतानां स एक इति निश्चितम् ॥

इति कथनं—सुष्ठु संगच्छते।

(घ) ऐ औ च् । स्वात्मभूतस्य परमेश्वरस्य जगत्कारणत्वमुच्यतेऽत्र । जगत् स्वान्तर्गतं विस्तारयितुमिच्छुः परमात्मा ऐकारत्वमौकारत्वं च लेभे । दीर्घाकारदीर्घेकारयोर्योगे ऐकारः, ईदृशाकारोकारयोर्योगे औकार इत्यन्यत्र प्रतिपादितम् । तथाऽपि आ+ई इत्यत्र ए इत्यस्य सम्पन्नत्वे पुनरकारेण मेलने ऐ इति बोध्यम्। एवमेव औ इत्यत्राऽपि । तत्र मायाशक्तिशवलितस्य सगुणस्य सवृद्धिकस्य ऐ औ इत्यस्य अवस्तुभूततया निर्गुणोऽकार एव वस्तुभूतो बोध्यः । उक्तं च—

ऐ औ च् ब्रह्मस्वरूपः सन् जगत्स्वान्तर्गतं ततः ।
इच्छया विस्तरं कर्तुमाविरासीन् महामुनिः ।। इति ।

(क) **मध्यवर्तिनां सूत्राणां सृष्टि परत्वम्**—ह य व र ट्, ल ण् । अत्र सृष्टिप्रक्रिया उक्ताऽस्ति । तत्र पूर्वं प्रक्रान्तोऽकार इं मायामाश्रित्य कया रीत्या व्यापको भवतीति जिज्ञासायामत्र भूतपञ्चकसृष्टिः प्रतिपाद्यते । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः', इति श्रुतिरप्यत्रानुकूला ।

जिहते गच्छन्ति प्राणिनो यस्मिन्निति हम् आकाशम् । ओहाङ् धातोर्डः । याति गच्छतीति यं वायुतत्त्वम् । या प्रापणे इत्यतो डः । वाति निम्नं गच्छति इति वं जलम् । वा गति गन्धनयो र्डः । राति देवेभ्यो हव्यं ददाति इति रम् अग्नितत्त्वम् । रा दाने इति धातुः । ड प्रत्यययोजना तु सर्वत्र विधेया । लाति वीजानि आदत्ते इति लं पृथ्वीतत्त्वम् । ला आदाने इति धातुः ।

यद्यपि व्याकरणशास्त्रेऽनुग्रहायात्र आकाशाद् वायुरिति श्रुत्युक्तः सृष्टिक्रमो त समादृतो भगवता महेश्वरेण, तथाऽपि पाठक्रमादार्थक्रमस्य बलवत्त्वमाश्रित्य तथोपदेश इति न किमप्यनुपपन्नम् । उक्तं च—

भूतपञ्चकमेतस्माद् ह य व र ण् महेश्वरात् ।
व्योमवाय्वम्बुवह्न्याख्यभूतान्यासीत् स एव हि ।।

हकाराद् व्योमसंज्ञं च यकाराद् वायुरुच्यते ।
रकाराद् वह्निस्तोयं तु वकारादिति सैव वाक् ।।

आधारभूतं भूतानामन्नादीनां च कारणम् ।
अन्नाद्रेतस्ततो जीवः कारणत्वाल्लणितीरितम् ।। इति ।

अत्र पक्षे भूतपञ्चकसृष्टिप्रतिपादनायोक्तसूत्रद्वयमेकं कृत्वा व्याख्यातम्, पार्थक्यस्यायुक्तत्वात् ।

(ख) ञ म ङ ण न म् । अत्र सूत्रे शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा आकाशादि-पञ्चमहाभूतानां गुणा बोध्यन्ते । तेन सगुणात् परमत्मनः तत्तद्गुणवत्तत्तद्भूत-मुत्पन्नमित्यागतम् । उक्तं च—

शब्दस्पर्शौ रूपरसगन्धाश्च ञ म ङ ण न म् ।
व्योमादीनां गुणा ह्येते जानीयात् सर्ववस्तुषु ।।
पञ्चवर्गेष्वन्तिमार्णाः शब्दस्पर्शादयो गुणाः ।। इति ।

'अत्राऽपि सर्वं नाम धातुजमाह' इति शाकटायनसिद्धान्तेन ञ कारदयोऽवश्यं व्युत्पादनीया इति कुङ् खुङ् इति दण्डकपठिताद् ङुङ् शब्दे इति धातोर्डः । ङका-रस्य चवर्गादिशे ञकारः पृषोदरादित्वकल्पनया । ङूयते शब्द्यते इति विग्रहः । एवं च ञ इति शब्दरूपार्थबोधकः । एवमेव मीयते त्वगिन्द्रयेण साक्षात्क्रियते योऽसौ मः स्पर्शगुणः, माङ् माने इति प्रसिद्धोऽत्र धातुः । ङूयते कीर्त्यते इति ङः रूप-गुणः । ङुङ् धातुरुक्त एव । नह्यति समवायेन सम्बध्नाति जलं पृथिवीं च योऽसौ णः रस गुणः । णह् बन्धने इति धातुः । पृषोदरादित्वाण्णत्वम् । नमति वायु-साहचर्येण नासिकाग्रं योऽसौ 'नः' गन्धगुणाः । णमु प्रह्वत्वे शब्दे प्रसिद्ध एव धातुः ।

(ग) झ भ ञ्, घ ढ ध ष् । आभ्यां सूत्राभ्यां पञ्च कर्मेन्द्रियाण्युप-स्थाप्यन्ते । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च······' इति श्रुत्या सह संवादोऽप्यत्र समीचीनः । तत्र च झटिति मुखे वायुसंयोगेन वर्णमुत्पादयति यत्तद् झम् वागिन्द्रियम् । झट् संघाते इति धातुः । भाति ग्रहणाख्येन स्वव्या-पारेण शोभत इति भम् पाणीन्द्रियम् । भा धातुर्दीप्त्यर्थकः । घवते शब्दायमानं सद् गच्छति इति घम् पादेन्द्रियम् । घुङ् शब्दे इति धातुः । ढौकते मलाप-नयनाय गुदद्वारं गच्छति यत्तद् ढम् पाय्विन्द्रियम् । ढौकृ धातुर्गत्यर्थे प्रसिद्धः । दधाति गर्भधारणाय स्वव्यापारेण स्त्रियं प्रेरयति यत्तद् धम् उपस्थेन्द्रियम् । डुधाञ् धातुरन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र ग्राह्यः । उक्तं च—

वाक्पाणी च झ भ ञासीद् विराड्रूपचिदात्मनः ।
वर्गाणां तुर्यवर्णानां ये कर्मेन्द्रियमया हिते ।।
घ ढ ध ष् सर्वभूतानां पादपायू उपस्थकः ।
कर्मेन्द्रियगणा ह्येते जाता हि परमार्थतः ।। इति ।

अत्र पक्षे इदमपि सूत्रद्वयमेकत्वेन व्याख्यातुं युज्यत इति द्वादशत्वसंख्याऽपि न विरुद्धा ।

(घ) ज ब ग ड द श् । अनेन सूत्रेण पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि प्रतिपाद्यन्ते । उक्तं च—

श्रोत्रत्वङ्नयनघ्राणजिह्वा धीन्द्रियपञ्चकम् ।
सर्वेषामपि जन्तूनामीरितं ज ब ग ड द श् ।।

जयति शब्दग्रहणे उत्कर्षेण वर्तते यत्तद् जम् श्रोत्रेन्द्रियम् । जिधातुर्ज यार्थकः । वदति सर्वशरीरे तिष्ठति यत्तद् बम् त्वगिन्द्रियम् । वद्धातुः स्थैर्ये पवर्गीयादिः । गच्छति दूरस्थमपि विषयं गत्वा गृह्णाति इति गम् चक्षुरिन्द्रियम् । गम्लृ गतौ प्रसिद्ध एव धातुः । डयते वायुसम्बधेन विहायसा गच्छति यत्तद् डम् घ्राणेन्द्रियम् । डीङ् विहायसा गतौ इति धातुः । ददाति रसं गृहीत्वा भोक्त्रे समर्पयति यत्तद् दम्, रसनेन्द्रियम् । डुदाञ् दाने इति धातुः ।

अत्राऽपि घ्राणरसनयोरार्थक्रमानुरोधेन पाठक्रमोऽत्तीव नादर्तव्यः ।

(ङ) ख फ छ ठ थ च ट त व् । प्राणादिपञ्चकस्य मनोबुद्ध्यहङ्काराणां चात्र सृष्टिरुच्यते । सर्वाऽप्येषा प्रक्रिया पञ्चदश्यादि वेदान्तग्रन्थतोऽधिकमवगन्तव्या । उक्तं च—

प्राणादिपञ्चकं चैव मनोबुद्धिरहङ्कृतिः ।
बभूव कारणत्वेन ख फ छ ठ थ च ट त व् ।।

तत्र खनति मुखमीषद् विवारयति वर्णोच्चारणायेति ख प्राणवायुः । खनु अवदारणे इति धातुः । फक्कति मलादिनिःसारणाय नीचैर्गच्छति योऽसौ फः अपानवायुः । फक्कधातुर्नीचैर्गतौ । छयति नाभिमाश्रित्य भुक्तस्यान्नजलादेः समानत्वापादनेन पार्थक्यं निवारयति योऽसौ छः समानवायुः । छो छेदने धातुः । टलति टालयति भुक्तस्यान्नादेरुद्गारार्थं निरासयति योऽसौ ठः उदानवायुः । टल टूल वैक्लव्ये इति धातुः । पृषोदरादित्वात् ट इत्यस्य ठ इत्यादेशो बोध्यः । तिष्ठति सर्वशरीरे रसरुधिरादीनां विततनाय योऽसौ थः व्यानवायुः । ष्ठा गतिनिवृत्तौ इति धातुः । पृषोदरादितया स कारलोपः चिनोति संकल्पविकल्पात्मकं कर्म इति चं मनः । चिञ् चयने इति धातुः । टङ्कति देहादौ तादात्म्याध्याससम्पादनेन जीवं बध्नाति इति टम् बुद्धितत्त्वम् । टकि गतौ इति धातुः । तनोति विस्तारयति शरीरादिष्वहन्ताध्यासापादनेन बुद्ध्यापादितां चिज्जडग्रन्थिं योऽसौ तः अहङ्कारः । तनु धातुर्विस्तारेऽर्थे प्रसिद्ध एव ।

(च) क प य् । अत्र जगत्कारणीभूतयोः प्रकृतिपुरुषयोर्द्वयोर्निर्देशोऽस्ति । कचते जगद् बध्नाति इति कं, प्रकृतितत्त्वम् । कच् धातुर्बन्धनार्थकः । कचि दीप्तौ इत्यस्माद् धातो र्वा क शब्दो निष्पाद्यः । जगद्रूपकार्येण प्रकृतेर्दीप्यमानत्वात् । पाति विश्वमिति पः पुरुषः । पा धातू रक्षणे प्रसिद्ध एव । उक्तं च—

प्रकृतिं पुरुषं चैव सर्वेषामेव सम्मतम् ।
सम्भूतमिति विज्ञेयं क प य् स्यादिति निश्चितम् ।। इति ।

(छ) श ष स र् । रजस्तमस्सत्त्वगुणानामत्र निर्देशः कृतोऽस्ति । गुण-त्रयात्मिकां स्वां प्रकृतिमधिष्ठाय परमेश्वरः सर्वभूतेषु क्रीडति इत्यर्थः । उक्तं च—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणानां त्रितयं पुरा ।
समाश्रित्य महादेवः श ष स र क्रीडति प्रभुः ।। इति ।

शक्नोति मनुष्यदेहादिकार्यं कर्तुं योऽसौ शः रजोगुणः । शक्लृ शक्तौ इति धातो र्डः । स्यति अन्तं करोतीति । इति षः तमोगुणः । षोऽन्तकर्मणि इति धातुः । अथवा सायति क्षयं करोति इति षः । षै क्षये इति धातुः । पृषोदरा-दित्वात् षत्वम् । सीदन्ति तिष्ठन्त्यस्मिन् ज्ञानवैराग्यप्रभृतयो धर्मा इति सः सत्त्व-गुणाः । षद्लृ धातुर्विशरणाद्यर्थे प्रसिद्धाः । उक्तं च—

शकाराद्राजसोद्भूतिः षकारात्तामसोद्भवः ।
सकारात्सत्त्वसम्भूतिरिति त्रिगुणसम्भवः ।। इति ।

(१२) **अन्त्यस्य सूत्रस्य पुनरध्यात्मपरत्वम्**—अत्राध्यात्मतत्त्वं पुनः स्मारितम् । हन्ति अविद्यामिति हः शम्भुः । हन्ति हन् धातुर्हिंसागत्युभयार्तकः । अथवा हन्ति सर्वत्र गच्छति सर्वं जानातीति वा विग्रहः । एवं च ढक्कानिनादव्याजेन सनकादिमुनिजने भ्यस्तत्त्वमुपदिशन् आद्यमकारमन्त्येन हकारेण विन्दुनाऽपि च सह संयोज्याहमेव यूयमित्यु-पदिश्यान्तर्दधौ भगवान् शम्भुरिति तातपर्यार्थः सम्पन्नः । उक्तं च—

तत्त्वातीतः परः साक्षी सर्वानुग्रहविग्रहः ।
अहमात्मा परो हल् स्यामिति शम्भुस्तिरोदधे ।। इति ।

(१३) **एतत्फलभूताष्टाध्याय्याः महत्त्वम्**—नन्वीदृशानिर्वचनीयमहत्त्वशालिन्या चतुर्दशसूत्र्या किं फलं प्रसूतमितिचेत् ? उच्यते—यदर्थं सा उपदिष्टा, तत् प्रसूतवत्येव । सनकादयो ब्रह्मर्षयोऽनया ब्रह्मसाक्षात्कारं सम्पाद्य जीवन्मुक्ता भूत्वा विचरन्ति । उक्तं च श्रीमद्भागवते तेषां विषये—पञ्चषड्ढायनार्भाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः । इति । द्वितीयं चैहलौकिकमपि महन्महनीयं फलं पाणिनिमहामुनेरन्तःकरणे प्रकटितमष्टाध्यायीरूपम् । यस्यांचाष्टाध्याय्यामुदितायां सर्वोऽप्यन्यो व्याकरणसम्प्रदायो विलुप्तो बभूव सवितर्य्युदिते नक्षत्रगण इव । यां चाधीयानाः पाश्चात्त्या वैदेशिका अपि विद्वांस एकस्वरेणोच्चैरुद्-घोषयन्ति यदियमष्टाध्यायी मानवमस्तिष्कस्य चरम आदर्श इति । जगन्मान्येन श्रीमहर्षि-पतञ्जलिना उच्यते—सोऽयमक्षरसमाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितः

वेदितव्यो ब्रह्मराशिः, इति। पुष्पितत्वं चात्र 'वृद्धिरादैच्'—प्रभृतिसूत्रद्वारा। फलितत्वं च शब्दसाधुत्वसम्पादनद्वारा। अत्र चतुःसूत्रो न चतुःसहस्री सूत्राणां वर्तते। तत्र संज्ञापरिभाषादि भेदभिन्नानि षड्विधानि सूत्राणि सन्ति। अनुवृत्तिक्रमोऽधिकारक्रमश्चातीव वैज्ञानिकीं पद्धतिं द्योतयतः।

बृहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः। न चान्तं जगाम, यं व्याकरणमहोदधिम्। तमेव खलु बिन्दुमिव कृत्वा महता कौशलेन सूक्ष्मातिसूक्ष्मेक्षिकया पूरितवान् अत्राष्टाध्याय्यां गर्गर्य्याम्। किं किं लोके व्यवह्रियते? क्व क्व को विधिः, क्व यण्, क्व गुणः, क्व च वृद्धिः, क्व च सवर्णदीर्घः? क्व क्व च जश्त्वरुत्वयत्वविसर्जनीयत्वादयः? इति परितः सर्वं विविच्य विविच्यैव सूत्राणि प्रणयति स्म। क्वचिदपि एकोऽनुस्वारः एका मात्राऽपि निष्प्रयोजनतां न भजतीति मुहुर्मुहुः प्रशंसति भगवान् पतञ्जलिः—'सामर्थ्ययोगान्नहि किंचिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्' इति, 'वर्णेनाऽप्यनर्थकेन न भवितव्यम्" इति च। असंख्याताः शब्दा अनया साधयितुं शक्यन्त इति संस्कृतभाषाया एव न अपि तु भाषान्तराणामपि महदुपजीव्यभूताया अस्या अष्टाध्याय्याः पठनं पाठनं स्वतन्त्रे भारते महतोत्साहेन पुनः प्रचलेदिति भगवन्तं महेश्वरं भूयो भूयः सम्प्रार्थये। स्मारये च—

> यद्यपि बहु नाधीषे तथाऽपि पठ पुत्र! व्याकरणम्।
> स्वजनः श्वजनो मा भूत सकलं शकलं सकृच्छकृत॥ इति।

(१४) **परिशिष्टम्**—श्रीमद्भगवद्गीतायामन्ते विरुद्धमुपदिष्टं भगवता श्रीकृष्णेनार्जुनं प्रति। 'मन्मना भव मद्भक्त' इति, 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इति च। न हि यौगपद्येन कर्मयोगः कर्मसन्न्यासश्च कर्तुं शक्येते। तत्र कालभेदेन द्वयोरप्यादेशयोः पालनं कृतमर्जुनेन। तत्काले क्षात्रं कर्म अनुष्ठितम्। अन्ते च सन्न्यासमपि कृतवान्। एवमेवानया चतुर्दशसूत्र्या व्याकरणप्रणयनमध्यात्मतत्त्वं चोभयं प्रतिपाद्यमानं विरुद्धं सदपि संघटत एव, अधिकारिभेदात्। एवं च दृष्टान्ते कालभेदः। अत्रत्वेकस्मिन्नेव काले पात्रभेदाद् व्यवस्थेति विशेषः। विरुद्धोपदेशवत्त्वेनोभयोः साम्यम्। किञ्च, शब्दतत्त्वविदः पाणिनेरपि व्याकरणप्रणयनादनु शब्दब्रह्मसाक्षात्कारोऽवश्यं जात इत्यनुमित्या पाणिनेः कृते कालभेदेनाऽपि द्वयोः संगतिः। अन्ते च महाभाष्य—प्रदीप—शिक्षा—काशिका—सिद्धान्तकौमुदी—ध्वनिप्रकाश—प्रभृतिग्रन्थतः साहाय्यं लब्ध्वा पूरितोऽयं निबन्ध इति तत्तद्ग्रन्थकर्तृभ्योऽन्येभ्यश्च साहाय्कर्तृभ्योऽनेकशो धन्यवादान् प्रदाय निबन्धाध्येतृभ्यो भगवतो विश्वनाथात् साफल्यं कामयमानो विरमामि। शम्भूयात्।

卐

लिङ्ग विमर्शः

पण्डितश्री कृष्णशास्त्री मोकाटे

स्वमहिम्नि प्रसिद्धेऽपि बहुचर्चाचर्चितोऽयं विचारः तत्र यद्यपि चेतने लोकानुगतं व्यावहारिकं लिङ्गस्य स्वरूपं साधारणानामपि सुपरिचितमेव परमचेतने खट्वादौ वृक्षादौ वा किं तत्स्वरूपं यदविगम्य लोके अनादि व्यवहारः शास्त्रीयञ्च किं स्वरूपं यदभिलक्ष्य शास्त्रेषु व्यवहारः ? उभयानुगतं चेतनाऽचेतनसाधारणञ्च लोके किं स्वरूपं ? अथ शास्त्रीयञ्च किम् इत्येतत्सर्वमेतस्मिन् प्रस्तुते लेखे समासतः शास्त्रीय दृशा मयोपनिबध्यते येनोभयानुगतं लौकिकं शास्त्रीयञ्च किमपि रूपं लोकैर्विज्ञायेतेति विचार्य किञ्चन्निगद्यते मयात्र वाक्यपदीयानुसारेण, तथाहि —

लोके यद्यल्लिङ्गं दृष्ट्वा अयं पुमान्, इयं स्त्री, इदं नपुंसकमिति प्रतीयते तदिहादौपक्षद्वयेन निर्दिष्टम्—

स्तन-केश-कलाप प्रजननादिरूपव्यञ्जनैरवयविनः सम्बन्धः संयोग समवायलक्षणो लिङ्गमथवा तेन विशिष्टाः स्तनादय इति ।

तदुक्तम् — स्तन केशवती स्त्रीस्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः ।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ।।
(श्लोक वार्तिक)

इत्युभय व्यञ्जनाभावात्तदभावे व्यञ्जन् विशेष बल साम्याच्चानेनैव नपुंसकत्वमपि लक्षितं तदभावे नपुंसकमित्येवोक्तेऽव्ययानां तिङन्तानाञ्च तत्प्रसङ्गः, उभयोरन्तरमित्युक्ते कुक्कुटमयूर्याविति लिङ्ग समुदायविषये नपुंसकत्वं स्यादित्युभयमुपात्तम् । यत्र यत्र लिङ्गान्तराभावे तुल्यजातीयं स्त्रीपुंसव्यतिरेकेण लिङ्गान्तरं सोऽर्थो नपुंसकलिङ्ग युक्त इत्यर्थः । अत्र मत्वर्थीयेन य एव संबन्ध विशेष उक्तः स एवेहानूद्यते, स्तनकेशसंबन्धस्योपलक्षणत्वात् । प्रसवयोनि विशेषादियथास्वं दृष्टो विशेष इहादि ग्रहणात् गृह्यते एवं लोम संबन्धोऽपि विशिष्टोऽन्यस्याप्युपलक्षणमिति प्रसवादयोऽपि गृह्यन्ते तेन लिङ्गात् स्त्रीपुंसयोर्ज्ञानि भ्रकुंसे टाप् प्रसज्यते । न त्वं खरकुटीः पश्येति चोद्यं नावतरेत् । लोके हि योदृष्टः सम्बन्धस्तमनूद्य लक्षणे क्रियमाणे नाति प्रसङ्गोभवति, एतत्तु दर्शनद्वयमचेतनानां स्तनादि रहितत्वादव्यापकमित्यतः पक्षान्तरेण विचार्यते । अथात्र वैशेषिकाः—

सर्वत्राभिन्नाभिधान प्रत्ययोन्नीत सद्भावां जातिं मन्यन्ते इति स्तनाद्युपव्यञ्जना भिव्यक्त विशेषा स्त्रीत्वपुंस्त्वनपुंसकत्वरूपा लिङ्गं जातिरित्याहुः—

'सा चाचेतनस्यापि यथास्वमुपव्यञ्जनाभिव्यक्ता विद्यत एव'।

अथ स्तनाद्युपव्यञ्जना जातिः कथमचेतने नहि तत्र स्तनादय सन्ति। अथादि ग्रहणात् यथायथं विशिष्टमेवोपव्यञ्जनमेवंसतिपूर्वोक्तमपि पक्षद्वयंनाव्यापकमचेतनेष्वपि यथा स्वमुपव्यञ्जनविशेषविशेषणस्यग्रहणात्, अस्ति हि खट्वादीनामपि किञ्चिन्निमित्तं यद्वशात् स्त्र्याद्याकार प्रत्यय प्रसवः, सत्यमेतद् अर्थव्यक्ति वस्तुशब्दानां तु त्रिलिङ्गानां सर्वभावेष्वव्याहतप्रसरत्वात्। त्रिलिङ्गयोगस्तदाकार प्रत्ययान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयते, तत्र च परस्परविरोधिनियतव्यञ्जन सम्बन्धरूपं लिङ्गत्रयं लौकिकं कथं स्यात्, अतो जातिपक्षावलम्बनं जातीनां हि सर्वगतत्वादेकाश्रयसमवायित्वं बह्वीनामप्युपपाद्यते वैशेषिकैः। सांख्यास्तु सत्त्वरजस्तमसां गुणानां सतत परिणामिनामुपचयापचयमध्यस्थ लक्षणा अवस्थाविशेषा यथायोगं पुंस्त्वादिलिङ्गमातिष्ठन्ते

तदेतत् भाष्यकाराभिमतं दर्शनं संस्त्यानप्रसवस्थितयोऽपिहितस्य लिङ्गं तथा-चाह—संस्त्यान प्रसवौ लिङ्गं, सर्वाञ्चपुनर्मूर्तयः, एवमात्मिकाः संस्त्यान प्रसवगुणा इति वदता वृक्षादावपि लिङ्ग योग उपपादितो भवति, त्रिलिङ्गताच अयमर्थिताः, तत्र संस्त्यानं संहननं प्रतिलयस्तिरोधानं, इत्यवस्थाः स्त्रीत्वं प्रसवः प्रवृत्तिराविर्भाव इति पुंस्त्वम्, न स्त्री पुंसौ नपुंसकमिति स्थितिर्नपुंसकमिति लभ्यते।

अवस्था विशिष्टा वा गुणा एवलिङ्गमित्यप्यत्रैव दर्शने पक्षान्तरम्। तेहि कार्यान्तरवत् स्त्र्याद्यवभासमपि प्रत्ययमुपजनयन्तो भवन्ति लिङ्ग व्यपदेश्याः एकस्यापि वस्तुतः शब्दभेदादर्थो व्यक्तिर्वस्त्विति लिङ्ग भेदस्य दर्शनात्।

वहिरसन्नेव शब्दैरुत्पादित इव वाह्ये वस्तुनि लिङ्ग योग इति शब्दाभिधेयस्वभावं लिङ्गमिति केचित्।

तटस्तटीतटमित्यभिन्नेनापि शब्देनाभिन्नं वस्तु त्रिलिङ्गं प्रत्याय्यत इति शब्दसंस्कार मात्रं लिङ्गमाश्रीयते कैश्चित्।

सम्प्रति शब्दशक्ति स्वभावानुसारेणापरं विकल्प सप्तकमुच्यते।

तदाह भर्तृहरिस्तृतीये काण्डे—

उपादानविकल्पाश्च लिङ्गानां सप्तवर्णिताः।
विकल्पसंनियोगाभ्यां ये शब्देषुव्यवस्थिताः॥

उपादानं शब्दैर्विशिष्टशक्तिभिरर्थोपाधित्वेनग्रहणं लिङ्गानां। तस्यसप्तभेदाः। लिङ्गाभिव्यञ्जकशब्दशक्ति प्रति नियताध्यासकार्यं लिङ्गानां गुणावस्थादि

रूपाणां सर्वत्रसम्भविनामपि तथा विकल्पे स्त्रीपुंनपुंसकानां शब्दैः प्रत्यायने चत्वारो भेदाः, संनियोमोनियमः तेन त्रयोविकल्पाः, तद्यथा वृक्षादयः पुंस्येवनियताः, खट्वादयाः स्त्रियामेव, दध्यादयोनपुंसक एवेति सप्तविकल्पाः । अथेदानीं जातिपक्षो ऽत्र विचार्यते—लौकिकस्य लिङ्ग लक्षणस्योपेक्षणात् तत्रगोत्वादीनामिव स्त्रीत्वादीनामेकत्रकथं न विरोध इत्याशङ्कायामाह तत्रभवान् भर्तृहरिः––

तिस्रो जातय एवैताः केषांचित् समवस्थिताः ।
अविरुद्धा विरुद्धाभिर्गोमहिष्यादि जातिभिः ॥

स्त्रीत्वाद्यनुरक्त प्रत्ययोत्पादेन सर्वत्राविरुद्ध समवाया स्त्रीत्वादिजातयो विरुद्धैकार्थ समवायोभिर्गोत्वमहिषत्व जातिभिः सहैकस्मिन् आश्रये वर्तन्ते, भिन्न जातीयेष्वपि स्त्र्याद्याकार बुद्धेरनुगमात् जात्यन्तरैः स्त्रीत्वादि जातीनामविरुद्ध एकार्थ समवाय सत्वात्कथमासां जातीनां गोत्वादिभिरविरुद्धत्वं न स्यादितिनाशङ्कनीयम् ।

तदुक्तं हस्तिन्यां वडवायाञ्च स्त्रीतिवुद्धेः समन्वयः, ।
अतस्तां जातिमिच्छन्ति द्रव्यादि समवायिनीम् ॥

शब्दप्रमाणकानां शब्दार्थोऽर्थ इति सर्वत्र द्रव्यगुणकर्मसामान्यादावपि लिङ्ग जाति योगः कल्प्यते । तथा च स एवार्थः केनचिच्छब्देन नियतलिङ्गोऽभिधीयमानस्तल्लिङ्ग जातियोगो शब्दानान्तरेण तु लिङ्ग जात्यन्तर योगो प्रत्याय्यते । तद्यथा, भाव शब्देनपुंस्त्वोपाधिः सतोच्यते सत्ताशब्देन स्त्रीत्वोपाधिः, साम्यशब्देन नपुंसकत्वोपाधिः, इति शब्दशक्त्यनुसारेणैव सर्वत्र लिङ्गोपाधि व्यवस्थिताः । शब्दा द्रव्यायमाणं वस्त्वाचाक्षणास्तद्धर्मं लिङ्गोपाधितयैव तत्र तत्र प्रवर्तन्ते । एवञ्च लिङ्गेष्वपरो लिङ्गयोगस्तद्यथा स्त्रीत्वं स्त्रीता, स्त्रीभाव इति । तदेवाह—परतन्त्रस्ययल्लिङ्गमपोद्धारे विवक्षते ।

तत्रादौ शब्दसंस्कारः शब्दैरेव व्यवस्थितः ।
बुद्धाकल्पितरूपेपुलिङ्गेष्वपि च सम्भवः ।
स्त्रीत्वादीनां व्यवस्था हि सालिङ्गैर्व्यपदिश्यते ॥ इति ।

तथाचैवं बहिर्विद्यमान लिङ्ग निमित्तमन्यत्राध्यस्तोदकभाववदिहाप्यन्यत्राध्यस्त स्त्रीत्वाद्यसदध्यारोपितंप्रतीयत इत्यचेतनानामपि सुष्ठुलिङ्गं व्यवस्थापितं भवति ।

तदुक्तं—

यथा सलिलनिर्भासोमृगतृष्णासु जायते ।
जलोपलब्ध्यनुगुणाद्बीजाद्बुद्धिर्जलेऽसति ।।

तथैवाव्यपदेश्येभ्यो हेतुभ्यस्तारकादिषु ।
मुख्येभ्य इवलिङ्गेभ्यो भेदा लोके व्यवस्थिताः ।।

अथ यथादित्यगतिर्देशान्तरे प्राप्त्याऽनुमीयते वस्त्रान्त हितञ्च वस्तु वस्त्रापाये व्यवधाने निवृत्ते साक्षाद् गृह्यते नैवं लिङ्ग जातिः, खट्वावृक्षादौ न कदापि परिलक्ष्यते, अथ च लिङ्गकार्यस्य खट्वावृक्षादौटावादेर्दर्शनः लिङ्गानुमानं तदपि न एतदेवाह—

नचालमनुमानाय शब्दो दर्शन पूर्वकः ।
सिद्धे हि दर्शने किंस्यादनुमान प्रयोजनम् ।।

सदेवंलौकिकं लिङ्गमचेतनेष्वव्याप्तमतोऽवश्यञ्च कश्चित् स्वकृतान्तः आस्थेय इति भाष्ये संस्त्यानप्रसवौलिङ्गस्त्रीपुंसलक्षणमुक्तम् । उभय धर्म साम्यरूपास्थितिर्नपुंसक मित्यर्थादुक्तं भवति ।

तदेवभाष्यतात्पर्यं व्याचष्टे—

आविर्भावस्तिरो भावः स्थिति चेत्यनपायिनः ।
धर्ममूर्तिषु सर्वासु लिङ्गत्वेनानुदर्शिताः ।। इति ।

संस्थाने स्त्यायतेड्रट् स्त्री सूतेस्सप् प्रसवे पुमान् इति, स्त्यानं संहननमापद्यद् अस्यां गर्भ इत्यधिकरणं स्त्री, प्रसवं उपचये डुम्सुन् प्रत्यये परतस्सकारस्य पकारादेशेपुमानिति सूत्यर्थे वृतिं सूचयति ।

तथाचाकाशादिषु पृथिव्यन्तेषु शब्दादयः पञ्चगुणाः समुदायभावमापद्यन्ते इतिशब्दादिगुणाः सत्वरजस्तमो लक्षण गुणमया इति गुणे गुणे शब्दादौसत्वादि गुणत्रयं धर्माव्यवस्थितास्तत्र प्रकाशः प्रसव आविर्भावः सत्वधर्मः, प्रवृत्तिः क्रिया रजोधर्मः, आवरणं तिरोभावः स्थिति स्तमोधर्मः, एत एवधर्माः लिङ्गं तथाचाविर्भावतिरोभावयोः, व्यापकत्वात्सर्वत्र स्त्रीपुंसलिङ्ग योगः । यद्येवं कोऽवसरो नपुंसकस्येति चेदाह—

प्रवृत्तेरेकरूपत्वं साम्यं वा स्थितिरुच्यते ।
आविर्भावतिरोभावप्रवृत्त्याव्यवतिष्ठते ।।

तदेवं सतत परिणामिनां गुणानामध्यवसायवशेनस्वभावैक्यं साम्यं तिरोभाव-पर्यवसानं वेति प्रकारत्रयेण स्थितेरुपपादनान्नपुंसकत्वमपि सिद्धमेवेत्थं भाष्योक्तं भर्तृ-हरिणा विस्तरेणव्याख्यातमिह समासतोमयातिव्यापकं चेतनाचेतन साधारणं तत्स्वरूपं प्रदर्शितमित्यलम् ।
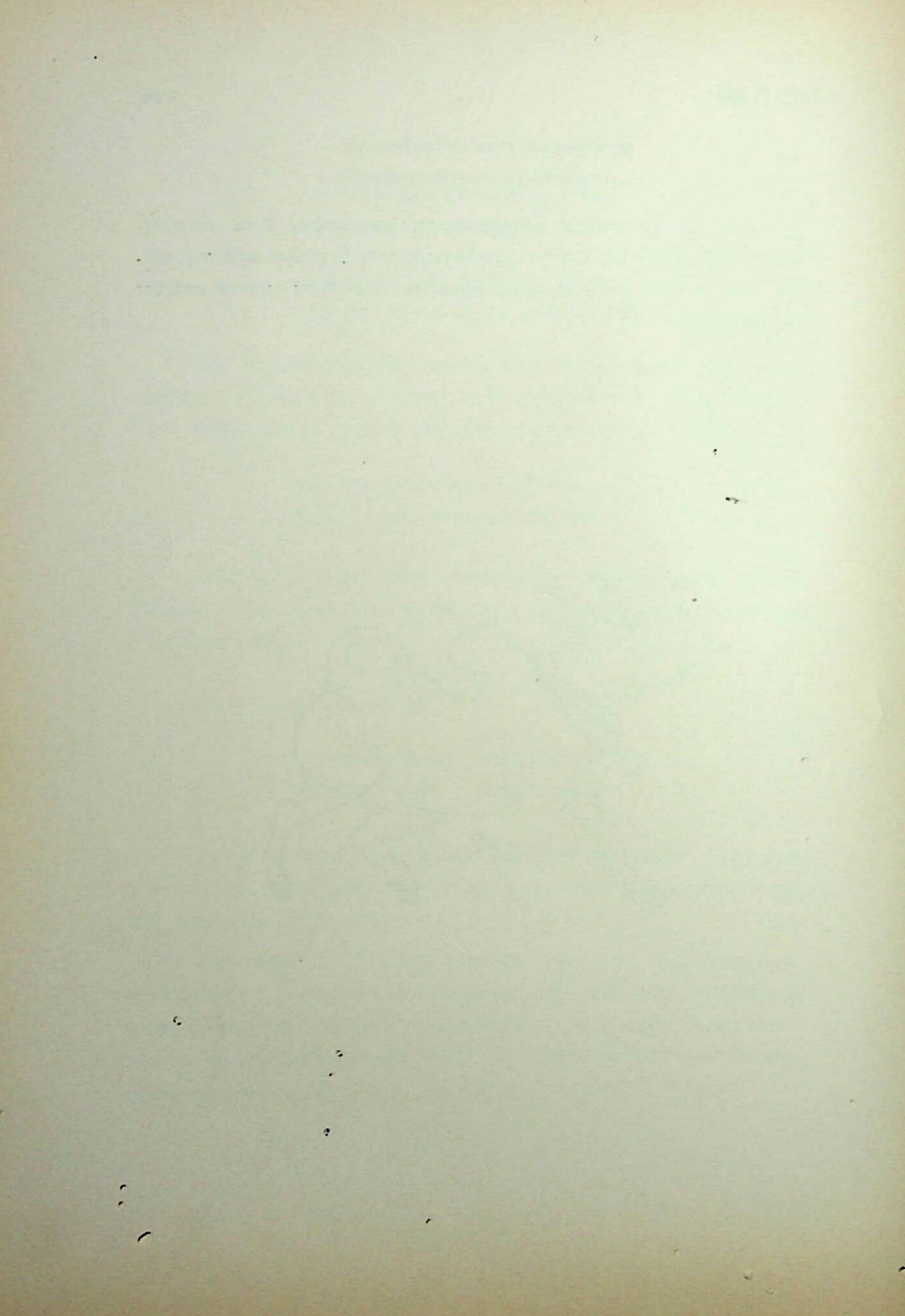
डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थः

वाग्वादिनी सहस्रतन्त्री

डॉ० वे० राघवः

राकासुधाकरकरावलि नालिकाभि-
रावर्जितामृत झरैरिव वर्धितस्य ।
उत्ताल ताण्डव तरङ्गततेर्य एष
कोलाहलोऽम्व जलधेस्स तवाट्टहासः ॥१॥

आगस्त्यदिक् प्रसृमरानिल पूरितेभ्यः
वंश प्ररोहसुपिरेभ्य उदेति या सा ।
गीतिस्तवैव सुमपर्ण विचित्ररत्न-
सिंहासनोपरिलसद्वनदेवतायाः ॥२॥

कुञ्जात् चलत्प्रसवमांसलशाखिकाग्र-
डोलारसानुभव रक्तपिकावलीभ्यः ।
आशाप्रशाम्यदवकाश तरङ्गयमाणो
यः पञ्चमो हृदयचुम्बिशरः स्वरोऽयम् ॥३॥

शाखासु कन्दलदमन्द सुमेन नीप-
वृक्षेण साकमुदयिन्यसिते पयोदे ।
सान्द्रप्रमोदतरलः प्रचलाकि वर्गः
यं कूजतीह स च षड्जगभीर नादः ॥४॥

वासन्तिकश्रिय उदङ्घ्रितलावघात-
फुल्लल्लतावलि वलल्ललितालि जृम्भी ।
रींकार एष य उदीर्ण मनोजमौर्वी-
नादः समुत्सुकितसर्वसचेतनञ्च ॥५॥

वल्लीनियन्त्रित कुरङ्ग तुरङ्ग युक्ते
सूतन्मधौ मलय वायुरथे निविश्य ।

वाग्वादिनी सहस्रतन्त्री

डॉ० वे० राघवः

राकासुधाकरकरावलि नालिकाभि-
रावर्जितामृत झरैरिव वर्धितस्य ।
उत्ताल ताण्डव तरङ्गततेर्य एष
कोलाहलोऽम्व जलधेस्स तवाट्टहासः ॥१॥

आगस्त्यदिक् प्रसृमरानिल पूरितेभ्यः
वंश प्ररोहसुषिरेभ्य उदेति या सा ।
गीतिस्तवैव सुमपर्ण विचित्ररत्न-
सिंहासनोपरिलसद्वनदेवतायाः ॥२॥

कुञ्जात् चलत्प्रसवमांसलशाखिकाग्र-
डोलारसानुभव रक्तपिकावलीभ्यः ।
आशाप्रशाम्यदवकाश तरङ्गचमाणो
यः पञ्चमो हृदयचुम्बिशरः स्वरोऽयम् ॥३॥

शाखासु कन्दलदमन्द सुमेन नीप-
वृक्षेण साकमुदयिन्यसिते पयोदे ।
सान्द्रप्रमोदतरलः प्रचलाकि वर्गः
यं कूजतीह स च षड्जगभीर नादः ॥४॥

वासन्तिकश्रिय उदङ्घ्रितलावघात-
फुल्लल्लतावलि वलल्ललितालि जृम्भी ।
रींकार एष य उदीर्ण मनोजमौर्वी-
नादः समुत्सुकितसर्वसचेतनञ्च ॥५॥

वल्लीनियन्त्रित कुरङ्ग तुरङ्ग युक्ते
सूतन्मधौ मलय वायुरथे निविश्य ।

छत्रत्सुधाकरमपि व्यजनायमान-
काशप्रसूनमुपयान्तमनङ्गराजम् ॥६॥

अन्येऽपि ये द्विजगणाः प्रतिशाखसंस्थाः
प्रत्युद्व्रजन्ति परितः स्तुति पाठकामाः ।
आपादिताखिलचिदात्मक लोकचित्त-
क्षोभैश्च यैः स्तवन गीतिपदैरमीभिः ॥७॥ (युग्मकम्)

सर्वा अमूः सरसनादभरोर्मिमाला
आभावुकीकृतशिलात्मकजीवलोकाः ।
अम्ब ! त्वदङ्कतलशायिसहस्रतन्त्री-
व्यास्फालमूर्च्छितनिरन्तर-रागमालाः॥८॥ (३-८ कुलकम्)

आश्वास धीर वहुलं पथिक प्रियाणां
श्वासं तनोति परिनर्तितनीलकण्ठः ।
यः श्रावणाभ्रसमुदञ्चितमन्द्रघोषः
गाने तवैव कुरुते स मृदङ्गयोगम् ॥९॥

अभ्रं कषाद्रि शिरसोऽवतरन्नसौ यां
गाधस्तृतः शलशलामति शर्करोर्व्याम् ।
अन्यत्र यां गलगलां वहुगद्गदं च
श्वभ्रे करोति नवनिर्झरिणी प्रवाहः ॥१०॥

सर्वेऽप्यमी सहृदये पुलकं दधानाः
शब्दा नभस्वति नभस्यपि ये प्लवन्ते ।
ते नूनमम्व विविधं लपितं तवैव
लीला विलास सहगाचल देवताभिः ॥११॥

पीत्वा स्तनद्वयमपावृतवक्त्रपद्मं
या काकलीपितृमनस्यमृतायमाना ।
आरभ्यतेऽत्र शिशुना जगदेकमातः
आख्याति वैभवमसौ तवकिञ्चिदस्मान् ॥१२॥

नेत्राञ्चलप्रवहितोपकपोलसीम-
कल्लोलितस्य भवदीय कृपारसस्य ।

पीत्वा कणं खलु गलोद्गलितामृतेन
संद्रावयन्ति दृषदोऽपि हि गात्रकेन्द्राः ॥१३॥

चक्षुर्भिरार्ष महिमोल्लसितैः पुरा ते
त्वामेव भारति ! महामुनयोऽप्यपश्यन् ।
मन्त्रात्मिका प्रभुरिवादिशसीह या नः
तत्त्वं च बोधयसि नः परतोऽप्यबोध्यम् ॥१४॥

धर्मस्थितिं च परमं च तथा पुमर्थं
मित्रत्वमेत्य जनतासु अमनीषिणीषु ।
आवर्जितेषु हृदयेषु मनोहराभि-
राख्यायिकाभिरुपरोहयसि त्वमेव ॥१५॥

कान्तेव देवि ! रुचिरस्वरवर्णभावै-
रालिङ्गितः सहृदयत्वमवापितश्च ।
वाणि ! त्वयैव ननु काव्यशयानयासौ
माहात्म्यमार्गरसिकः क्रियते हि लोकः ॥१६॥

पूर्णामृतांशुकिरणैरभिमृश्यमानः
चन्द्राश्मभङ्ग इव हैमरसप्रवाहम् ।
स्पृष्टस्सकृत्तव सुधीः करुणाकटाक्षैः
काव्यं प्रवाहयति हन्त निरर्गलं सः ॥१७॥

अम्ब ! त्वदध्युषित वक्त्रभृतां कवीना-
मुज्जीवयत्यपि शवांश्च वचस्सुधा या ।
तत्प्लावितैव ननु याति विकासमेव-
मन्धा स्थलीमरुरियं जगती समस्ता ॥१८॥

एते महाकवय आत्म मुखारविन्दात्
देवि त्वदीय दयया मृतमुद्गिरन्ति ।
यत्सेचनेन खलु नीरस लोक काष्ठे
दिग्वीचिलैः परिमलैरुदितः सुमौघः ॥१९॥

आप्यायितं जरदरण्यमिदं जगच्च
पेपीयमान भवदीयसुधाप्रभावात् ।

अङ्कूरति स्फुटयति प्रसवं विचित्रं
जीवन्ति तत्फलभुजो ननु सर्वलोका: ।।२०।।

त्वामामनन्ति सुधिय: सितवर्णिनीति
सारस्वती कलयते वितथं किमीक्षा ।
अन्धे तमस्यखिलमेव जगन्निमज्जे-
दुद्भासनाय यदि नास्ति तव प्रकाश: ।।२१।।

तत्त्वं प्रकाशयसि दर्शयसीह मार्गान्
धर्मे रतिं जनयसि द्रढयस्यपि त्वम् ।
आश्वासयस्यपचये दयिता सखीव
भिद्येन वा कथमयं मृगतो विना त्वाम् ।।२२।।

अभ्रान्तरा क्षणचलत्तडितो यथाहं
संप्राप्य किञ्चदिव रोचिषि ते तथाद्य ।
आयास्यमानहृदय: तव मन्थरत्वात्
नैराश्यतो न विरतोऽस्मि,करोमि यत्नम् ।।२३।।

एका त्वदीयनयनाञ्चलनिर्गतेक्षा
मय्यम्ब पूर्वमवतार पदं न्यधाद् या ।
सा यक्षिणीव हि विमोह्य विकृष्य वन्या-
मद्यानिनाय वत कांचन काञ्चनीं माम् ।।२४।।

सूक्ष्मीकृता मम दृशोऽद्य मनो मदीयं
वैशाल्यमेत्य रुचिरे रुचिमुच्चिनोति ।
उद्भावनायणमुदारमपूर्वशक्ति
प्रोत्कर्षमावहति सत्त्रमिदं धियो मे ।।२५।।

एषोऽद्य लोक सुषमामनुभावसम्प-
न्मेदस्विना स्वमनसा रसयामि कामम् ।
चित्तं चिराद् रचितश्रृंखलबन्धनं मे
स्वाराज्यमेत्य डयते प्रतिभाविमाने ।।२६।।

रोधश्शतैरभित एव निपीडितौघ-
मप्राप्य निर्गमनमार्गमदुष्यदेतत् ।

आसादितप्रसरमद्य मदीयचेतः
स्रोतश्शतैः प्रवहतीह समन्ततोऽपि ।।२७।।

सम्पूर्णमेव मयि देवि तरङ्गयाक्षि
पीयूषमेव मयि वर्षय ते दयाख्यम् ।
यद्यत्करोमि वचसा व्यवहार शिल्पं
तत्तत्तवैव विविध प्रसवार्चनं स्यात् ।।२८।।

आकाशशङ्करशिरः पतितेव गङ्गा
वासन्तिको मलयगन्धवहो यथा वा ।
ज्योत्स्नेव शारदविधोर्नवमल्लिकेव
वाङ् मां वृणोतु विवृणोतु तनूं गुणैः स्वैः ।।२९।।

वाग्वादिनीह करुणाकणिकां कथञ्चिद्
आसाद्य यामिह वचः कणिकामवापम् ।
तां ते पदाम्बुरुहयोर्विसृजामि पाद्यं
त्वत्तस्त्वयैव तव पूजनभूषणे स्ताम् ।।३०।।

मेघदूते रामगिरिः

आचार्यश्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्यायः

गङ्गानाथं शिवं नौमि गोपीनाथं तथा हरिम् ।
ज्योतिषां श्रेष्ठमादित्यं स्मरामि च मुहुर्मुहुः ।।
तारां देवीं मनसि निहितां पूजयित्वादरेण,
काव्यं श्रव्यं ललितललितं मेघदूताभिधं यत् ।
आश्रित्यैव प्रथितयशसः कालिदासस्य तच्च,
लेखः कश्चिद् विलिखित इह प्रार्थनान् नन्दनाय ।।

दृश्यश्रव्यभेदेन काव्यानां द्वैविध्यमलङ्कारशास्त्रे प्रसिद्धम् । महाकवेः कालिदासस्यामरकृतिषु दृश्यं काव्यम् अभिज्ञानशकुन्तलं श्रव्यं च मेघदूतं देशेऽस्मिन् विदेशेषु च महतीं प्रथाम् अलभेताम् । लेखस्यास्य विषयं मेघदूतमनुकृत्य धोयिकादिभिर्बहुभिः कविभिः पवनदूतादीनि दूतकाव्यानि रचितानि । अष्टमे शकाब्दे वर्तमानेन जिनसेनेन पार्श्वाभ्युदयकाव्ये मेघदूतस्य चरणमेकं चरणद्वयं वा समादाय समस्यापूर्तिरूपेण शिष्टं रचयित्वा जैनतीर्थङ्करस्य भगवतः पार्श्वनाथस्य चरितमेकं विनिर्मितम् । एवं जैनकविना विक्रमेण मेघदूतश्लोकानां क्रममाश्रित्य चतुर्थचरणमात्रमुपादाय समस्यापूरणेन तीर्थङ्करान्तरस्य भगवतो नेमिनाथस्य विषये नेमिदूतं काव्यं व्यरचि । ईशवीये द्वितीयशतके वर्तमानेन 'त्सुइ कान्'-इत्याख्येन चीनदेशीयेन बौद्धकविना महायानाचार्यस्य नागार्जुनस्य संस्कृतभाषानिबद्धायाः कस्याश्चित् कृतेरनुवादं चीनभाषायां कुर्वता अतएव संस्कृतभाषां जानता स्वकीये कस्मिंश्चित् पद्ये[1] मेघदूतस्यानुकरणं कृतमिति विस्पष्टं मे प्रतिभाति । विशेषस्त्वयमेव यदत्र प्रोषितभर्तृका काचिल्ललना विदेशस्थं स्वपतिं प्रति संदेशं प्रहिणोति । तिब्वतदेशीये 'तनजूर'-इत्याख्ये भोटभाषामये विश्वकोशे मेघदूतस्यानुवादो विराजते । शर्मण्यदेशीयस्य 'शिलर'-इत्याख्यस्य खिृष्टीयाष्टादशशतके वर्तमानस्य प्रसिद्धनाटचकारस्य 'मारिया स्टुअर्ट्' इति नाटके स्कॉट्लेण्डदेशस्य राज्ञी स्वजन्मभूमिं फ्रान्सदेशं मेघद्वारा सन्देशं प्रेषयति (अङ्कः ३, दृश्यम् १) । केचिन्मन्यन्ते अत्रापि कालिदासीयमेघदूतस्य प्रभावो

---

1. Herbert A. Giles, *History of Chinese Literature*, p. 119.

वर्तते । परन्तु हुल्श-महाशयस्तन्मतं नानुमन्यते ।[1]

इत्थं जगत्प्रसिद्धस्य मेघदूतस्य नायको यक्षो यस्मिन् रामगिरौ न्यवसत् स गिरिः को नामेति प्रश्नस्य मीमांसैव लेखस्यास्य विषयः। अत्र हि विदुषां मध्ये सुमहद् वैमत्यं दृश्यते[2]।

प्रश्नस्यास्य निर्णयाय रामगिरेरलकापुरीं यावत् प्रस्थितस्य मेघस्य पथि एतानि स्थानान्यायान्ति :—

मेघदूतटीकायां मल्लिनाथेन यः क्रमोऽनुसृतस्तदनुसारेण श्लोकाङ्काः

१. रामगिरिः (१।१४)
२. मालाख्या भूमिः (१६)
३. आम्रकूटपर्वतः (१७)
४. रेवा नदी (१९)
५. दशार्णदेशः (२३)
६. विदिशा नगरी तत्र वेत्रवती नदी च (२४)

---

1. *Kālidāsa's Meghadūta* with the Commentary of Vallabhadeva, edited by E. Hultzsch, London, (1911), Preface, p. v.

2. Commentaries of Vallabhadeva and Mallinātha on the *Meghadūta* (first verse); Horace Heyman Wilson, Edition of the *Meghadūta* with English Translation in verse, Calcutta (1813), pp, 1–2 f. n.; G. R. Nandargikar, Edition of the *Meghadūta* with commentary of Mallinātha, English Translation and Notes, Bombay, (1894), *Notes*, P. 3; J.D. Beglar in G.A. Cunningham, *Archaeological Survey of India*, Annual Report Vol. XIII pp. 31-35; Haraprasad Shastri, *Meghadūta Vyākhyā* in Bengali, Calcutta, Bengali year (1309); Mariano Saldanha, *Meghaduta ou A Mensagem do Exilado*, in Portugese, Nova Goda, (1926), pp. 1-2; G.H. Rooke, *The Meghadūta of Kālidāsa*, Oxford, (1935), p. 2; B. S. Upādhyāya, *India in Kālidāsa*, Allahabad, (1947) pp. 10 and 12; V.S. Agarwal, *Kālidāsa, eka adhyayana*, in Hindi, Delhi, (1954), p. 223; S.A Sabris, *Kālidāsa and his Times*, Bombay, (1966); Asit Kumar Haldar, *Modern Review*, (1915), pp. 386 and 387 *et cetera*. I owe many of these references to my friend, Dr. Mahadev Saha.

७. तत्रत्यो नीचैर्गिरिः (२५)
८. उज्जयिनी नगरी (२८–४३)
९. गम्भीरा नदी (४४)
१०. देवगिरिपर्वतः (४६)
११. चर्मण्वती नदी (४९)
१२. दशपुरनगरी (५१)
१३. ब्रह्मावर्तदेशः (५२)
१४. सरस्वती नदी (५३)
१५. कनखलपुरी तस्यां गङ्गा नदी च (५४)
१६. हिमालयपर्वतश्रेणी (५६)
१७. तस्यां च क्रौञ्चगिरिः (६१)
१८. हिमालयस्थः कैलासपर्वतः (६२)
१९. तत्र च मानससरोवरः (६६)
२०. अन्ते च अलकापुरी (६८)

उपलभ्यमानासु मेघदूतटीकासु ईशवीये दशमशतके वर्तमानस्य वल्लभदेवस्य प्राचीनतमायां टीकायां क्रमस्तु किञ्चिद्भिन्नः।

अत्र विशेषेण एते षट्श्लोका अनुसन्धेयाः—

(१) कश्चित् कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात् प्रमत्तः,
(वल्लभदेवीयः पाठः, स्वाधिकारप्रमत्तः)
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ १ ॥

(२) आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलम्,
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।
काले काले भवति भवतो (वल्लभीयपाठः, भवता) यस्य संयोगमेत्य,
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥ (१२) ॥
(वल्लभीयक्रमेण नवमः)

(३) मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं
(वल्लभीयपाठः, त्वत्प्रमाणानुकूलं)
सन्देशं ते तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र

क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य
(वल्लभीयपाठः, चोपयुज्य) ॥ (१३) ॥

(४) अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।
स्थानादस्मात् सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन् स्थूलहस्तावलेपान्
(वल्लभीयपाठः, स्थूलहस्तावलेहान्) ॥ १४ ॥

(५) स्थित्वा तस्मिन् (जिनसेनस्य पाठः, तस्मिन् स्थित्वा)
वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्त्तं,
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः ।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमां विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥ १९ ॥

(६) वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः ।
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥ २७ ॥

एभ्यः श्लोकेभ्यो रामगिरिसम्बन्ध एतानि तथ्यानि ज्ञायन्ते—

(१) रामगिरौ भगवता श्रीरामचन्द्रेण वनवासवेलायाम् अध्युषितम् (प्रथमश्लोकस्थाख्याया द्वादशश्लोकाच्च) ।

(२) भगवत्याः सीतादेव्याः स्नानेन तत् स्थानं पवित्रीकृतम् (प्रथम श्लोकतः) ।

(३) अलकां प्रति प्रस्थितस्य मेघस्य गमनमार्गश्चतुर्दशाद् आरभ्य पूर्व-मेघस्य समाप्तिपर्यन्तं वर्णितः ।

(४) रामगिरिर्वेतसयुक्त आसीत् (चतुर्दशश्लोकतः) ।

(५) उत्तरामाशां प्रति प्रचलितस्य मेघस्य मार्गे नर्मदा नद्यासीत् (ऊनविंशतः) ।

(६) तथैव च मध्येमार्गं वक्रपथाश्रयेण कालिदासस्य स्वकं निवासस्थानम् उज्जयिन्यायाति (सप्तविंशतः) ।

रामगिरिम् अधिकृत्य वल्लभदेवः कथयति 'रामगिरिरत्र चित्रकूटः । न तु ऋष्य-मूकः । अत्र सीताया वासाभावात् ।' दक्षिणावर्तनाथोक्तिः 'रामगिरी रामनामकः पर्वतः' इत्येतावन्मात्रम् । मल्लिनाथेनोक्तं—'रामगिरेः चित्रकूटस्य आश्रमेषु' इति । वल्लभदेवः काश्मीरको मल्लिनाथश्च कलिङ्गदेशीयः । ताभ्यां मेघमार्गं अन्तर्गतानां स्थानानां सन्निवेशः

सम्यङ् नावबुद्धः । कालिदासस्य भूगोलज्ञानं निर्दोषमासीदिति रघुवंशस्य चतुर्थषष्ठसर्गयोर्विस्पष्टम् । चित्रकूटाद् दक्षिणस्यां दिशि नर्मदा (रेवा) नदी स्थिता नोत्तरस्यां यथा मेघदूते वर्णितम् । अतो नर्मदाया उत्तरस्यां दिशि स्थितश्चित्रकूटो रामगिरिरिति मतं कदापि न सङ्गच्छते । एतन्मतं सम्प्रदायप्रमाणितम् इति नैव मन्तव्यम् ।

आङ्ग्लविदुषा वुइलसन्महाशयेन स्वकीये मेघदूतस्य संस्करणे रामगिरिर्नागपुरसमीपस्थो रामटेकाख्यः पर्वत इति मतं प्रख्यापितम्[1] । एतच्च नन्दर्गिकर-प्रभृतिभिर्बहुभिरिदानीन्तनैर्विद्वद्भिः स्वीकृतम् ।

महामहोपाध्यायश्रीहरप्रसादशास्त्रिणा तु पर्वतान्तरं रामगिरिरिति कथितम् । अस्ति मध्यप्रदेशे सिर्गुजाराष्ट्रे रामगढ इति ख्यातः पर्वतः स एव हि रामगिरिरिति तन्मतम् ।[2]

अस्य पर्वतस्य पार्श्वयोः योगिमारा-सीतावेङ्गा-नाम्न्यौ गुहे स्तः । तयोर्गुहयोरीशातः पूर्वं द्वितीये तृतीये वा शतके ब्राह्मीलिप्यामुत्कीर्णयोः शिलालेखयोः सत्त्वात् स्थानमेतत् कालिदासादपि प्राचीनतरमिति सुस्थितम्[3] ।

मया दक्षिणावर्तनाथस्य मेघदूतटीकाया विषये कश्चिन् निबन्धः प्रकाशितः[4] । तस्मिन् मदीयं लक्ष्यमेतदेवासीद् यत् काव्यस्यास्य चतुर्दशश्लोके 'दिङ्नागानाम्' इति पदं श्लेपद्वारा बौद्धाचार्यदिङ्नागपरं नास्ति यथा दक्षिणावर्तनाथेन कल्पितं मल्लिनाथेन च तन्मतमनुसृत्य व्याख्यातम् । प्रसङ्गतो मयोक्तं रामगिरिः सिर्गुजाराष्ट्रस्थो रामगढपर्वत इति । एतं लेखमधीत्य ममाध्यापकचरणेन तदानीं लन्दनस्थस्य भारतीयकार्यालयस्य ग्रन्थागाराध्यक्षेण आङ्गलविदुषा[5] कलिङ्गस्थं मालभूमिरूपं किमपि स्थानं रामगिरिरिति मह्यं सूचितम् । तदीयं पत्रं लब्ध्वा मया एतद्विपये पुनर्विमर्शः प्रारब्धः ।

प्रथमं तावत् श्रीहरप्रसादशास्त्रिमहाशयस्य मतस्य विषय एते अर्था अवबुद्धाः—

(१) रामगढ-पर्वते सीता स्नानमकरोदिति प्रसिद्धिर्नास्ति ।

(२) तत्समीपस्थाया रेउराख्यनद्याः प्रवलस्रोतःकारणात्तत्र वेतससत्ता न सम्भवति ।

---

1. H. H. Wilson, *loc. cit.*
2. H. P. Shastri, *loc. cit.*
3. *Archaeological Survey of India, Annual Reports for 1903-4*, Calcutta, (1906), p. 123.
4. *Mahāmahopādhyāya S. Kuppuswami Commemoration Volume*. Madras, p. 19.
5. Dr. H. N Randle.

(३) पर्वते च शिखरद्वयं वर्त्तते[1]। परन्तु मेघदूतस्य द्वितीयश्लोके 'तस्मिन्नद्रौ कतिचिदवलाविप्रयुक्तः स कामी' इति एकवचनप्रयोगाद् रामगिरेरेकमेव शिखरमासीदिति प्रतिभाति ।

अतो रामगढ-पर्वतो न रामगिरिरिति स्पष्टम् ।

अनन्तरं मया नागपुरसमीपस्थो रामटेक-पर्वत एव रामगिरिरिति वुइल्सन्महाशयस्य मतं विचारार्हमिति विभावितम् । ईशवीय एकचत्वारिंशदधिके ऊनविंशशततमे संवत्सरे (१६४१) हैदराबादनगरात् प्रत्यावर्तनकाले मया नागपुरं प्रति प्रस्थितम् । तत्र मच्छिष्येण अध्यापकश्रीसरस्वतीप्रसादचतुर्वेदिना मित्रेणाध्यापकश्रीमहामहोपाध्यायवासुदेवविष्णुमिराशीमहाशयेन अध्यापकश्रीलक्ष्मणरामचन्द्रकुलकर्ण्याख्येन च मित्रेण सार्धं रामटेकं प्रति मया प्रयातम् । तत्र एतत् सर्वं दृष्टम्—

(१) गिरेरेकमेव शिखरमस्ति ।

(२) गिरेरधो विशालो जलराशिरप्यस्ति यस्मिन् वेतससत्ता विस्पष्टा ।

(३) पर्वतस्याख्या रामटेक इति रामगिर्यर्थस्य सूचिका । राम-'टेक'-शब्दो हिन्दीभाषायां 'रामस्याश्रयः' इत्यर्थं द्योतयति । महाराष्ट्रीभाषायां च गिरिरयं 'रामटेकड़ी' इति नाम्ना प्रसिद्धो यस्यार्थस्तु 'रामगिरिः' इत्येव[2] ।

(४) पर्वतोपरि 'सीता की नहानी' (सीतायाः स्नानस्थानम्) इत्याख्यं प्रस्रवणमस्ति ।

(५) रामटेकत उत्तरां दिशं प्रति प्रस्थितस्य मेघस्य मार्गे नर्मदा नदी, दशार्णदेशः, विदिशानगरी इत्यादीनि स्थानानि वर्तन्ते ।

(६) तन्मार्गे च उज्जयिनीगमनाय मेघस्य पन्था वक्र एव भवति ।

(७) भूयो रामटेकदर्शनकाले आषाढस्य प्रारम्भ आसीत् ।
तदा पर्वतशिखरे चास्माभिर्मेघः संलग्नो दृष्टः ॥

(८) रामटेक-पर्वत एकं लक्ष्मणमन्दिरमस्ति । तत्र एक ईशवीये पञ्चदशशतक उत्कीर्णो लेखो दृश्यते । तस्मिँल्लेखे पर्वतस्यास्य नामद्वयं लिखितमस्ति, सिन्दूरगिरिस्तपोगिरिश्च[3] । पर्वतस्था शिला रक्तवर्णेव दृश्यते । इदमत्रावधेयम् । यक्षः स्वकान्तां प्रति प्रेषिते सन्देशे कथयति

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

---

1. Cunningham Report, Vol. XIII, p. 31; *Modern Review*, (1915), p. 386.
2. Wilson, *loc. cit.*
3. B.S. Upadhyaya, *loc. cit*, p. 72.

अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते (वल्लभीयः पाठः, आलिप्यते) मे।
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ।।
(उत्तरमेघः ४२। वल्लभक्रमेण आदितः १०२) ।।

रामटेक-पर्वतस्य शिलायाम् आलेखनयोग्यस्य रक्तवर्णस्य धातुरागस्य सत्त्वाद् अस्य गिरेः सिन्दूरगिरिरिति समाख्या सर्वथा अन्वर्थैवास्ति मेघदूतानुगा च ।

एभिः कारणै रामटेक-पर्वत एव रामगिरिरिति वुइल्सन्-महाशयस्य मतं सुश्लिष्टं प्रतिभाति ।

कलिङ्गदेशस्थाया मालभूमेर्विषये त्विदं वक्तव्यं, तत्स्थानाद् आम्रकूट-पर्वतो[1] रेवा-नदी विदिशा-नगरी च ततः पश्चिमायां दिशि वायुकोणे वा वर्तन्ते नोत्तरस्यां दिशि यथा मेघदूते वर्णितमस्ति। रामटेक-पर्वत उपलब्धा अर्थाश्चात्र न दृश्यन्ते । अतो मतमेतन्नैवादरणीयम् । मदीयविमर्शस्यायमेव निष्कर्षः—

नागपुरसमीपस्थो रामटेकसमाह्वयः ।
सीतास्नानोदकैः पुण्यो गिरी रामगिरिः स्थितः ।।

अन्ते च वक्तव्यम्

आदित्यनाथशर्मायं शिष्यो मे संस्कृतप्रियः ।
चिरं जीवतु सौख्येन क्षेत्रेशप्रार्थनं सदा ।। इति शम् ।।

---

1. Amarakaṇṭaka, the source of the Narmada, according to Nandargikar, *loc. cit.*, *Notes.*, p. 22.

महाकवि कालिदासस्य साहित्ये दार्शनिकं तत्त्वम्

पण्डितश्री राजेन्द्र चौधरी

यद्यपि कविकुलगुरुणा महाकविना प्रणीते काव्ये रसालङ्कारच्छन्दनाट्य-संगीतनृत्यकलार्थिकजीवनशिक्षासाहित्यधर्मादीनां प्रावल्यमुपलभ्यते, तथाप्येषां-महत्त्वं तदैव स्यात्, यदा प्राणात्मकान्तः संचरणशीलमध्यात्मस्वरूपं दार्शनिकतत्त्वं तत्राभिनिहितं भवेत् । अनेन विना प्रातिभप्राज्ञा जलविहीना मत्स्या इव सततं तृष्णायन्ते । अतस्तादृशीं तृष्णां प्रशमनार्थमेव महाकविः स्वनिर्मितकाव्यस्यारम्भे परब्रह्मणः क्वचिद्विराट्स्वरूपं क्वचिच्च जगदीश्वरं साम्बशिवं वा आराधितवान् तथा-ऽनेकत्र दार्शनिकरहस्यञ्चोद्घाटितवान् ।

सत्यमेवेदं यन्निखिलं संस्कृतवाङ्मयं जगत् दार्शनिकतत्त्वैरभिव्याप्तत्वेन गौरवान्वितं प्रतिभासितं तदा तदङ्गभूतं महाकविकालिदासीयं साहित्यं कथमस्माद् विरहितं स्वात्मानं पश्येत् । अतो दार्शनिकतत्त्वसमीहमानस्यास्य साहित्यस्य महती विशेषता सम्पद्यते ।

दर्शनानि

यद्यपि दर्शनपदेनात्र दृश्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या लौकिकालौकिकोभयवि-धप्रत्यक्षकारकाणि बाह्येन्द्रियाणि भवितुमर्हन्ति, तथापि दृश्यते=ज्ञायत आत्मा-नेनेति व्युत्पत्त्या ज्ञानसामान्यार्थकाद् दृश् धातोः करणल्युटा निष्पन्नदर्शनपदेन चेतनवस्तुविचारपरमागमात्मकं शास्त्रं गृह्यते । तानि शास्त्राणि प्रसिद्धानीमानि बोध्यानि । तथाहि—

कपिलस्य कणादस्य गौतमस्य पतञ्जलेः ।
व्यासस्य जैमिनेश्चापि शास्त्राण्याहुः षडेव हि ॥

इत्युक्तयास्तिकनास्तिकभेदेन दर्शनस्य द्वैविध्येऽपि षडास्तिकानि दर्शनानि बोध्यानि । विभिन्नानामेषां दर्शनानां यथास्थानं स्वनिर्मितेषु साहित्यग्रन्थेषु मनीषिमूर्धन्यो महाकविः समुचितवर्णनाद्वारा स्वीयां प्रतिभां यथा प्रदर्शितवान् न केनापि विदुषा तदविदितम् । तदनुसारेणैव कतिपयेषु पद्येषु समागतां दार्शनिक-

सरणिमतिसंक्षेपेणैवाहं प्रस्तौमि । तत्राद्यं तावत्—

'वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये'

इति रघुवंशीयाद्यश्लोकस्य पूर्वार्द्धेन खलु शब्दार्थयोरविनाभावोऽभेदो वा सम्वन्धः स्थापितः ।

विवेचना—

अयं हि 'नित्यः शब्दार्थं सम्वन्धः' इति मीमांसाशास्त्रेणैकवाक्यतां विधत्ते । एतदनुसारेणैव 'गिरा अर्थ जलवीच सम कहियत भिन्न न भिन्न'। इति गोस्वामि तुलसीदासकृतपद्यमपि संगच्छते ।

एवं 'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ' इत्युत्तरार्द्धेन जगन्मात्रा पार्वत्या सह जगत्पितुर्भगवतः शङ्करस्य वन्दनाद्वारा यथाक्रमं द्वैताद्वैतविशिष्टाद्वैत-शुद्धाद्वैतद्वैताद्वैतादिविभिन्नवेदान्तसिद्धान्तैः सहैकवाक्यता सम्पद्यते । तथाहि--द्वयोः पृथक् सत्तायां द्वैतम्, शब्दार्थयोः सम्वन्धनिष्ठनित्यत्वमिव शक्तया सह परमेश्वरस्य नित्यमेकरूपत्वेऽद्वैतम्, शक्तिविशिष्टेश्वरस्योपासनायां विशिष्टाद्वैतमुभयोरर्द्धनारीश्वर-स्वरूपत्वे शुद्धाद्वैतमेवमुभयो पृथगस्तित्वे, द्वैतस्य सत्त्वेऽपि परमार्थतो द्वयोरेकस्मिन्न-द्वैततत्त्व एव पर्यवसानेन द्वैताद्वैतम् । अनेन सर्वे वेदान्तसिद्धान्ता एकवाक्यतापन्ना-विवेचिता भवन्ति ।

विश्वात्मता—

विषयेऽस्मिन् प्रायशो-बहुदेवत्ववादसिद्धान्तेनैवैकेश्वरवादसिद्धान्तोऽपि संगच्छते । एतत्सिद्धान्तानुसारेणैव महाकविः स्वकृतैकेष्टदेवस्तुतौ सर्वान् देवानस्तौत् । एवं भगवतः शिवस्य स्तुतौ विश्वात्मनः स्वरूपञ्चाविष्कृतवान् । यथा—अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः (रघु० २।३५) । एवम्—

'या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्याच होत्री ।
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्' ।।

अभि० शा० १।१

एवं

'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी ।
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दोयथार्थाक्षरः' ।। विक्र० १।१

एवम्

'एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणत बहुफले यः स्वयं कृत्तवासाः
......?............................वृत्तिमीशः' ।।—माल० १।१

इति श्लोकैर्विश्वात्मनः शिवस्य स्तुतिमकरोन्महाकविः ।

सांख्यम्—

जगतः प्राकृतिकत्वसम्बन्धे सांख्ययोगविचारस्योपयोगितां प्रकटीकुर्वन्नाह महाकविः—

'रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्ठकाञ्चनः ।'

रघु० ८।२१

तथा—

'अङ्गिनां तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ ।'

रघु० १०।३८

एवम्—

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥

कु० सं० २।४

इत्यादिभिः पद्यैः सत्त्वरजस्तम आख्यानां त्रयाणां गुणानां समन्वयमकरोत् । अत्र—

सत्त्वं प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रजः ।
गुरुवरणकमेव तमः ············॥

इति सांख्यकारिकोक्तदिशा सत्त्वादीनां फलानि बोध्यानि । प्रकृतिपदेनात्र सत्त्व-रजस्तमसां साम्यावस्थैव ग्राह्या, 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' (सां० सू० १।६१) इति प्रामाण्यात् ।

अत्रायं भावः—शान्तिसारल्यसन्तोषपूर्णकामतातुष्टिधैर्यानन्दादीनामन्तर्भावेण सुखस्वरूपं सत्त्वमनन्तरूपं धारयति । एवं शोककष्टवियोगोत्तेजनाचिन्ताद्यन्तर्भावेण दुःखस्वरूपं रजोऽनन्तरूपं प्रकाशयति । एवमाच्छादनाज्ञानघृणाभ्रष्टतागुरुतालस्यतन्द्राद्यन्तर्भावेण मायास्वरूपं तमोऽनन्तरूपमवधारयतीतिसांख्योक्तदिशा सर्वमवसेयम् ।

प्रधानपदव्यपदेश्या प्रकृतिरियं सृष्टेर्मूलकारणम् । अतः सर्वविधानि कर्माण्यपि त्रिभिर्गुणैरेभिः समुत्पद्यन्ते । तथाति—'त्रैगुण्योद्भवं लोकचरितम्' (मालविकाग्निमित्रम्)

अपि च—

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वमेव पुरुषं विदुः ॥

कु० सं० २।१३

तथा—

मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

सां० का० ३

इत्यादिभिः प्रमाणैः प्रकृतेर्मूलकारणत्वं सिद्धयति ।

अत्र—

'प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्चषोडशकः ।'

इति सांख्यकारिकादिशा सृष्ट्युत्पत्तिः स्वीकार्या ।

यद्यप्यत्र सांख्यमतानुसारेण पुरुष उदासीनो निष्क्रियोऽकर्ता च 'कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च' इत्यादिना सिद्धयति, तथापि—'पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः' (सां० का० २१) इत्यादिनोभयोः संयोगः पङ्ग्वन्धसंयोग इव सम्पद्यते ।

प्रमाणम्—

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव ।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥

रघु० १०।२८

इति विष्णुस्तुतिपरकपद्येन सांख्यकारिकोक्तनिम्नश्लोकेन सहैकवाक्यतया प्रमाणत्रैविध्यं प्रदर्शितवान् । यथा—

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥

सां० का० ४

वेदान्तः—

अत्र जगदुत्पत्त्यादिविषये 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते,' 'येन जातानि जीवन्ति,' 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' इति वेदान्तवाक्यैः सह—

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते ।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने ॥

रघु० १०।१६

अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः ।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥

रघु० १०।१८

एवं—

यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमजं त्वया।
अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे ॥
तिसृभिस्त्वमवस्थाभिः महिमानमुदीरयन् ।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः ॥ कु० सं० २।५-६

इत्यादि पद्यानामेकवाक्यता सम्पद्यते। उपनिषदि च— सृष्टेः पूर्वमेकात्मतत्त्वमुद्गीयमानमुपलभ्यते। यथा—'आत्मा वा इदमेक एवाग्रे-आसीन्नान्यत्किञ्चनमीषत् स ईक्षत् लोकान्नुत्सृजा' इति (ऐतरेय उपनिषदि)। एवं 'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्य उपनिषदि) 'तदैक्षत एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेयमिति' (छान्दोग्य उपनिषदि)। एवं परब्रह्मण एकरूपत्वेऽपि सगुणपक्षेऽनेकरूपधारित्वं संगच्छते। तथाहि—

सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक् ॥

इत्यादिपत्रम् 'एकं रूपं बहुधा यः करोति' (कठ० उप० ५।१२) मन्त्रेण साकमेकवाक्यतामाप्नोति।

यज्ञः—

मीमांसकाभिमतं स्वर्गप्राप्तिकारणीभूतं यज्ञं महाकविकालिदासाभिमतमेवानुभवामि। तथाहि—

उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।
कर्मयज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्॥

कु० सं० २।१२

अयं तु 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जै० सू० १।१) अपि च—'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थं विधीनां स्युः' (जै० सू० २।१) तथा 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्' शा० भा० १।७) इत्यादिभिः सह सामञ्जस्यमाप्नोति। अत्राचार्यवरेण मल्लिनाथेन स्पष्टमुक्तम् 'कर्मस्वर्गौ ब्रह्मापवर्गयोरप्युपलक्षणे' एतेन यज्ञस्य प्राधान्यमुक्तम्।

योगः—

अयमपि योगशास्त्राभिमतः महाकविना समादृतः। तथाहि—

अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम्।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये ॥

रघु० १०।२३

अपि तु—

महीं महेच्छः परकीर्यसूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा ।
तस्मात् सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ।।

रघु० १८।३२

'न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात्' ।

रघु० ८।२२

एवम्—

अथ कश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः ।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ।।

रघु० ८।२४

अनेन ज्ञायते यद् 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (यो० सू० १।२) इति नियमाच्चित्त-वृत्तिनिरोधपूर्वकं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिस्वरूपाष्टाङ्ग-योगाभ्यासैः परमात्मन एकाकारात्मिकां सद्भावनां सम्पाद्य मुक्तिमामनन्ति विज्ञाः। अयमष्टाङ्गयोगेष्वन्तिमो योगः। अस्मिन् मनस इन्द्रियाणां च समस्ताः क्रियाः पूर्णतयावरुद्धा जायन्ते। ध्येता च बाह्यज्ञानरहित आत्मचिन्तनपरो भवति। प्रणि-धानशब्दवाच्चोऽप्ययं भवति। तदनु योगी प्राकृतिकगुणत्रय आधिपत्यं सम्प्राप्य रागादिशून्यः पदार्थमात्रे भेदज्ञानाभावमाप्नोति। तदनुसारेणैव स्थिरधीः स्थितप्रज्ञो वा स कथ्यते। एतदविरोधेनैव श्रीमद्भगवद्गीतावाक्यमपि संघटते।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।। इति ।

जैनमतम्—

यद्यपि जैनदर्शनस्य विशेषोल्लेखो न प्राप्यते, तथापि 'प्रायोपवेशनशब्दस्यो-ल्लेखोऽजविलापप्रसङ्गे प्राप्यते। अयमनशनार्थवाचकः प्रायोपवेशनशब्द उप-लभ्यते।

यथा—

'रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः ।
प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ।।'

रघु० ८।९४

शब्दोऽयमाजीवनमनशने रूढो जैनशास्त्रसम्मतोऽत्रोपयुज्यते। अत्र कुमारं दश-रथमजः शास्त्रसम्मतमुपदेशं प्रदाय स्वयं सरोगाच्छरीरान्मुमुक्षुः प्रायोपवेशनम् (अनशनं)

चकारेऽर्थः।

बौद्धमतम्—

बौद्धाभिमतस्य निर्वाणशब्दस्य महाकविरनेकत्रोपयोगं कृतवान्। यथाहि—

निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं सन्धुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन।

कु० सं० ३।५२

निर्वाणाय तरुच्छाया तप्तस्य हि विशेषतः॥

विक्र० ३।२१

अत्रोपर्युक्तपद्ययोः प्रयुक्तो निर्वाणशब्दो बौद्धागमसम्मतः पूर्णशान्तेः परमानन्दस्य वा वाचको विवक्षितेऽर्थे प्रकृते प्रयुक्त उपलभ्यते।

मोक्षः—

निश्चप्रचमिदं यच्चतुर्विधेषु पुरुषार्थेषु मोक्षस्य प्राथम्यमङ्गीकृतं सर्वैः शास्त्रविद्भिः। महाकविरपि बहुशः प्रयोगमकरोत्। यथा—

धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गवाक्।

रघु० १०।८४

एवम्—

चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाचतुर्गुणाः।

रघु० १०।२२

इत्यादिभिः पद्यैर्ब्रह्मजीवयोरभेदज्ञानादेव मोक्षस्य सिद्धिर्भवति,

रसस्य शाब्दत्त्वम्

डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी

रसपदेनात्र काव्यरसो विवक्षा विषयः। स चास्वादैकरूपः। आस्वादश्चासावानन्दभोगरूपः। तत्र प्रश्नः 'लोके यथा माधुर्यादीनामास्वादभोगे सितादि प्रत्यक्षं कारणं तथा मेघदूतादौ शृंगारादिभोगे किं कारणम्' इति। न तावत् प्रत्यक्षम्, विषयितया जनयिष्यमाणे तस्मिन् तादात्म्येन कारणतयापेक्षितस्याननुद्भिन्नरूपस्य यक्षादिविषयस्यतदानीमभावात्। नानुमानम्, आस्वादं प्रति तत्कारणातायामूरीक्रियमाणायमपहार एव स्यात् स्थूलविषयाभिप्रवृत्तेः, स्याच्चानुमानस्यापि हेतु-पक्ष-प्रत्यक्षबन्धान्मोक्षः, काव्यरसास्वादकाले तयोरनुपस्थितस्थूलशरीरत्वात्। नापि शब्दः, आस्वादं प्रति तस्याप्यनुमानतुल्ययोगक्षेमत्वात्।

ननु 'काव्यरसस्य काव्यैकोपस्याप्यत्वात्, काव्यस्य च शब्दोपस्थापिताभिरूपार्थरूपत्वाच्छब्द एवात्र कारणम् इति चेत्, प्रसक्तं तर्हि काष्ठादीनामपि क्षीर(खीर)प्रभृतीनामास्वादं प्रति, रासभादीनामपि घटान् प्रति, प्रपितामहस्यापि व प्रपौत्रं प्रति जनकत्वम्। प्रणष्टं च वराकं करण-कारणत्वमर्यादाबीजम्। यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं जायमाने कृत्स्नेऽपि बोधे शब्दजन्यत्वमेव मन्यते तर्हि 'ब्राह्मण पुत्रस्ते कुलपतिः' इत्यादिवाक्यार्थावगमानन्तरीये प्रहर्षेऽपि प्रसक्ष्यमाणं शाब्दत्वं किमिव वार्येत, वार्येत च किमिव रसः, शृंगार इत्येवं स्वशब्दप्रयोगादपि रसास्वादसंभूतिप्रसंगः, किमिव च वार्येत 'वामनाख्यः कश्चिदवामनो दोषः। ततश्त कवलीक्रियेत काव्योपस्थापिता कृत्स्नापि विभावादिसामग्री व्यर्थत्वापरपर्यायैः अवाच्यवचनत्वादिभिः[२], दुष्टिमुष्ठिभिः, विच्याव्येत च निखिलापि रससिद्धकवीश्वरपरम्परा महाकवित्वात्, प्रभ्रश्येत च सकलोऽपि विभावादिप्रतिपादनपरः परोऽप्यालंकारिकवर्गः प्रामाण्यात्।

१—रसगंगाधरे रसदोषप्रकरणे द्र० पृ० ६२ (निर्णयसागरीये षष्ठे संस्करणे)।

२—अवाच्यवचनाय द्रष्टव्यो व्यक्तिविवेकस्य द्वितीयो विमर्शः। (अस्मदनुवादे पृ० ४३६–४५५)

ननु शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ॥

वाक्यपदीये ३।७।५

इत्युक्तनीत्या विभावादिप्रत्यक्षं प्रति शब्दस्य हेतुत्वे सिद्धे 'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते' इत्युक्तनीत्या च ज्ञायमानानां विभावादीनां शब्दानुविद्धत्वेन तादृशा स्वादोत्पत्तिप्राक्क्षणाविच्छेदेन शब्दस्यापि विद्यमानत्वान्नास्ति तत्कारणताभ्युपगमे दोषः, इति वेद, उच्छिन्ने तर्हि प्रत्यक्षानुमाने, तदुपस्थितस्यापि विषयजातस्य शब्दानुविद्धत्वात् तयोरपि शब्द एवान्तः पातात् । किं च यत्र क्वापि शब्दगतानामनुप्रासादीनां रसादिवाक्यार्थं प्रत्युपस्कारकत्वमूरीक्रियते तत्रान्यथानुपपत्त्या शब्दानामपि वाक्यार्थबोध-क्षण-वृत्तित्वमवश्यमभ्युपेयते, तत्र का नु हानिः शब्दानां तदलंकारणामेव वा साक्षादेव वाक्यार्थोपस्कारकत्वाभ्युपगमे । ततश्च कों नामाग्रह 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्'[1] इत्युक्तनीत्या तेषामुपस्कारं प्रति कादाचित्कत्वसध्रीचीनेङ्गद्वारकत्वे । का चावश्यकता तत्रार्थमुखावेक्षणदाक्षिण्यस्य । शब्दानुवेधपक्षे शब्दोपस्थितार्थजन्येऽपि विषये शब्दजन्यत्वस्यैवोपगमे लाघवात् । किंप्रयोजना च 'शब्दबुद्धिकर्मणां तृतीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वं'-गाथा ।

यद्युच्यते—'मा भूत कारणत्वम्, कारणत्वे तु हानिः इति, तत्र पृच्छ्यते—'को नामस्य तत्र व्यापार' इति, कार्यपौत्रं प्रति करणपितामहस्य व्यापारः पुत्रद्वारैव जनकत्वात् । 'व्यंजनं' तत्र व्यापार इत्युच्यते चेद उच्यतां तर्हि 'किमिदं व्यजनं नाम' । न ह्येतत् प्रस्थानान्तरेण श्रूयते । श्रूयते हि तत्र 'शब्दोऽयमस्मिन्नर्थे शक्तः, अर्थोयमेतच्छब्दशक्यः' इत्येवमनयोग-प्रतियोग-भेदेनाप्यभिन्न एवैकः संकेतात्मा शब्दार्थयोर्बौद्धिकः संसर्गोऽभिधा नाम । श्रूयते च तत्पुच्छप्राया रूढिप्रयोजनान्यतरेण सम्बन्धविशेषात् मुख्यार्थ-तात्पर्यान्यतर-बाध-वर्त्मना प्रसूता 'कर्मणि कुशल इत्यादिषु 'गंगायां घोष' इत्यादिषु च स्थलशतेषु दक्ष-तटाद्यर्थप्रतिपत्तय उपजीव्यमाना भक्ति-गुणवृत्ति- लक्षणेत्येवं विविधमभिधीयमाना काचिदमुख्याप्येकोपचारवृत्तिः । तद्व्यतिरिक्तं किमिदं व्यंजनं नाम ।

यद्युच्यते 'अस्ति व्यतिरिक्तम् । अपोहवर्त्मना पारिशेष्याच्च तदुपपन्नम् । तथाहि यत्र क्वचित् प्रयोजनेन केनचिदमुख्यः शब्दः प्रयुज्यते तत्र तादृशप्रयोजनसंपत्तये प्रमाणं शब्द एव । नास्ति च तत्र तस्य पूर्वोक्तं व्यापारद्वयं कार्यसहम्, प्रयोजनविषयीभूतेषु

१—काव्यप्रकाशे ८ । २—कारिका ।

शैत्यादिषु गंगादिशब्दानां संकेतस्येव तात्पर्यबाधादिसामग्रचा अप्यनुपलब्धेः। प्रयोजन-विषयीभूतैः शैत्यादिभिरन्वितस्य तु लक्ष्यत्वे हेतुहेतुमद्भावोपप्लवप्रसंगः। तटे हि शैत्या-देर्ज्ञानमेव प्रयोजनम्। न च तत् तटाय गंगाशब्दप्रयोगं विनोपपद्यते, तेनैव तस्य गंगात्वेन प्रतीतौ सत्यामेव गंगात्वसमनियतानां शैत्यादीनां तत्र प्रतीतेः यच्चेदं गंगात्वप्रकारकं तटविशेष्यकं च ज्ञानं तल्लक्षणाजन्यज्ञानजन्यमेव, तदनन्तरमेव। तस्य जायमानत्वदर्शनात्। ततश्च जन्यजनकयोर्युगपदुत्पादं प्रेक्षकोऽपि सन् को नु विचारसहं मन्वीत। एवं च परिहृतयोरभिधालक्षणयोः शब्दादेव जायमानः शैत्यादिबोधो येन व्यापारेण जन्यते स एव हि व्यंजनाग्रणादिभिरभिधानैरभिधीयते। असावेव च शृंगाराद्यास्वादभोगायापि शब्दे करणत्वं प्रसुवीत। उच्यते च मम्मटभट्टैः—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया॥ इति।
'नाभिधा समयाभावद्धेत्वभावान्न लक्षणा।' इति।
प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्[१]॥ इति।

तत्रानुयुज्यते—मम्मट एव लक्षणाया अर्थवृत्तित्वमूरीकुरुते—'लक्षणाऽऽरोपिता[२] क्रिया' इति। आरोपितत्त्वमस्या इदमेव यन्मुख्यार्थवृत्तित्वेपि तद्वाचकनिष्ठत्वेन प्रवादः। यत् स एवाह—'स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा' इति। यदा च लक्षणै-वास्यार्थव्यापारस्तदा तदाश्रितः प्रयोजनप्रतिपादको व्यापारः शब्दव्यापार इति कीदृशी कथा। अर्थव्यापारत्वे पुनरर्थव्यंजनाया अस्या को भेदः। शब्दान्वयव्यतिरेकित्वेन तु भिन्नत्वे वधेहि—'तत्रार्थान्वय-व्यतिरेकित्वमपि विद्यते न वा' इति। 'मुखं[२] विकसितम-स्मितम् इत्यादिषु,' 'भद्रा[३]त्मनो दुरधिरोहतनोरिः' इत्यादिष्विवैवार्थपरिवृत्तिः सोढुं शक्यते किम्? अस्ति किं तत्र पुष्पसाधर्म्यसुमानुषत्वादिषु[४] परिवृत्तिसहत्वम्। नास्ति चेत्, प्रयो-जनप्रतिपादनपरस्यापि व्यापारस्यार्थैकवृत्तित्वमेवादरणीयम्। न च शब्दवृत्तित्वं तर्हि व्यंजनाया उच्छिन्नमिति भेतव्यम्, क्लृप्तेष्वियं भीतिः, नाक्लृप्तेषु।

किं चेदमर्थव्यंजनं भवतां। 'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः'[५]

---

१. काव्यप्रकाशस्य द्वितीय उल्लासे।
२. काव्यप्रकाशे लक्षणामूलाया व्यंजनाया उदाहरणम्।
३. काव्यप्रकाश एवाभिधामूलाया व्यंजनाया उदाहरणम्।
४. मुखमित्यत्र पुष्पसाधर्म्यम्, भद्रात्मन इत्यत्र च सुमानुषत्वम्।
५. भामहस्य काव्यालंकारे २।८७-कारिका।

इत्यादौ निष्पन्ने पदार्थप्रकारके वाक्यार्थे 'सान्ध्यो विधिरुपक्रम्यताम्' इत्यादयस्तद्विलक्षणा अप्यर्था यदौपयिकप्रतीतिकास्तदेव नव्यर्थव्यंजनम् इति चेत्, सर्व एव श्रोतात्र तादृगर्थप्रतिपत्तिभाक्, कश्चिदेव वा। कश्चिदेवेति चेत् सोऽप्यप्रकरणाद्यभिज्ञस्तमर्थं प्रतिपद्यतेऽन्यथा वा। अन्यथा चेत् सर्ववादिसंप्रतिपन्नत्वेन प्रथिते स्वार्थानुमाने को रोषः, यदेतदौपयिकप्रतीतिकेऽपि विषये नवीनं किंचिदर्थव्यंजनं कल्प्यते। सहृदयत्वसहकृतेन प्रकरणादिबोधेन प्रागुक्तेषु वैलक्षण्यभाक्ष्वर्थेषु पदार्थप्रकारकतादृशवाक्यार्थबोधहेतुकत्वस्य स्वार्थानुमानस्यापि व्यापारसंभवात्। 'न च पक्षनिष्ठविरहाप्रतियोगिसाध्यैकाधिकरण्यभाजैव हेतुनानुमितिप्रसवः, नान्यादृशेन' इति वाच्यम्, विधि-निषेधादि-धर्म-व्यवस्थोपयोगिने प्रामाण्यग्रहायैव हि सा स्थितिः, न व्यवहारसामान्यसाधनाय। दृश्यते हि व्यवहारे गृहीतसमाधावपि योगिनि सुखशायित्वभ्रान्त्या दाम्भिकत्वबुद्धिः, निर्विकल्पं गृहीतेषुस्थाण्वादिषु च भूतत्वभ्रमेणानिष्टशंका। द्वितयमपीदं शिथिलानुमितिरेव। अभिलेखैः, देवकुलादिस्थापत्यैः, कविप्रबन्धैश्च यदिदं युगविशेषैतिह्यनिर्धारणं तदपि हेत्वाभासविधृतमेव, अन्यथाभावस्यापि तत्र बहुत्रोपलम्भात्। आस्तां तावत् कृत्स्नमिदम्, शिथिलेनानेनानुमितिविशेषेण विना पदमात्रमपि प्रक्रमितुं न शक्यम्। 'अविषमेयं स्थलीति नास्ति मेऽत्र भीतिः' इति गृहीतानुमितिरेव सर्वः सर्वत्र क्रमते। बिडालोपि हि श्मश्रु-लोमायाम-प्रमाणमनुमायैवच्छिद्रविशेषान्निर्जिगमिषति, व्याधोपि सन्धानवेधयोरिमामेव प्रमाणी कुरुते, वणिगपि वाणिज्याय स्थितिविशेषहेतुकामिमामेवातिष्ठते। किं बहुना केशकर्तने व्यापृतो नापितः कर्णकर्तनं यत् परिहरति, तत्रापीयमेव भगवती रक्षिका। का नामात्र व्यंजनायाः कथा।

ननु 'शब्द'समर्पितानां विभावादीनां समूहालम्बनात्मकेन ज्ञानेन निराकृते स्थायिविषयिण्यात्मावरणे यदिदमात्मचैतन्यं ? प्रकाशते तत्र किमुच्यते ? (उत्तरम्) तदेव, यद्धि लौकिके रसे तद्गतावरणभंगादुपजायमान आत्मप्रकाशे। व्यंजनैव सा, किन्तु को नु गुणः काव्यस्य तया ? न हीयमलौकिकी काचिद् व्यक्तिः, अपितु लौकिक्येव। स्वीक्रियते हि प्रकाशादिना घटादिषु दृश्यमाना सा। उच्यत एव चानुमितिप्रस्थापनपरमाचार्यैर्महिमाचार्यैः—

"सतोऽसत एव वार्थस्य संबन्धस्मरणानवेक्षिणा प्रकाशकेन सहैव प्रकाशविषयतापत्तिरभिव्यक्तिः। तत्र सतोऽभिव्यक्तिस्त्रिधा, कारणात्मनि कार्यस्य शक्त्यात्मनाऽवस्थानात् तिरोभूतस्येन्द्रियगोचरापत्तिलक्षण आविर्भाव एका, यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्यादेः। तस्यैवाविर्भूतस्य कुतश्चित् प्रतिबन्धादप्रकाशमानस्य प्रकाशकेनोपसर्जनीकृतात्मना सहैव प्रकाशो द्वितीया, यथा प्रदीपादिना घटादेः। तस्यैवानुभूनपूर्वस्थ संस्कारात्मनान्तर्विपरि-

---

१. रसगंगाधरे रसनिरूपणम्।

वर्त्तिनः कुतश्चिदव्यभिचारिणोऽर्थान्तरात् तत्प्रतिपादकाद् वा संस्कारप्रबोधमात्रं तृतीया, यथा धूमादग्नेः, यथा चालेख्यापुस्तकप्रतिबिम्बानुकरणादिभ्यः शब्दाच्च गवादेः। असतस्त्वेकप्रकारैव, यथार्कालोकादिनेन्द्रचापादेः।" इति।

व्यक्तिविवेकस्य प्रथमे वि०, अस्मदनुवादे पृ० ८०

ननु 'रसस्यालोकसामान्यत्वमेव लोकोत्तरालौकिकत्वादिपर्यायान्तरव्यपदेश्यमानालंकारिकाणामभिमतम्, न लौकिकत्वम्'। आम्। रसास्वादः काव्यस्थले लोकोत्तर एव, किन्तु येयमेतत्प्रसूरात्माभिव्यक्तिः सा पुनः शरावादिनिवृत्तौ जायमानायास्तदावृत्तस्य दीपादेरभिव्यक्तेरेव सोदरा। तत उपजायमान आस्वादस्त्वलौकिक एव, तत्र करुणादीनामप्यानन्दमात्रजनकत्वात्, मरिचामलक्यादिमिष्टपाकवत्। यद्वा रसास्वादोपि वस्तुतः लौकिकास्वादकल्प एव। सत्त्वोद्रेकस्य, संविद्विश्रान्तेः, प्रकाशानन्दसंभोगस्य चोभयत्राप्यभेदात्[1]। लयावस्थाया उभयत्रापि समानत्वं को नु न ब्रूयात्। य एव वेद्यान्तरसंपर्कशून्यः संविद्विश्रमः काव्योपस्थापितया विभावादिसामग्र्या जायते स एव संगीतादिसामग्र्यापि। यदि न स एव तर्हि तत्कल्पस्तु स न न जायते। अभिनयेन, शिल्पेनापि वा स्थितिरेषा जायत एव। ततश्च कालान्तरेणापि जायमान आस्वादो यदा समानरूप एव तदा लोकस्थितेरपि जायमाने तस्मिन् तत्त्वकल्पने को नु दोषः। काव्याकाव्यत्वविवेकप्रश्नस्तु समाहितप्राय एव सुन्दरासुन्दरत्वभेदात्, साधारणासाधारणत्वद्वैविध्याच्च। न ह्युत्कर्षापकर्षमात्रेण वस्तुभेदो युज्यते मन्तुम्, राजरंकयोः सत्यपि तादृशे भेदे जात्यैकत्वस्य निर्विवादत्वात्। अस्ति च वस्तुतः लौकिको रस एव रसः, काव्यरसस्य तत्कल्पत्वेनैवोपादेयत्वात्। असति तु काव्यरसस्य तथात्वे तेनैव तृप्तिसंभवे लौकिकस्यास्याविषयत्वस्यमेव स्यात् सामाजिकप्रवृत्तेः। न च न तत्र सामाजिकाः प्रवर्त्तन्ते, अभिनवगुप्तस्यापि[2] मधुरादिषु रसेषु प्रवृत्त्यभावस्याप्रमाणसिद्धत्वात्। उच्यते हि तेन—'न हि वीतरागो विपर्यस्तान् भावान् पश्यति, न ह्यस्य वीणाक्वणितं काकरटितकल्पं प्रतिभाति[3]" इति। न हि वीतरागोपि वीणाक्वणिताद् विरज्यते चेत् काकरटितेषु रज्यते। सिद्धमेतेनास्य विषयान् प्रति लोकसाधारणत्वमेव। अस्ति च सर्वेषामेव रसानां शान्तप्रायास्वादकत्वमेवाभिनवगुप्तसंमतम्। यदुक्तमेतेन—'सर्वेषां रसानां शान्तप्राय एवास्वाद'[4] इति। न चोद्वेगप्रायो लोकेऽपि सः। तथा सति तत्र प्रवृत्त्यभावः प्रसज्येत। यच्चेदं—'यथा जायया

---

१. भट्टनायकस्य रसनिष्पत्तिप्रक्रिया।
२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीप्रभृतिभ्य इदं स्पष्टं यदसावकृतदारपरिग्रहः साधुरेवासीत्।
३. ध्वन्यालोक, ३।४० कारिकालोचनम्।
४. अभिनवभारतीरसनिरूपणम्।

प्रियया परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' इति, 'ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्'[1] इति च ब्रह्म-लोक-काव्य-रसानामन्योन्यौपम्यं तत्तच्छास्त्रकृद्भिरुपनिबध्यते तत्रकैवल्या-कैवल्यमात्रभेदेनैकस्यात्मतत्त्वस्यैव[2] परामर्शो मूलतां प्रतिपद्यते। नास्ति च तत्र भेदः। न च 'नास्ति तत्र केवलस्यात्मतत्त्वस्योदयः, अपितु जीवात्मनः, करणाद्यनधिष्ठितेऽपि घटादिशरीरे व्यापकत्वेनाभिमतस्यात्मतत्त्वस्य सत्त्वात्, तदधिष्ठितशरीरगतत्वेन च रसस्योदयात्, जीवत्वं चेदमेव[2] यज्जीवच्छरीरावच्छिन्नत्वम्। ततश्च चित्तवृत्तिव्रातस्यापि रसेऽनुवेधादुपपद्यत एवास्वादभेदो लोककाव्यरसयोः। प्रत्येकं रसः परस्परं भिद्यत एव चित्तवृत्तिरूपाभी रतिचिन्तादिस्थायिसंचारिनामिकाभिर्भावधाराभिः। एवं को नामावसरः काव्याकाव्य-साधारणत्वसंप्रतिपादनेन, ततश्च व्यक्तिनिराकरणेन'इति वाच्यम्, चित्तवृत्तीनामप्यन्तत एकरूपत्वात्। न्यूनाधिकभावस्तु वृत्तीनामकिंचित्करः। ब्राह्मण-क्षत्रिययोरिव मनःस्थतिभेदेपि द्विजत्वादेरिव रसत्वस्यावैषम्येन विद्यमानत्वात्। अथ च वज्रमेतद् भवत्तु पातयामहे यद् यदिदं शृंगारादिकं नाम तस्य यदिदं काव्यवृत्तित्वं भवद्भिर्भूम्ना प्रचारितं तद्धि शशशृंगकल्पम्। न ह्येतच्छब्दार्थात्मनि काव्ये तिष्ठति, सहृदय-जीवात्मनि तस्य संभवात्। नास्ति च सहृदयः काव्यम्। काव्यसाध्यत्वेन काव्यवृत्तित्वो-पगमस्तु हासास्पदम्, तथा सति लोकेऽपि रत्यादिरसस्य शरीरसाध्यत्वात् तन्निष्ठत्वमेव स्यात्। यदि च काव्यनिष्ठत्वं रसस्य भवद्भिरूरीक्रियते किमर्थं तर्हि रामाद्यनुकार्यनिष्ठत्वमपि तस्य नोरीक्रियते, काव्यार्थात्मनां रामादीनामिदानीमपि विद्यमानत्वात्। यदा च रसोऽकाव्यनिष्ठस्तदा को नु लाभः काव्यस्य रसनिष्ठतयाभिमतेनाप्यभिव्यंजनेन। न हि तन्निष्ठमभिव्यंजनं काव्यनिष्ठतयाभ्युपगम्येत। न ह्यसौ शब्दवृत्तिः, नापीयमर्थवृत्तिरेव, रामदशरथादिरूपस्य काव्यार्थस्यास्वादरूपेण रसपदार्थेनाभेदाभावात्। नास्ति च शब्दार्थाभ्यां भिन्नमपि किंचित् यस्य काव्यत्वमालंकारिकसंमतं स्यात्। किमधिकेन रामदशरथादिरूपा अर्था[3] यथा काव्ये स्वज्ञानात्मनैव कार्यक्षमास्तथैव शब्दा अपि ज्ञानात्मनैव काव्ये तथा। न केवला शब्दार्था एव, अनयोः संकेतोपि ज्ञानरूप एव। ज्ञानं च वस्तुतोऽर्थरूपमेव। प्राप्तं तर्हि काव्यस्य केवलार्थात्मकत्वम्। अस्ति च यदा तत्र ज्ञानमात्र-साम्राज्यं तदा को नु प्रश्नः शाब्दशाब्दत्वस्य तत्र। शाब्दत्वं हि शब्दज्ञानमात्रावधिकं काव्ये समुचितम्, ततः परस्य तु तत्त्वे मानाभावः। शब्दमूलकत्वमात्रेण शाब्दत्वे तु सूर्य-

---

१. काव्यप्रकाशे रसाभिव्यक्तिवादनिरूपणम्।

२. अलंकारसर्वस्वविमर्शिनी (निर्णयसा० सं०) पृ० १३, (प्रकाश्यमाने) अस्मदनुवादे पृ० ३१।

३. अभिनवगुप्तो रसस्य रसनामपि बोधरूपामेव मनुते—'रसना च बोधरूपैव'—अभिनवभारती (बड़ौदा सं०), पृ० २८५।

मूलकत्वमात्रेण मनोरिव रघुदिलीपादेरपि सौरत्व इव संतोष्टुं शक्येत। प्रचलन्त्येव हि लोके स्थूलभूयिष्ठा व्याहाराः। शास्त्रे पुनर्नेदृशी स्थितिः। तर्कविधृतं हि तत्। अलंकार-शास्त्रमपि शास्त्रमेव, न काव्यम्, काममिदं काव्यविषयकमेव स्यात्। अतश्चात्रापि सूक्ष्मे-क्षिका तथैव प्रतिष्ठास्पदतामंचति यथा न्यायादिषुशास्त्रान्तरेषु। तदित्थमशाब्द एव वस्तुतः (काव्य) रसः। अतएव व्यंजनावादिभिरप्यसौ 'स्वप्नेऽप्यवाच्यतासह'[1] एव जेगी-यते। किं बहुना—

अकृत-विपुलाऽऽभोगस्यान्ते मम प्रणयोऽस्त्यसौ।
न खलु विदुषा क्वापि त्याज्या मतिर्हृदयं न वा॥
यदि सुकृतिनां श्लाघ्यं जीवातवे मह ऐन्दवं।
न खलु न तदा तेषामादित्यदीप्तिरपि प्रिया॥

---

१. ध्वन्यालोक १।४—कारिकालोचनम्, काव्यप्रकाशपंचमोल्लासः।

अर्थः सहृदयश्लाघ्यः

पण्डितश्री बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

शशिविम्वमिवाम्भोधिकल्लोलेषु कवेर्गिराम् ।
प्रसरन्तं तरङ्गेषु कञ्चिदर्थं विचिन्तये ॥

ध्वनिसिद्धान्तप्रतिष्ठापनपरमाचार्यः श्रीमानानन्दवर्धनः स्वोपज्ञे ध्वन्यालोक-प्रवन्धे प्रथमां कारिकामेवमुपन्यस्यति—

काव्यस्यात्माध्वनिरिति बुधै र्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याऽभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्वस्वरूपम् ॥ इति ।

कारिकयाऽनया सामान्यतो वक्ष्यमाणस्याऽशेषविषयस्योद्देशरूपेण परिचयः प्रादर्शि प्रवन्धा । तथा हि—ध्वनेः पूर्वाचार्य्य सम्मतत्वम्, तदभाव सम्भावना, लक्षणादिवृत्त्यन्तरेण गतार्थत्व कल्पना, ध्वनेरनाख्येयत्वम्, सम्भाव्यमानसकलविप्रति-पत्ति निरासेन ध्वनिप्रतिष्ठापनं चेत्येवं रूपेण निष्कृष्टार्थ सूचिकेयं कारिका ।

तदनुवृत्ति ग्रन्थेन ध्वनरेभाव वादिनां विकल्पप्रदर्शनं, भक्तिकुक्षिप्रवेश-सम्भावनाव्युदासम् अनाख्येयत्वादिनिरासं च संक्षेपणोपदर्श्य ध्वनेर्लिलक्षयिपितस्य व्यङ्ग्यार्थ समाश्रितत्वाद् वाच्य-व्यङ्ग्यरूपेणार्थ विभागप्रदर्शनाय द्वितीयां कारिका-मवतारयामास ध्वनिकारः :—

अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।
वाच्य प्रतीयमानाख्या तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ इति ।

तत्राऽपि वाच्यस्य सकलवादिसम्मततया प्राचीनालङ्कारिकाणां तत्रैव सविशेष सरम्भशालितया न विशेषतो विचारगोचरत्वम्, व्यङ्ग्यस्य तु विप्रतिपत्ति विषयतया विवेचनमवशिष्यत इत्यभिप्रायेणोक्तम्—

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः काव्य लक्ष्मविधायिभिः ॥ इति ।

प्रतीयमानस्य तु ध्वनिसिद्धान्तजीवातुभूततया प्राधान्यमस्तीति सकलावयवाभिव्यङ्ग्यरमणीलावण्यसोदर्यत्वं तदीयमित्थं निरूपितम्—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ इति।

एवं सामान्यतया प्रतीयमानस्य माहात्म्यमुपवर्ण्य तत्राऽपि रसध्वनेरेव कवितात्पर्यविषयत्वमस्तीति तत्त्वोपपादनाय प्राचीनतमसंवादानुसारेण प्रकृतोऽर्थः परिपोष्यते यथा—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथाचादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

एवंविधे पूर्वाऽपरसम्बन्धे जागरूके यत् केनचिदुच्यते—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति पूर्वं प्रतिज्ञाय पश्चात् 'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः' इत्यनया कारिकया वाच्यव्यङ्ग्ययोः सव्येतरविषाणयोरिव समशीर्षिकया काव्यात्मभावेन परिगणनाद् ध्वनिकारस्य मतं स्ववचनविरोधादेव पराहतं भवतीति । तत्रदं विचार्यते—न तावत् कारिकेयं ध्वनेर्लक्षणत्वेननिर्दिष्टा, किन्तु ध्वनिनिरूपणात् प्राक् भूमिकारूपा । तथा च वृत्तौ स्फुटमुक्तम्—'ध्वनेर्लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितु मिदमुच्यते' इति । अत्र श्रीमदभिनवगुप्तपादानां लोचनव्याख्याऽपि द्रष्टव्या—"ननु ध्वनिस्वरूपं ब्रूमः इति प्रतिज्ञाय वाच्य प्रतीयमानाख्यौ द्वौभेदावर्थस्येति व्याख्याभिधाने का सङ्गतिः कारिकाया इत्याशङ्क्य सङ्गतिं कर्तुमवतरणिकां करोति तत्रेति"

एवामेवाऽग्रेऽपि "भूमिरेव भूमिका, यथा पूर्वनिर्माणे चिकीर्षिते पूर्वं भूमिरेव विरच्यते तथा ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपपयितव्ये निर्विवादसिद्धवाच्याभिधानं भूमिः, तत्पृष्ठेऽधिकप्रतीयमानांशोलिङ्गनात् । वाच्येन समशीर्षिका गणनं तस्याप्यनपन्हवनीयत्वं प्रतिपादयितुम्" इति ।

एतावता नाऽनया कारिकया वाच्यार्थस्य काव्यात्मत्वं सिद्ध्यतीति ज्ञायते, किन्तु वाच्यपृष्ठभावी प्रतीयमानोनाम काव्यजीवातुभूतोऽर्थः स एव काव्यस्यात्मा ऽस्तीति सूच्यते ।

यथा च भूमिकां विना प्रासादोऽपि न स्थितिं लभते, तद्वदेव वाच्याधारेण व्यङ्ग्यार्थस्य स्थितिरिति स्फुटमेतावता सन्दर्भेण । परं प्रासादस्य शिल्पिशतैरूपकल्पितस्य यद् रामणीयकं तत् तु न भूमिकायाः, तथैव कविकल्पना विश्रामधामता प्रासादसंबन्धोः प्रतीयमानस्यैवार्थस्य न तु वाच्यस्य ।

किञ्च, कारिकासु 'समाम्नातपूर्वः' 'स्मृतौ' इत्यादिभिः शब्दैः पूर्वाचार्य-

सम्मतिप्रदर्शनेन स्ववचनस्य प्रामाणिकत्वमपि साधितं ग्रन्थकारेण । तथाऽप्यत्र श्लोके नाऽन्वयः सुलभः—परिदृश्यमान यत्तच्छब्दयोः स्वारसिकः सम्बन्धोऽर्थेनैव दृश्यते, 'सहृदयश्लाघ्यः' 'काव्यात्मा' इति विशेषणयुगलमयमर्थेनैव सह सङ्गच्छते। ततश्च वाच्यस्याऽपि काव्यत्मभावो दुर्वारतामापन्नः । एवं स्थिते किञ्चिदालोचनीयम्—न तावदर्थमात्रस्य काव्यत्वम्, सर्वेष्वपि लौकिकवैदिकवाक्येषु काव्यत्वप्रसङ्गात् । किन्तु काव्यार्थे भावना परिपक्वबुद्धिभिर्विदग्धपदव्यपदेश्यैः परिगृहीत एवाऽर्थः काव्येषूपयुज्यते, प्राधान्यं चाधिगच्छति एतदभिप्रायेणैव 'सहृदयश्लाघ्यः' इति विशेषणद्वारा काव्यस्यात्मभूतः प्रतीयमानः पृथक् क्रियते, तत्र विवक्षानुरोधेनाऽऽकाङ्क्षापूरणाय तच्छब्दः कश्चिदेकः परिकल्पनीयः । तथा च—सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा योऽर्थः प्रतीयमानरूपः स व्यवस्थितः=विशेषेण विभागेन वा अवस्थितः, देहादेः पृथग्भूत आत्मेव। अर्थस्य तु द्वौ भेदौ—वाच्यः प्रतीयमानश्चेति । इत्थमन्वययोजनायां तात्पर्यग्रहणे न बाधः ।

ननु यत्तच्छब्दयोर्नियतसम्बन्धावगमकतया कथमत्र तच्छब्दकल्पनं कर्तुमुचितमितिचेदत्राऽपि विचार्यताम्—यत्तच्छब्दयोराकाङ्क्षानुसारेणैव प्रवृत्तिभवतीति भूयोभिरुदाहरणैर्विधेयावमर्शदोषविचारे प्रदर्शितं मम्मटादिभिः । क्वचिदसतोरपि यत्तच्छब्दयोः परिकल्पनमनुमतं तद्विदाम् यथा—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रतिनैष यत्नः ।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।।

अत्रोदाहरणे 'य उत्पत्स्यते तं प्रति' इति द्वयोरविद्यमानयोरपि यत्तत्पदयोः कल्पना क्रियमाणा न दुष्यति, अन्यथा भविष्यद्वर्तमानक्रिययोरेककर्तृसम्बन्धत्वेन प्रतीतिर्न सङ्गता स्यात् । तद्वदत्राऽपि 'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः' इत्यादि कारिकायामर्थानुरोधेन तच्छब्दकल्पना न दुष्यति। उपसर्ग बलाद् विशिष्टार्थप्रतीतिश्च प्रमाणसिद्धा । अन्यथा 'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा' इत्यग्रे वक्ष्यमाणकारिकोक्तस्य रसध्वनेः काव्यात्मताप्रतिपादनमपि न समर्थितं स्यात्। रसभावादेः स्वप्नेऽप्यवाच्यत्वात् । तथा च व्यङ्ग्यस्वरूपविवेके काव्यप्रकाशकारेण त्रिविधमपि व्यङ्ग्यं द्वैविध्येन सङ्कोचयता प्रतिपाद्यते—'किञ्चिद् वाच्यतां सहते किञ्चित्त्वन्यथा। रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः' इति।

यदि तु 'सहृदयश्लाघ्यः' 'काव्यात्मा' इति विशेषणद्वयमप्यर्थसामान्यपरतया संयोज्य तस्य द्वौ भेदाविति यथा—स्थितान्वययोजन एवाऽभिनिवेशः केषाञ्चित्

शेमुषीजुषां परिदृश्यते, तत्राऽपि सुगमः पन्था विचारणाम्। तथा हि—शब्दार्थ-शरीरमयमपि काव्यं प्राणयामान प्रतीयमान परिस्पन्दं विना न चमत्करोतीति निर्विवाद सिद्धम्। शव शरीरस्येव तद्विहीनस्य काव्यस्य सुतरां हेयत्वात्। तथापि काव्यव्यवहारे काचिदर्थकल्पना विविधरूपा क्रियते साऽपि प्रकृते विवेचनीयैव। ध्वनिभेदप्रकरणे तावद् अर्थस्थितिस्त्रिविधा—कश्चिदर्थः स्वतः सम्भवी, कश्चिद् कविप्रौढोक्तिसिद्धः, कश्चित् कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धश्चेति कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिं कविप्रौढोक्त्या गतार्थयन् रसगङ्गाधरकारस्तु न श्रद्धेयः, वाकोवाक्यप्रसङ्गेपात्रोपनिबद्धानामुक्तीनां समधिक चमत्कारजनकतया रसाभिव्यञ्जनोपकारकत्वस्य स्फुटमनुभवात्।

एवं त्रिविधोऽप्ययमर्थो विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ वाच्यरूपोऽपि व्यङ्ग्य-निष्ठो भवतीति स्वीक्रियते, एवं वाच्यस्यापि सहृदयश्लाघ्यतया काव्यात्मभावोन्मुख-तया च काव्यात्मरूपेण व्यवहारोऽपि नाऽसङ्गतः प्रतिभाति।

अन्यच्च, ध्वनिकारेणैव स्थलान्तरे—'व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ता-भ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां न वाच्यवाचकरचनामात्रेण' इत्युक्तम्। तत्र वाच्योऽपि व्यञ्जकदशायां काव्यत्मरूपतामारोढुं क्षमत इति तदभिप्रायः स्फुटी भवति।

एतदभिप्रायेण 'चित्रम् अपि काव्यप्रभेदरूपेण परिगण्यते, तत्रापि परम्परया प्रतीयमानार्थस्पर्शवत्तानियमात्। केवलं प्रधानतया व्यङ्ग्यतात्पर्यं नास्तीति तस्य चरमकोटिनिवेशः स्वीकृतो न तु काव्यस्वरूपाद् वहिर्भावः। अतएव 'शब्द-चित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यत्ववरं स्मृतम्' इति काव्यप्रकाशोद्धृतकारिकायां 'अव्यङ्ग्य'-पदेन न सर्वथा व्यङ्ग्यस्याभावोऽङ्गीकृतष्टीकाकारैः, किन्तुकवितात्पर्यविषयी भूतव्यङ्ग्यवास्याऽभावोऽनुमतः। ध्वनिकारस्य सर्वत्र कविवाङ्मये प्रतीयमान चमत्कारमेव प्रमाणयतो भणितिरियमपि द्रष्टव्या—"सर्वथानास्त्येव सहृदय हृदय-हारिणः काव्यस्य सप्रकारः यत्र न प्रतीयमानार्थ संस्पर्शेन सौभाग्यम्" इति। इत्थं प्रतीयमानार्थ-संस्पर्शशालितयाऽपि स्पर्शमणिवत् सौवर्णी प्रक्रियामासाद्य वाच्योऽत्यर्थः काव्यात्मभावं भजेदेव। अपरञ्च—

आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि।
चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि च॥

इति कोषकारोक्तदिशा व्यङ्ग्यस्य कलेवरतया तदुपपादन यत्नवत्तया वा वाच्योऽर्थः 'काव्यात्मा' इत्युक्तिर्न विरोधं लम्भनीया किं। वहुना, विशुद्धमपि वाच्यं काव्यस्वभावनिर्वाहकतया नानात्वं भजमानं काव्यस्वरूपं निर्वहतीति सम्मनुते स्वयं ध्वनिकारः। यदुक्तं तेनैव चतुर्थोद्द्योते—

अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते ।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्याऽपि स्वभावतः ।। इति ।

"शुद्धस्य अनपेक्षितव्यङ्ग्यस्याऽपि वाच्यस्याऽऽनन्त्यमेव जायते स्वभावतः" इति च ।

केवलस्य अनपेक्षितव्यङ्ग्यार्थस्याऽपि वाच्यार्थस्य स्वभावोक्तिमात्रेण काव्य-स्वरूपनिर्वाणकत्वं भवतीति तदभिप्रायः । एकस्यैव वस्तुनस्तत्तदवस्थाभेद-भिन्नतया नव-नवायमानतया चमत्कृतिजनकता सहृदयहृदयसाक्षिणी परिस्फुरत्येव । यथा कुमारसम्भवे प्रथमतो भगवतीं शैलराजकन्यां वर्णयन् महाकविः—

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथा प्रदेशं विनिवेशितेन ।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थ सौन्दर्यदिदृक्षयेव ।।

इत्येवमुपसंहरति । पुनरपि वसन्ताविर्भावकाले तामेव प्रकारान्तरेण कवि-रुपवर्णयाञ्चकार—

आवर्जिता किञ्चिदिवस्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्तपुष्पस्तवकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव ।।

पुनरपि परिणयावसरे महाकविरन्यथैव तामुपश्लोकयितुं संनह्यति—

तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीं
क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः ।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः
प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ।। इति ।

तदेवं वाच्यार्थमात्रस्य रामणीयकनिर्वाहसमर्थतया काव्यात्मभावो न सुदुर्घटः स्वीकृतश्च ध्वनिकारादिभिः । एवमन्यदप्यचेतनेषु चेतनव्यवहारसमारोपादिकौशलं, चमत्कार-विशेषं जनयितुं प्रभवत्येव । किमधिकेन—स्तम्भकुम्भादिः पदार्थोऽपि कमनीयकामिनी बाहुवल्लीवलयितः, सद्यो नायक दशामक्लेशलेशमनुभवति । स्वभावतश्च कविव्यवहारगोचरस्य वाच्यस्याप्यर्थस्य प्रतीयमानार्थसंस्पर्शशालिता सुप्रतिष्ठिता । प्राचीना आलङ्कारिका अपि रीति-वृत्ति-गुणालङ्कारादिनिरूपणव्याजेन कथञ्चित-स्फुटतया ध्वनितत्वमेवाऽनुजग्मुरिति सिद्धान्तः । यथोक्तं ध्वनिकारेण—

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ।। इति ।

इत्यमेव, शब्द तत्त्वाश्रया उपनागरिकाद्या वृत्तयः, अर्थतत्त्वाश्रयाश्च

कैशिक्याद्याः परम्परया प्रतीयमानमेवार्थं परिपुष्णन्तीति न विवादः। अतएव 'वृत्तयः काव्यमातृकाः' इति भरतोऽपि ब्रूते। तदेवं वाच्यस्याऽप्यर्थस्य काव्यस्वभावनिर्वाहकतया काव्यात्मभावो न खण्डनीयः केनाऽपि। शब्दार्थविचारे पूर्वापरीभावविधौ च वाच्यस्य प्रथमोपस्थिति गोचरत्वं, लक्ष्य-व्यङ्ग्यादेस्तदुत्तरं प्रतिपत्तिश्चेत्यत्र न कस्याऽपि विचिकित्सावसरः। घट-प्रदीपन्यायेन वाच्यस्य व्यञ्जकत्वं प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यत्वमपि सिद्धमेवेति न कश्चिद् विरोधः। सहृदयश्लाघ्यता काव्यस्वरूपनिर्वाहकत्वं तूभयोरर्थयोः स्वभावसिद्धमित्यनया दिशा 'काव्यात्मा' इति पदनिर्वचने न कश्चिदविरोध इति सर्वं समञ्जसमेव।

सर्वंकषेति सर्वथान्वर्थकं नाम

पण्डितश्री व्रजनाथ झा

मल्लिनाथप्रणीतविवृतेः शिशुपालवधस्य नाम सर्वंकषेति। सर्वाणि कषतीति व्युत्पत्या 'सर्वकूलाभ्रकरीकेषु: कषः' (३।२।४६) इति पाणिनिसूत्रेण सम्पादितः सर्वकषेति शब्दो माघमधिकृत्य कृतानां सर्वासां टीकाणां बाधकरूपा बाधिकेवेत्यर्थोऽवगम्यते। ह्विटनी महोदयानुसारं कष धातुः कषणार्थे कोषणार्थे च व्यवहृतो दृश्यते[1]। ध्वनिविज्ञानानुसारं कषधातावनकेषां धातूनां परस्परं विनिमयो दृश्यते। हिन्दीभाषायां 'कसना' एवं 'किसना' इत्युभावपि धातू कषतेरेव विकारभूताविति मन्यन्ते केचन। उपलभ्यमानानां समस्तवैयाकरणानां[2] मतेऽयं धातुर्हिंसार्थक एव। इण्डोयूरोपीयस्रोते, वेदे, महाभारते तस्यनीलकण्ठ कृत टीकायां छान्दोग्योपनिषदि[3], नैषधे[4], प्राकृते, अभिज्ञानशाकुन्तले[5] च कषधातुर्हिंसार्थे व्यवहृतो वर्तते। टीककारः स्वमेकत्र सर्वंकषां विवृण्वन् सर्वंकषेति भगवती भवितव्यतैवेत्यगादीत्। महाकाव्य प्रारम्भे एव व्याख्याति व्याख्याकारोऽयं यत्केयं सर्वंकषा कस्य च कृते राजत इति। तद्यथा—

ये शब्दार्थपरीक्षणप्रणयिनो ये वा गुणालङ्कृया।
शिक्षाकौतुकिनो विहर्तुमनसो ये च ध्वनेरध्वगाः॥

---

१. कृषिविलेखने (भ्वा०), कष्टप्रतीहाते (भ्वा०),। खलहिंसार्थे (भ्वा०) कषगतिशासनयोः (अदा०)—पाणिनिः, तथा कष आदान संवरणयोः (काशकृत्स्नः) एतेषां परस्परं विनियोगः।

२. क्षीरस्वामी, मैत्रेयः, सायणः, कातन्त्रः, चान्द्रः, जैनेन्द्रः, काशकृत्स्नः, शाकटायनः, वोपदेवः, हेमचन्द्रश्च।

३. 'पाप्मानं कषमाणम्'—छा० उ० ४।३।८

४. छदहेमकषन्निवालसत्, (नैषध० २।६९)

५. अत्र कूलंकषेतिशब्दो हिंसार्थे "कूलंकषेवसिन्धुः प्रसन्नमम्भः तटतरुं च"—(अभिज्ञा० ५।२१)।

क्षुभ्यद्भावतरङ्गिते रससुधासारे निमङ्क्षन्ति ये।
तेषामेव कृते करोमि विवृतिं माघस्य सर्वंकषाम् ।।

अत्रैवकारो वारयति सकलपाठकेभ्यः सर्वंकषाध्ययनम्। ये चालङ्कारिकाः शाब्दिकाः सहृदयाः रसवादिनो ध्वनिवादिनः संगीतज्ञा रहस्यवादिनश्च स्युः त एव सर्वंकषां पठेयुरवगच्छेयुश्चेति व्यज्यतेऽत्रैवकारेण। परमेतेनेदंनैवावगन्तव्यं यन्माघे ये भावाः प्रदर्शिताः सन्ति तेभ्यः पृथग्भावाः संयोज्यन्तेऽत्र। तदुक्तम्—

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ।। इति।

एतेनेदमपि व्यज्यते यन्माघेनैकमात्र[1]प्रणीतेऽत्र तदानींतनं यावत् प्रचलिताः सर्वे काव्यगुणा मल्लिनाथस्य महद्वैदुष्येनैवाध्येतॄणाम् अक्ष्णोः समक्षमायाताः। टीकेयं सर्वाणि=माघसमयं यावत् प्रचलितानि मतानि (का०शा० निरूपकाणि) सहृदयोद्बोधाय कषतीति रीत्या सकलमतप्रवर्तिका। अथ च सर्वाणि=तत्तत्पद्येषु निहितानि चमत्काराणि काव्यगुणांश्च कषति स्फुटीकरोतीति रीत्या सर्वथा श्लोकार्थप्रतिपादिका। अतएव सर्वासु[2] टीकासु सर्वंकषैव सर्वत्रलब्धप्रचारा विद्वद्भिरादृता च विद्योतते।

तदित्थमधुना सर्वप्रथमं शब्दशास्त्रदृष्ट्या कोषदृष्ट्या च सर्वंकषया व्याख्यातस्य कस्यचिदंशस्योदाहरणं प्रस्तूयते। दृश्यतां प्रभातवर्णनप्रसङ्गे 'अकाकुश्रावक स्निग्धकण्ठा'[3] इत्यस्यव्याख्या—'नास्ति काकुर्यस्येत्यकाकुः अविकृतध्वनिः', काकुः स्त्रियां विकारो यः शोक भीत्यादिभिर्ध्वनेः' इत्यमरः। श्रावयतीति श्रावको दूरध्वनिः 'स्निग्धः मधुरः कण्ठो येषां ते रक्तकण्ठा" इत्यर्थः। पुनः श्रीकृष्णोत्साहवर्णने[4]— गव्यकूर्परयोरर्थमध्येतृसम्मुख-

१. सुभाषितावलौ "शीलं शीलतटातपतत्वभिजनः······" इत्यादि "नारीनितम्बफलके प्रतिबध्यमाना हंसीव हेमरशना मधुरं ररास" इत्यादि च पद्यद्वयं शिशुपालेऽनुपलभ्यमानं वल्लभदेवेन औचित्यविचारचर्चायां च "बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते" एतत्पद्यं तादृशमेव क्षेमेन्द्रेण माघनाम्नासमुद्धृतमस्ति। एतेनास्ति कश्चिदन्योऽपि ग्रन्थो माघकृत इत्यनुमीयते।

२. अस्याद्यावधि सुप्रसिद्धाष्टीकाः—
(१) वल्लभदेवकृतासंदेहविषौषधा, (२) रंगराजकृता, (३) एकनाथकृता, (४) चारित्रवर्धनकृता, (५) भरतमल्लिककृता सुबोधा, (६) दिनकरमिश्रकृता सुबोधिनी, (७) गोपालकृता हसन्ती, (८) मल्लिनाथ कृता सर्वंकषा एता अष्टौ सन्ति। यासु सर्वंकषैव श्रेष्ठा।

३. शिशु० १।११

४. शिशु० १६।२०; 'स्यात्कफोणिस्तुकूर्परः' इत्यमरः। गव्यं गवां हिते गव्या ज्यायां क्षीरादिके त्रिषु इति विश्वः।

मादधाति । इत्यमेव १९ तमे सर्गे चक्रबन्धस्य, समुद्गतस्य, अर्थत्रयवाचिनः, एकाक्षरस्य, अतालव्यस्य, द्व्यक्षरस्य, गूढचतुर्थस्य, गतप्रत्यागतस्य, अर्धभ्रमकस्य, असंयोगस्य, समुद्गयमकस्य, गोमूत्रिकाबन्धस्य, प्रतिलोमानुलोमपादस्य, श्लोकप्रतिलोमयमकस्य, मुरजबन्धस्य, सर्वतोभद्रस्य, एकाक्षरपादस्यचार्थान् न कोपि पारयेज्ज्ञातुमन्तरा सर्वंकषाम्, तत्रोदाहरणरूपेणैकस्यैकाक्षरपादस्योदाहरणे दृश्यतां मल्लिनाथस्य वैशिष्ट्यम्[1]। तत्रात्र जजाः, जाजी, भाभः, अभिभाभिभूभाभूः, अरीररः इत्यादिशब्दाः व्याख्यामन्तरा नागच्छन्ति ज्ञानपथम् ।

भा भोऽभीभाभिभूभाभूरारारिररिरीररः ॥

शिशु० ३।१९

व्याकरणसाधुत्वविषयेऽपि सर्वंकषैव प्रमाणम् । 'विकासिभक्तिभिः'[2] इत्यत्र विकासिपदे कथं पुंवद्भाव इति सर्वंकषया स्पष्टं दृष्टिपथमायाति तथैव 'दधतेव योगमुभय ग्रहान्तरस्थितिकारितं दुरधराख्यमिन्दुना'[3] इत्यादौ ग्रहस्थितेर्ज्ञानं सर्वंकषया सर्वतो लोचनपथमञ्चति । तथैव पौराणिकी[4]कथानुसधनानुप्रसङ्गेऽपि सर्वंकषा साहाय्यमाचरति ।

एवमेव ध्वनेरास्वादावगाहनेऽपि सर्वंकषा सर्वथा साहाय्यमाचरति । "ससंभ्रमं चरणतलाभिताडनस्फुरन्" इत्यत्र पादाहननैरमानुषीं तीव्रतां व्रजतिस्मेति ध्वनिः । पुनश्च 'वलयार्पिता सितमहोपल···(४४।१३) इत्यत्रेन्द्रनीलप्रभानां रोमावली बहुलीकरणोक्त्या प्रभास्वपि रोमराजित्वप्रतीतेर्भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इति वस्तुनालङ्कारध्वनिः । अथ च "निजसौरभभ्रमित······(१५।१३) इहाङ्कसौरभानिमेषत्वाभ्यां पुराधिवासाच्च पुराधिदेवतात्वम् उत्प्रेक्ष्यते इत्युपात्तगुणनिमित्ता जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा । तया चास्या जात्याः पद्मिनीत्वं व्यज्यते इत्यलंकारेण वस्तुध्वनिः । भूयश्च 'ननृतुश्च वारिधरधीर······' (५।१३) इत्यत्र वारिधारोपमया कलापिनां गजबृंहितेषु घनगर्जितभ्रान्तिमन्तरेण नृत्या-

---

१. जजौ जोजाजिजिज्जाजी, तंततोऽति तताति तुत् ।

२. शिशु० २४।१३; कालिदासत्रयसंजीविन्यां "दृढभक्तिरितिज्येष्ठे" (रघु० १२।१९) इत्यादौ च विवेचनम् ।

३. शिशु० २२।१३ ।

४. शिशु० १२।१३ "पुराकिल भगवान् सत्यभामाप्रीतये बलादिन्द्र लोकादपहृत्य पारिजातं निजगृहेष्वारोपितवान् इति कथा" तथैव (३।११) इत्यत्र शकटासुरकथाप्रसङ्गः ।

सम्भवात् भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः। एवमेव रहस्यनिरूपणे[1] सङ्गीतशास्त्रज्ञानेचायं[2] सफलः।

तदित्थमायातं सर्वंकषत्वमत्र सर्वंकषायाम्। इत्थमेवं 'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते' प्राचीनोक्तिरसावपि माघस्य यत्किमपि वैशिष्ट्यं प्रतिपादयति तदपि सर्वं सर्वंकषाध्ययनेनैवागच्छत्यस्माकं ज्ञानपथमित्यनेनापि सर्वंकषत्वमस्याः सिद्धयति।

काव्यशास्त्रे वृहत्त्रयीं[3] लघुत्रयीं[4] चासौ मद्रासप्रान्तस्य[5] तेलिङ्गना मण्डलान्तर्गतो कोलाचल[6] ब्राह्मणो मल्लिनाथः[7] संजीविन्या, घण्टापथेन, सर्वंकषया च व्याख्यातवान्। संजीविनी जीवयति सहृदयान्, घंटापथः प्रदर्शयति प्रशस्तमार्गम्, सर्वंकषा सर्वाणि कषन्ती प्रददाति प्रज्ञां सर्वेभ्य इति वर्वर्ति सकलशास्त्र संवादभाजो मल्लिनाथस्य महिम्नो गरिमा।

वाणीं काणभुजीमजगणदवासासीच्च वैयासिकी।
मन्त्रस्तंत्रमरंस्त पन्नवगवीगुम्फेषु चाजागरीत्॥
वाचामात्रकलप्रहस्यमखिलं यश्चक्षयादस्फुरां।
लोकेऽभूदनुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यंयशः॥

---

१. शिशुः ३३।१ इत्यत्र "सोऽपित्वमेव", "तत्त्वमसि" इत्यादिवाक्यैरैक्यश्रवणात्। तस्मात् त्वमेव साक्षात्करणीयः।"

२. शिशु० १०।१ इत्यत्र तथा १।११ इत्यत्र च स्वरस्य, श्रुतेः, ग्रामस्य, मूर्च्छनायाश्च विवरणम्।

तदुक्तम्=श्रुत्यारब्धमनुरणनं स्वरः; स्वरारम्भकावयवः शब्दविशेषः श्रुतिः; स्वराः सप्त सरिगमपधनीत्यादयः; स्वराणां सन्दोहो ग्रामः; षड्जग्राम-मध्यमग्राम-गान्धारग्राम इति ग्रामत्रयम्; मूर्च्छनालक्षणम्—क्रमात् स्वराणांसप्तानामारोहश्चावरोहणम्। सा मूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्तसप्तच इति, मल्लिनाथः।

३. किरातार्जुनीयं शिशुपालवधं नैषधीयचरितञ्चेति=वृहत्त्रयी।

४. रघुवंशम्, कुमारसम्भवं, मेघदूतं चेति=लघुत्रयी।

५. मल्लिनाथश्चान्ध्रदेशे ख्रिष्टाब्दीयचतुर्थशतक आसीदिति मतमस्माद् भिद्यते।

६. केचित् कोलाचलं ग्रामस्य नामवदन्ति। केचित् कोलचल इत्यपि कथयन्ति।

९. कश्चित् महामहोपाध्याय इत्यनेन विशिनष्टेचैनम्। परं स्वयमयं तु "मल्लिनाथ-सुधीः सोयं महोपाध्यायशब्दभाक्" इत्यगादीत् सर्वंकषाव्याख्यान प्रारम्भे। कुमारस्वामिमते तु अस्य पिता महामहोपाध्याय आसीन्नत्वयमिति प्रतापरुद्र-व्याख्याने प्राप्यते।

卐

आचार्यमम्मटकृतकाव्यलक्षणवैशिष्ट्यम्

पण्डितश्री सुदर्शन मिश्रः

सर्वेषामाचार्याणां प्राचीनतमस्य भामहस्यकाव्यलक्षणमिदम् 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा'। इदं लक्षणं यथा प्राचीनं तथा संक्षिप्तमप्यस्ति। तेषामयमभिप्रायः—यस्मिन् काव्येऽर्थानुरूपाः शब्दाः प्रयुक्ता आहोस्विद् शब्दानुरूपा अर्था वर्णिताः, तद् 'शब्दार्थसहितम्' इति पदेन विवक्षितम्। तदेव शब्दार्थयोः साहित्यम्।

भामहस्यानन्तरं काव्यादर्शस्य निर्मातुर्दण्डिनः स्थानं गण्यते। भामहस्य 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इत्यस्मिन् लक्षणे शब्दार्थमयं शरीरं काव्यस्येति निर्दिष्टम्। ततोऽग्रे ग्रन्थे तदलङ्कारा वर्णिताः। दण्डिनो महाशयस्य 'तैः शरीरं काव्यानाम् अलङ्काराश्च दर्शिताः' इतीयं पंक्तिः स्पष्टरूपेण भामहं संकेतयति। भामहकृतलक्षणे 'सहितौ' इति पदस्य न काऽपि व्याख्या प्रदत्तेत्यस्या न्यूनतामपाकर्तुं दण्डिना प्रयत्तम्। 'शरीरं तावद् इष्टार्थपरिच्छिन्ना पदावली' इदमेव दण्डिनः काव्यलक्षणम्। अनेन प्रकारेण भामहदण्डिभ्यामुभाभ्यां काव्यशरीरस्याऽलङ्काराणां च चिन्ता विहिता न तु तदात्मविचारः।

दण्डिनोऽनन्तरं वामनकृतलक्षणं सम्मुखीभवति। वामनेन भामहदण्डियुक्तकाव्यशरीरे प्राण प्रतिष्ठापनप्रयत्नः समाचरितः। तेन काव्यशरीरस्य चिन्तामकृत्वा तदात्मसंधानं सम्पादितम्। 'रीतिरात्माकाव्यस्य' इति तदीयं सिद्धं सूत्रम्। एवं रीतिरेव काव्यस्याऽऽत्मा मन्यते स्म। तथा च 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्', 'सौन्दर्यमलङ्कारः' इति सूत्रेषु सौन्दर्याबाधका अलङ्काराः काव्यग्राह्यताया उपादेयतायाश्च प्रयोजका मन्यन्ते।

वामनेन 'रीतिरात्मा काव्यस्य' इत्युक्त्वा 'कः खलु आत्मा काव्यस्य ?' इति एको नवीनः प्रश्नः समुत्थापितः। अतस्तदुत्तरवर्तिन आनन्दवर्द्धनाचार्यस्य सम्मुखे काव्यात्मनो निर्धारणस्य प्रश्नः काव्यप्रश्नः संवृत्तः। रीतयस्तैः काव्यात्मत्वेन न स्वीक्रियन्त इति तैः 'ध्वनिरात्मा काव्यस्य' इति निर्धारितम्। अस्मिन् विषये कैश्चिद् विप्रतिपत्तिरुत्थापितेत्येतदर्थं तन्निराकरणाय 'ध्वन्यालोक'-ग्रन्थ लेखनस्यापेक्षाऽनुभूता। अनेनप्रकारेण आनन्द-

वर्द्धनाचार्यमतेन ध्वनिरेव काव्यस्य जीवनाधायकं तत्त्वम्। तं विनाऽभिरामौ शब्दार्था-वपि निर्जीवदेह इव त्याज्यौ। ध्वनिरूपात्मनः प्रतिष्ठानन्तरमेव शब्दार्थौ काव्यमिति।

पूर्ववर्तिभिराचार्यैः कृतानां काव्यशरीरस्यात्मनः, अलङ्काराणां च पृष्ठभूमौ राज-शेखरमहोदयेन काव्यपुरुषस्य नातिसुस्पष्टा परिकल्पना कृता। अग्रे च राजशेखरेण काव्यपुरुषकल्पनायां सर्वथा सुस्पष्टं रूपं प्रदत्तम्।

ध्वनिकारेण 'ध्वनिः' काव्यात्मा स्वीकृतः। राजशेखरेण तु तदात्मत्वस्यापि निश्चितरूपप्रदानार्थं वस्तुध्वनिम् अलङ्कारध्वनिं च हित्वा केवलो रसः काव्यात्मत्वेन प्रतिज्ञातः।

वक्रोक्तिजीवितकारेण कुन्तकेन सर्वेषां पूर्ववर्तिनाम् आचार्याणामपेक्षया विस्त-रशः स्पष्टरूपेण च काव्य-लक्षणं व्यधायि—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥

कुन्तककृतेऽस्मिन् लक्षणे पूर्ववर्तिसर्वाचार्यकृतानां सर्वेषामेव लक्षणानां सारांशाः प्रायः समागच्छन्ति। कुन्तकेन काव्यलक्षणम् अतिविस्तरेण स्पष्टयितुं प्रयत्तम्।

साहित्यशास्त्रस्येतिहासे यथा वामनो रीतिसिद्धान्ताय, आनन्दवर्द्धनो ध्वनि-सिद्धान्ताय, कुन्तको वक्रोक्तिसिद्धान्ताय प्रसिद्धास्तथैव क्षेमेन्द्र औचित्यसिद्धान्ताय प्रथितः। तेन 'औचित्यमेव' काव्यजीवितं स्वीकृतम्। औचित्यविचारचर्चायां तेन लिख्यते—

काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्या गणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते॥
अलङ्कारास्त्वलङ्काराः गुणा एव गुणा सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थितं काव्यस्य जीवितम्॥

साहित्यदर्पणकारो विश्वनाथः 'रसात्मकं वाक्यम्' काव्यरूपेण सम्पादयति। तदनुसारेण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इति लक्षणं कृतम्। राजशेखरेणापि रस एव काव्या-त्मत्वेन प्रतिज्ञातः। अनया रीत्या विश्वनाथस्य काव्यलक्षणं राजशेखरकृतकाव्यलक्षणस्या-नुकृतिमात्रमेव भवितुमर्हति।

सर्वेषां पूर्ववर्तिनामाचार्याणां काव्यलक्षणालोचनपूर्वकं मम्मटाचार्याणां काव्य-लक्षणवैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यते साम्प्रतम्। काव्यप्रकाशकाराणां मम्मटभट्टानां 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति काव्यलक्षणम् अन्यलक्षणापेक्षया परि-

ष्कृतम् । कुन्तकेन योऽर्थोऽनेकाभिः कारिकाभिरुक्तः, मम्मटभट्टैः सोऽर्द्धकारिकया स्पष्टीकृतः । एतदतिरिच्य 'अदोषौ सगुणौ' इति पदद्वययोजनापूर्वकं काव्यलक्षणे नवीनो दृष्टिकोणः समुपस्थापितः । काव्यत्वदोषः काव्यगौरवस्य न्यूनीकरणाय अलं भवति । एतदर्थं मम्मटभट्टैर्गुणालङ्काराणां चर्चातः पूर्वं दोषचर्चा कृता । 'दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्' इति ।

शरीरस्य संस्कारेऽपि दोषापनयनरूपसंस्कारो विधीयते । तदुत्तरं गुणाधानरूपः संस्कारः । तदनन्तरं चालङ्कारादीनां क्रमो मन्तव्यः । अलङ्कारादीनामभावेऽपि दोषापनयनसंस्कारस्य गुणाधानरूपसंस्कारस्य चापरिहार्यता सर्वविदिता । तदनन्तरं प्रवर्तते किमपि कार्यम् । एतदर्थमेव मम्मटभट्टैः काव्यस्यशरीरभूत शब्दार्थस्य 'अदोषौ सगुणौ' इति विशेषणाभ्यामेतस्य द्विविधसंस्कारस्यापरिहार्यता प्रतिपादिता । 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इत्युक्त्वा चालङ्कारगौणता च सूचिता । निष्कर्षतः स्तोकैः शब्दैर्भावनागाम्भीर्याभिव्यञ्जनद्वारकं स्वकीयकाव्यलक्षणमाचार्यमूर्द्धन्यैर्मम्मटभट्टैः समनोज्ञमुपादेयं च प्रणीतम् ।

मम्मटभट्टोत्तरवर्तिना दोषैकदृशा विश्वनाथेन या समालोचना विहिता, तस्या गुणदोषौ विदुषां पुरस्तात् समुपस्थाप्येते ।

काव्यप्रकाशकारेण मम्मटभट्टेन प्रदत्तस्य काव्यलक्षणरूपेण 'शब्दार्थौ' इत्यस्य 'अदोषौ, सगुणौ, अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इत्येतानि त्रीण्येव विशेषणानि विश्वनाथेन सर्वथा प्रत्याख्यातानि । प्रथमतो दोषरहितं काव्यं जगति दुष्प्राप्यम् । अतएव काव्यं 'प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात् ।' संसारे कदाचित् काव्यं दृष्टिपथम् आगमिष्यतीत्यर्थः । एतदतिरिच्याग्रे —

> न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः ।
> सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो ! रावणः ।।
> धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा,
> स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ।।

इत्यादिश्लोकोध्वनिप्राधान्येनोत्तमकाव्यरूपः । किन्तु तत्रापि विधेयाविमर्शदोषस्य विद्यमानत्वेन काव्याभावः । श्लोकस्याल्पांशे दोषत्वेन न दोष इति चेत्, यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः, यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा किमपि न स्यात् ।

काव्यत्वविघटकच्युतसंस्कारेत्यादिप्रबलदोषरहितौ शब्दार्थौ काव्यमिति मम्मटाचार्याणामाशयः । रसानुभूतिबाधको दोष एव दोषः । यथा दुःश्रवत्व दोषः करुणशृङ्गारादिकोमलरसानुभूतिबाधकः इति स दोषो दोषः । किन्तु वीरबीभत्सभयानकरसेषु तस्य

दुःश्रवत्त्वस्य रसानुभूतिसाधकत्त्वात् तत्रगुणकत्वं न दोषकत्वम्। रसानुभूतिबाधकप्रबल-दोषरहितौ काव्यमिति ग्रन्थकाराभिप्रायः। पूर्वोक्तश्लोकेदुर्बलदोषस्य विद्यमानत्वाद् न काव्यत्वहानिः। स्वयं साहित्यदर्पणकारेण साधारणदोषविद्यमानत्वेऽपि काव्यत्वं स्वीकृतम्। यथा—

कीटाणुविद्धरत्नादि साधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मतो यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥

स्फुटः।' एतादृश्यां दशायां 'काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा' किमपि न भवति। तथा चोपर्युक्तश्लोके—'न्यक्कारः' इत्यादौ साधारणविधेयाविमर्शदोषस्य विद्यमानत्वेन काव्य-त्वहानौ विश्वनाथेन यत् खण्डनं कृतम्, तत् तदीयपाण्डित्यप्रदर्शनमात्रम्।

द्वितीयस्य मम्मटभट्टोक्तस्य 'सगुणौ' इति पदस्य विश्वनाथेन खण्डनं सम्पादितम्। तत्र तदीयोऽयमाशयः—गुणाः रसधर्माः इति रसाधिष्ठाना, तेषां शब्दार्थयोर्धर्मत्त्वं न शक्यम् इति ते शब्दार्थाधिष्ठाना न भवितुमर्हन्ति। एवं सति, ते विशेषणं रसस्यैव भवि-तुमर्हन्ति न शब्दार्थयोः। इत्थं मम्मटभट्टोक्तं शब्दार्थयोः 'सगुणौ' इति विशेषणमौचित्यं नावहति।

गुणानां रसधर्मत्वेऽपि गौणरूपेण शब्दार्थानामपि तेषां सम्बन्धः भवितुमर्हति। अष्टमोल्लासे मम्मटाचार्येण गौणवृत्त्या शब्दार्थानां गुणानां च संबन्धः सम्पादितः। यथा—'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिःशब्दार्थयोर्मता', तयैव दृष्ट्या काव्यलक्षणे शब्दार्थयोर्विशे-षणत्वेन 'सगुणौ' इतिपदेप्रयोगः। अतो विश्वनाथकृतपङ्कप्रक्षेपः पाण्डित्यप्रदर्शनमात्रम्।

साहित्यदर्पणकारेण विश्वनाथेन मम्मटभट्टोक्तकाव्यलक्षणगतस्य 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि, इत्यस्योदाहरणत्वेन प्रस्तुते—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपाः
ते चोन्मीलितमालती सुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥

इति श्लोके विभावनाविशेषोक्ती इत्यलङ्कारद्वयं निर्णीतम्। कारणं विना कार्य्रवर्णनं विभावनालङ्कारद्योतकम्। कारणेसत्त्वेऽपि कार्योत्पत्तेरभावे विशेषोक्ति नामकालङ्कारः। साहित्यदर्पणकारेणेह श्लोक उत्कण्ठारूपकार्यस्य वर्णतेऽपि तत्कारण-स्याविद्यमानत्त्वात् विभावनालङ्कारो निश्चितः। एवमेव तद्विपर्यासे सति तत्र विशे-षोक्त्यलङ्कारोऽपि भवितुमर्हति। एवमेवोत्कण्ठाभावस्य कारणत्वेऽप्युत्कण्ठाभाव-रूपकार्यस्याविद्यमानत्वेंऽप्यत्र विशेषोक्त्यलङ्कारोऽपि।

यद्यपि विभावनातिशयोक्तिमूलकसंदेहसङ्करालङ्कारा न मम्मटाचार्याणामविदिना आसन्, तथाप्येतेऽलङ्कारा भावमुखेन न वर्तन्त इति ते न सुस्पष्टाः। अतो मम्मटः भट्टैः स श्लोकः स्फुटालङ्कारविरहस्योदाहरणरूपेण प्रस्तुत इति विश्वनाथेन कृतं तदुदाहरणखण्डनं न समीचीनम्।

'हरो वरः' इत्येवञ्जातीयकानुप्रासरूपशब्दालङ्कारोऽपि प्रकृतशृङ्गाररसविरोधिरेफवर्णघटितत्वाद् नालङ्कारयोग्यतामर्हति।

रसगङ्गाधरकारेण पण्डितराजजगन्नाथेन विशेषणभागस्य खण्डनमकृत्वा 'शब्दार्थौ' इति विशेष्यभागस्य प्रत्याख्यानं कृतम्। तत्र पण्डितराजानामयमर्थः— 'शब्दार्थयोः समष्टौ न काव्यत्वस्थितिः। शब्दार्थयोर्व्यष्टावपि पृथक्पृथगपि न काव्यत्वस्थितिः, किन्तु शब्दमात्राधिष्ठानमेव काव्यत्वम्,। तदुक्तं तैः—

यत्तु प्राञ्चः शब्दार्थौ काव्यम् इत्याहुः तत्र विचार्यतेऽपि च काव्यपदप्रवृतिनिमित्तं शब्दोर्थयोर्व्यासक्तं प्रत्येकपर्याप्तं वा ? नाद्यः, एको न द्वाविति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्यं न काव्यमिति व्यवहारापत्तेः। न द्वितीयः, एकस्मिन् पद्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः। तस्माद्, वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता।'

फलतः काव्यत्वं न शब्दार्थोभयनिष्ठधर्मः, अपि तु केवलशब्दनिष्ठधर्म इति पण्डितराजजगन्नाथानां सिद्धान्तः। अतस्तैः काव्यस्य लक्षणं कृतम्—'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' इति।

मम्मटभट्टकृतकाव्यलक्षणस्य खण्डनं तट्टीकाकाराय नागेशभट्टमहाशयाय मनागपि नारोचत। रसगङ्गाधरटीकायां 'नोचिता' इति प्रतीकमदाय तैरुक्तम्—

'आस्वादव्यञ्जकत्वस्योभयत्राप्यविरोधाच्चमत्कारिबोधजनकज्ञानविषयतावच्छेदकधर्मत्त्वरूपस्यानुपहसनीय काव्यलक्षणस्य प्रकाशाद्युत लक्ष्यतावच्छेदकस्योभयवृत्तित्वाच्च काव्यं पठितम्, श्रुतम्, काव्यं बुद्धमित्युभयविधव्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमत्तं व्यासज्यवृत्तेः। अत एव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादकः 'तदधीतेतद्वेद' इतिसूत्रस्थो भगवान् पतञ्जलिः संगच्छते। लक्षणयान्यतरस्मिन्नपि तत्त्वात् 'एको न द्वौ' इतिवन्न तदापत्तिः। तेनानुपहसनीयकाव्यलक्षणं प्रकाशोक्तं निर्बाधम्।'

तस्यायमाशयः—रसास्वादव्यञ्जकत्वकाव्यत्वप्रयोजकम् तच्च शब्दार्थयोः समानरूपेणानुगतम्। काव्यं पठितम, श्रुतम्, अवगतं चेत्येतज्जातीयको व्यवहारोऽपि दृश्यते। एतेन शब्दार्थयोरुभयोः काव्यता प्रतीयते, न तु केवलस्यशब्दस्यार्थस्य वा। काव्यप्रकाशोक्तमनुपहसनीयं काव्यनियामकं 'चमत्कारिबोधजनकज्ञानवषयतावच्छेदकधर्मत्वम्, इत्येतज्जातीयकं लक्षणं शब्दार्थयोरुभयोरनुगतं नैकस्मिन्।

एतदर्थं व्यासज्यवृत्तिर्धर्माभिन्नत्वेन काव्यत्वस्वीकारे न काचिद् विप्रतिपत्तिर्भवितुमर्हति । व्यासज्यवृत्तिधर्माभिन्नत्वेन काव्यत्वस्वीकारे सत्येव 'तदधीते तद्वेद' इति पाणिनिसूत्रस्य महाभाष्ये भगवता पतञ्जलिना वेदत्वादिकं व्यासज्यवृत्तिधर्मरूपेणाङ्गीकृतम् इति संगच्छते । यद्यप्येवं खलु काव्यत्वं प्राधान्यतो व्यासज्यवृत्तिरूपो धर्मः, तथापि लक्षणया केवले शब्दे केवले चार्थेऽपि काव्यत्वमङ्गीकर्तुं शक्यते । एतदर्थम् 'एकोद्वौ' इतिवत् 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' एतस्य व्यवहारस्य न कोप्यवसर. । फलतः काव्यप्रकाशानुसारेण शब्दार्थयोरुभयोः काव्यत्वस्वीकारे न काऽपि बाधेति नागेशभट्टानामभिप्रायः । न केवलं नागेशभट्टेन, अपितु पण्डितराजजगन्नाथान् विहाय प्रायः सर्वैराचार्यैः 'शब्दार्थौ काव्यम्' इति स्वीकृतम् ।

एवं प्रकारेण शब्दार्थयोरुभयो काव्यत्वस्याङ्गीकर्तृणां मतं बहुजनसमादृतमिति जगन्नाथकृतखण्डनं नोपादेयमिति ।

अतो निर्बाधरूपेण मम्मटकृतं 'तद्दोषौ, शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृतः पुनःक्वापि' इति लक्षणं सुष्पष्टं, सुनिश्चितं च ।

भारते वर्षे संस्कृतभाषाया अनिवार्यत्वं किमर्थम् ?

डॉ० भागीरथप्रसाद त्रिपाठी

संस्कृतभाषारक्षणाः स्यादित्यनुभूयते साम्प्रतं भारतीयैर्जनैः । अप्रत्यक्षरूपतया वस्तुतस्तैस्तद्व्यपदेशेन स्वदेशरक्षानुभूयते । विपद्यमानं देशस्यैक्यम् । वैष्टप्या ऐक्य-विपदो निवारणाय भारोपीय (इण्डोजर्मनिक्)-कोविदैः प्रत्यज्ञायि संस्कृतभाषा-समाश्रयः । सति संस्कृतभाषापरिचये चकितचकिताः संजाताः पाश्चात्यशेमुषीजुषः । ख्रिस्तीयधर्मधुरन्धरा धीराः समभूवन् साधीयो मुग्धाः । ग्रीकलैटिनभाषान-दीष्णा लब्धवर्णाः 'ग्रीकलैटिन भाषयोः संस्कृतभाषया संबन्धः कश्चन भवितुमर्हति' इति विश्वासपद्यां न शक्ताः समारोढुम् । भाषातत्त्वशास्त्रीय-पुरातनतथ्याधारेण संसारेतिहासरहस्योद्घाटनाय रचिता अनर्गलास्तदीयाराद्धान्ताः सुविपर्यस्ततां गताः । महामनीषिणा सर विलियमजोन्सेन (मृत्युकालः १७९४ ख्रिस्तीयवत्सरः) संस्कृतभाषामधीयानेन व्याहारीदम्—'यद्यपि भाषाया अस्याः पुरातनत्वादिविषये नाग्रहोमामकस्तथाप्येषातिमात्रं विस्मयकराकारा । एषा ग्रीक-भाषातोऽपि परिपक्वतरा संपन्नतरा च, लैटिनभाषातश्चापि परिपूर्णतरा । द्वाभ्या-मपि चैताभ्यां भाषाभ्यां सुसंस्कृततमा । उक्तभाषाद्वयेन ज्ञातेयसंबन्धो नेदिष्ठो-ऽस्त्यस्या इतीह वैशिष्ट्यम्' इति । संस्कृतभाषा प्रायो जगदनूनकमेकतां प्रति समाकर्षत्, संप्रत्यपि समाकर्षति तदर्थम् ।

संस्कृतभाषायाः परां वैज्ञानिकतां यूरोपीयभाषाभिश्चातिसाम्यं विभाव्य स्कॉच-दार्शनिको ड्यूगैल्ड-स्टेवर्टो नोरीकृतवान् संस्कृतभाषाया अस्तित्वम् । सोऽलिखत्—"संस्कृताख्या कापि भाषा नेदानीमस्ति न च कदाचिदभूत् । वस्तुतो भाषैषा मायिकैर्मिथ्याभाषिशिरोमणिभिर्ब्राह्मणैर्ग्रीकलैटिनयोरनुकृत्याधारेण विरचिता । संस्कृत-भाषायाः समग्रं साहित्यमुद्गाढं कपटमयं विश्वजनवञ्चकं चास्ति ।" तथ्येनानेन सत्यस्यास्योद्घाटनं जायते यत् संस्कृतभाषाविष्कारेण सुशिक्षितयूरोपीयाणां पक्षपात-पूर्णाः सुदृढमूला विचारा निकामं प्रचलिताः । संस्कृतभाषाया अस्तित्वसमाश्रवसह-कारेण ते विक्षोभकारकं सिद्धान्तमिममङ्गीकर्तुं नोद्यता जाता यद् असभ्यजातेर-

संस्कृतभाषया ग्रीकलैटिनयोर्ज्ञातियसंबन्धः । तदानीं मुगलभूपालप्रजाः सर्वा असभ्याः स्वीक्रियन्ते स्म । एवं सत्यपि, अलीकं पक्षपातश्च न कूटस्थौ । पर्यन्ते, समग्रेण यूरोपदेशेन संस्कृतभाषाया महिमा स्वीकृतः । तदाधारेण च विलोकितो विश्व-बन्धुता स्वप्नोऽपि । संस्कृतभाषारक्षारूपेण विश्वरक्षोपायो विचारितः ।

यूरोपदेशात् पूर्वस्यामवस्थितस्य 'ईरान' देशस्य सुपुरातनभाषाया 'अवेस्ता'-नाम्नया मन्त्रा अविकला ईषत्परिवर्तनेन संपद्यन्ते संस्कृतभाषामयाः । तैत्तिरीय-संहिता (३।१।११८) आगतः कन्याधूलिवाचको **गर्दा**शब्दः पर्शियन भाषापरम्परया हिन्द्यां प्रयुज्यते, न तु लौकिकसंस्कृत-पालि-प्राकृतापभ्रंशभाषापरम्परया । संस्कृत-भाषायाः साहायकेन विना 'ईरानीय'[१] भाषाणामैतिह्यं विशृङ्खलम् ।

ईरानदेशादपि पूर्वस्यां पस्तो-प्रभृतयः सीमावर्तिन्यो भाषा आहोस्विद् ईरान-भारतयोर्मध्यवर्तिन्यो भाषाः, संस्कृतभाषायाः सुविशङ्कटं न्यासममिरक्षन्ति । तासा-मितिहासगवेषणा संस्कृतभाषायाः साहाय्यं विना न शक्यते विधातुम् । संस्कृत-भाषाया व्यावहारिकी शब्दावली बृहत्तरभारतवर्षस्योपभाषासु सुप्रोता । उपभाषा-भाषिणस्तु तथ्यमिदमसमीक्ष्य स्वस्मिन्नेन निविशमाना ऐक्यसूत्रं च छित्त्वा, उप-भाषाधारेण सन्ति राज्यविरचनमानसाः । अपेक्ष्यते तत्तदुपभाषाणां व्युत्पत्त्यात्मक-कोशरचनाः सम्प्रति । फलतः, संस्कृतभाषाया महिमानमूरीकृत्य तदाधारेण स्यात् देशरक्षाविचक्षणो लोकः ।

भारतवर्षात् प्रयाताया यूरोपादिषु प्रसृताया यायावर जिप्सी (रोमानी) जातेर्भाषाया इतिहासगवेषणा संस्कृतभाषासाहाय्यमन्तरा न शक्यते कर्त्तुम् । जिप्सी भाषायाः प्रपूरणार्थको दुग्धार्थकश्च **'दोश'** इति शब्दः संस्कृतभाषायाः 'ऊधस्'-शब्दमूलस्य कात्यायनोल्लिखितस्य **दूश'** शब्दस्य समानोदर्यः[१] । यूगोस्लाविया-देशीयैर्जिप्सीभाषाभाषिसभिः स्वभाषयैव संलापो विहितः श्रीजवाहरलालनेहरूमहोदयेन सहेति 'ब्रानिस्लाव'नामको यूगोस्लावियादेशीयः संस्कृतच्छात्रो बोधितवानिदं मां मत्तः समधीयानः । एकैव संस्कृतभाषा यूरोपादौ जिप्सीभाषात्वेन भारतवर्षे च हिन्द्यादि-भाषात्वेन विपरिणता । जिप्सीभाषा हिन्दीभाषाया प्रकामं सादृश्यं भजत इति हिन्दीभाषाभाषि जिप्सीभाषाभाषि चोभौ मिथो भावविमिनयं कर्तुं प्रभू ।

संस्कृतभाषाया भारतीयभाषासु (मध्यकालिकी वर्तमानकालिकीषु च) विप-रिणतेरस्तीतिहासात्मिका सुदीर्घा शृङ्खला । मैक्समूलरमहोदयस्य मतानुसारेण— "ह्वबहुसंख्यकसंतानोत्पादनानन्तरमप्येषा लैटिनभाषावन्नोपरता; तथा चेदानीमपि

---

१. डॉ० भागीरथप्रसादत्रिपाठी, तद्धितान्ताः केचन शब्दाः पृ० २५-७ (मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी) ।

शिक्षितो ब्राह्मणो हिन्दी-बँगलाप्रभृतिभाषापेक्षया संस्कृतभाषापेक्षया संस्कृतभाषा-लेखने निर्बाधं व्यापारयति स्वकीयां लेखनीम् । संस्कृतभाषाया अद्यापि तादृश एव म्मानो यादृश एलेग्जेण्ड्रियास्थाने समजनि ग्रीकभाषायाः । संस्कृतभाषाया अद्यापि तादृश्येवा प्रतिष्ठा यादृशी मध्ययुगे लैटिनभाषायाः समभवत् ।"

संस्कृतभाषा सर्वतः प्रथमं पालिभाषां समदुपीपदत् । पालिभाषामयेषु सत्स्व-प्यनेकग्रन्थेषु महाराजोकशिलालेखा इहोत्तमं निदर्शनम् । उक्तकालात् प्रभृति भारतीया आर्या अनेकोपभाषाभिर्व्यवहर्तुं प्रारेभिरे । तासां वैदिक संस्कृतभाषायाः तादृश एव संबन्धो शेयो यादृशो लैटिनभाषया सह 'इटालियन' भाषायाः भारतवर्षस्थु विभिन्नेषु प्रदेशेषु विभिन्ना उपभाषा भाष्यन्ते स्म । सुम्राडशोकशिलालेखा बहुषु प्रदेशेषु सन्ति समुत्कीर्णा इति ज्ञायन्ते कतिचनोपभाषाः । सिंहलद्वीपीयबौद्धधर्मभाषात्वेन वयमासां स्थानीयोपभाषाणां विकासं समधिगच्छामः ।

एताः स्थानीयोपभाषा प्राकृतभाषात्वेन संस्कृतभाषीयनाटकेषु जैनानां धर्म-पुस्तकेषु च पुनरुपलभ्यन्ते । एतासूपभाषासु कानिचन काव्यान्यपि प्रणीतानि सन्ति । भारतवर्षस्य विभिन्नानां विजेतॄणां भाषाशब्दाः प्रविष्टा इत्यासु पर्सियन्-अरबिक-मंगोलियन-तुरुष्कादिभाषाणां शब्दाः वाक्शैल्यश्चोपलभ्यन्त इत्यपि पश्यामो वयम् । एतासामुपभाषाणां च विकासरूपतया हिन्दी (हिन्दुस्तानी)—मराठी-बँगला-प्रभृतयो भाषा समुद्गताः । अस्मिन् कृत्स्ने विकासकाले विलोपितमस्तित्वं स्वकीयं संस्कृत-भाषया । साहित्यकभाषात्वेन स्वकीयम् अस्तित्वं रक्षन्त्या तया स्वकीया संततयोऽपि पोषिताः । खिस्तीयचतुर्थशताब्द्याः प्रभृति त्रयोदश शताब्दीं यावच्चान्द्रादीना नवन-वानां व्याकरणानां रचना संजाता । इङ्गति संस्कृतभाषोपादेयतामेषा । त्रयोदश शताब्दी-कस्य संक्षिप्तसारव्याकरणस्यान्ते परिशिष्टरूपेण प्राकृतभाषाव्याकरणमपि संदृब्धम् ।

संस्कृतभाषायाः साहाय्यमन्तरा प्रादेशिकभाषागतशब्दार्थो न शक्यते ज्ञातुम् । तदर्थं शरणीकरणीयैव संस्कृतभाषाऽस्माभिः समैः । तर्त्तर्हि कुतो न विधीयेत देशरक्षा संस्कृतभाषासमाश्रयेण ? खण्डशो विभाजनात् कुतो न वारणीयो देशः ? पंजाबीयभाषायामस्ति शब्दः :—**'जण्ण'** इति । 'डेंह् दी धुप्प, रत्त दी भुक्ख ते जण्ण दा गहणा' दिवा चातपः, नक्तं च बुभुक्षेति जन्ययात्रा भूषणम् इति तदर्थः । जण्णो नाम जन्ययात्रा (वरयात्रा) जान्ययात्रिको वा । सिन्धीय भाषायामेतदर्थकः शब्दोऽस्ति—'जञू' इति । सिन्धीयभाषाभाषिकः पंजाबीय भाषाभाषिभिश्च संस्कृतभाषायाः साहायकेन विना न तदर्थावगमः पार्यते कर्तुम् । संस्कृतभाषायामेतदर्थकः शब्दोऽस्ति—**"जन्य"** इति । तदर्थश्च—

जनम्=वरम् (आहोस्विद् जनीम्=वधूम्) श्वशुरगृहं प्रति प्रापयिता[1]। मालती-माधवे वरयात्रार्थकस्य जन्ययात्राशब्दस्य प्रयोगः । एप जन्ययात्राशब्दो हिन्दी भाषायां **'जनेत्'** इति । मराठीभाषायां **'जनावस'** इति **'जनवास'** इति वा शब्दो लभ्यते । मराठीव्युत्पत्तिकोशकारेण संस्कृतभाषाया जन्यशब्दपर्यालोडनेन विना तदर्थो विहितः—'जनकस्यगृहे दीयमान आवासः'' इति । संस्कृतभाषायाः साहाय्यकाद् ऋते प्रादेशिकभाषाणां कीदृशौ दुर्दशा भवतीति विभावितं भवद्भिः ।

नेपालीयभाषायां रसवत्यर्थकः **'भान्सो'** इति शब्दः संस्कृतभाषाया महानस-शब्दसन्ततिः । हिन्दीभाषायां प्रचलितः **'रसोई'** इति शब्दः संस्कृतभाषाया रसवती-शब्दजननः । संस्कृतभाषा समग्रे भारते वर्षे नैकरूपतया प्रचलिता, किन्तु भिन्न-भिन्नप्रदेशेपु भिन्नभिन्ना व्यवह्रियन्ते स्म शब्दसमूहाः । अद्यत्वे, ऐक्याद् अनेकत्वं प्रपद्यमानासु भाषासु दृश्यमाना भिन्नता संस्कृतभाषासाहाय्येन देशं न प्रभविष्यति विभेदयितुम् ।

प्रादेशिकभाषाणां वैभिन्न्याद् न खण्डीस्याद् देश इत्यालक्ष्य महामुनिना कुमुदेन्दुना भूवलयनामको ग्रन्थः प्रणीतः । एप महानुभाव खिस्तीयसप्तमशतकस्योत्तरार्द्धे जीवति स्म । तात्कालिकगङ्गवंशस्य सुप्रथितमहीक्षितोऽमोघवर्षस्य (प्रथमस्य) अयं ब्राह्मणराजगुरुः, जैनाचार्यवीरसेनस्य च प्रधानः शिष्य आसीत् । एतेन लिखितो भूवल-यनामको ग्रन्थोजगतोऽष्टममाश्चर्यम् । एषोऽष्टादशोत्तर सप्तशत भाषामयो ग्रन्थः । ताःसर्वा भाषास्तत्र सुव्यक्तरूपेण सन्ति संनिविष्टाः नियमपूर्वकमध्ययनेन यथकं पद्यं संस्कृतभाषामयमस्ति तदर्थकमेव तत् पद्यं तत्र ग्रन्थेऽन्यभाषामयमुपलभ्यते । ५४ खिस्ताब्दं यावत् संस्कृतप्राकृतिकर्शोरसेनीकन्नडतमिल तेलुगुपैशाचीमागध्यर्द्ध-मागध्यादीनां भाषाणामभूत समुद्धारः ।

ग्रन्थस्यास्य संपादकोऽस्ति मैसूरविश्वविद्यालय इतिहासप्राध्यापकः पञ्च-त्रिंशद्भाषावेत्ता डा० श्रीकण्ठैयाशास्त्री । तन्मतानुसारेण तज्ज्ञाताः सर्वा भाषा इह ग्रन्थे विलसन्ति । संस्कृतपालिप्राकृतद्राविडान्ध्रमहाराष्ट्रमलयालमतमिलतेलगुकत्तड-गुर्जररकलिङ्गकाश्मीरभाषाः कम्बोजीयशौरसेनीतिव्वतीयवैञ्जीवङ्गपद्मा-विजयार्द्ध-वैदर्भीवैशाली पैशाचीरक्ताक्षीसारस्वतापभ्रंशारिष्टीनिरोष्ठीमागधीअर्धमागधीपारसीक-लाटगौडोत्कलयवनानीतुर्कीसिन्धवहिन्दीमूलदेवीवैदिकी प्रभृतयो भाषाश्च सन्तीह ग्रन्थे । एप ग्रन्थ एकपञ्चाशदुत्तरैकोनविंशतिशतखृस्ताब्दे तदानीन्तनैर्भारत-राष्ट्रपतिभिः डॉ० राजेन्द्रप्रसादमहाभागैर्दृष्टः । संप्रत्येप वङ्गलूरे विद्यते ।

---

१. द्रष्टव्यो निवन्धः—'संज्ञायां जन्याः' जायाया निङ्'—सारस्वतीसुपमा, २२ वर्षे, १ अङ्के, ७७ पृ० ।

भूवलयनामको ग्रन्थोऽसंख्यातलिपीनामप्याकरः । इह ग्रन्थे चत्वारो वेदाः, ब्राह्मणानि, उपनिषदः, दर्शनानि, महाभारतम् (जयाख्यानम्), श्रीमद्वाल्मीकीयं रामायणम्, गणितम्, भूगोलः, खगोलः, रसवादः, शरीरविज्ञानम्, संगीतम् वादित्रम्, योग,ः (मनोविज्ञानम्) व्याकरणम् (भाषाविज्ञानम्), आयुर्विद्या, वनौषधिविज्ञानम्, अणुवादः, अध्यात्मादिविषयकाः सर्वे प्रामाणिका ग्रन्थाः समावेशिताः सन्तीत्यपि प्रतिज्ञातमाचार्य कुमुदेन्दुना । बृहत्तरभारतीयाः सर्वे ग्रन्था इहैवैकस्मिन् ग्रन्थे समुपलभ्येरन्निति प्रयत्तं तेन विद्वत्तल्लजेन । असंख्यग्रन्थसंग्रहक्लेशो न स्याज्जनानामिति धिया प्रयासस्तरीय एवंविधः । संपूर्णोऽयं ग्रन्थः कर्णाटकभाषायाः साङ्गत्यच्छन्दोनिवद्धः । अविकलश्चैषोऽङ्केष्वेव लिखितः । नेह कस्या अपि भाषाया वर्णलेशः । बृहत्पत्राकारेण प्रकाशने षोडशसहस्रतो नोनानि जायेरन् पृष्ठानीति मुद्रणकलावेतृणां विमर्शः । एतावच्चिरमेतदीयेषु पट्स्वंशेष्वेकतमोंऽशः पठितः । एतान्मात्रेण पञ्चसप्ततिसहस्रसंख्याकाः श्लोकाः समभूवन् । यदीयं संख्या सर्वत्र प्रामाणिकतया गृह्येत तदा ४२०००० श्लोकाः संपद्येरन् ।

भूवलयनामकोऽयं ग्रन्थो देशस्यैक्याय कियत् साहाय्यम् अर्पयेदित्यनागतायत्तम् । एर्तह‍ि, देशकर्णधाराणामिदं कर्तव्यं यत् तैस्तत्तत्प्रदेशप्रचलितभाषागतशब्दजनकानां संस्कृतभाषागतशब्दानां साहाय्येन सर्वत्रैक्यस्थापनपूर्वकं देशस्यैक्यसुरक्षा विधीयेत । एवंभूतं बृहत्तरभारतमिदं कस्य भारतीयस्य मस्तकं नोन्नामयेत् ?

'भारती चैव विपुला महाभारतवर्धिनी,

(वायुपुराणम्)
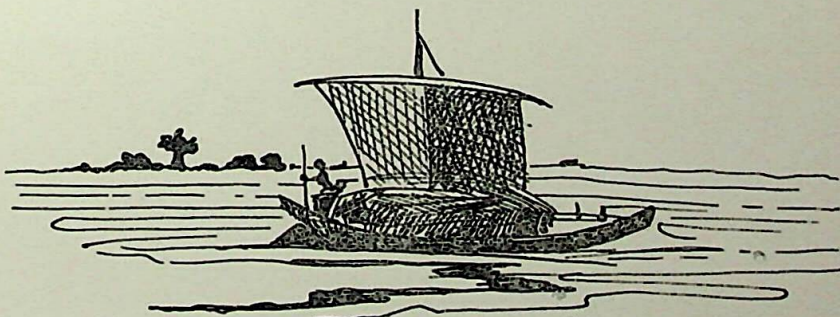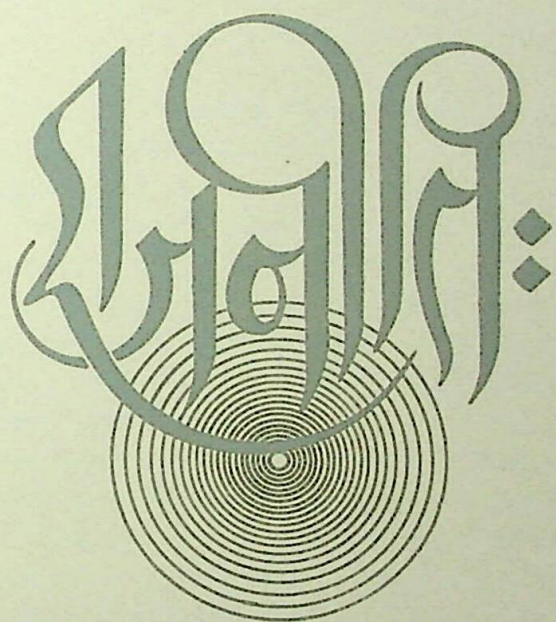
डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थः

वर्तमानकाले आन्वीक्षिक्याः प्राचीनराजनीतेश्च प्रचारणमावश्यकम्

पण्डितराज राजेश्वरशास्त्री द्राविडः

वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य, श्रीमतां डॉ० आदित्यनाथ झा महोदयानाम्, प्राचीनराजशास्त्रार्थशास्त्रविभागस्य चान्योऽन्यं सम्बन्ध ईश्वरीययोजना सम्पन्नो वर्तते। अतो डॉ० झा महोदयानामभिनन्दनग्रन्थे—'प्राचीनराजनीतेर्वर्तमानकालस्य चान्योन्यमविच्छेदपूर्वकं संयोजकं किं भवितुमर्हतीत्यस्मिन् विषये किञ्चित्प्रस्तूयते।'

प्राचीनराजनीतिशास्त्रस्य वर्णाश्रमधर्मस्य च परस्परं पाल्यपालकभावसम्बन्धोऽस्तीत्यस्मिन् विषये वर्णाश्रमिणां विशेषतोऽवधानमावश्यकम्। यतो हि—वर्तमाने परमाणुयुगे वर्णाश्रमिसमाजस्य जीवनं सन्दिग्धतां गतमस्ति। अनतिदूरातीतकालनिरीक्षणेनेतिहासत इदं ज्ञायते, यत् वर्णाश्रमानुयायिराजकुलीनैः राजनीतिशास्त्रस्य विज्ञानस्य च विषये यावदपेक्षितमवधानं न दत्तमिति।

तत्तद्राजकीयविद्याविभागेन कथञ्चित् संस्कृतविद्याया उज्जीवने कृतेऽपि पाश्चात्य शिल्पविज्ञानयोर्विषये तस्य विशेषतोऽभिरुचिरुत्पन्नेत्यतो वर्णाश्रमिसमाजे शिल्प-भारतीय-राजनीतिव्यतिरिक्तविद्यानामेवाभ्यासे प्रचलितेऽप्युक्तविद्ययोरितरविद्याभिः सह योऽविच्छेद्यः सम्बन्धोऽस्ति, तस्य ज्ञानं लुप्तमासीत्। अतो वर्णाश्रमिसमाज उक्तशास्त्रद्वयविषयकाज्ञानेन जितमनोवृत्तिमानभूत्। उक्तविद्याद्वयं क्रमेण वार्ता दण्डनीतिरिति च व्यपदिश्यते। अनयोर्यथावज्ज्ञानपूर्वकं तदुक्तार्थानुष्ठानभारो यत्रास्ति, तादृशो वैश्यवर्गो राजन्यवर्गश्च आन्वीक्षिकीत्रयीभ्यां दूरत एव स्थित इत्यतोऽयं दुष्परिणामः साम्प्रतं परिदृश्यते। यतो हि—विद्याशब्दस्य विचार-ज्ञान-लाभ-सत्तापादनरूपाश्चत्वारोऽर्थाः, तेषु विचारणा आन्वीक्षिक्यधीना, ज्ञानं त्रय्यधीनम्, अर्जनं वार्ताधीनम्, रक्षणं राजनीत्यधीनं च वर्तते। एतेषां चतुर्णां सामञ्जस्यं यस्मिन् समाजे भवेत्, स एव समाजः सुरक्षित उन्नतिशीलश्च भवितुमर्हतीत्यतोऽस्मत्समाजे परस्परविच्छेदाज्जातेयं दुःस्थितिः केवलं भारतवर्षे एव कष्टकारिकाऽभूदिति न, किन्तु—'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' इत्यादिवेदाज्ञानुसारेण सर्वत्र जगति सम्पन्नेत्यधुना राजनीतिविचारो विश्वस्थित्यर्थं कर्तव्यतां गतोऽस्ति।

साम्प्रतं वैज्ञानिकेषु राजनीतिज्ञेषु च ये विचाराः प्रचलन्ति, तेषां सम्बन्धः आन्वीक्षिक्या त्रय्या च सह कथं सम्पादितः स्यात् ? इत्ययं विचारः प्रकृतलेखे कर्तव्योऽस्ति ।

यस्मिन् देशे विचारकाः सततं यया भाषया विचारं कुर्वन्ति, तयैव भाषया विज्ञानं राजनीतिश्च यदि पुरस्कृतं भवेत्तर्हि तद्देशस्योपकारो भवेदिति तत्त्वं विज्ञायैव रशिया-चीन-जर्मनी प्रभृतिदेशेषु तत्तद्भाषयैव शिक्षणव्यवस्था तत्रत्यैः कृता वर्तते । अस्मद्देशीयै-र्विचारकैः पूर्वमान्वीक्षिकीभाषया विचारः प्रवर्त्यते स्मेति प्राचीनेतिहासदर्शनेन ज्ञायते । किम्बहुना ! जयमङ्गलाग्रन्थे—'आन्वीक्षिकी अभ्यर्हिततमा, त्रयी अभ्यर्हिता' इति प्रतिपादितमस्ति । अतएव भारतवर्षस्य, सम्पूर्णविश्वस्य च कल्याणायानया भाषया विचार-प्रसारणमत्यावश्यकम् । अतः परमाणुयुगीनविज्ञानस्य राजनीतेश्च सम्मता उपपत्तय आन्वीक्षिकीतो याः प्रकाशन्ते, तत्प्रदर्शनमस्मिन् लेखे प्रस्तुतमस्ति ।

"प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणदेशकालशक्तिपुरस्सरार्थविनियोगलक्षणा क्रिया नीतिः, सा प्रेक्षावताम्" इति जयमङ्गलाकारस्य वाक्यं, उपाध्यायनिरपेक्षाकर्तुश्च—"प्रत्यक्ष-परोक्षानुमानलक्षणप्रमाणत्रयनिर्णीतायां फलसिद्धौ देशकालानुकूल्ये सति यथासाध्यमुपाय-साधनविनियोगलक्षणा क्रिया नीतिः" इति वाक्यं वर्तते । अनयोः शब्दभेदो यद्यप्यस्ति, तथापि द्वयोरभिप्राय एक एवास्तीति विचारानन्तरं ज्ञायते । तथा हि—'आनुकूल्यमनु-द्वेज्य सुखोत्पादनम्' इति जयमङ्गलाकारेणैवोक्तम् । अतस्तन्मतेऽपि शक्तिपदार्थस्य सम्बन्धो वर्तते । यतो हि—साङ्ख्यमतानुसारेण यद्यपि प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका, तथापि साहित्यशास्त्रानुसारेणैतत्त्रिगुणस्यापि मूलमीश्वरीया ज्ञानप्रभाऽऽनन्दप्रभा क्रियाप्रभा चेति भावप्रकाशनादिसाहित्यशास्त्रविदो वदन्ति । तथाहि—

परस्मादात्मनो भान्ति ज्ञानानन्दक्रियाप्रभाः ।
ज्ञानप्रभा च सानन्दा तस्याः सत्त्वं प्रजायते ॥
क्रियाप्रभा रजः सत्त्वाच्छक्तिः स्यात्तु तमःप्रसूः । इति ।

(भावप्रकाशने)

अर्थात्—आन्वीक्षिकीत उपलभ्यमाना केवलं ज्ञानप्रभा ईश्वरीयैव तथा पुराणो-पनिषत्प्रभृतिग्रन्थत उपलभ्यमानाऽऽनन्दप्रभापीश्वरीयैव,

'मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः ।'

इत्यमरकोशानुसारेण काव्यादिविज्ञानत उपलभ्यमाना क्रियाप्रभापि तदीयैवेति स्पष्टम् ।

पूर्वोक्तभावप्रकाशनवचनानुसारेण त्रिविधा अप्युक्ताः प्रभाः पृथक्तया वर्तन्ते। तासामन्योन्यं मिश्रणं सर्वदा न भवतीति, यदा तासां मिश्रणं भवेत्तदा सत्त्वादीनामुत्पत्तिः। तत्रापि ज्ञानप्रभाऽऽनन्दप्रभयोर्मिश्रणे सत्त्वगुण उत्पद्यते, केवलक्रियाप्रभया रजोगुणः, एवं क्रियाप्रभा यदा सत्त्वगुणान्विता भवेत्तदा सैव शक्तिरूपतां गच्छति, अशक्तेषु तमोगुणमुत्पादयति चेत्युपरिनिर्दिष्टवाक्यस्याभिमतार्थः।

जयमङ्गलाकारोक्त नीतिलक्षणघटकं शक्तिपदं यद्यपि मन्त्रोत्साहप्रभुत्वशक्तिरूपार्थवाचकम्, तथापि शास्त्रसिद्धान्तानुसारेण मन्त्रशक्तेः प्राधान्यमस्ति, एवं ज्ञानानन्दक्रियाप्रभाणां मिश्रणेन शक्तिः समुत्पद्यते इत्ययमंशो न कदाप्यनभ्युपगमार्हः। तस्याः स्थापनमेव भारतीयराजनीतेराद्यं कर्तव्यमिति—"तत्राप्रतिष्ठितस्वराज्यस्य परराज्यात्मसात्करणासम्भवात्स्वराज्यप्रतिष्ठापनार्थं षड्भिः सर्गैरुपायः प्रदर्श्यते।·· तत्रायं प्रथम उपायो यद्विद्यावृद्धैः सार्धं विद्याचिन्ता, विद्याप्रतिवद्धत्वाल्लोकस्थितेः"। इति जयमङ्गलावचनात् सिद्ध्यति।

आधुनिकविज्ञानं यस्या विद्युच्छक्तेराविष्करणेन प्रसिद्धिं गतमस्ति, तस्या विषये विचारे क्रियमाणे सापि गतितत्परिकरयोरन्यतरव्यतिरिक्ता नास्ति, किन्त्वयस्कान्त गुरुत्ववद्द्रव्याकर्षणरूपा वेगरूपैव चास्तीत्याधुनिकग्रन्थतो ज्ञायते। आकर्षणं च दूरस्थस्य स्वाभिमुखगत्यनुकूलो व्यापारः।

मिथिलास्थैर्महातार्किकैः स्व० म० म० बच्चाझामहोदयैर्विद्युतो वेगेऽन्तर्भावः पूर्वमेव प्रतिपादितः इति श्रूयते। मयापि न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीगुणनिरूपणव्याख्यायां पाकजप्रक्रियावर्णनावसरे प्रतिपादितोऽयं विषयः[1]। तत्र हि—खण्डप्रलयपूर्वकाले परमाणुषु

---

१. "कल्पान्ताग्न्यात्मक-महत्तम-तेजोवेगातिशयेनैव प्रलयानुगुणपरमाणुकर्मसम्भवात् तद्बलात् तदुत्तरमपि विलक्षणवेगं स्वीकृत्य तद्बलात् आगमप्रसिद्ध प्रलयकालावधि क्रियासन्ततिमभ्युपगम्य पुनः सर्गादिसमये परमाण्वन्तरेण सह संयोगमारब्धवतश्च तस्य वेगस्य तत एव विनाशाभ्यनुज्ञानात्, स्पर्शवत् संयोगस्य वेगनाशकतायाः सर्व सम्प्रतिपन्नत्वात्। एतावत् कालावधि च गगनादिभिरेव परमाणुषु संयोगाभ्युपगमान्न कर्मसन्तानानुवृत्तावपि किञ्चिद्बाधकम्। तादृश कर्मसन्ततिश्च विधुविधुन्तुदयोरिवाऽऽरम्भे विरुद्धदिगाभिमुख्येन जातापि मण्डलभ्रमिरूपपर्यसायितया कालान्तरेणतयोः संयोगानुगुणैव पर्यवसितुमर्हतीति नात्राऽनुभवविरोधोऽपि शङ्क्यः। (सि० मु० गुणनि० रामरुद्रयाम्)।

क्रियाविभागादिक्रमेण द्वचणुकनाशोत्पत्त्या जन्यद्रव्यानधिकरणकालरूपः खण्डप्रलयो भवतीति निरूप्य खण्डप्रलये परमाणुषु कर्मस्वीकारेऽपि क्षतिविरहात् पुनरपि सृष्टिपर्यन्तं परमाणुषु क्रियासन्तान उत्पत्तुमर्हति वेगवशादिति प्रतिपादितम् । सृष्टिपूर्वकाले च परमाणुद्वयसंयोगजनकं कर्मोत्पद्यते तादृशक्रियासन्तानान्तर्गतमिति, तादृशं कर्म कथमुत्पद्यते ? इति परेषां प्रश्नः समाहितः । यतो हि—तादृशोऽपि वेगो भवितुमर्हति, येनैतावत्कालपर्यन्तं क्रियासन्तानो भवतीति वेगप्रभावस्तत्र स्फुटीकृतः ।

एवं योगवासिष्ठेऽदृष्टविषये प्रतिपादितमस्ति यत्—जन्मान्तरार्जितं कर्मैवास्मिन् जन्मनि फलदानावसरेऽदृष्टमित्युच्यते । तथा एतज्जन्मनि क्रियमाणं कर्म पुरुषकारपदवाच्यमिति । अनेनगतिविशेषाणामदृष्टरूपत्वं भवतीति प्रतीयते । 'शान्ति का अग्रदूत' ग्रन्थेऽस्माभिः अग्नौ प्रक्षिप्तानामाहुतिद्रव्याणां भूतसूक्ष्माण्येव जीवं वेष्टयित्वा लोकान्तरं नयन्ति, एतल्लोकमानयन्ति चेति—'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' इति वेदान्तसूत्रानुसारेण निरूपितमस्ति । एवं तत्रैवादृष्टमीश्वरप्रसादरूपमित्यपि विचारकाणां पुरतः संसाधितमस्ति ।

अनेन विवेचनेन प्रपञ्चे जायमानाः सर्वा अपि घटना गतिविशेषेणैव भवन्तीति वक्तुं शक्यमिति सिद्धयति ।

अदृष्टवादिनां वैशेषिकाणां मतेऽपि स्वजन्यादृष्टद्वारा क्रियाणां कारणत्वे सिद्धे स्वजन्यभूतसूक्ष्माणामदृष्टत्वोक्तावपि मुख्यप्रेरकत्वं क्रिया स्वेवास्तीति सिद्धान्ते मतभेदो नास्तीत्यव गन्तव्यम् । एवं 'अचिन्त्यो हि तेजसो लाघवातिशयाद्वेगातिशयो यत्प्राचीनाचलचूडावलम्बिन्येव भगवति मयूखमालिनि भवनोदरेष्वालोक इत्यभिमानो लोकानाम्' इत्युक्त्या किरणानां पूर्वक्षितिजस्पर्शकालमारभ्य स्वगृहपर्यन्तमागमनकालस्य वास्तविकं चित्रणं प्रतिनिमिषं चत्वारिंशत्सहस्राधिकैकलक्षमीलपर्यन्तगमनरूपगत्यंशवर्णनेन श्रीमदुदयनाथाचार्यैरतिप्राचीनकाल एव कृतं दृश्यते ।

आधुनिक शारीरिकव्यवच्छेदविज्ञानविद्भिरपि स्वकीयग्रन्थे वेगस्य महिमा प्रदर्शितः, एवं शारीरक्रिया अपि वेगेनैव भवन्तीति स्पष्टं प्रतिपादितमस्ति[1] । शरीरे तत्क्रियाणां वैषम्यमेव कष्टकारकमिति तासां सामञ्जस्योत्पादकानि यन्त्राणि तद्वेगस्य

---

१. "चेष्टाधिष्ठानि नाम निखिलाङ्गप्रत्यङ्गचेष्टानां मूलायतनानि मुख्यानि । तानि मस्तिष्कस्यैकैकार्धे मध्यान्तराख्य सीतायाः पुरस्तात्तदाख्यायामग्रिमकर्णिकायां तदनुबन्धेचान्तरतलीयेऽवस्थितान्यूर्ध्वाधः क्रमेण । स चानुबन्धोऽनुमध्यान्तराख्यकर्णिकांशे निर्णीतः । तेभ्यश्चेष्टाधिष्ठानेभ्यः स्वभावादिच्छाशक्त्या वा कृत्रिमोपायैर्वा परीक्षकाणां समुत्तेजितेभ्यः प्रवर्तन्ते, तास्ताश्चेष्टा अपरशरीरार्धीया अङ्गप्रत्यङ्गानाम् ।" इति । प्रत्यक्षशारीरम्—३ भा० ८ अ०

नियन्त्रणेनाधोमुखतां निर्मान्तीति विशेषतो वर्णितं तैः।[1] एषोऽधोमुखवेगो नाम गुरुत्वाकर्षणमेव, स वेगो गुरुत्वरूपेण जलभूमी आश्रित्य नियम्यस्य तेजसो वायोश्च वेगेन मिलित्वा, पृथिवीजलतेजोवायूनां चतुर्विधपरमाणुभिः सर्वं जगद्व्याप्तमस्ति। एवं तेषामेव विचित्रघटनया क्रियाणां सामञ्जस्यं वैषम्यं च भवति। तत्र समञ्जसक्रियाद्वारा विषमक्रियाणां नियन्त्रणे क्रियमाणे सम्पूर्णस्य जगत आनुकूल्यं निर्मातुं शक्यम्।

उपरिनिर्दिष्टव्याख्यानुसारेणेदृशं कार्यं शक्तितत्त्वेऽन्तर्भवतीत्यान्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति सर्वा विद्याः प्राचीन राजनीतिद्वारा एकत्रानीयेरन्नित्याशा व्यक्तीकर्तुं शक्येति प्रतिभाति।

उक्तचतुर्विधविद्यानां यथावत्स्थापनायां सत्यां वर्तमानविज्ञानस्यापि पूर्णमानुकूल्यमान्वीक्षिक्या भारतीयराजनीतेश्चसाहाय्येन निर्मातुं शक्यम्। तथाहि—"प्रत्यक्षपरोक्षानुमानलक्षणप्रमाणत्रयनिर्णीतेष्टसाधनताककर्मानुष्ठानं नीतिः।" इति परिष्कृतं नीतिलक्षणमुपर्युक्तलक्षणद्वयान्निर्गलितमस्ति। तत्र प्रत्यक्षपरोक्षानुमानलक्षणप्रमाणत्रयेत्यंशेन परमात्मनः पूर्णा ज्ञानप्रभा नीतिरूपकार्ये प्रदर्श्यते। इष्टसाधनताकेत्यनेन परमात्मसमवेतानन्दप्रभामिश्रितानन्दप्रभाया उद्गमस्तत्र प्रदर्श्यते। एवं कर्मानुष्ठानमित्यनेन परमात्मसम्बन्धिक्रियाशक्तेः प्राप्तिस्तत्र प्रदर्श्यते।

एवं स्थितौ उपर्युद्धृतभावप्रकाशनवचनानुसारेण दण्डनीतौ शक्तितत्त्वस्य, देशकालानुकूल्यस्य च पूर्णतया केन्द्रीकरणं भवति। अतः 'दण्डनीतिश्च शाश्वती' इत्यस्य व्याख्यायां जयमङ्गलाकारेण—'सा च शाश्वती-नित्यस्थितिका, तस्याः प्रवर्तमानाया विघ्नेनानुच्छेदात्।' इति प्रतिपादितं तत्त्वं दुर्दशाग्रस्तैर्वर्णाश्रमिविचारकैर्मननीयमस्तीति प्रतिभाति। इति शम्।

---

१. पश्चिमे वहतः संज्ञामाज्ञाकन्दाभिगा च या।
स्पर्शजां चेष्टनोत्थां च विशेषात्पश्चिमद्वयी॥
पार्श्वान्तिका पार्श्वमध्या धम्मिल्लं प्रति धावतः।
चेष्टोत्थवार्तामुद्वोढुमारोहिण्यो हि पञ्च ताः॥
चेष्टावेगान् प्रवहतो मुकुलाख्ये तु तन्त्रिके।
वहन्ति पार्श्वपूर्वा तु शोणजा च विषाणिका॥
चेष्टासंयमनान् वेगान् पूर्वधम्मिल्लकोत्थितान्।
पञ्चैता अवरोहिण्यः सोऽयं कर्मविनिश्चयः॥ इति।

(प्रत्य० शा० ३ भा० ३ अ०)

राष्ट्रियत्वं राष्ट्रिय शिक्षा च

आचार्यश्री अमृतवाग्भवः

[श्रीराष्ट्रलोकस्य कारिका चतुष्टयं मूलप्रणेतृनिर्मितं 'श्रीराष्ट्रसञ्जीवनं' नामक'-भाष्येण सहितं अद्ययावदप्यमुदितं श्रीमतां डॉ० चन्द्रभानपाण्डेयमहोदयानां स्नेहवशतः श्री झा महोदयानां अभिनन्दनाय सम्मुद्रय प्रकाशनायाऽनुमतं ग्रन्थप्रणेत्रा । श्रीराष्ट्रालोकः हिन्दी भाषाऽनुवादेन सह सम्मुद्रच प्रकाशितो वर्तते । अस्य तृतीयं संस्करणं वि० सं० २००५ मध्ये प्रकाशितमभूत् । भाष्यं च 'श्रीराष्ट्रसंजीवनं' नामेदं वि० सं० १६६३ दीपावलीपर्वणि निर्मयपरिपूर्णतां प्राप्तमपि नाद्यावद्यपि सम्मुद्रितम् । परमेश्वरकृपया तदपि सम्मुद्रितं प्रकाशमेष्यति । आसु (रा० का० ४,५ तथा १५-१६ ।) कारिकासु-कतमद्राष्टं स्वकीयं भवति कतमच्च स्वकीयं न भवति, राष्ट्रियाः के वस्तुतः के चाराष्ट्रियाः ? राष्ट्रियाणामेवायत्तं राष्ट्रस्योत्थानं पतनं च नाराष्ट्रियाणामिति सर्वथा ऽपीति राष्ट्रियाः शिक्षणीयाः । शिक्षा च कीदृशी सम्पादनीया, क्व, कुतः इत्यादि-सर्वमन्य वर्तते । भाष्यमिदं प्रायः (१०८) अष्टोत्तर शतकारिकासु तत्सर्वं विदुषां पुरः सम्पूर्णग्रन्थमुद्रणानन्तरमायास्यति यथावसरमिति विवेदयति—लेखकः]

राष्ट्रियत्वम्

राष्ट्रैक्यं प्रति संस्कृतिसामान्यस्य कारणतोक्ता पूर्वकारिकया । तेन चैतदवगतं यत् राष्ट्राणां परस्परं पार्थक्यव्यवहारस्य राष्ट्रैक्यव्यवहारस्य च किं मूलमिति । अथैतद्विवेचनीयं कस्मिन् राष्ट्रे केषां स्वत्वं भवितुमर्हति केषां च नेति । तदेव विवेचयितुकाम आह—

पितृपुण्यभुवं राष्ट्रं यन्मन्यन्ते च ये नराः ।
तेषां नराणां राष्ट्रं तत्स्वीयं भवति सर्वथा ।। कारिका० ४ ।।

[ये-नराः-यत्-च राष्ट्रं-पितृपुण्यभुवं मन्यन्ते-तेषां-नराणां तत्-राष्ट्रं-सर्वथा-स्वीयं-भवति । इति पदं योजना ।।

ये—वक्ष्यमाणाः। नराः=पुरुषाः, ज्ञानवन्तः। अत्र यच्छब्देन सामान्यतया मनुष्याः गृहीतास्त एव नरशब्देन विशेषिता ज्ञानवन्त एव ग्राह्या इति बोध्यते। त एव किल मननसमर्था यतः। नृ नये। यत्=नैकेषु विवक्षितम्। राष्ट्रं=राजमानं भूप्रदेशम्। 'पितृपुण्यभुवम् व्याख्यातचरमेतत्पदम्। 'मन्यन्ते'=अवबुद्धयन्ते। अयमभिप्रायः—बहुषु राष्ट्रेषु यत् किंचिदेकतमत् स्वेष्टं पितृभूमतया पुण्यभूमितया च द्विविधेनाऽपि प्रकारेण अवबुध्यन्ते इति। कथम्? 'सर्वथा' सर्वैः प्रकारैः, कायेन वाचा मनसा च। 'मन्यन्ते' इति पदेन मननशीलत्वं पुरुषाणां ध्वन्यते। तेन च पौर्वापर्यविचारशीलानां तेषां स्वहिताऽहितज्ञानवत्त्वं ध्वन्यते। मननं खलु पूर्वं श्रुतस्यैव सम्भवतीति प्रसिद्धम्। ततश्च 'मन्यन्ते इति पदं' श्रवणमाक्षिपति। तेनेदं निष्पद्यते यत् पूर्वं शृणुयात्, किं शृणुयात्? राष्ट्रं किन्नाम, तत्पार्थक्यं तदैक्यं च केन हेतुना व्यवह्रियते इति। अनन्तरं च मननपरो भवेत्। यत् कतमद् राष्ट्रं मम पितृभूमिः कतमच्च पुण्यभूमिरिति। तच्च मननं सर्व्वैरपि प्रकारैः कर्तव्यम्! ते प्रकारा यथा-मम शरीरस्य वर्ण एतद्राष्ट्रस्य बहुभिः पुरुषैः समानो न वा? मदीय शरीरस्य नासाक्षिकर्णोष्ठशिरआद्यवयवा रचनया अत्रत्य बहुभिः पुरुषैः सामान्यं बोधयन्ति न वा? मदीया वर्णोच्चारशैली अत्रत्यान् बहून्नुरुपाननुकरोति न वा, मदीयां भाषामत्रत्यबहवः पुरुषा व्यवहरन्ति न वा? एतादृशप्रकाराणां मननेन किल पितृभूत्वनिश्चयोऽवश्यमेव भविष्यति। अथैतेषामपि प्रकाराणां मननमावश्यकम्—किं ममैतच्छरीरपाताऽनन्तरभाविविषयकविश्वासोऽत्रत्यानां बहूनां सम्मतो न वा? मम चरित्रविषयक आदर्श पुरुषोऽत्रत्यानां बहूनां सम्मतो न वा? मद्धृदयसम्मतधार्मिक विश्वास संस्थापको ऽत्रत्यानां बहूनां सम्मतो न वा? मदभिमत धर्मग्रन्थस्य भाषाऽत्रत्य बहूनां सम्मता न वा? इति। एतादृशैः किल मनन प्रकारैर्मननेन हि पुण्यभूत्व निश्चयोऽवश्यमेव भविष्यति। 'मन्यते' इतिपदं मननसमनन्तरभाविनिश्चयमपि ध्वनयति। तेनाऽयमर्थो बोध्यते यत्-एवं मननपराकाष्ठायां ये नरा यत् राष्ट्रं सर्वथा=पारिपूर्ण्येन पितृपुण्यभूमितया मन्यन्ते=समवगच्छन्ति, यत्—इदमेव राष्ट्रं अस्माकं पितृभूमिपुण्यभूमिश्चेति। 'तेषां नराणां'—तथा-विधनिश्चयशालिनां पुरुषणां 'तत् राष्ट्रं'=तथाविधनिश्चयेनाऽभिमतोभूखण्डः 'सर्वथा'=सर्वैरपि प्रकारैः। प्रकार वचने थाल्। 'स्वीयं-भवति' आत्मीयतया अस्ति। सेव्यसेवकादि सम्बन्धादिभिः स्वकीयं भवतीति यावत्।

अत्रेदं च बोध्यम्—यावन्तः किल भारतं पितृपुण्यभूमितया मन्यन्ते, तेषां सर्वेषां स्वीयतयाऽभिमतं भारतं राष्ट्रं भवितुमर्हति। यथा सनातनधर्माऽनुयायिनः, जैना, भारताऽभिजनबौद्धाः, एते सर्वेऽपि भारतं पितृपुण्यभुवं मन्यन्ते। 'पितृपुण्यभुवम्' इति हि विधेयविशेषणं राष्ट्रस्य। तेन राष्ट्रं स्वीकरणाय पितृपुण्यभूमितया भावयेत् इति बोध्यते।—तदापि सर्वैरपि प्रकारैरित्यपि बोध्यमेवेत्यलम्। अग्रे चेदं

विशेषतो विवेचयिष्यते ।।४।।

एवं स्वत्वकारणमुपपाद्य राष्ट्रे केषां स्वत्वं न भवतीति निरूपयन्नाह—

पितृभूत्वं पुण्यभूत्वं द्वयं यस्य न विद्यते ।
तस्य स्वत्वं तत्र राष्ट्रे भवितुं न किलाऽर्हति ।। कारिका० ५।

[यत्र]—राष्ट्रे-पितृभूत्वम्-पुण्यभूत्वम्—[एतत्]-द्वयम्- न विद्यते-तत्र-राष्ट्रे-तस्य-स्वत्वं-भवितुम्-न-अर्हति-किल । इति पदयोजना ।

पितृभूत्वमिति 'यत्र'=वक्ष्यमाणप्रकारे तत्रेत्यनेनाऽऽक्षिप्ते । 'राष्ट्रे'= पूर्वोक्त-लक्षणलक्षिते भूप्रदेशे । 'पितृभूत्वम्' =व्याख्यातस्वरूपम् । 'पुण्यभूत्वम्' =एतदपि व्याख्यातरूपम् । 'द्वयम्'=द्विकम् । पितृभूत्वं पुण्यभूत्वं चेति यावत् 'न विद्यते'=न वर्त्तते 'तत्र राष्ट्रे'=यस्मिन् राष्ट्रे एतद् द्वयं न वर्तते तस्मिन् राष्ट्रे 'तस्य'= तथाविधपुरुषस्य 'स्वत्वम्'=स्वकीयत्वम् । 'भवितुं न अर्हति किल'=नैव भवितुं शक्यमिति यावत् । पूर्वस्यां कारिकायां हि स्वत्वकारणमुपन्यस्तं केन सम्बन्धेन सम्बन्धिनां राष्ट्रे स्वत्वं भवतीति । अनया च कारिकया कस्य सम्बन्धस्याऽभावेन राष्ट्रात् स्वत्वं निवर्त्यते इति प्रतिपादितं भवेत् । अत्र कारिकायां 'पितृभूत्वम्, पुण्यभूत्वम् द्वयम्', इत्येवं रूपेण निमित्तद्वयं पृथक्-पृथगभिधाय, अनन्तरं च तयोः समुच्चयाय 'द्वयम्' इत्युपात्तम् ।

तस्याऽयं भावः—

कस्मिन्नपि वस्तुनि किल वस्त्वन्तरस्य सम्बन्धेनैव स्वत्वादि समुत्पद्यते । सांसर्गिक चेदं सकलं त्रिविधमपि विश्वम् । तत्र यस्यैव वस्तुनो येनैव वस्तुना यावानेव सन्निकटः सम्बन्धस्तावानेव स्वत्वाद्यधिकारो भवतीति स्फुटमेव । तत्र सम्बद्धं वस्तुजातं सकलमपि कल्पितजडाऽजडविभागेन विभाजितमस्ति व्यवहारायेत्यपि नाऽतिरोहितं केषामपि विदुषाम् तत्रापिजडानां भोग्यत्वं पारतन्त्र्यविकासात्, अजडानां च भोक्तृत्वं स्वातन्त्र्यविकासात् इत्यपि स्थापितं व्यवहारायैवेति स्फुटमेव । अथ भोक्तृणां स्वतन्त्राणामनन्ततया भोग्यानां च पदार्थानां परतन्त्राणामप्यनन्ततया नियत्यभावे महान् कलहः स्यात् भोक्तृषु परस्परं भोग्यानां पदार्थानां भोगविषयमधिकृत्येति नियतिरपि स्थाप्रिता व्यवहारव्यवस्थापनाय । यतः 'येन भोग्यवस्तुना यस्यैव भोक्तृवस्तुनः सन्निकटः सम्बन्धः स तस्य सर्वथा स्वामी प्रदानविक्रयपरित्यागादिषु सर्वेष्वपि व्यापारेषु स्वतन्त्रो भवितुमर्हति । यस्य पुनर्दूरतः सम्बन्धः स सन्निकटसम्बन्धिना बाध्यते' इति । अत एव वसिष्ठेनोक्तमपि—"शुक्रशोणितसम्भवः पुरुषो मातापितृनिमित्तका, तस्य प्रदानविक्रयपरित्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः" इति । तत्र राष्ट्रवादिनो विहाय-

सर्वेषां मते राष्ट्रं हि भोग्यपदार्थः परतन्त्रतया जडत्वात्तस्य । पुरुषश्च भोक्तृ-पदार्थः स्वतन्त्रतयाऽजडत्वात्तस्य, अथ राष्ट्राणां बहुत्वेन पुरुषाणामपि बहुत्वेन चाऽवश्यं भाविकलहवारणाय स्वत्वसंस्थापने नियतिं पर्यालोच्य स्थापितमेतत्— 'यत् सन्निकटसम्बन्धिनां पुरुषाणां सन्निकटसम्बन्धिषु राष्ट्रेषु स्वत्वंभवतु' इति राष्ट्रस्य सन्निकट सम्बन्धिनः पूर्वस्यां कारिकायां (रा० का० ३) 'समानसंस्कृतिमताम्' इत्येवमुपपादिताः । सन्निकटसम्बन्धोऽपि किल द्विविधो भवति, व्यावहारिकः पारमार्थिकश्चेति । व्यावहारिकः पुनर्द्विविधः, सन्निकटो दूरश्च । तत्र सन्निकटः पुनर्द्विविधः 'प्राकृतः' 'अप्राकृतः' इत्येवम् । अयं द्विविधोऽपि 'स्वाभाविक' एव । 'मौलिक' इति वा परिभाषणीयः । तत्र 'सविशेष' इतिपूर्वः प्रबलतरः, 'सामान्य' इति द्वितीयः प्रबल इत्येव एवं च द्विविधोऽप्ययं जगन्नियन्तृकल्पित एवेति मुख्यः 'स्वत्वबोधने'। अथ दूरसम्बन्धो बाध्यते सन्निकटसम्बन्धेन । स च प्रस्तुत-भाष्यकृता 'काल्पनो' 'वाचनिक' इति परिभाषितः । यथा शास्त्रेषु द्वादशधा पुत्राः प्रतिपादिताः तत्र शुक्रशोणितसम्भवाः केचित्पुत्रा जगन्नियन्तृकल्पिताः केचिच्च वचन-मात्रेण पुत्रभावमिताः जगन्नियम्यपुरुषकल्पिताः, तत्र सन्निकटसम्बन्धिनः पूर्वे तद-पेक्षया दूरसम्बन्धिनश्च परे । अत एव चोरस्यस्य पुत्रस्य पितरि मुख्यं स्वत्वं स्वीक्रियते सर्वैः। वाचनिकस्य च गौणमिति मुख्यसम्बन्धेन गौण संबन्धेन च स्वत्वं भवितुमर्हति राष्ट्रे । तत्राऽस्मिन् राष्ट्रे सन्निकटः सम्बन्धोऽस्ति न वा ममेति पर्यालोच्य निश्चयेना-ऽवगते सन्निकटसम्बन्धित्वे सर्वथा स्वत्वं भवति । गौणसम्बन्धेन गौणम् । अथ-पारमार्थिकसम्बन्धोऽपि द्विविधः प्रधानोऽप्रधानश्चेत्याद्यनुपदमेव चर्चयिष्यते तत्र प्राकृताऽप्राकृतप्रधानाऽप्रधानेति चतुर्विधोऽपि सम्बन्धोऽस्ति न वा ममेति पर्यालोच्य निश्चयेनाऽवगते सर्वथा सम्बन्धित्वे सर्वथा स्वत्वं भवतीति 'पितृपुण्यभुवं' (रा० का० ४) इतिकारिकयां निरूप्य तदेव व्यतिरेकमुखेन दृढयितुं मुख्यामुख्यं च स्वत्वं विशकलयितुं सम्बन्धाऽभावे च सत्वं निवारयितुं 'पितृभूत्वं' (रा० का० ५) इत्यस्याः कारिकाया आरम्भः । राष्ट्र-वादिनां मते-खलु पुरुषाः किल राष्ट्रे उत्पद्यन्ते इति राष्ट्रः तेषां माता उपादान कारण-तया राष्ट्रस्य, राष्ट्रानुगता राष्ट्रवातावरणनियन्त्री जगदीश्वरस्य विशिष्टा शक्तिः पिता निमित्तकारणतया तस्याः। एवं च मातृत्वं पितृत्वं च द्वयमपि राष्ट्रस्य समुपपद्यते अत एव व्यावहारिकसम्बन्धोऽयं पितभूसम्बन्धे इति सङ्केत्यते। द्वितीयश्च व्यावहारिकसम्बन्धो दूर इति दुर्बलतमः स्वस्वस्थापनविषये । 'स च वाचनिक; 'काल्पनिकः' । इति वा सङ्केतितो जगन्नियम्यपुरुषकल्पित इति 'गौणो' न मौलिकम इति द्विविधेनापि सन्निकटसम्बन्धेनाबाधाविषय इत्येव नियतिविदां महर्षिणां सिद्धान्तः। एवं च प्राकृताऽप्राकृत इति द्विविधसङ्केतित एव सम्बन्धो मुख्यः पितृभूसम्बन्धः ।

एमवयं पितृभूत्वसम्बन्धो व्याख्यातः । जगति उत्पद्यमानाः पुरुषा जगन्नियम्याः ते च जगन्नियन्तुर्विलासवशान्नानाविधा एव समुत्पद्यन्ते । ते च मस्तिष्कहृदयशुद्धच-शुद्धितारतम्येन समासतोऽष्टविधा इति पूर्वं 'समान' (रा० का० ३) इत्यस्याः कारिकाया भाष्ये निरूपितम् । तैः पुरुषैः स्वमस्तिष्केन समुत्पाद्य हृदये च परीक्ष्य च स्थापिता संस्कृतिर्लोके धर्मपद्वाच्या तदनुयायिनां यस्तत्संकृतिसंस्थापकस्य पितृ-भुवि स्थापितः सम्बन्धः स 'पारमार्थिकः' इति सङ्केत्यते । अयमेव 'पुण्यभू'-सम्बन्धो लोके प्रायः । अयमपि द्विविधः, प्रधानोऽप्रधानश्चेति । तत्राऽऽन्तर संस्कृत-संस्थापकमूलपुरुषनिमित्तकः प्रधानः । आन्तरसंस्कृतसंस्थापकशाखापुरुषनिमित्तको-ऽप्रधानः । एवमयं पुण्यभूसम्बन्धोऽपि स्पष्टीकृतः । अत्रेदं च बोध्यम्—किमर्थमिदं पुण्यभूरिति ? पुण्यस्य भूः पुण्यभूः, पुण्या चाऽसौ भूरिति च अर्श आद्यवन्तोऽयं पुण्यशब्दस्ततष्टाप् । पुण्यं हि तदेव वस्तुतो वस्तु यदभिनवरमणीयं भवेत् तदेव च परमार्थः । भासमानं च पुनर्निखिलमपि विश्वं तेनैवोतप्रोतरूपेणाततम् । तत्सा-क्षात्कारवन्तः पुरुषा अपि पुण्याः । तेषामुत्पतिस्थली पुण्यभू । अमृतत्वं समीह-माना प्रत्यगात्मनः साक्षात्काराय ये धीरा यतन्ते तेऽपि पुण्या एव । तेषामुत्पत्ति-स्थल्यपि पुण्यभूः । एवमेते द्विविधा अपि पुरुषा यं प्रदेशं प्रशंसन्ति सा पुण्यभूः । तथा विधाः पुरुषा यं धर्मं व्यवस्थापयन्ति तद्रक्षणाऽनुकूलः प्रदेशः पुण्यवत्तया पुण्यभूर्भवति। भोगप्रवणाः पुनरनार्या इति न तत्स्थापितं मतं वस्तुतः पुण्यनिर्णायकं किन्तु पापं तत्पापोत्पादकतया । तदपि धर्मोऽयमिति सरभसं शस्त्रादि साहाय्येन लोकानां शिरसि भारभूतं वस्तुतः पापमपि पुण्यत्वेन प्रख्याप्यारोपयन्ति ये न पुण्यास्ते । किन्तु पापा एव । तेषामुत्पत्तिस्थलं तदभिजनस्थलं च न पुण्यभूः । दण्डेन च ते पापा वशीक्रियन्ते यत्र सा तु पुण्यभूरेव । इदमप्याकलनीयम्—भूस्वत्वविषये तावत् लिखितं भुक्तिःसाक्षिणश्चेति प्रमाणत्रयं स्वीक्रियते महर्षिभिः । तत्र पूर्वापूर्वापेक्ष-योत्तरोत्तरं दुर्बलं त्रिष्वेतेषु प्रमाणेषु प्रमाणम् । राष्ट्रवादिनां मते भुवः पितृतया भोग्यत्वं । नैव सम्भवत्यथापि तदुत्पन्नभोगयोग्यवस्तुजातस्य मातृस्तनगतपयस इव भोग्यत्वंमवलम्ब्य मुक्तिप्रमाणविषयत्वमित्यार्यं जुष्टः पन्थाः । अन्येषां मते तु भुक्तेः प्रामाण्यं स्फुटमेव । लिखितं तु सर्वतोऽधिकं प्रमाणमिति तु न विस्मर्तव्यम् । तत्रार्यलेखः प्रसाणमनार्यलेखमपेक्ष्य । सर्वथापि सर्वत्राऽप्यार्यव्यवस्थैव श्रेयस्करीति तत्स्थापितमेव पुण्यभूत्वं वास्तवम् । भोगस्तु प्राचीनोऽपि न वस्तुतः प्रामाण्यमवलम्बते भूस्वत्वविषये, तस्याऽनार्यपरिगृहीतत्वात् । एवं च पुण्यभूत्वं द्विविधमपि सर्वदाऽऽर्यजुष्ट-मेव प्रमाणमिति । इदमपि बोध्यम्—पुत्रं प्रदातुं त्यक्तुं विक्रेतु वा मातापितरौ प्रभवतः पूर्णस्वत्ववत्ताया, परन्तु पूर्णस्वत्ववत्त्वेऽपि पुत्रो न प्रभवति मातापितरौ दातुं त्यक्तुं विक्रेतुं वेति समस्तमहर्षीणां सिद्धान्तः । ततश्च राज्यवादिमते -

राष्ट्रस्य पुत्रत्वाद्भोग्यत्वं राष्ट्रस्य राष्ट्रवादिमते तु न पुत्रत्वं राष्ट्रस्य, किन्तु पितृत्वमिति भोग्यत्वं किन्तु भोक्तृत्वं तस्येति । सर्वमपीदं यथा तथा यथावसरं निवेदयिष्यते । अत्र कारिकायामपि पूर्वकारिकातः सर्वथा 'इति पदमनुवर्त्य "यत्र राष्ट्रे यस्य पुरुषस्य पितृभूत्वं पुण्यभूत्वं च द्वयमपि 'सर्वथा'= सर्वैरपि 'प्रकारैः प्राकृताऽप्राकृतप्रधानाऽप्रधानेतिचतुर्विधैरपि न विद्यते' इत्येवं व्याख्येयम् । इदं पुनः स्फुटमेव यत् आंशिकं स्वत्वं पूर्णेन स्वत्वेन बाध्यते । सम्प्रति दृष्टान्तेनेदं स्फुटीकरिष्यते—यथा साम्प्रतं भारतवर्षे सनातनधर्मानुयायिनां ब्राह्मादीनां सर्वेषां द्विविधेनापि प्राकृताऽप्राकृतेति सङ्केतितेन पितृभूसम्बन्धेन, प्रधानाऽप्रधानेति सङ्केतितेन द्विविधेनापि पुण्यभू सम्बन्धेन च स्वत्वसमस्त्येव । अत एतेषां सर्वथा स्वत्वं भारते। एवमेव भारताभिजनानां बौद्धानां जैनानां च भारते सनातनानामिव पूर्णं स्वत्वं भवति । ब्रह्मसमाज-आर्यसमाज-देवसमाज-सत्यशोधकसमाज-प्रार्थनासमाज-राधास्वामि-सिक्ख-दादूपन्थी-रैदासी-कबीरपन्थी-इत्यादयः सर्वे सनातनविघटका अपि घटका एवेति सर्वेषामेषां स्वत्वं भवितुमर्हति भारते। हीनयान-महायान-वज्रयानादयो बौद्धभेदाः। श्वेताम्बर-दिगम्बर -ढूंढकादयो जैनभेदाः। जरथोष्ट्रमतानुयायिनां पुनर्भारते न मौलिक पितृभू सम्बन्धः, किन्तु वाचनिकः । इतिहासकोविदाः किल जानन्त्येतत् यत् गतसप्तशतवर्षेभ्यः पूर्वं हि तैर्महम्मदानुयायिपीडितैः स्वकीयाऽऽन्तरसंस्कृतिरक्षायै स्वकीयां पितृभुवं विहाय तदानीन्तनभारतावयवलाट्सौराष्ट्र-आनर्त्तशासकानामनुज्ञया भारते वाचनिकं पितृभूत्त्वं संस्थापितम्। तदारम्य चाऽद्य यावत् तैः सम्यक् तन्निर्वाहितमपि। भारतीया वाह्यसंस्कृतिः स्वीकृता तैः। इदानीं हि ते शारीरिकवर्णनासाद्यवयवरचनावर्णोच्चारशैलीव्यवहारभाषादिभिः प्रकारैर्भारतीयाननुकुर्वन्तो भारतीया इव भान्ति। परमिदानीमपिते स्वात्मानं 'पारसीका' इति व्यपदिशन्ति। अत एतषां वाचनिको गौणो वा पितृभूसम्बन्धो भारते वर्तते । पुण्यभूसम्बन्धयोः प्रधानः सम्बन्धस्त्विदानीमपि पारसीकदेश एवति सर्वेऽपि विद्वांसो जानन्त्येव । अप्रधानः पुण्यभूसम्बन्धः पुनर्भारतेऽपि तैः स्थापितः स्यादेवेति सम्भावयामहे। अत एतेषामपि सर्वथा स्वत्वं भारते नास्ति। भारतेतरराष्ट्राभिजनानां बौद्धानां भारते द्विविधोपि पितृभूसम्बन्धो नास्त्येव। पुण्यभूसम्बन्धयोः प्रधानस्त्वस्त्येव । अप्रधानः पुनर्भारतेऽपि तेषां पितृभुव्यपि । अतस्तेषामपि न स्वत्वं भारते । भारताऽभिजनानां ईशवीयानां पितृभूसम्बन्धेन स्वत्वं वर्तत एव भारतेऽथापि प्रधानपुण्यभूसम्बन्धेन पुनर्नास्त्येव-भारते स्वत्वमिति तेषामपि न सर्वथा स्वत्वं भारते । एवमेव महम्मदानुयायिनामपि। तेषां हि प्रधाना पुण्यभूसम्बन्धः 'अरब' देशे वर्तते इति न सर्वथा स्वत्वं भारते भवितुमर्हति। एतदितरिक्तानामाङ्गलादीनां सम्बन्धचतुष्टयाऽभावात्, आंशिकमपि स्वत्वं भवितुं न किलाऽर्हति। एवमेव भारतेतरराष्ट्राभिजनानां माहम्मदा-

नामपि नांशिकमपि स्वत्वं भारते। एवं च चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बन्धवतामेव राष्ट्रे राष्ट्रीयत्वम्। अनैवं विधस्य च न राष्ट्रीयत्वम्। ननु भारतीयनां भारत एव अप्राकृतः पितृभूसम्बन्धो नैव युज्यते वक्तुम्, प्राकृताप्राकृतयोः पितृभूसम्बन्धयोः समानाधिकरण्यासम्भवादिति चेदत्रोच्यते समाधानम्—

मातॄणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत्।
सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत्॥ इति।
सर्वासामेकपत्नीनामेकाचेत्पुत्रिणी भवेत।
सर्वास्तास्तेन पुत्रेण पुत्रिणीर्मनुरब्रवीत्॥

इति च करतललुलितवदरफलनिर्विशेषं साक्षात्कृताऽऽत्मरहस्यानां महर्षीणां निर्विरोधः सिद्धान्तः। ततश्च भारतैकदेशावच्छेदेनसमुपपत्स्यते व्यवस्था। तथा हि भारतैकदेशभूतमहाराष्ट्रऽभिजनस्य 'महाराष्ट्रे', 'प्राकृतः' पितृभूसम्बन्धः, तदितरेषु भारतैकदेशेषु वाराणस्यादिषु सामान्य' इत्यपरपर्यायाः 'अप्राकृतः' इति सङ्केतितः पितृभूसम्बंधो विद्यतेस्वभावात्। एव एव "सारस्वत-कान्यकुब्ज-गौड-वाहीक-काश्मीरक-त्रैगर्त-द्विगर्त-मद्र-कौलूत-कैकय-गान्धार-कौभ-कर्क - सिन्धु-सौवीर-आनर्त - लाट-सौराष्ट्र - आभीर-कोङ्कण-केरल-चोल-आन्ध्र-पाण्ड्य-कर्णाट-उत्कल - अङ्ग-वङ्ग - कलिङ्ग - मैथिल-पौण्ड्र-सुह्म-मालव-चेदि-मत्स्य-शूर-अवन्ति-पञ्चालादीनां समस्तानां विषये वोध्यम्। एवं चैकराष्ट्र एव चतुर्विधोऽपि सम्वन्धो भवितुमर्हत्येवेति समुपद्यते। अयमप्राकृतः सम्बन्धो न वाचनिक इति 'मौलिक' इति स्वाभाविक इति सन्निकटसम्वन्ध एव। अत एव पारसीक—'जरथोष्ट्र' मतानुगायिनां भारताऽवयव लाटादिष्वेव तदानीन्तनतत्तच्छासकाऽनुज्ञया संस्थापितो वाचनिक इत्येवेदानीमाभिजन्येन सम्भाव्यमानोऽपि गौण इत्येव कृत्वा लाटाद्यन्यत्र भारतावयवेषु गौणतर एवेति न स्वाभाविकतामवगाहते। तदिदं समीचीनमेव सम्पन्नं यच्चतुर्विधसम्वन्ध एव स्वत्वसंस्थापने पूर्णतया हेतुरिति। अत एव वशिष्ठेन—"पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन् वन्धूनाहूय राजानं चावेद्य निवेशनस्य मध्ये व्याहृतिभिर्हुत्वा अदूर वान्धवं वन्धूनाहूय राजाने प्रतिगृह्णीयात्। न स्त्री पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा अन्यत्राऽनुज्ञानाद्भर्त्तुः" इति। यदुक्तं तद्युक्तियुक्तमेवेति। तदनुसारेणैव प्रस्तुतभाष्यकृताव्यवस्थापितं स्वत्वमेव वास्तवं निर्णायकमित्यवगन्तव्यमेव॥

इदमप्यत्र वोध्यम्—सनातनानां किल येषामान्तरसंस्कृतसंस्थापको मूलपुरुषः परमात्मैव स्विक्रियते तेषां सर्वेष्वपि राष्ट्रेषु प्रधानः पुण्यभूसम्बन्धोऽवगन्तव्यः। परन्तु कारणवशाद्यत्र यत्र स निवारितस्तत्र तत्र न पुण्यभूसम्वन्धाः। यथा खलु सम्बन्धो वचनेन स्थाप्यते तथा निवार्यतेऽपि, इति। सारांशस्तु—राष्ट्रस्वत्वाय चतुर्विधस्याऽपि सम्बन्धस्य

संस्थापनमावश्यकम्। संस्थापनं चाऽऽर्यविधयैव संभवतीति तु न विस्मर्तव्यम्। एवं चतुर्विधं संबंधं संस्थापयन्तो मनुष्या एव 'पितृपुण्यभुवम्' (रा० का० ४) इति कारिकायां 'नरा' इत्युद्घोषिताः। अनेवंविधाः पुनः पशुप्राया एवेति 'नरा' इत्यनेन ध्वन्यते। चतुर्थीकारिका' किल स्वत्वबोधिका पञ्चमी पुनरियं स्वत्वनिषेधिनीत्यपि विषयविभेद इति पौनरुक्त्यभावः। एवं रीत्या सर्वेष्वपि राष्ट्रेषु स्वत्वनिर्णयः कर्तव्य इत्येवं सुधीभिरतोऽधिकं विभावनीयम् ॥५॥

* * * * *

राष्ट्रिय शिक्षा

·········इत्थङ्कारं हि राष्ट्रपतनकारणानि निरूपितानि। राष्ट्रं किल यैः कारणैः पतति तेषां कारणानां नाशनेन राष्ट्रमुन्नतिमायातीत्ययं सिद्धान्तः सर्ववाद्यविसंवादी। किं च पतनं हि प्रायः शिक्षाया अभावादेव भवतीत्यपि चतुरस्रमेव। को हि नाम प्रकृतिस्थश्चेतनो हिताऽहितज्ञानविज्ञानकुशलः सन्नपि स्वनाशमामूलचूलघातं कर्तुमभिलष्यति कुरुते वा। मूढैः पुनरभिनिविष्टैः सर्वमपि क्रियतेऽनार्यैः। अयं हि मोहमहिमैतादृगेव यदकार्यमपि कारयति। अतएव योगिप्रवरो भर्तृहरिरप्याह—

अजानन्माहात्म्यं पततु शलभस्तीव्रदहने।
स मीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नातु पिशितम्॥
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्।
न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा॥

तदेवं स्थितेऽप्युचितशिक्षयाऽज्ञत्वमूलकमनार्यत्वमापन्ना अनार्याः शक्यन्त आर्यीकर्तुम्। विज्ञाः पुनरनार्या दण्डेनैव शक्यान्त आर्यीकर्तम्। अयमभिप्रायः—'उपेयप्रतिपत्त्यर्थमुपायाः' इति हि सिद्धान्तः। उपेयं च समस्तस्याऽपि जीवलोकस्याऽऽनन्द एव। तस्यैव सर्वेषां जीवितत्वात्। जीवितं सर्वोऽप्युपैतुमाशंसतीति निसर्गः। स चाऽऽनन्दः स्वतन्त्रस्वराष्ट्राऽऽयत्तः। स्वातन्त्र्यं च स्वराष्ट्रस्य राष्ट्रियाणामेव करे भवति। तेषामेव सर्वतोऽधिकस्वतन्त्रताविकासयोग्यतया तत्राधिकृतत्वात्, राष्ट्रे च त एव सम्बन्धचतुष्टयवन्त इति स्वत्ववन्तो भवितुमर्हन्तीति च। त एते राष्ट्रिया एव राष्ट्रविनयशिक्षामनधिगमिता यदि भवेयुस्तदाऽज्ञतया नाशयेयुः स्वराष्ट्रम्। विपरीतशिक्षामापन्नास्तु पुनर्नाशयेयुरेव स्वराष्ट्रमिति स्वराष्ट्रशिक्षाधीनमेवैतदापत्तिनिवारणं सर्वथेत्याकलय्य स्वराष्ट्रशिक्षां ग्राहयितुं हेतुप्रतिपादनपुरस्सरं तन्माहात्म्यं निरूपयन्नाह—

राष्ट्रस्योत्थातपतने राष्ट्रियानवलम्ब्य हि।
भवतः सर्वदा तस्माच्छिक्षणीयास्तु राष्ट्रियाः॥ कारिका० १५।

(हि-राष्ट्रस्य-उत्थानपतने-राष्ट्रियान्-अवलम्ब्य-सर्वदा-भवतः-तस्मात् राष्ट्रियाः-

शिक्षणीयाः-तु, इति पदयोजना।) राष्ट्रस्येति। 'हि'=यस्मात् कारणात्। राष्ट्रस्य व्याख्यातलक्षणस्य। 'उत्थानपतने'—उत्थानम्=स्वातन्त्र्यस्याऽवाप्तिः सर्वेषु कार्येषु—'पतनम्'=पारतन्त्र्यप्राप्तिः सर्वेषु कार्येषु ते द्वन्द्वसमासः। 'राष्ट्रियान्'=राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धिनः पुरुषान्। 'अवलम्ब्य'=आश्रित्य। 'सर्वदा'=सर्वकाले। 'भवतः' सम्पद्येते। 'तस्मात्'=तस्मात् हेतोः, हेतौ पञ्चमी। 'राष्ट्रियाः'=पूर्वोक्तलक्षणाःपुरुषाः। 'शिक्षणीयाः'=शिक्षयितुं योग्याः 'तु'=अवश्यम्। अवश्यमेव शिक्षासम्पन्नाः कार्या इति भावः। इदमत्र तात्पर्यं बोध्यम्—शिक्षामन्तरा खलु न किमपि पार्यते कर्तुम्। अशिक्षितो हि खलु अन्ध एवेति स किं कर्तुं प्रभवेत्। तथा चाऽन्यत्रोक्तमपि—

सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नाऽस्त्यन्ध एव सः।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याऽकार्यव्यवस्थितौ॥ इति।

इति श्री भगवद्गीतास्वप्युक्तम्। कार्याऽकार्यव्यवस्थितिं च पुनः सर्वोऽपि जीवलोको वाञ्छत्येवोपादेयतया, अव्यवस्थायां हि मात्स्यन्यायः समुदियादिति। व्यवस्था च शास्त्रमवलम्ब्यैव सिद्धयति। शास्त्रत्वाऽवच्छेदकाऽवच्छिन्नं शास्त्रलक्षणमित्यर्थः पुनरेवमुपश्लोकितं तत्र भवद्भिर्धर्मोद्धारबद्धपरिकरैर्भट्टश्रीकुमारिलचरणैः—

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसा येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमिति कथ्यते॥ इति।

शिक्षां चाऽनवलम्ब्य कथमवगम्येत हि पुनः शास्त्रम्। तदेवं स्थिते राष्ट्रसंरक्षणाय शिक्षैवैका परमधर्मस्वरूपं बिभ्रती साधनी भूत्वा सर्वतोभावेन कल्पते इति निष्पद्यते। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सधर्मः' (वै० सू०) इति हि धर्मलक्षणं प्राहुर्महर्षयः। अभ्युदयसाधनं व्यवहारे राष्ट्रमेवेति स्फुटमेव। निःश्रेयसाय च कल्पत एव राष्ट्रमिति यथा तथा निरूपितं 'चतुर्णाम्' (रा० का० १) इत्यस्या कारिकाया भाष्याऽवसरे। राष्ट्रं च राष्ट्रसम्भवानां पुरुषाणां योग्यतामाकाङ्क्षते। ज्ञानप्रधान योनौ त उत्पन्ना इति त एव राष्ट्रस्योत्थाने पतने चाऽधिक्रियन्ते। यदि ते योग्याः स्वयमुत्तिष्ठन्तो राष्ट्रमप्युत्थापयेयुरिति। अथ चेदयोग्यास्ते स्वयमपि पतन्तो राष्ट्रमपि पातयेयुरेव। योग्यत्वमयोग्यत्वं च शिक्षाया आयत्तम्। अतोऽवश्यमेव शिक्षणीयाः खलु राष्ट्रियाः। शिक्षा किल न केवलमुदरदरीपूरणप्रयोजना या किल शिक्षा केवलमुदरदरीं पूरयति सा न शिक्षापदव्यवहारमर्हति। उदरदरीपूरणं हि खल्वनधिगम्यापि शिक्षां पशुपक्ष्यादयोपि कर्तुं शक्नुवानाः कुर्वाणाश्च प्रत्यहं दरीदृश्यन्ते लोके। शिक्षा हि ज्ञानाय विज्ञानाय च या कल्पते स्वात्मनः सैव शिक्षा वास्तविकीति वस्तुस्थितिः।

अतएव विनयाचार्या एवं प्रतिपादयन्तो दृश्यन्ते यथा—

यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवति।
वयांसि किं न कुर्वन्ति चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्॥ इति।

अन्यदपि—

यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
र्विज्ञानशौर्य विभवादिगुणैः समेतम्॥
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते॥ इति च।

स्वात्मनो यथार्थभावज्ञानं नन्वार्यत्वं प्रापयितुं प्रभवति मानवम्। आर्यभावश्चो-न्नयति स्वात्मानम्। अतएव श्रुतिरपि भगवती दयापरवशा सती पुरुषं प्रति प्राह—

'ब्राह्मणेन हि निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'। इति।

अत्र ब्राह्मणपदं मनुष्यमात्रमुपलक्षयति वेदपदं च ज्ञानप्रदायकसद्ग्रन्थमात्रमुप-लक्षयति। वर्णाश्रमजातिदेशकालपात्रादि यथायथमनुरुद्ध्यैव पठनपाठनादिव्यवस्थापनं भवतीति तद्ग्रन्थान्तरेषु स्फुटमेव। मानवः खलु ज्ञानपरायणत्वरूपं धर्मं स्वभावेनैवानुरुण-द्धीति बोध्यतेऽनेन 'निष्कारणम्' इति पदेन। ज्ञानमपि विज्ञानसह भावेन सम्पादनीय-मित्युपदेष्टुमेव 'अध्येयो ज्ञेयश्च' इत्युक्तम्। अत एव चार्थज्ञानवतः प्रशंसामज्ञातार्थस्य च निन्दां विदधती श्रुतिरप्यर्थज्ञस्य समस्तविधकल्याणप्राप्तिं दर्शयति। तथाहि—

स्थाणुरयं भारहार किलाभू-
दधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्॥
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते।
नाकस्य पृष्ठमेति विधूतपाप्मा॥ इति।

ज्ञानरहिताः खलु पशुभिः समाना भवन्तीति नय दर्शिनोऽपि वदन्ति—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥ इति।

एवं स्ववैयक्तिकेन्द्रियभोगानां परिपूर्त्तिर्यथा तथाऽप्यनुषङ्गेण जीवनिकायानां भाव्येव। अनार्याः पुनरेनामेव भोगपूर्त्तिं विधेयतया प्रधानां प्रतिपादयन्तो मिथश्चतदर्थं मेव विग्रहमाचरन्तो विजहत्यसूनपि सविग्रहम्। असुरा हीमेऽत एव पौनःपुन्येनासुरीं

योनिमभिजायन्ते। अतएव हि प्रायो भोगप्रधानयोनिसमुत्पन्नेषु जीवेषु कर्मेन्द्रियाणि विशेषतो विकसितानि दृश्यन्ते। मनुष्येषु पुनर्ज्ञानेन्द्रियाणि। मनुष्येष्वपि ज्ञानप्रधान-सन्तानपरम्परासु ज्ञानप्रधानानामिन्द्रियाणां विकासः परिलक्ष्यते। कर्मप्रधानसन्तानपर-म्परासु च कर्मप्रधानानामिन्द्रियाणां विकासः परिदृश्यते। इदं च बोध्यम्—निर्मलान्तः-करणा अन्तर्मुखा आर्यभावमवगाहमाना दैवीं सम्पदमभिजायमानास्तत्तदिन्द्रियकुण्डेषु पर-मात्मचिदग्नौ तांस्तान्भोगान् यथाविधिजुह्वानता अक्षय्यममृतं भजमानाः पूर्णं स्वतन्त्रभाव-मभिनन्दन्ति। समलान्तःकरणा बहिर्मुखाश्च पुनरनार्यभावमवगाहमाना दानवीं सम्पद-मभिजायमानास्तैस्तैरिन्द्रियैर्यथारुचि तेषु तेषु विषयेषु रममाणा अनन्तरं च विषयैरेव भुज्यमाना वारं वारं मृत्युमेव परवशतया भजमानाः पूर्णपरतन्त्रभावे निमज्जन्तीति। भवतु। ततश्च आर्याः खलु समस्तजीवजातस्य यथायथं व्यवस्थितां पुमर्थपरिपूर्त्ति समस्ता-ऽविरोधेन प्रधानां मन्यन्ते। अत एव आर्याः शिक्षावलात् समस्तान्यपि राष्ट्राणि व्यवस्था-पयन्त उन्नतिकारणानि भवन्ति। अनार्याश्च शिक्षामनादृत्य अविवेकिन इत्येन दौष्ठवमेव सौष्ठवं मन्यमानाः सर्वाण्यपि राष्ट्राणि विप्लावयन्तः पतनकारणानि भवन्ति, इत्येतत्किल विदुषा निश्चप्रचम्। अतश्च सर्वादौ राष्ट्रियाः शिक्षणीया इत्येवोपदेशमर्हति। अत्रेदमपि वोध्यम्—राष्ट्रस्य खलूत्थानं पतनं च राष्ट्रमाभिजन्येन सम्भावयतः सम्बन्धचतुष्टयवतः पुरुषानेवावलम्ब्य भवति। अयमभिप्रायः—यदेव राष्ट्रमुत्तिष्ठदवलोक्यते तत्तद्राष्ट्रचतु-र्विधसम्बन्धवद्भिरेवोत्थापितम्, न तद्विरुद्धैः राष्ट्रान्तरचतुर्विधसम्बन्धवद्भिरपि वेति, निश्चीयते। एवमेव यदेव च राष्ट्रं निपतदवलोक्यते तत्तद्राष्ट्रचतुर्विधसम्बन्धवद्भिरेव निपातितं न तद्विरुद्धैः राष्ट्रान्तरचतुर्विधसम्बन्धवद्भिरपि वेति निश्चीयत एव। एतेन ये केचिन्मन्यन्ते—"अस्माकं राष्ट्रं चतुर्विधसम्बन्धेनापि सम्बन्धि परराष्ट्रोद्भवैरनार्यैः पातितमिति न वयं स्वराष्ट्रपतने हेतवः, अस्माभिस्त्वतीवोन्नमितमासीत्" इति, तदतीवा-सम्बद्धमिति प्रत्याख्यातयनया कारिकया प्रस्तुतग्रन्थप्रणेता। एवं वदन्तस्ते खलु एवं प्रष्टव्याः—"अनार्यैः परराष्ट्रोद्भवैर्यदा भवन्त आक्रान्तास्तदा भवद्भिरार्यम्मन्यैः कथं न ते पराकृताः?" अथो यदि ब्रूथ यूयम्—"तदानीं वयमशक्ता आस्म तेषां पराक्रमपरा-करणे।" इति अहह कियन्तो देवानां प्रियाणां शिरोमणयो भवन्तः? स्वाशक्तिरेव खलु स्वस्य पतनकारणं भवतीति किं न भवद्भिरार्यम्मन्यैर्विज्ञातमद्यावधि? अथोन्नयने कथ-मात्मानं कारणं मन्यध्वे? तदप्यन्यराष्ट्रोद्भवैरेवोन्नमितमित्येव कुतो न भवेत्? पुत्रकाः। शिक्षन्तां राष्ट्रनयं पूर्वम्। सर्वमप्यवगमिष्यन्ति भवन्तः सुशिक्षावन्तः सन्तः। किं च स्वराष्ट्रघातं स्वराष्ट्रियेनापि क्रियमाणमार्या न सहन्ते, कुतः पुनर्मर्षयेरन् परराष्ट्रोद्भवैः क्रियमाणं राष्ट्रघातम्? आर्याः किल स्वेषु जीवत्सु न स्वराष्ट्रपतनं पश्यन्ति सर्वदैव हि ते स्वराष्ट्रस्य स्वातन्त्र्यायैव प्रयतन्ते। अगृहीतशिक्षाणां कुशिक्षावतामेव हि च खलु मुखे शोभत एतत्कथनं यत् "अस्मद्राष्ट्रपतनाय परराष्ट्रोद्भवा अनार्याः कारणम्" इति।

स्वराष्ट्रघातिचाण्डालानां साहाय्येन परराष्ट्रजाताः पातयन्ति खल्वनार्यस्वभाववत्तया राष्ट्रान्तराणीत्यन्यदेतत्। अतः प्रथममवश्यमेव तद्राष्ट्रोन्नत्यै तद्राष्ट्रस्य चतुर्विधसम्बन्धवन्त एव तत्र राष्ट्रियपदमधिरोढुमर्हन्तीति त एव तत्तत्समुचितशिक्षादिभिः शिक्षणीयाः। अपि वा "ये परराष्ट्रोद्भवा एव पातयन्त्यस्मानित्यवगच्छन्ति तैरपि स्वराष्ट्रियाः शिक्षणीयाः। यत्—"इमे खलु परराष्ट्रजा अस्मद्राष्ट्रं घातयन्तीति प्राणपणेनापि निराकरणीयाः", इति। आक्रामकाः परराष्ट्रजाश्च यथायथं सामादिभिरुपायैः शिक्षणीया अनार्थत्वं हातुमार्यत्वं च स्वीकर्तुम्। साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन च देशकालवस्तुपरिस्थितिं समवलोक्य शिक्षणीयाः। सर्वथाप्युत्थानं च पतनं च राष्ट्रियायत्तमिति त एव सर्वत आर्यानार्योभयनयशास्त्रविदः कार्या इत्यलमधिकमग्रे।१५।

तदेवं सर्वविधाया अभ्युन्नतेर्मूलं किल शिक्षैवेति सर्ववाद्यविसंवादी सिद्धान्तः। ततश्च राष्ट्रोत्थानपतनज्ञानाय सविज्ञानाय तच्छिक्षैवादौ राष्ट्रेण सम्यगुपादेयेति 'राष्ट्रस्योत्थान्' (रा० कारिका १५) इत्यनया कारिकया प्रतिपाद्य सम्प्रति का च कीदृशी च शिक्षोपादेयेति प्रतिपादनाय तत्फलवर्णनेन च सह प्राह—

स्वराष्ट्रशिक्षां गृह्णीयांच्चिकीर्षुः स्वां समुन्नतिम्।
दूरदृष्टिर्यया भूत्वा न कदाऽपि विषीदति॥ कारिका १६॥

[स्वाम्-समुन्नतिम्-चिकीर्षुः-स्वराष्ट्रशिक्षाम्-गृह्णीयात्। यया-दूरदृष्टिः-भूत्वा-कदा-अपि-न-विषीदति। इति पदयोजना।]

स्वराष्ट्रेति। 'स्वाम्' स्वकीयां, स्वकीयस्य च 'समुन्नतिम्'—'सम्यक्'—सर्वप्रकारिका-'उन्नति'-अभ्युदयः ताम् 'चिकीर्षुः'=कर्तुमिच्छुः 'स्वराष्ट्रशिक्षाम्'—'स्वस्य' =आत्मनः, आत्मीयस्य च 'राष्ट्रम्'=प्रोक्तलक्षणम्। तस्य 'शिक्षा'=सविज्ञानं ज्ञानम्। 'स्वराष्ट्रे' निजराष्ट्रे शिक्षामित्याद्यपि व्याख्येयम्। 'गृह्णीयात्' आददीत। 'यया'=हेतुभूतया शिक्षया 'दूरदृष्टिः'—'दूरे'=सुदूरपर्यन्तं 'दृष्टिः'=ज्ञानं यस्य सः सुदूरपारिणामिकज्ञानवानिति यावत्। 'भूत्वा' सम्पद्य। 'कदाऽपि'=कस्मिन्नपि काले। 'न विषीदति'=न चेखिद्यते। अस्या अयमभिप्रायः—सर्वतोऽप्यादौ शिक्षामेव हि सम्पादयेत्। कुत एतत्? शिक्षामूलान्येव हि सर्वाणि कार्याणीति। अयं समस्ति खलु क्रमो विकास्यमानस्यास्य विकासस्य सर्वस्यापि यथा—अहमस्मीति सर्वदा सर्वोऽपि स्वमनुभवति। किमु खलु कारणमत्र भवेत्? सर्वदैव हि 'अहम्' इति प्रकाशमानत्वमस्त्यहम् इति। प्रकाशमानत्वमात्मनः कुतोऽवगतम्? प्रकाशमानोऽहमस्मीति विमर्शस्वभावत्वात्प्रकाशस्य। अथ किमुद्दिश्यायं प्रकाशमानो विमृशत्यात्मानम्? स्वानन्दाय। अथ कुतोऽवगतमेतत् स्वानन्दायेति? आनन्दरूपत्वादात्मनः, आनन्द एव च पर्यवसानात्समस्तस्य। तदेतदुक्तं श्रीलात्मविलासे प्रस्तुतभाष्यकृतैव यथा—

आनन्द एव पर्यन्तः सापेक्ष सुखदुखयोः ।
स्वाऽनुभूत्या विमृशतां निश्चितं मतमुत्तम् ॥ (आ० २) इति ॥

अत एव खल्वात्मनैव परिपूर्णतया द्वैताऽऽनन्दोपभोगं द्वैतभावमवलम्ब्योपभुङ्क्ते। तत्र जीवरूपमाश्रित्याऽऽत्मानमपूर्णं विभाव्य, विकलोऽहं दुखी, बद्धोऽहं कथं, मे मोक्षो भवेत्, इत्यादि परिचिन्तयति। ततश्च ममुक्षुरपूर्णाऽऽनन्दः पूर्णानन्दमुपादातुं प्रथममिच्छति, तत इच्छाविषयमेव जानाति तत्स्वरूपलक्षणादि। ज्ञातं च तत् स्थूलोपभोगाय तदनुकूला-न्व्यापारानारचयतीति। एवं च स्थूलक्रियाविषयस्य मूलं ज्ञानमेवेति ज्ञानमन्तरेण न किमप्युपपादयितुं शक्यते इति सर्वस्मात्पूर्वं 'ज्ञानम्'=शिक्षैवाऽवश्यिकेति नाऽत्र केऽपि विद्वांसौ विप्रतिपत्तिमनुभवन्ति। एतच्च स्वोपज्ञ आत्मविलासे तद्व्याख्यायां च प्रस्तुत-भाष्यकारः सम्यङ् न्यरूपयदिति तत्रैव परिशीलयन्तु सन्तः। समासतश्च स्वोपज्ञ "श्री महाऽनुभवशक्तिस्तवे' प्रस्तुतभाष्यकारः प्राहैवं। एवं हि क्रमेणाऽनेन विकसिते विश्व-व्यवहारे समस्ते समग्राणामपि कामनानां परिपूरणाय समस्त प्रयत्नमूलसाधनतामधि-ष्ठिता सती शिक्षैव प्रभवतीति सा कीदृशी ग्राह्येति विशदयति—स्वराष्ट्रे ति। जगतीत-लेऽखिलेऽपि स्वां समुन्नतिमेव सर्वोऽपि चिकीर्षतीति प्रत्यहमेव लोकस्याऽनुभवगोचरः। अतएव च भोगबुभुक्षया भोक्तुमिच्छत्यन्योऽन्यं सर्वोऽपि लोकः। जगतो व्यवहार एवैता-दृक्। कः खलु स्वाभाविक स्वरूपात्प्रच्यावयितुं शक्नोति। यथा चोक्तमपि—

अत्तुं वाञ्छति शाम्भवो गणपतेराखुं क्षुधार्तः फणी।
तं च क्रौञ्चरिपोः शिखी गिरिसुतासिंहोऽपि नागाशनम् ॥
इत्थं यत्र परिग्रहस्य घटना शम्भोरपि स्याद गृहे।
तत्राऽन्यस्य कथं न भावि जगतो यस्मात्स्वरूपं हि तत् ॥ इति।

इयमेव भोगबुभुक्षा किलाऽनार्याणामदूरदर्शितया मात्स्यन्यायमुद्भावयन्ती निखिल-मपि भूगग्राममुत्पीडयति। उत्पीडितश्च लोको हि कामपि विप्लवनाशिनीं सुव्यवस्थां प्रार्थयते। सा च सुव्यवस्था न खलु तस्याः शिक्षामन्तरेण सम्प्रतिपत्तुं शक्यत इति तां निरूपयति-स्वराष्ट्रशिक्षामिति। 'स्वाम्'=व्यक्तिरूपस्यात्मनः, व्यक्तिरूपस्याऽऽत्मीयस्य च, समष्टिरूपस्यात्मनः, समष्टिरूपस्यात्मीयस्य च इत्येवंलक्षणा सर्वाऽपि स्वा इत्याख्यायते ताम्। सम्यक् उन्नतिं कर्तुमिच्छुः पुरुषः। अत्र पुंस्त्वमविवक्षितम्। उन्नतिचिकीर्षा हि नाम कृत्स्नोऽपि मनुष्यः स्त्री पुंस साधारणः स्वभाव नैवाऽनुरुणद्धीति। ज्ञानेऽपि च मनुष्यमात्रो-ऽधिकारमर्हतीति च अत्रेदमवगन्तव्यम्—केचित् पुरुषाः खलु स्वभावे नैवाऽऽर्यभावं भजन्ते केचिच्च स्वभावेनैवाऽनार्यभावम्। आर्याः खल्वपीह द्विविधाः। तत्र के तावत् परिपूर्ण-

कामा इति जगतीतलेऽत्र न किमप्याकाङ्क्षन्ते, यद्यपिते कतिपये। अत एव ते सत्पुरुषा जागतिकं स्वार्थं विघटय्याऽपि परार्थं साधयन्त्यनुग्रहाय सर्वेषाम्। अत्रेदं रहस्यम्—तेषां कीदृशोऽपि स्वार्थस्याऽभावेन विघटनं वा घटनं वा स्वार्थस्य परार्थस्य वा नैव सम्भावयितुं शक्यते। किन्तु तथाविधलक्षणेभ्य इतरे तत्कोप्यनुप्रवेशं कलयाऽपि कलयितुं नाऽर्हन्तीति तेषां लोकाऽनुग्रहकारिभावमाकलयन्तः स्वाऽर्थे विघटनेऽपि परार्थे घटकत्वमारोपयन्ति स्वसम्भावितयाऽर्यबुद्ध्या। यथा हि भूदारा विष्ठाममृतं मन्यमानास्तामप्युत्सृज्य गतवतो मानवान् महान्तोऽनुग्राहका हि मे स्वार्थं विघटय्याऽपि परार्थं घटयन्तीति मन्यन्ते इति। अपरे चाऽऽर्या अपरिपूर्णकामा अपि सुशिक्षावन्त इति दूरदर्शिनसन्तो निखिलानामपि कल्याणं कामयमानाः साकमेव स्वकल्याणमपि समीहन्ते। तदनुरूपमेव प्रयतन्ते च। न हीमे स्वार्थं विघटयन्ति नापि परार्थम्। स्वार्थाऽविरोधेनैव हि परार्थमप्येते साधयन्ते। अनार्या अपि द्विविधाः—एके परार्थं विघटय्यापि स्वार्थयेव साधयन्ति। सङ्कुचितस्वान्तवन्तो ह्येते अनधिगतशिक्षा इत्येव दूरदर्शितामनापन्ना बुभुक्षुभावमवलम्ब्य स्वार्थं सर्वदा सिसाधयिषवः प्रायः पशुसमानाः सन्ति। अथाऽपरे पुनरनार्या स्वार्थं विघटय्यापि परार्थविघटकाः कुशिक्षिता अतिबुभुक्षिता अतीव पापिनो भवन्ति। एतदेवाऽऽलोच्य वाक्यपदीयसुभाषितत्रिशतीत्यादिग्रन्थरत्नप्रणेता योगिप्रवरोऽमरपदवीमुपयातो भर्तृहरिरप्याह—

> एके सत्पुरुषाः परार्थ घटकाः स्वार्थं विनिघ्नन्ति ये।
> सामान्यास्तु परार्थसाधनपराः स्वार्थाविरोधेन ये॥
> तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
> ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥

भ० नी० ७५ ॥ इति।

अत्र चतुर्थानामत्यधमानां नामपि न गृहीतं हरिणा। यतः खलु तेषां नामग्रहणमप्यकल्याणा जनयिष्यतीति। अत एव महाकविर्माघः प्राह—

'कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः॥'

शि० व० इति।

एवं च स्वामुन्नति चिकीर्षवोऽपि बहुविधा भवन्तीति समुपपन्नम्। सर्वविधाया अपि समुन्नतेः प्रधानं साधनं शिक्षैवेत्यपि बोधितमनया कारिकया। अत्र समुन्नतिपदमिदमपि बोधयति—यत् उन्नतिरन्या समुन्नतिश्चान्या इति। तस्या भेदाः, तस्याः स्वरूपं, तस्या उद्देशः, तस्या उपयोगः इत्येवमादि सर्वमपि शिक्षणीयम्। कुत एतत्? उच्यते। यतो लोक एतत् चिकीर्षति स्वभावेनैव। चिदाऽऽनन्देच्छाज्ञानक्रियास्वभावो यतो जीव-

लोकोऽयम् । अपूर्णत्वाऽऽनन्दाय जीव इत्यात्मानं लोकते, पूर्णभावाऽऽनन्दाय शिव इति चेत्यादि सविस्तरं श्रीलात्मविलासे तद्व्याख्यायां चावलोकयन्तु सुधियः । अथैवं शिक्षाऽवश्यमुपादेयेत्यवगतम् । सा कथं, कस्मात्, क्व च ग्राह्येति प्रतिपादयति—'स्वराष्ट्रशिक्षाम्' इति 'स्वस्य'=चतुर्विधसम्बन्धेनाऽपि सम्बन्धिन आत्मनः आत्मीयस्य च, व्यष्टेः समष्टेर्वा 'राष्ट्र''=पूर्वोक्तलक्षणम् । तस्य 'शिक्षा'=कर्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्तुं ज्ञानम्, ताम् । एवमपि व्याख्येयम्—'स्वराष्ट्राय' निजराष्ट्रहिताय या भवति तां शिक्षां गृह्णीयात् । अथ साऽपि 'स्वराष्ट्रे'=निजराष्ट्रे शिक्षां गह्णीयात् । अथ च 'स्वराष्ट्रात्'=निजराष्ट्रात् शिक्षां गृह्णीयात् । अयमाशयः—किं नाम राष्ट्रं तत्कैर्हेतुभिः पृथग्गण्यते ? कैश्चैकम्, तत्र स्वत्वे कानि कारणानि, अस्वत्वे च कानि कारणानि कीदृक् च तत्सुखकरं, कीदृक् च दुःखकरं भवति, स्वतन्त्रं किं लक्षणकं, परतन्त्रं च किं लक्षणकं, परतन्त्रं केन कारणेन भवति, स्वतन्त्रं च कथं क्रियते, कानि मित्रराष्ट्राणि, कानि शत्रुराष्ट्राणि कानि वोदासीनानि राष्ट्राणि भवन्ति, तेषां व्यवहाराः, कीदृशाः स्वोन्नत्यै स्वराष्ट्रे किं किमनुष्ठेयं भवति, परःपीडनं कथं वार्यते, आत्मीयाश्च कथमनुगृह्यन्ते, परा आततायिन एव प्रायो भवन्तीति दण्डनार्हा इति ते कथं दण्ड्यन्ते, मित्रभावः कथमुत्पाद्यते, शत्रुता केन हेतुना उत्पद्यते, इत्याद्येवञ्जातीयकं सर्वमपि शिक्षणीयम् । 'स्वराष्ट्रस्य'—शिक्षा इति सम्बन्धसामान्ये षष्ठीमाश्रित्य सर्वमपि संगृह्यते अत्रेदमपि बोध्यम्—

पूर्वं (रा० २, ८, ९, १०) कारिकाभिः अन्वयेन व्यतिरेकेण च राष्ट्रदृष्टिः प्रस्तुता 'यः स्तूयते स विधीयते', इति जैमिनीयमीमांसानीत्या च 'राष्ट्रदृष्टिरवश्यं भावयितव्या' इति प्रतिपादितम् । राष्ट्रदृष्टिः राष्ट्रज्ञानमिति च नार्थान्तरम् । अथ राष्ट्रज्ञानं राष्ट्रशिक्षाग्रहणं चैकेमेवेति पुनरुक्तिदोषो मा भूदिति । 'स्वराष्ट्र शिक्षां गृह्णीयात्' इत्युक्तमत्रेति । इदमप्याकलनीयं भवत्यत्र—स्वसमुन्नतिकामः किल सर्वादौ स्वराष्ट्राय या शिक्षा हिता भवति तां गृह्णीयात् । चतुर्विधसम्बन्धेन सम्बद्धं यद्राष्ट्रं तदेव स्वमिति स्वमेव तदिति च तस्मै या हिता शिक्षा । अथ च साऽपि यावच्छक्यं स्वराष्ट्रात्=स्वराष्ट्रोत्पन्नपुरुषात्, स्वराष्ट्रोत्पन्नपुरुषनिर्मितग्रन्थात्, स्वराष्ट्रसन्निकटसम्बन्धिभाषणव्यवहारात्, स्वराष्ट्रोत्पन्नादादर्शभूतात्पुरुषात् शिक्षां गृह्णीयात् । अथ च यथासम्भवं,—'स्वराष्ट्रे' निजराष्ट्र एव शिक्षां गृह्णीयात्, इति । अनेन चेदमपि ध्वन्यते—यदि नैतत्सम्भवति परतन्त्रे स्वराष्ट्रे स्वराष्ट्रमशक्तमितिसमुन्नतिं च स्वां कर्तुमिच्छत्येव, अनिवार्या हि सा स्वभावत इति, तदा 'स्वराष्ट्रात्' 'स्वराष्ट्रे' च शिक्षां गृह्णीयात् । अयमर्थः—शोभनं यदराष्ट्रं राष्ट्रान्तरम् । शोभनभावाश्चात्र आर्यभावेन स्वतन्त्रभावेन च स्वानुकूलतया च । शोभनस्यापि राष्ट्रान्तरस्य शिक्षायां सर्वादौ न प्रवर्तेत, अस्वाभाविकमहितं च कर्म तदिति, स्वहित एव पूर्वप्रवृत्तिः स्वाभाविकी, पारणामिकसुखजननीति च राष्ट्रान्तरेऽपि यथा निजराष्ट्रस्य हितं सम्पद्येत तथाविधायामेव शिक्षायां प्रवर्तेत । यो हि खलु

स्वराष्ट्रहितमपि न शक्नुते कर्तुं स हि कथं नाम कर्तुं प्रभवेत। परराष्ट्रहितम्। एवं च सर्वेषामपि राष्ट्राणां सर्वविधाऽपि शिक्षा निजराष्ट्रहितोद्देशेनोक्तक्रमेण गृह्णीयात् स्वां समुन्नतिं चिकीर्षुरिति। अथैतेन किं सेत्स्यतीति प्रतिपादयति—दूरेति। 'यया' सम्पादितया स्वराष्ट्रशिक्षया 'दूरदृष्टिः' 'दूरं'=भविष्यत्कालपर्यन्तं 'दृष्टिः'=ज्ञानं यस्य एतादृशो 'भूत्वा'=सम्पद्य। अयमाशयः—एतादृशी स्वराष्ट्र शिक्षा ग्राह्या यां प्राप्य हि भविष्यत्कालिकमनुष्ठेयमप्यवधारयितुं प्रभवेदिति। एतेन भूतभवद्भविष्यत्कालिकवृत्तान्तज्ञानवान्भवेत् पुरुष इत्यपि ध्वनितम्। स्वराष्ट्रविषयकपारिणामिकहिताहितज्ञानवान्भवेत्पुरुष इत्यप्यनेनोपदिश्यते। अथैतस्याऽपि किं फलमिति प्रतिपादयति—'न कदाऽपि' इति। 'कदाऽपि'=कस्मिन्नपि काले चिरेणाऽचिरेणापीति भावः। 'न विषीदति'=अवसादं नाऽऽप्नोति। दूरदृष्टिः किल पुरुषर्षभः पारिणामिकहिताहितज्ञानवानिति तथैवाचरत्यपि कार्याणि यथा विषादावसर एव नाऽऽयास्यति। 'विषीदति' इति 'वर्त्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' (पा० सू० ३।३।३१) इति लट्। अयमाशयः—स्वसमुन्नतिचिकीर्षया किल पुरुषः कृत्स्नोपि सर्वाण्यपि कार्याणि कर्तुं यतते, पारिणामिकहिताहितज्ञानरहितश्च यथायथं कार्यकारणभावं न जानातीति प्रायेण—'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्।' इत्येवञ्जातीयकानि कर्माण्यारभमाणः विपरीतां फलनिष्पत्तिमवलोक्य विषादमेति। दूरदृष्टिः पुनर्विज्ञातपारिणामिक हिताहित इति प्रथममेव प्रतिकूलं वाऽनुकूलं वा फलमनेन कर्मणा भविष्यतीत्यवगच्छतीति विपरीतमपि फलं वीक्ष्य न विषीदति। यत्कारणम्—

स खलु समुपार्ज्जितस्वराष्ट्रशिक्षो दूरदर्शितां समापन्न इति सम्यग्विजानान एवाऽऽस्ते यत् 'कारणविपरीतभाव एव कार्यविपरीत भावः सम्पद्यते' इति। अदूरदृष्टिः पुरुषपामरः पुनः कथमेतत्प्रत्येतुं शक्नुवीत, अत एव दूरदृष्टयः पुरुषर्षभाः प्रतीपफलोत्पादकं व्यापारमेव न प्रारभन्ते प्रथमम्। अथ जातु प्रतिकूलप्रारब्धप्रेरिताः प्रारभमाणा अपि प्रतिकूलफलभावं फलनिष्पत्तावा लक्ष्याऽलक्ष्यापि न विषीदन्ति। यतस्तैः प्रथममेवावगतमासीत्तदिति। एतेनेदमपि बोध्यते यत्—स्वराष्ट्रशिक्षया सार्वकालिकं विषादराहित्यमपि प्राप्यते। हन्त किलैतदतीव कल्याणं सम्पन्नम्। राष्ट्रसमुन्नतिः पुनर्गौणं फलमेतस्याः। सा हि पूनरनुकूलव्यापाररचनामात्रपराधीनेति। अनुकूलप्रतिकूलव्यापारज्ञानस्य च स्वराष्ट्रशिक्षैवैका प्रसवाय कल्पत इति तु स्मृतिपथान्नापसारणीयं भवेत्। यथा हि कश्चित्पुरुषः स्वस्वान्तविरचिताः कामनाः परिपूरयितुं चिन्तामणिमेकमन्वेषयमाणो दिव्यदर्शिना केनापि महात्मनाऽनुगृहीतः सन्ननेकचिन्तामणिप्रभवमाकरमुपलभ्याऽऽनन्दपारावारपारीणतयाऽऽत्मानमतिशयं सौभाग्यवन्तं मन्यते, तथैव स्वसमुन्नतिचिकीर्षया स्वराष्ट्रशिक्षां सम्पादयन्। सा च स्वराष्ट्रशिक्षा समस्तस्यापि जीवलोकस्य कल्याणायैका कल्पते इति तस्याः शक्त्यतिशयमवगम्य तदनुगृहीतो दूरदर्शितामवाप्य सार्वकालिकविषादाभाव-

वत्तां प्राप्नुवानोऽतीव धन्यभावमात्मनो विन्दति। एवम्भूता एव धन्यपुरुषाः कस्मिन्नपि काले प्रायो न विफलभावं लभन्ते समस्तकल्याणगुणगणमण्डितास्ते हि स्वभावेनेति। अतश्च पुनरपि सर्वादौ 'स्वराष्ट्रशिक्षां गृह्णीयात्' इत्येव समर्थितं भवति। अत एव वेदेष्वपि खलु 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति श्रूयते। सर्वविधमपि स्वकीयमध्ययनमध्येतव्यमिति च तदर्थः। यावत्कालं हि कोऽहं किं च ममेति, न सम्यग्विज्ञातं भवेत्तावत्पर्यन्तं खलु न किमपि कर्तुं पार्यते। नित्यकाम्यविधिरयम्—स्वां समुन्नतिं चिकीर्षुः स्वराष्ट्र शिक्षां गृह्णीयादिति। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इतिवत्। स्वसमुन्नतिचिकीर्षा किल नित्यकाम्येति। जैमिनीयमीमांसाशास्त्रमनुशीलयतां नऽपरोक्षमेतत्। सर्वमिदं 'स्वराष्ट्रशिक्षां गृह्णीयात्' (रा० १६) इत्यनया कारिकया संगृहीतम्।॥ १६॥

मानवतायाः पूर्णविकाससाधनम्
(चतस्रो विद्याः)

पण्डितश्री प्रेमवल्लभ त्रिपाठी

इह खलु सर्वासु योनिषु मनुष्ययोनिः सर्वोत्कृष्टत्वेन गण्यते। तत्र हेतुर्नन्वयमेव यत् स्थावरपशुपक्ष्यादिष्वनुपलभ्यमानः परमो ज्ञानविकासो मनुष्यजातावेव[1] दृश्यते। तत्र चेदं कारणं यन्मनुष्येऽधिकाधिकानि प्रमाणानि यथा सन्ति, न तथा पश्वादिषु। पश्वादयो हि प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव तं तं प्रमेयं जानते। मनुष्यस्तु शब्दप्रमाणेन वेदादिना यथावस्थितम् आत्मतत्त्वम्, धर्माधर्मौ, स्वर्गनरकौ, ईश्वरम्, निःश्रेयसं च सम्यक् परिचिनुते। मनुष्यव्यतिरिक्ताः प्राणिनस्तु नेमान् आगमिकान् अर्थान् अवगन्तुं प्रभविष्णवः, न वा तदनुगुणं चेष्टितुं समर्थाः। प्रत्यक्षानुमानापेक्षया शब्दप्रमाणेनातिशयितो ज्ञानविकासः सम्पाद्यते। प्रत्यक्षं हि योग्यान् सन्निहितान् एव अर्थान् गमयितुमीष्टे। साम्प्रतम् इन्द्रियासन्निकृष्टानप्यैन्द्रियकसजातीयान् अर्थान् प्रमापयितुम् अनुमानं प्रगलभते। अत्यन्तासन्निहितास्तु धर्माधर्मपरलोकेश्वरादयो बहवोऽर्था आगमैकसमधिगम्याः। एतदभिप्रेत्यैव श्रीसोमदेवसूरिणोक्तं नीतिवाक्यामृते—

'अलोचनगोचरे ह्यर्थे शास्त्रं तृतीयं लोचनं पुरुषाणाम्।' इति।

(विद्या–समुद्देशः)

अतो यथा चक्षूरूपप्रत्यक्षप्रमाणविधुरः पुरुषो रूपजगद् वेदितुमप्रभवन्नल्पज्ञः सम्पद्यते, तथैव खल्वागमप्रमाणविधुरो नास्तिकोप्यागमिकान् अर्थान् अजानन्, अल्पज्ञ एव सम्पद्यते। अत एवोक्तं सूरिणा सोमदेवेन—

---

१. अत एव श्रीमद्भागवते—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥'

'अनालोकं लोचनमिव, अशास्त्रं मनः कियद् वा पश्येत् ?' इति ।

(नी० वा०, विद्यावृद्धसमु०)

अतो ज्ञानवृद्धावेव मनुष्यस्य गरिमा वर्द्धते । ज्ञानवृद्धिश्च विद्यास्वेवाऽऽयत्ते । विद्याविहीनो नरः, अल्पज्ञः पशुकल्पो वन्ध्यप्रयासो मोघजीवितश्च स्यादित्यत्र न कोऽपि सन्देहः । स च चक्षुष्मानप्यन्ध एव । तदुक्तं नीतिवाक्यामृते—

'अनधीतशास्त्रश्चक्षुष्मानपि पुमानन्ध एव ।' इति (वि० वृ० समुद्देशः)

अत आत्मकल्याणकामिना, उच्चकोटिकमनुष्यभावम् अधिजिगमिषुणा विद्याऽवश्यम् आत्मसात्कार्याः । ताश्च—आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्तादण्डनीतिश्चेति चतस्रः । एता हि तत्तद्विषयकाज्ञानतमोनिवर्हणद्वारा तत्तद्विषयकतत्त्वप्रकाशनेन सर्वलोकोपकारिण्यः । एताश्च शब्दमय्यः । एतासामभावे हि कृत्स्नं जगदिदम् अन्धतमसाच्छन्नं स्यात् । यथोक्तं श्रीदण्डिना—

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ॥ इति ।

सर्वासां विद्यानां प्रभवो वेदः । तैस्तैर्महर्षिभिः साक्षात्कृतानां मन्त्रादीनां समुदाय एव वेदः । तथा च स्मर्यते—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
तपसा लेभिरे पूर्वम् अनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ॥ इति ।

वेदे वीजरूपेण प्रतिपादितानामर्थानां साङ्गोपाङ्गं निरूपणार्थं सर्वा विद्याः प्रवृत्ताः । तासु—

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
विद्याश्चतस्र एवैता लोकसंस्थितिहेतवः ॥

का० नी० ।

इति चतस्रो विद्या लोकसंस्थितिहेतवो गण्यन्ते । विद्याप्रतिवद्धत्वाल्लोकस्थितेः । एताः शाश्वत्यो विद्याः सकललोकाभ्युदयार्थं सर्वज्ञानमयेन परमेश्वरेण लोकसंस्थितिहेतवे विश्वस्मिन्नस्मिन् जगति प्रवर्तिताः । तत्राऽऽन्वीक्षिकी आत्मज्ञानरूपाविद्या मोक्षफला त्रयी धर्माधर्मविवेचनीकर्मविद्यास्वर्गादिफला । वार्ता देहादिभरणपोषणोपायोपदेशिनी जीविकाविद्या जीवनफला । दण्डनीतिः (राजनीतिः)—सकलयोगक्षेमोपयोगिनी पालनविद्याइष्टसम्पादनफलेति परस्परविसदृशफलसिद्धयर्थम् एताश्चतस्रो विद्या अवतीर्णाः ।

तत्र सर्वविद्याविचारहेतुत्वात् प्रधानतमाऽऽन्वीक्षिकी। ततो धर्मस्य प्रधानत्वात् तद्व्यवस्थापनार्थं त्रयी विद्या प्रवर्तते। ततो व्यवस्थापितधर्मस्य लोकस्य जीवनहेतुर्वार्ता विद्या प्रवर्तते। तासु च प्रवर्तमानासु तद्विघ्ननिवारणार्थं दण्डनीतिः प्रवर्तते—इत्येवं चतस्रो विद्या यथाक्रमं व्यवस्थिताः। तत्र धर्मार्थयोर्द्वयोः कर्मणां प्रवर्तनार्थं त्रयीवार्ते। प्रवृत्तानां निष्पन्नानां च रक्षणार्थं दण्डनीतिः (राजनीतिः)। आन्वीक्षिकी पुनरात्मतत्त्व-प्रकाशनेन व्याप्रियमाणाऽत्यन्तोपयोगिनी।

तत्र मनुष्याणां जीवनलक्ष्यनिर्धारणार्थम्, तदुपायप्रदर्शनार्थम्, आत्मानात्मविवेच-नार्थम्, आन्वीक्षिकी विद्या प्रवर्तते। आन्वीक्षिकी-निर्धारितस्य जीवनलक्ष्यस्य प्राप्तौ, अव्यभिचारिणां मोक्षधर्मान्तानां धर्माणां ज्ञापनार्थं तदनुष्ठानप्रवृत्त्यर्थं च त्रयीविद्या (कर्म-विद्या) प्रवर्तते। ततस्तादृशधर्मानुष्ठानौपयिकसाधनसम्पत्तिसम्पादनोपायज्ञापनार्थं च वार्ता विद्या (जीविका विद्या) प्रवर्तते। तत आसां विद्यानां योगक्षेमार्थम्, एतद्विद्यानु-गुणजीवनयात्रा निर्वहणस्य सामाजिकस्याऽऽन्तरवाह्यशत्रुभ्यः संरक्षणपूर्वकं संवर्धनार्थं च दण्डनीतिविद्या प्रवर्तते। इत्थं चतस्रोऽपि विद्याः क्रमशो[1] लोकस्थितिहेतुतां भजन्ते।

तत्र सर्वप्रथमम् आत्मज्ञानस्य सर्वमूलस्य, सर्वैरपेक्षितत्वात् सर्ववर्णाधिकृताऽऽन्वी-क्षिकी सर्वासु विद्यासु प्राथम्यं भजते। आन्वीक्षिकीज्ञानसम्पन्नेन तेषु तेष्वधिकारेषु तस्या-स्तस्या विद्यायाः प्रचारणीयत्वात् त्रयी विद्या द्वितीयां कोटिमाटीकते। आत्मज्ञानसम्पन्नस्य त्रयीनिष्ठस्य च अधिकर्तव्ययोः केवलैहिकफलयोर्वार्दण्डनीतिविद्ययोर्मध्ये, ऐहिकतत्त दिष्ट-साधनबोधिका वार्ता तृतीयस्थानं लभते। अनिष्टनिवारणेनेष्टसाधनशेषभूता च दण्ड-नीतिश्चतुर्थकोटौ निविशते। अथवा आन्वीक्षिकीवत् तस्याः सर्वसाधनत्वात् सर्वान्ते निवेशः। तथा चान्वीक्षिकी-दण्डनीति-गुप्ते एव त्रयीवार्ते वर्धेते इति त्रयीवार्तापोषकत्वाद् आन्वीक्षिकी-दण्डनीत्योराद्यन्तयोर्निवेश औचितीं लभते।

सुरक्षितेन, इष्टसाधनसम्पन्नेन, निःश्रेयसपर्यवसायिधर्मान् अनुतिष्ठता च परि-शुद्धस्वस्वरूपाविर्भावरूपं निःश्रेयसं प्राप्तुं शक्यते, नान्यथेत्यविगीतम्।

(क) **आन्वीक्षिकी**—ईक्षा = आत्मानात्मपरमात्मादिस्वरूपगुणादिज्ञानम्। श्रवणाद् अनु + ईक्षा = अन्वीक्षा। अन्वीक्षायै हिता—आन्वीक्षिकी। अथवा, प्रत्यक्षा-गमाभ्याम् ईक्षितस्य, पश्चादीक्षणम् अन्वीक्षा। सा प्रयोजनं यस्याः साऽऽन्वीक्षिकी।

यया विद्यया ब्रह्मादितत्त्वानां विषये श्रवणानुसारेण मननम्—अर्थाद् युक्तिभिः साङ्गोपाङ्गविवेचनं कृत्वा निर्धारणं साध्यते, सा विद्याऽऽन्वीक्षिकीति निगद्यते। अनया

---

१. अत एव कविकुलगुरुभिः—
'विद्याः समग्रैः स्व गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुर्णवोपमाः।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः॥

विद्यया हि पृथिवीत आरभ्य, परब्रह्मान्तानां—स्थूल-सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतमानां पदार्थ-तत्त्वानां याथातथ्येन निरूपणं क्रियते, यज्जन्यनिर्णयः सर्वस्यापि कायिक-वाचिक-मानस-व्यापारस्य मूलतां भजते। इयमेव ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, अध्यात्मविद्या, परा विद्या, परमा विद्या—इत्यादिनामभिर्व्यवह्रियते। इयं खलु सर्वास्वभ्यर्हिता। अत एव भगवता गीयते—

'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्।' इति।

इयमेव च सर्वासां विद्यानां मूलभित्तिः[1]। अत एव हि श्रूयते मुण्डकोपनिषदि—

'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्।' इति।

सर्वविद्याप्रतिष्ठाभूता, आत्मतत्त्वविषयिणी विद्याऽऽन्वीक्षिकी। अनया विद्यया कृत्स्नपदार्थे यथावत् विज्ञाते सति, तदन्तरं तादृशं तत्त्वज्ञानम् उपघ्नीकृत्यैव सदाचार-शास्त्रं मानवनीतिशास्त्रम् सामाजिकशास्त्रम्, ऐहिकामुष्मिकफलपर्यवसायि त्रिवर्ग-शास्त्रम्, अपवर्गपर्यवसायि मोक्षधर्मशास्त्रं च प्रवर्तते। यदि किमपि शास्त्रं तत्त्वज्ञानम् अनुपघ्नीकृत्य प्रवर्तेत, तर्हि नैव फलाय कल्पेत तच्छास्त्रमवलम्ब्य प्रवर्तमानः पुरुषः—शुक्तिरजतज्ञानमवलम्ब्य प्रवर्तमान इव—निष्फल-प्रवृत्तिरेव स्यात्।

सर्वविधसफलप्रवृत्तिमूलं तत्पदार्थतत्त्वज्ञानम् आन्वीक्षिक्यामेवाऽऽयतते। तत्त्व-मिति प्रामाणिकोऽर्थो निगद्यते। तत् तत्त्वं तत्त्वं ब्रह्म, परमात्मा सर्वेश्वरो भगवान् नारा-यणः। अतः सर्वा अपि विद्या आत्मज्ञानानुकूला जीवात्मनां कायिकवाचिकमानसिकाध्या-त्मिकोन्नतीनां साधनभूताः। तत्र सर्वविद्याविचारहेतुत्वात् प्रधानतमाऽऽन्वीक्षिकी। अत एव भगवता मनुनोपश्लोक्यते—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥ इति।

मनु० १२।८५

शास्त्रप्रतिपादिता मनुष्याणां प्रयत्नसाध्याः कायिकवाचिकमानसव्यापाररूपा धर्मांश्च सर्वेऽप्यान्वीक्षिक्यामेवाऽऽयतन्ते। यस्याश्च मूलं वैदिकं ब्रह्मकाण्डम्।

आन्वीक्षिक्या हि प्राधान्येन सन्देहविपर्ययशून्यम्, यथावस्थिततात्मयाथात्म्यविष-यकं निश्चयात्मकं ज्ञानमुत्पाद्यते। अस्मिन्नात्मज्ञाने च मनुष्यमात्रस्याधिकारः। अत एव

---

१. अत एव दार्शनिकशिरोमणयः श्रीगोकुलनाथोपाध्याया आहुः—
'याम् उपजीवन्ति निज-निज-निःश्रेयससाधनाय इतरास्त्रयीवार्तादण्डनीतया-स्तिस्त्रो विद्याः साऽऽन्वीक्षिकी।' इति। (अमृतोदय—अं०)।

श्रीमद्भागवत आत्मज्ञानं नरमात्रसाधारणधर्मेषु परिगणितम्—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥'
....।
'नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः॥' इति। (७-११। ८-११)

अत्र 'आत्मविमर्शनम्' इत्यस्य देहातिरिक्तात्मानुसन्धानम्, इत्यर्थः। ईदृशात्मज्ञानशून्यो मनुष्यः पशुकल्पः। अत एव महर्षय आम्रेडयन्ति—

अधीत्य चतुरो वेदान् व्याकृत्याष्टादश स्मृतीः।
अहो श्रमस्य वैकल्यम् आत्मापि कलितो न चेत्॥ इत्यादि।

आत्मज्ञानमेव मानुष्यकविकासस्य निदानभूतम्। आत्मज्ञानरूपा च ब्रह्मविद्या। अत एव यथा प्रत्यक्षप्रतिपन्ने बाह्यजगति लोकः सर्वोऽपि दृढविश्वासो वर्तते, तथेदृश आत्मन्यपि विषये लोकस्य सुदृढेन भयङ्करापदुपनिपातेऽप्यणुमात्रमप्यप्रकम्पमानेन हार्दविश्वाससंवलितेन निश्चयात्मकेन ज्ञानेन सर्वोऽपि मनुष्यो गाढान्वितो यया स्याद्—ईदृशेनाऽऽत्मज्ञानेन, अपायेभ्यः पापेभ्यो विरमन्, ऐहिकेष्वामुष्मिकेषु च प्रियहितसाधनेषु निर्विशङ्कं प्रवर्तमानः, स्वकीयं कर्मफलं स्वेनैव भोक्तव्यम्—इति दृढविश्वासवान्, अत एव परापकाराद् बिभ्यत् सर्वस्वव्ययेनापि परोपकारे सोल्लासं प्रवर्तमानः, सौजन्यनिधिः, कामक्रोधादिपाशवदोषदवीयान्, आत्मकल्याणप्रसितः, सर्वभूहितेरतश्च यथा स्याद्—एतदर्थम् इयमान्वीक्षिकी विद्या मनुष्यमात्राधिकर्तव्यत्वेन व्यवस्थापिता दीर्घेक्षणैर्महर्षिभिः। यतो हि आत्मयाथात्म्यज्ञानं विना शोकमोहादेर्निवृत्तिर्न संभवति। अनया च विद्यया मानवानां जीवनम् आत्मयाथात्म्यानुभवप्रचुरं भवति। आन्वीक्षिकीसिद्धसुदृढात्मज्ञानसम्पन्नान् एवाधिकृत्य, त्रय्यादयस्तिस्रो विद्याः प्रवर्तन्ते।

तत्र गुरुम् उपसृत्य उपनिषत्प्रभृतीनामध्यात्मग्रन्थानाम् अध्ययनेन श्रवणेन च अवगतानाम्—"कोऽहम्? किमहं देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्धिभ्यो विलक्षणो न वा? किमहम् अणुर्विभुर्वा? किमिदं जगत्? इदं च जडं चेतनं वा? किमिदं जगत् सत्यं मिथ्या वा? इदं जगद् उत्पन्नं, नित्यं वा? प्रलयमेष्यति न वा? किमस्य जगत उपादानोपकरणसम्प्रदान प्रयोजनाभिज्ञः कश्चित् कर्ताऽस्ति न वा? यदि स्यात् तर्हि तेन सह जगतो जीवानां च कः सम्बन्धः? स च जगत्कर्ता किं जीवानामुन्नतेः साधको बाधको वा? जीवस्यायं संसारः कुत आयातः? किमयं स्वाभाविक औपाधिको वा? औपाधिकत्वे च किं सुनिरसः दुर्निरसो वा? सुनिरसत्वे निराससाधनानि कानि? तेषां साधनानां के

विघ्नाः ? के च तन्निवारणोपायाः ? साधनैः संसारे निवर्तिते जीवस्य सिद्धयन्, आकारः किं स्वाभाविक औपाधिको वा ? स्वाभाविकत्वे च संसारे तस्य कुतो न विकासः ? औपाधिकत्वे च कथं नित्यता ? साधकेन संसारे स्थितिकाले किं स्वधर्मा अनुष्ठेया न वा ? किं ते देहात्मभ्रमभूलका उत देहादिसम्बन्धनिबंधानाः ? सर्वोच्चामपवर्गरूपाम् आध्यात्मिकीम् उन्नतिम् उपेयुषः किं तत आवृत्तिर्भवति न वा ?"—इत्येवमादीनां प्रश्नानाम् उत्तरकोटौ निर्धार्यमाणानाम्, अप्रकम्प्यानां सत्यानामर्थानाम् असंभावनाविपरीतसंभावनापनोदनपूर्वकम् अपनोदनौपयिकतया युक्तिभिरिदमित्थमेवेति हृदि दृढं प्रतिष्ठापनार्थं प्रवृत्ताऽध्यात्मविद्या—आन्वीक्षिकीति संशब्द्यते। तदुक्तं श्रीमाधवाचार्यैः पञ्चदश्यां, विद्या-तल्लाभोपायविवेचन प्रसङ्गे—

आत्माभाषस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनः।
इति बोधो भवेद् विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात्॥
सदा विचारयेत् तस्माज्जगज्जीवपरात्मनः।
जीवभावजगद्भाववाधे स्वात्मैव शिष्यते॥

चित्रदीपप्रकरणम्-११, १२

इत्थम् आन्वीक्षिकी विद्यानिर्णीतात्मादिप्रमेयतत्त्व एव पुरुषः सर्वाणि कार्याणि—स्वानि कर्माणि, यथावद् विदित्वा सम्यग् अनुष्ठातुं प्रभवति। देशकालाधिकार्यादिभेदेनावस्थितान् धर्मान् यथावन्निर्धार्य, देशकालपात्रेषु प्रचारयितुं प्रभवति, सर्वासां विद्यानां च हृदयं वेदितुं प्रगल्भते। अत एव विद्यानां स्वरूप-बलाबलविवेचन प्रसङ्गे महर्षिणा कौटल्येनार्थशास्त्र आन्वीक्षिक्युपश्लोक्यते—

प्रदीपः सर्वविद्यानाम् उपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥ इति।

(ख) आन्वीक्षिकी लोकसंस्थितिहेतुः—मनुष्यस्य प्रकृतौ पर्यालोच्यमानाम् इदं विज्ञायते, यन्मनुष्यः समाजसेवनरसिकः प्राणीदति। मनुष्यो ह्यात्मानं समाजेऽन्तर्भाव्यैव स्वंसुखिनं प्रत्येति। समाजाद् वहिष्ठो मनुष्य आत्मानमेकाकिनं दुर्बलमसहायं च प्रतिपद्यमान उत्साहाद्धीयते, आपद्भ्यश्चाऽऽत्मानं परित्रातुमसमर्थं स्वमवैति। अतो हि स समाजमध्ये स्थितावेव स्वं सुखिनं सहायवन्तं चानुभवति। अतएवाऽऽभाष्यते —

पञ्चभिः सह गन्तव्यं स्थातव्यं पञ्चभिः सह।
पञ्चभिः सह वक्तव्यं न दुःखं पञ्चभिः सह॥ इति।

पञ्चभिः सह म्रियमाणो हि न मरणादुद्विजते, किन्तु वयं सर्वेऽपि म्रियामहे—इति मत्वा सोत्साहं मरणमालिङ्गितुं बद्धपरिकरः सम्पद्यते। न केवलं मनुष्यः समाजसेवनरसिकः, किन्त्वनामिषभुजः सर्वेऽपि प्राणिनः समाजसेवनरसिका एव भवन्ति। अत एव हि गावो महिषा हरिणा हस्तिनोऽश्वाश्च स्वसजातीयर्यैर्मिलित्वैव चरन्ति, छायायां सह निषीदन्ति, रोमन्थं वर्तयन्ति, जलाशये पानीयं पिबन्ति, सम्भूयैव गोष्ठादिकम् आसीदन्ति। किं बहुना, आरण्या अनामिषभुजो गवादयश्च प्राणिनः सम्भूयैव सञ्चरन्ति, शेरते च।

ये खलु मांसाहारिणः सिंहव्याघ्रभल्लूकमार्जारश्वप्रभृतयः प्राणिनः सन्ति, न त एवं सजातीयैः संभूय जीवन्ति, किन्तु गुहासु बिलेषु वा एकाकित्वेनावस्थाने, अहिंसकप्राणिमारणार्थम् एकाकितया सञ्चरण एव रुचिं बिभ्रति।

प्रकृत्या हिंसोपयोगितीक्ष्णदंष्ट्रानखरादिविधुरतया, आमिषपाचकतीव्रपित्तशून्यजठरतया च सृष्टोऽयं मनुष्यः, अहिंसकशाकाहार प्राणिकोटिनिविष्टोऽनामिषभुक्प्राणीसामान्यानुवृत्तं समाजसेवनव्यसनं यदि रोचयेत् नात्रास्वाभाविकं किञ्चित् संलक्ष्यते।

तथा च समाजसेवनव्यसनिना मनुष्येण तदैव सुखिना भूयेत, यदाऽयं परस्याऽऽपदं नोत्पादयेत्, परे च मनुष्या अस्याऽऽपदं नोत्पादयेयुः, एनं न हिंस्युर्न च दूनयेयुः। मनुष्यमात्रे परो न हिंसनीयः परस्याऽऽपन्नोत्पादनीया, परस्य प्रतिकूलं च किमपि न चेष्टनीयम्, स्वार्थवशेनापि परस्यापकारो न करणीयः, यावच्छक्ति परस्य सहर्षम् उपकार एव करणीयः—इत्येते सद्भावा यावन्न वरीवृद्धयेरन्, तावन्न मनुष्येण सुखिना निर्भयेन च भवितुं शक्येत।

यावच्चैकैको मनुष्य इमान् सद्भावान् मरणपर्यन्तास्वापत्सूपस्थितास्वप्यात्मसात् कुर्वीत, तदैव मनुष्यसमाजः, तत्स्थ एकैकोऽपि मनुष्योऽवरतो मनुष्यकृतविपत्तिविधुरः परिचितनानामनुष्यकृतविविधोपकारभाजनं सुखशान्तिभ्यां संवलितं मधुरं जीवनम् अतिवाहयन् विजयेत।

एते हि सद्भावा मनुष्येषु तदैव वृद्धिम् आसीदेयुर्यदा ते प्रतीयुः—"अहम् अजरोऽमरः, शरीरे म्रियमाणेऽपि नाहं म्रिये। पूर्वजन्मकृतानि पुण्यपापकर्माणि मयाऽस्मिञ्जन्मनि, परलोके, उत्तरजन्मस्वपि वाऽवश्यं भोक्तव्यान्येव। साधुकर्मसु कृतेषु सुखभोगोऽवश्यम्भावी, असाधुकर्मसु कृतेषु दुःखभोगश्चावश्यम्भावी। अनुपकारिणे मया सश्रद्धं क्रियमाण उपकारोऽस्मिञ्जन्मनि, अनन्तरजन्मन्यपि वा प्रभूतं सुखं प्रसुवीत। प्रमादेनापि कृतः परस्यापकारो न निष्फलो भविष्यति, तस्य कटुफलं मयाऽवश्यं भोक्तव्यमेव भविष्यति।" इति।

इदं देहाद्यतिरिक्तस्य नित्यस्य कर्मफलभोक्तुः **आत्मनो ज्ञानमेव** धर्माधर्मप्रवृत्तिनिवृत्त्योर्निदानतां भजते। यतो हि देहात्मवादी न पारलौकिकाय धर्माय चेष्टेत, नापि

पारलौकिकदुःखानुभवहेतोः पापान्निवर्तेत। अत एवोक्तं श्रीसोमदेवसूरिणा, नीतिवाक्यामृते—

'असत्यात्मनः प्रेत्यभावे विदुषां विफलं खलु सर्वमनुष्ठानम्।' इति।

आ० समु०

एतदभिप्रेत्यैव भगवता मनुना उक्तम्—

'न ह्यनध्यातमवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते।' इति।

मनु० ६।८२

अत आत्मनो नित्यत्वात् कृतं शुभाशुभं कर्म कदापि मोघं न भवति। अस्मिञ्जन्मान्यदत्तफलमपि तद् अग्रिमजन्मन्यवश्यं फलं दद्यादेवेति देहाद्यतिरिक्तात्मसद्भावज्ञाननिबन्धनेयं कर्मफलावश्यंभावधारणैव, अनुष्ठानकाले फलापर्यसायिष्वपि, जन्मान्तरादौ फलदानहेतुभूतेषु सुकृतेषु पुरुषं प्रवर्तयति, तथा जन्मान्तरदुःखोदर्केभ्योऽपि पापेभ्यो निवर्तयति।

किं बहुना, एतादृशमात्मज्ञानमेव मनुष्यस्य मानवतां विकासयति, मनुष्यं च सच्चरित्रसम्पन्नम् आत्मगुणोपपन्नं सर्वभूतहिते रतं धार्मिक आसादयति। यथा—

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाऽविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥
परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥

मनुस्मृतिः १२।५–७

इति मनुनोपलक्षणविधया परिगणितेभ्यः कायिकवाचिकमानसेभ्योदशविधेभ्यः पापेभ्यो निवर्तयति। अतो भारतीयस्याऽऽर्यजीवनस्याऽऽधारशिलाभूतम् इदमात्मतत्त्वज्ञानम् उपघ्नीकृत्यैव सर्वाणि विधिनिषेधशास्त्राणि प्रवर्तन्ते। तदेवम् आन्वीक्षिकी विद्या—

अतः कायमिमं विद्वान् अविद्याकामकर्मभिः।
आरब्ध इति नैवास्मिन् प्रतिबुद्धोऽनुषज्जते॥
असंसक्तः शरीरेऽस्मिन्नमुनोत्पादिते गृहे।
अपत्ये द्रविणे वापि कः कुर्यान्ममतां बुधः॥

य एवं सन्तमात्मानमात्मस्थं वेद पूरुषः ।
नाज्यते प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः स मयि स्थितः ॥
एकः शुद्धः स्वयञ्ज्योतिर्निर्गुणोऽसौ गुणाश्रयः ।
सर्वगोऽनावृतः साक्षी निरात्माऽऽत्माऽऽत्मनः परः ॥
परित्यक्तगुणः सम्यग्दर्शनो विशदाशयः ।
शान्ति मे समवस्थानं ब्रह्मकैवल्यमश्नुते ॥'

श्रीमद्भागवते४। २०।५--१०

इत्याद्युक्तदिशा, आत्मानं नित्यम्, कर्मफलानाम् अवश्यभोगतां चोपदिशन्त मनुष्यमेकैकमपि परहितप्रवणं, परापकारदविष्ठं चातन्वाना—समाजे वर्तमानम् एकैकमपि मनुष्यं स्वतः परतश्च जायमानैर्विविधैर्व्यापारैर्निरन्तरसम्पद्यमानसुखसन्ततिमग्नम्, परापकारहेतुकदुःखगन्धविधुरं च सम्पादयन्ती लोकस्य सुस्थितौ महान्तमुपकारं चरीकर्ति।

(ग) आन्वीक्षिकी शोकमोहापनोदननिदानम्—आन्वीक्षिकी विद्या जीवानां तेषु तेषु वस्तुषु स्वामित्वं कर्मनिबन्धनमुपदिशन्ती यावत्कर्मफलानुभवं तेषुः वस्तुषु स्वाम्यानुवर्तनं प्रतिपादयन्ती, कर्मणि दत्तफले सम्पन्ने जीवानां तेभ्यो वस्तुभ्यस्वाम्यनिवृत्तिम्, स्वतः सर्वात्मना कर्मफलानुभवार्थं तानि वस्तूनि जीवस्वाम्येऽवस्थापितवता, कर्मावसाने तेषां ग्रहणं स्वैरम् अन्यत्र नयनं चोपदिशन्ती मनुष्यस्येमां शिक्षां वितरति, यया सः—'इमानि वस्तूनि न स्वतो मदीयानि, किन्तु सर्वस्वामिना परमात्मना कर्मफलानुभवार्थं कञ्चित्कालं मदधीनानि कृतानि, कर्मफले भोजिते च तेनेश्वरेण तानि गृहीतानि'[1]—इति प्रतिपद्यमानः परमप्रियाणां पत्नीपुत्रादीनां वियोगे, भोग्यवस्तूनां विनाशे च न शोचति। किन्तु भगवद्भजनविघ्नभूतानि, ममास्मिन् संसारे निबद्धय स्थापने साधनभूतानि च, इमानि वस्तूनि हरता परमेश्वरेण महदुपकृतोऽस्मीति बुध्यमानो हृष्यति। परमात्मविभूतिभूतेषु सांसारिकेषु वस्तुषु ममत्वबुद्धिम्, आसक्तिं चाकुर्वाणः, तेषूपस्थितेष्वपि न विक्रियते, न च तेषु स्वकीयत्व मोहं भजते, अपि तु पद्मपत्रे सलिलवत्, अनासक्त एव सर्वं सांसारिकं स्वोचितं कर्म निर्वहन् सदा हृष्यमना एव वर्तते। सर्वस्य वस्तुनो भगवद्रूपतां प्रतिपद्यमानो यादृशतादृशपरिस्थितादुपस्थिताया

---

१. अत एव श्रीमद्भागवते, प्रह्लादः—
'त्वयैव दत्तं पदमैन्द्रमूर्जितं हृतं तदेवाद्य तथैव शोभनम्।
मन्ये महान् अस्य कृतो ह्यनुग्रहो विभ्रंशितोयच्छ्रिय आत्ममोहनात् ॥'
८।२२।२८

मपि सः सदा सम्प्रीतमानसो वर्तते । अत एवोक्तं कामन्दकेन—

> आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्याद् ईक्षणात् सुखदुःखयोः ।
> ईक्षमाणस्तया तत्त्वं हर्षशोकौ व्युदस्यति ॥ इति ।

नीतिसारः २

महाभारतेऽपि—

> विषमावस्थिते दैवे पौरुषेऽफलतां गते ।
> विषादयन्ति नात्मानं सत्त्वोपाश्रयिणो नराः ॥ इति ।

इदं सर्वमभिप्रेत्यैव श्रीमद्भागवते श्रीशुकाचार्यैरुपदिष्टम् आत्मतत्त्व-विवेचन-प्रसङ्गे—

> असङ्कल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
> अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तावावमर्शनात् ।
> **आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ** दम्भं महदुपाश्रयात् ॥' इत्यादि ।

तदित्थम् इयमान्वीक्षिकी शोकमोहयोरपनोदने प्रधानहेतुतां प्रतिपद्यत इति सिद्धम् ।

किञ्च, ईश्वरे द्रढीयान् विश्वासः, ऐश्वरदण्डाद् भयम्, पुण्यपापविवेकः, स्वर्ग-नरकविश्वासः, कर्मफलावश्यम्भावे निष्ठा, आत्मनः पुनर्जन्मग्रहणेऽप्रकम्प्यो विश्रम्भश्चानयाऽऽन्वीक्षिक्या विद्ययैव, अहरहं परिपोषमासादयन्ति । अपि च, मनुष्याणां बुद्धौ सुप्रकाशं संभरन्ती, तद्गतम् अज्ञानान्धकारं चेयमेव दूरीकरोति । लोके सर्वत्र प्रवर्तमानानाम् अन्याय-पपाचार-भ्रष्टाचार-स्वार्थपरायणताप्रभृतीनाम्, प्रज्ञापराधरूपाणां दोषाणां समूलम् उन्मूलने, राष्ट्राद् एषां दोषाणां दूरीकरणे चेयमाध्यात्मिकी विद्यैव प्रभवति । अस्यामेव हीदृशी शक्तिर्निहिता वर्तते । अज्ञाननिवन्धनान् सर्वान् दोषानपि इयमेव निवर्हयितुमीष्टे । किं च—मानवमात्र एकात्मकतायाः, सर्वत्र बन्धुत्वभावस्य चोदयाऽभ्युदयावान्वीक्षिकीकृतप्रकाशेनैव सम्पादयितुं शक्यन्ते । आत्मविद्यैव मानवानां सर्वेषु प्राणिषु भगवद्भावं शिक्षयन्ती, तेषां सर्वत्र भगवद्भावभावनां च वर्द्धयन्ती तत्फलरूपेण तेषां हृदयात् स्पर्धाऽसूयातिरस्काराऽहङ्कारादिदोषान् अपुनरुदयम् उन्मूलयति । तदुक्तं श्रीमद्भागवते स्वयंभगवता—

> 'जनेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् ।
> स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि ॥ इति ।

तदित्थम् आन्वीक्षिकी[1] विद्या मानवानाम् आत्मविषयकम् अज्ञानम् अपसार्य, आत्मतत्त्वप्रकाशनेन मानवान् सर्वोच्चेतल्लक्ष्ये स्वाराज्यपदे प्रतिष्ठापयति। तथा चाहुः पञ्चदशीकाराः—

'संसारः परमार्थोऽयं संलग्नः स्वात्मवस्तुनि।
इति भ्रान्तिरविद्या स्याद् विद्ययैषा निवर्त्यते॥' इति।

चित्रदीप प्रक० १०

अतएव एतस्या लोकोत्तरं महिमानं संस्मरद्भिर्दार्शनिकशिरोमणिभिः श्रीगोकुलनाथोपाध्यायैरप्युक्तम्—

"तावदेव पुरुषो विधिनियोगवशंवदो यावदेताम् आन्वीक्षिकीं नोपास्ते"—

अपवर्गः पुमर्थानां प्रमाणं तत्त्वसम्पदाम्।
आन्वीक्षिकी च विद्यानां चतुर्वर्गशिरोमणिः॥ इति।

त्रयी

ईदृशम् आत्मज्ञानसम्पन्नमेवाधिकृत्य त्रयी विद्या प्रवर्तते। त्रयी धर्मविद्या। तया हि धर्माधर्मविवेकः, आत्मप्राप्त्युपायभूतसदाचारनिष्ठा, स्वधर्मानुष्ठानप्रावण्यं च सम्पाद्यते। इयं हि—

---

१. यद्यपि साम्प्रतिका बहवो विद्वांस आक्षपादं न्यायविस्तरमेव आन्वीक्षिकीं प्रतिपद्यन्ते, तथापि नाऽऽन्वीक्षिकी न्यायशास्त्रम्। शास्त्रेषु हि बहुत्र कार्यवाचिशब्दस्य कारणे प्रयोग उपलभ्यते। यथोपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यावाची तत्कारणे ग्रन्थे प्रयुज्यते, यथावाऽद्वैतसिद्धिशब्दोऽद्वैतनिश्चयवाची तत्कारणे ग्रन्थे प्रयुक्तः। यथा वा 'आयुर्वै घृतम्' इति वेदे आयुर्वाचक आयुः शब्दस्तत्साधनीभूते घृते प्रयुक्तः। एवं बहून्युदाहरणानि लोके वेदे च बहुलम् उपलभ्यन्ते। अनयैवरीत्या आन्वीक्षिकीशब्द अनु-ईक्षणपरः—श्रोतव्यो मन्तव्य इति श्रवणानन्तरमननवाच्यध्यात्मविद्यापरः। तादृशविद्योपकारके न्यायशास्त्रेऽपि (कारणेऽपि) कार्यवाचिशब्दस्य प्रयोगो द्रष्टव्यः। नैतावताऽऽन्वीक्षिकीशब्दस्य मुख्योऽर्थः—न्यायशास्त्रम्, अपि त्वध्यात्मविद्यैवेतिध्येयम्। एवं त्रयीवार्ता-दण्डनीतिशब्दानामप्यर्थाः—कर्मकाण्डविद्या-जीविकाविद्या-पालनविद्य इत्यवधेयम्। यतः सर्वत्र तद्धेतौ तद्भावोत्प्रेक्षया कार्यकारणभावयोर्विद्या-विद्यास्थानयोरभेदेन निर्देशो वर्तत इति दिक्।

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणं च त्रयीदं सर्वमुच्यते ।। का० नी०

इत्याद्युक्तदिशा, चतुर्दशविद्यास्थानरूप-त्रयी[1]-प्रोक्तत्वात् 'त्रयी' इत्युच्यते । त्रय्या हि सत्यभाषणादयो मनुष्यमात्रधर्माः चतुर्वर्णाश्रमधर्माः, अन्यान्ये च मानवानाम् ऐहिकामुष्मिक-फलपर्यवसायिनो, तत्तत्कर्मणाम् अनुष्ठानप्रकाराश्च बोध्यन्ते । अत उक्तं कामन्दकेन—

'धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ' । इति । त्रयीतः खलु सर्वेषां धर्माधर्मव्यवस्था । अत एव शुक्रनीतौ—

'उभौ लोकाववाप्नोति त्रय्यां तिष्ठन् यथाविधि ।' इति ।

त्रय्याः प्रभावेण हि सर्वेऽपि मानवाः स्वस्वकर्तव्येषु, निजनिजव्यवहारेऽधिक्रियन्ते, नान्यधर्ममनुतिष्ठन्ति । स्वधर्मातिक्रमे हि लोकः सङ्करादुविच्छद्यन्ते । अतस्त्रयी विद्या कर्मसङ्करदोषान्निवार्य, सर्वेषां स्वधर्मसंस्थापनात् सर्वकल्याणकारिणी । एतां विना हि धर्माधर्मज्ञानाभावाद् यथेच्छं चेष्टमाना लोका विनश्येरन् । अत एव एतस्या उपकारम् आम्रेडयन्त्यर्थशास्त्रकाराऽमहर्षयः—

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ।।इति ।

कौटलीय अर्थ०

वार्ता

व्यवस्थापितधर्मस्य लोकस्य जीवनहेतुर्वार्ता । अतः आत्मज्ञानवतः स्वधर्मनिष्ठान् च मानवान् अधिकृत्य वार्ता विद्या प्रवर्तते । वार्ता हि लोकानां जीवनोपायविषयिणी जीविका विद्या । अत एव वार्तेत्युच्यते—वृत्त्यै हिता वार्ता । अथवा (लोकानाम्) वृत्तिरस्ति अस्याम् इति वार्ता । इयं हि भूमि-धन-धान्य-पशु-सुवर्ण-रजत-रत्नाखिल-जीवनोपयोगिवस्तूनामधिगमसंरक्षण-वृद्धयुपायप्रबोधिनी—प्राणिनां भरणपोषणाद्युपायव्यवस्थाविषयिणी विद्या । अनया विद्यया सम्पन्नो नरः वृत्तिहीनो न भवति, न च सीदति । अत उक्तम्—

---

१. अत एव नीतिवाक्यामृते—
'चत्वारो वेदाः, शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिरितिषडङ्गानि—इतिहासपुराण-मीमांसा-न्याय-धर्मशास्त्रमिति चतुर्दशविद्यास्थानानि त्रयी ।' इति ।
त्रयी समुद्देशः

'सम्पन्नो वार्तया साधुर्नवृत्तेर्भयमृच्छति ।' इति ।

इत्थं वार्ता विद्या प्राणिनां जीवनहेतुत्वाद् लोकसंस्थितिहेतुः । एषैव सर्वेषां जीवन-दात्री । अत एतस्या उपकारातिशयं संस्मरन् मार्कण्डेयो महर्षिः जगज्जननीरूपेणैनां संस्तौति—

'वार्तासि सर्वजगतां परमार्तिहन्त्री ।' इति ।

दण्डनीति

आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तासु प्रवर्तमानासु तद्विघ्ननिवारणार्थं दण्डनीतिः प्रवर्तते । त्रयीवार्ताभ्यां प्रवृत्तानां धर्मार्थयोः कर्मणां संरक्षणाय दण्डनीति विद्याऽवतीर्णा । अत एव महाभारते—

उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च ।
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता ।। शा० पर्व० ५८-७९
दण्डनीतिः स्वधर्मेषु चातुर्वर्ण्यं नियच्छति ।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यग् अधर्मेभ्यो नियच्छति ।। इति । ६९-३

इयं हि धर्मसेतूनां संगोपनेन मुख्यतया लोकस्य सुस्थितिहेतुः । धर्मसेतूनां गोपनं, च त्रेधा भवति—स्वयमाचरणेन, तच्छिक्षणेन, तद्विरोधिशासनेन च । अत एवमेयं विद्या दण्डेन सहैवावतीर्णा । अत इयं दण्डेन सहिता सती सर्वं जगदिदं पुरुषार्थफलाय नयति । दण्डेन तन्नयनाच्चेयं दण्डनीतिरित्युच्यते । दण्डेन सहिता नीति दण्डनीतिः । इयं हि पालनविद्या । पालनं कथं भवति ? प्रजानाम् इष्टसम्पादनात् । इष्टसम्पादनं कथं भवति? दुष्टनिग्रहात् । अत एव दुष्टनिग्रहार्थम् एषा दण्डेन सह प्रवर्तते । यतो हि 'आन्वीक्षिकी-त्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः । अतो दण्डेन नीयते पुरुषार्थफलायेदं जगद् यथा सा दण्डनीतिः । अथवा—'दण्डेन सहिता नीतिर्दण्डनीतिः ।' इति दण्डनीतिशब्दव्युत्पत्तिरपि साभिप्राया ।

तदुक्तं महाभारते—

'दण्डेन सहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका ।' इति ।
शा० प० ५८।८०

इयमेव च राजनीतिः । इयमेव प्राधान्येन प्रजानां योगक्षेमविधायिनी । अत एवो-क्तम्—

'तयाऽऽत्मानं च शेषाश्च विद्याः पायान्महीपतिः ।' इति ।

इयं च दण्डनीत्यां नयानयौ' इत्याद्युक्तदिशा नयाऽपनयज्ञानद्वारा पालनप्रकार-मुपदिशन्त्यहर्निशं जगद्रक्षणाय जागर्ति। अस्यामेवाऽऽयत्ता सर्वा लोकयात्रा। अत एवोक्तं कौटल्येन महर्षिणा—

'तस्माल्लोकयात्रार्थी नित्यमुद्यतदण्डः स्यात्।'
'चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वेश्मसु॥' इति।

अर्थशास्त्रम्

एवम्, इमाश्चतस्रो विद्या लोकसंस्थितिहेतवो गण्यन्ते। अत एवेमाश्चतस्रो विद्याः सामान्यतो विशेषतश्च, साक्षात् परम्परया वा सर्वैरपि मानवैरुपादेयाः। यत एताः स्वस्व-तत्त्वज्ञानद्वारा स्वस्वसमीहितफले पर्यवस्यन्ति। एता हि प्रातिस्विकं तत्त्वं 'प्रज्ञापयन्त्यः, प्रातिस्विके निःश्रयसे पर्यवस्यन्तीत्यवश्यम् उपादेयतां गाहन्ते।

तथा हि—आन्वीक्षिकीसाध्यं तत्त्वज्ञानम्—आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्ति-दोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गरूपाणां प्रमेयानां तत्त्वज्ञानम्, तत्साध्यनिःश्रेयसाधिगमश्चाप-वर्गप्राप्तिः। त्रयीसाध्यं तत्त्वज्ञानम्—अग्निहोत्रादिकर्मसाधनानां न्यायार्जितद्रव्यसाधता-परिज्ञानम्, अनुपहतत्वादिपरिज्ञानम्, तत्तत्कर्मणां स्वरूपफलज्ञानम्, तत्तकर्मनुष्ठान-प्रकारज्ञानम्, कर्मणां चावश्यानुष्ठेयताज्ञानम्। तत्साध्यो निःश्रेयसाधिगमश्च स्वर्गाद्यभ्यु-दयप्राप्तिः। वार्तासाध्यं तत्त्वज्ञानं च—भूम्यादिपरिज्ञानम्—भूमिः कण्टकाद्यनुपहते-त्यादितत्त्वज्ञानम्, तत्साध्यं फलं च कृष्यादेरधिगम इति। एवमेव दण्डनीतिसाध्यं तत्त्वज्ञानं नन्विदमेव—यत् सामदानभेद दण्डानां यथादेशं यथाकालं यथाशक्ति च विनियोगवेदनम्। तत्फलं च प्रजापालनम्, राष्ट्रसंरक्षणम्, पृथिवीजयश्चेत्यादि।

तदित्थम् इमाश्चतस्रो विद्याः स्व-स्व-व्युत्पाद्य-तत्त्वज्ञानद्वारा तस्मिंस्तस्मिन् प्राति-स्विके निःश्रेयसे विश्राम्यन्तीति सिद्धम्। अत एव यथा एव यथा यथा चैताश्चतस्रो विद्या वर्धेरन्, प्रचुरं च प्रचार्येरन्, यथायथा च लोक इमा विद्या अनुसरन्, उन्नयेत्, तथा तथा मानवतायाः पूर्णो विकासो भारतवर्षस्य, चातीतोज्ज्वलमयसुस्थितिप्राप्तिर्जगद्गुरुत्वं च सम्पद्येरन्।

साम्यवादस्य शास्त्रीयसमीक्षा

पण्डितश्री कालिकाप्रसाद शुक्लः

जगतीलेतऽस्मिन् सर्गादारम्याद्या यावद अनेके 'वादाः' प्रवहन्तो नयनतिथयोभवन्ति। वादानां श्वविविधतया न केवलं सामान्या जना एव प्रभाविताः सन्ति, प्रत्युत तत्त्व-दर्शिनो वीतरागा महामुनयो गौतमकपिलकणादादयोऽपीति तेषां तेषां शास्त्राणां पर्यालोचनया स्फुटीभवति। महर्षिपादानां वादा लौकिकजनयोग्यतां समनुसृत्य लोकहितं समुद्दिश्य च तत्त्वनिर्णयाय प्रादुर्भवन्ति "वादे वादे जायते तत्त्वबोधः', साधारणजनानान्तु स्वार्थायेत्यदन्यदेतत्।

सम्प्रत्यपि सत्स्वनेकेषु प्राचीनतमेषु शास्त्रीय वादेषु केचन नवा अपि वादाः समुद्भूता सन्तीति नाविदतपरं प्रेक्षावताम्। तेषु सर्वेष्वपि वादेषु 'साम्यवादः नृपायते-ऽधुना अन्यवादाभिनिवेशा अपि स्वस्ववादेऽश्रद्दधाना साम्यवादमेवाद्रियन्ते बलात् कर्णधारैर्निरुद्धा अपि किमप्पपूर्वफलं भूरि भूरि विलोकयन्तः।

'साम्यवादे' ताटस्थ्यमवलम्वमानेन मया "स्वरूपव्याक्रियैव पराक्रिया" इति-न्यायमनुसरता राजनीतिनियमे परमनैपुण्यमावहता भगवता श्रीकृष्णेन गीतायां साम्य वादस्य तत्स्वरूपमङ्गीकृतं यत्स्वरूपमद्यत्वे प्राणपणेनापि रक्षितुं जनाः प्रयतन्ते। अस्मिन् लघुशरीरे लेखे तदेवप्रतिपिपादयिषितमस्ति। अद्य किल साम्यवादं परां कोटिं जयन्तो जनाः, "सर्वत्रः, सर्वव्यवहारेषु साम्यं भवतु" इति कामयन्ते, प्रयतन्ते चापि तथा विधा-तुम्। तेषां साम्यवादस्य स्वरूपं सर्वैरवगम्यत एवेति तत्स्वरूपनिरूपणेऽमूल्यकालो न याप्यते, परन्तु विश्वविभूतेर्भगवतो विषमायामस्यां सृष्टौ सर्वत्र समताविधानं न केवलं दुष्करं प्रत्युतासंभवद् आकाशकुसुमायितमस्ति। आवश्यकताऽपि नैवं वाञ्छति। आकृतौ, स्वभावे, वृद्धौ वले, शरीरे, कर्मादौ च सर्वे पदार्था नितरांतांस्तान् भेदानावहन्तः सन्ति, ये भेदाः कदापि निवारणीया न भविष्यन्ति प्रयत्नकोटिभिरपि। अथ च ते भेदाः कामं काम्यमाना अपि सन्ति; यतोहि निवारितेषु तेषु भेदेषु सृष्टेरुद्देश्यसिद्धिर्भविष्यति। अत एवाद्यनोऽङ्कुरितोऽपि साम्यवादो विहितानेकप्रयत्नोऽपि न सम्यक् फलति; न च फलिष्यती इति दृढं विश्वसन्ति शास्त्रकलितामलशेमुषीका विबुधनिवहाः।

सर्वतोभावेन निष्कलङ्कस्त्रैहिकामुष्मिकफलसमर्पणसमर्थस्य प्राणिजातै सततं स्पृहणीयस्य समादरणीयत्वेनाङ्गीकृतस्य साम्यवादस्य विकासः प्रातःस्मरणीयानाममलान्तःकरणानां भारतीयमहर्षिपादानामुर्वरप्रज्ञाभूमेर्हृदयङ्गममक्षयफलमस्ति । यस्य निरूपणं शास्त्रेषु तेषुतेषु प्रसङ्गेषु भूरि भूरि समुपलभ्यते। भागवते तु भगवता जीवन्मुक्तत्वमेव साम्यं वस्तुत ऐक्यम्, इदमेव भगवतः स्वरूपमस्ति । अस्मिन् साम्ये शास्त्रीयमर्यादां समतीतस्य समुचितशृङ्खला विरहितस्यः जीवनस्य मनागप्यवकाशो नास्ति; यतो हीदं परास्तिकम् रसमय, निखिलानि गुणत्रयमूलकानि तापत्रयादिवेदनानिविदूरे कुर्वद् मुक्तये कल्पते; अथवा किंतेन साक्षान्मुक्तिरेवेति । अस्या दशायाः प्राप्तिरेव 'ब्राह्मी' स्थितिः, इमां दशां समनुप्राप्तो विद्वान् 'स्थितप्रज्ञः', 'गुणातीत', 'ज्ञानी', 'भक्तः', 'जीवन्मुक्तः' इत्यादिभिरनेकैः समानार्थकैर्शब्दैर्व्यवह्रियते। अयञ्च साम्यवादोन न केवलं कल्पना विषयतामधिरोहति, अपि तु त्वाचारविषयतामपि ।' अस्याचरणं सर्वैरेवकर्तव्यं भवति, इदमेव साम्यं परमात्मा । यैर्विगतकल्मषैर्निर्मलान्तःकरणैरिदं साम्यं सर्वतोभावेन समधिगतं तैर्निखिलं विश्वं विजित्य ब्रह्मैव प्राप्तम्—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।। ५ । १९

यत्रैतादृशं समत्वं भवति तत्रैव न्यायो निवसति, न्याय एव सत्यम्, सत्यञ्च भगवतः स्वरूपम्—"सत्यं ज्ञानमानन्द ब्रह्म"तिश्रुतेः यत्र च भगवान् वर्तते तत्र कामादीनां षण्णामन्तर्दोषाणामभावात् सद्गुणाः समुत्पद्यन्ते; यतो ह्यनुकूलतया रागादिदोषाः समुद्भवन्ति, प्रतिकूलतया च द्वेषादयः; समत्वे चैतेषामभावेन यस्यापि दोषस्योभद्वितुंस्थानं नास्ति। अस्यैव साम्यस्य तत्त्वं बुबोधयिषुर्योगासनासीनो भगवान्गीतायाम् आह—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।। ६।९
विद्याविनय संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।। ५।१८
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। ६।३२
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।। १२।१८
समदुःख सुखस्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियोधीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।। १४।२८

एवं सर्वेषु तेषुतेषु पदार्थेषु समानां दृस्टिमावहन्तो व्यवहारे भेदं प्रदर्शयन्तोऽपि ये समवुह यो भवन्ति, समष्टि रूपे जगत्यात्मभावं पश्यन्ति, त एवं समताकलितमानसाः शास्त्रतत्त्वविदो वस्तुतः साम्यवादिन सन्ति।

ईदृशं साम्यमाभ्यन्तरभावेन सम्वद्धमस्ति। अत्र सर्वत्र साम्यप्रदर्शकेषु वचनेषु समदर्शनं प्रतिपादितमस्ति, नतु समवर्तनम्। इदं समत्वं वाह्यव्यवहारेषु सर्वथा समानं न सम्भवति। वाह्येषु व्यवहारेषु तु दाम्भिकाः शास्त्रनिन्दका अपि साम्यं प्रदर्शयितुं स्वाङ्गंकुर्वन्ति। अस्य साम्यस्य रहस्यं तथा निगूढमस्ति, यत् क्रियायां व्यवहारे च यथायोग्यं भेदे सुरक्षितेऽपि वस्तुतत्त्वेन साम्यस्य काचन त्रुटि र्न भवति। प्रत्युत् देशतः कालतो जातिश्च पदार्थानां भेदेन तत्रतत्र तु वाह्येषु व्यवहारेषु वैषम्यं सुसङ्कृतं न्याय्यं परमावाश्यकञ्च परिगण्यते, नेदं वैषम्यं सत्यं साम्यं विलुम्पति। विपन्नसम्पन्न-देशयोर्विपन्नै एव सहायतामर्हति न सम्पन्नः, क्रियते च साहाय्यं तस्यैव, परन्त्विदं वैषम्यं न दोषाय कल्पते प्रत्युत हितायैव। यदि विपन्नो देशः; इमे यवना न सेवनीया आङ्गलाश्च, केवलं हिन्दव एव सेवनीया इति भेदबुद्ध्या सेवितो भवेत् तदा तद् वैषम्यं सर्वथा दूपितमस्ति। विपन्नायां दशायां देशकालजात्यादीनां भेदं परित्यज्य सर्वे समान-भावेन सेवनीयाः। ममतया; आसक्त्या स्वार्थेन च कृतोभेदो देशकालजात्यादिषु भेदो भवति स च भेदो महात्मानो न स्पृशति।

इत्थं कालभेदेनापि व्यवहारे वैषम्यं भवति। दिवालोक व्यवहरन्ति नक्तं स्वपन्ति; उषसि संध्यावन्दनादिसमुचितं कर्म कुर्वन्ति। दुर्भिक्षेऽन्नं प्रदीयते; ग्रीष्मे जलदानं परमावश्यकम् न शीत काले; एवं तत्तदार्तवं वस्तु तत्तदृतौ प्रदीयते नान्यदृतौ। इदञ्च वैषम्यं व्यवहारे न केवलं युक्तियुक्तम्, अपि तु सर्वथाऽऽवश्यकं भवति। गोब्राह्मण-हस्तिप्रभृतीनां पानाशनव्यवहाराः सर्वथा परस्परं भिन्ना भवन्ति। कोऽपि विचारशील एतेषां प्राणिनां व्यवहारे समताप्रतिपादनस्य साहसं कदापि न विदध्यात्। पशुमनुष्य-योर्वार्ता दूरे तिष्ठतु। पशूनामपि व्यवहारो नहि परस्परं समतामाकलयति। वाहनाय हस्तिन एवोपयुज्यन्ते, न श्वानः, दुग्धस्य प्रश्नं गाव एव समादधानि, न शुन्यः।

ये किल समदर्शनं समवर्तनं साधयितुं साहसं विदधतो सर्वव्यवहारेषु भेदराहित्यं वाञ्छन्ति, ते वस्तुतोरहस्यमस्य न जानन्तीति प्रतिपादयतो मम मनो मनागपि न व्यथते। अयं किल भेदः प्रकृतिहितो वर्तते, यः प्रयत्नशतेनापि समुन्मूलयितुमशक्यः। बाढम्; विपन्नायां दशायामिमे सर्वेऽपि प्राणिनः सर्वथा तथैव रक्षणीया यथा 'आत्मा' जनै रक्ष्यते। एवमात्मापि सर्वेषु तथैव वर्त्तते यथा स्वदेहे।

अनयैव रीत्या अश्मलोष्टकाञ्चनापि व्यवहारकृतस्तु भेदो भवत्येव। लोष्टानि यत्नतो नहि रक्षणीयानि भवन्ति काञ्चनानि तथा भवन्ति। क्रयसाधनं काञ्चनमेव भवति, न लोष्टादीनि। मूल्येऽप्येतेषां महान् भेदः। इदंत्ववश्यमेवावधारणीयं

यल्लोष्टादिषु हृदयतो विद्वांसस्तु नैव भेदं मन्यन्ते । यथा स्वविपन्निवारणाय द्रव्यं धूलिर्मन्यन्ते पण्डितैः, न्याय्यस्थले परेषामपि विपन्नानां प्राणिनां दुःखनिवारणाय तथैवाचरणीयम् । एवं प्रयत्नतः संगृहीतस्य धनस्य समुपस्थिते साधुसमये सन्मार्गे व्ययोऽप्यर्जनजन्यदोषं दहत्येव । इदमेव तात्पर्यं 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' इत्यस्य पदस्यास्ति। एनं शास्त्रानुमोदितं व्यवहार वैषम्यं सर्वतोभावेन समुचितमावश्यकञ्चास्ति। एतस्यानौचित्यप्रतिपादनमेवानुचितम् । अवश्यमेवानेन भेदेनात्मानि न कश्चनापि भेदो भवति; न च भेदः स्वीक्रियते, यथा भगवती गीता प्रतिपादति—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मानि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।। ६।२९

श्रुतिरपि—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतन्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।। ई० ६-७

ये किलैवं व्यवहारे शास्त्रमर्यादामनुसृत्य भगवत्प्रीत्यर्थमथवालोकसंग्रहार्थं ममतां स्वार्थञ्च परित्यज्य न्याय्यं वैषम्यमाकलयन्तोऽपि सर्वेषु पदार्थेषु शुद्धं ब्रह्म पश्यन्तो मानापमान-जयपराजय-शत्रुमित्र-निन्दास्तुति-सुखदुःख प्रभृतिद्वन्द्वेषु सर्वदा समान भावेन वर्तन्ते, त एव समीचीनाः साम्यवादिनः सन्ति। त एवः श्रेय समधिगच्छन्ति ।

अधुनातनः साम्यवाद ईश्वरविमुखः, गीतोक्त साम्यवादश्च सर्वत्रेश्वरं पश्यति । स धर्मनाशकः, अयं च पदे पदे धर्मं पुष्णाति । स हिंसामयः, अयंत्त्वहिंसाप्रतिपादकः । सः स्वार्थ मूलकः अयं न तथा । स पानासनस्पर्शादौ ऐक्यमापादयन्नाप्यान्तरेण भेदमेव रक्षति, अयञ्च शास्त्र मर्यादामनुसृत्य समुचितं भेदं विदधदपि वस्तुतो भेदं न रक्षति तथा सर्वत्र समभावेनात्मदर्शनं शिक्षयति । स केवलं धनमेव लक्ष्यं मन्यते, अस्य लक्ष्मीश्वर-प्राप्तिरेव । यस्मिन् स्वस्थ दलस्याभिमानो वर्ततेऽन्यस्य दलस्यानादरः, अस्मिन्नैव तथा, यतोहि सर्वत्रेश्वरस्य सत्तां मत्वा सर्वस्य सम्माननं कर्तव्यम् ब्रह्मातिरिक्तंकिञ्चिद्वस्त्वेव नास्ति। आधुनिके साम्यवादे बाह्यव्यवहारस्य प्राधान्यमस्ति; अयं त्वाभ्यन्तरस्य । तस्मिन् भौतिकसुखस्य प्राधान्यम्, अत्र तु त्वाध्यात्मिकसुखस्य । तस्मिन् परधने परमते चासहिष्णुता, अस्मिन् तु सर्वेषामादरः । तस्मिन् रागद्वेषौ स्तः, अत्र तौ न स्तः । अतः परमकल्याणमभिलषतां विदुषां मार्गमनुसरतां प्राणिनामिदमेव सर्वप्रथमं कर्तव्यं यद् गीतोक्तसाम्यवाद एव सर्वथा ध्येयो गेय आचरितव्यश्चेति ।।

नयतत्वस्यानुपमेयता

पण्डितश्री विश्वनाथशास्त्री दातारः

नमः श्रीनयशास्त्राय न्यायशास्त्रस्य सूनवे ।
सर्वेषां हितसन्धात्रे रामचाणक्यसाक्षिणे ।।

प्रमाणत्रयसंप्रेतं शाश्वतम् अनुपमेयं किन्नियतत्त्वं नयत्यन्तःकरणे रणे वा कञ्चिद-मन्दमानन्दसन्दोहम् । यस्य साक्षिणौ चन्द्रदिवाकराविव रामचाणक्यावास्ताम् । शब्दस्य साधुत्वं व्याकरणेन निर्णीतं यत्र यत्र ततस्ततो विभिन्नाः सर्वेऽपि शब्दा असाधव इत्यत्र नास्ति केषामपि विप्रतिपत्तिः । तन्न्यायेनाव्यभिचरिता सर्वेषां सुखानुभवेऽबाधिका सावधिका फलवती नीतिरेकैव तद्विपरीता या कापि निरवधिका नीतिर्भवतु, सर्वा अपि पर्यन्ते अशुद्धा एवेति नीतिशास्त्रमर्यादा । परन्तु—

नीतितत्त्वं हि कुटिलैरनुष्ठेयं नान्यैरिति हि सर्वत्र प्रचारसन्दर्शनेन दैवदुर्विलसितेन नीतिशब्दः तस्मिन्नर्थे संकेतितः, यन्नाम श्रुत्वैव केचन तथा बिभ्यति, यथाऽखण्डगुरुकुल-वासाय कृतसंकल्पः सीमन्तिनीपदाम् । किमुत ते नीतिसाहचर्यमनुभूय तथा न भवेयुः ? एतेषामेव बाहुल्येन क्वचिदपि विश्रान्तिमनासादयन्ती सर्वेषां हितसन्धात्र्यपि सा नीती रामविष्णुगुप्तसदृशान् सुन्दरवरान् वरानप्राप्याद्य तथाविधां व्यवस्थां जगाम, यस्या अविकलतनया नया धरातले दुरधिगमा बभूवुः । सर्वत्र मूढताऽमूढेव प्रसृता प्रतिज्ञातजातं निर्वोढुमक्षमा आत्मनोऽकलङ्कित्वमाख्यायमाना ख्यापयत्यन्यानेव कांश्चित् धुरीणान् समीरणानिव पांसुमयान् । ज्योतिष्मत्यपि तिमिरमेवालिङ्गयन्ती, आत्मसमवेतं तेजोभू-यिष्ठत्वं विसस्मार । परस्परं मित्रभावेनालंभयन्ति प्रमाणानि त्रीण्यपि सौहार्दभावं परि-त्यजन्ति धन्यत्वेन मन्यन्ते । सूत्रबद्धापि जीवनयात्रा विशृङ्खलितेव स्खालयन्ती, असत्व-मनुभवन्त्यास्ते । केचन परोक्षरसिका अदृश्ये, अपरे परस्मिन्नविश्वसूतादृष्ट एव चसौष्ठव मन्यन्ते । तथापि नीतितत्वस्यानामसात्कृतेनात्मसात्कृतमपि परीक्षम्—"अदृष्टमात्म-नस्तत्वं यो वेद न स मुह्यति ।" इति—

सत्यपि वस्तुतत्वे पुरोहितमपि दृष्टितिरोहितं लोकेष्वास्ते । यत्र तरुणा अरुणा-यन्ते । सरसा अपि नीरसा भवन्ति, संमुखा अपि मुख्यतां नालङ्कुर्वन्ति, परोक्षप्रमाणाद् शब्दजालाद् झंझावातादिव नेत्राणि तेऽवमीलयन्ति अविगीतैर्विगीताद् वेषभूषादित इमे-

ऽदृष्टादपसरन्ति। वहु भद्रकं मे लुप्येत, 'वरमद्य कपोतः श्वो मयूरात्' वत् कामसुखालेशो-प्यदृष्टादपकृते क्लेश विशीर्ण इति च मत्वाऽमी परोक्षमुपेक्षन्ते। सन्देहोपि दोहद इव प्रति-निमेषं निर्विशेष-मेषां हृदि वर्धमानः चिरं जयति। एवमत्यन्तं चिन्तातुरत्वेन तनिमानं भजतेऽदृष्टस्य परोक्षस्य वा परम्परा।

तामसहमाना दृष्टपरम्परापि खण्डिताङ्गिका सर्वत्र सर्वान् लुण्ठयन्तीव परि-भ्रान्ता नाद्यावधि निःशङ्कं स्थैर्यं प्राप्ता। संभवेदेवमपि यत् निष्फलतामनुभूयमाना साऽति-दुस्तरे भग्नेव शोचन्ती वा वेपमाना गहने विपिने विलीना विहङ्गमैरप्यनाश्वासितपदा मानस्याभासमारोहन्ती नलिनीषु विलीना वा भवेत् इति। अहो पुनरस्या अभिनवं माहा-त्म्यं यद् देशतः कालतः धीतः क्रियातो वा परिच्छिद्य कूपमण्डूकप्लुतिं कुर्वाणैः मर्यादया स्थितैस्तथाप्यधिगतसार्वज्ञयबुद्धिभिः स्वाङ्के संलालितेयं विना रणेनापि स्वर्गसरणिम् उद्घाटयन्ती कान् कान् वसुन्धरायां निवसन्तो मानवान् नवान् प्रापयितुमीहते इति।

अतोऽत्र परस्परविमुखं दृष्टमदृष्टमुभयमपि भयमासादयत परमेशितुरन्ते वलितुर-प्यन्तेवासित्वमुत्पादयति। अतिरमणीयम् अपि मणिसदृशं नीतितत्त्वं निर्वचनीयमप्यनिर्व-चनीयतत्परोक्षवृत्ति वभूव। तस्या वैकल्येन च शक्तिरपि ह्रसमाना समानतामात्र एव पर्यवसन्ना ऽवसन्ना दरीषु निकुञ्जकुञ्जषु। विकलता चेयं मानससदनेषु मनागमनीभाव-मापन्नस्य नयतरोर्नीतिलताया वा न्यायरसेनापरिवेचनादादातता। तन्नीरसतया च यात-यामतादिदोषेण दोषाकर इव शास्त्ररत्नाकरः समभूत्।

'सत्योपि हि न सत्यस्ता दण्डनीतिस्तु विप्लवे।'

इति पद्यमपि सद्यो दर्शयत्याविकलं निरवद्यसाफल्यम्।

नीतिरीतिमननुसरन्ती वाक्यातुरीगौरवेण सर्वान् विलासलास्यं यथेष्टमनुभाव-यिष्यामः इति वाणी रसालमय्या रसनया रसिकान् आकर्णयन्ती पर्यन्तेऽनवगतफलतयो-पहसनीयतां प्राप्ता।

एते चान्ये च बहवः शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः।
स बन्धुराष्ट्रराजानो विनेशुरजितेन्द्रियाः॥

इति पद्यस्य पुनरावृत्तिं विदधती नारदभावमङ्कुरयित्वा सर्वान् कापालिकव्रतं ग्राहयन्ती वर्तते।

नीरक्षीरविवेकं कर्तुं परिचिततरा विद्यास्तु।
विमल इव आदित्यस्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वम्॥ इति।

सार्थक्यं विदधानाः ग्राहकाभावेन गुरुपदप्रीतिभाजौ जितमारान् कुमारानप्राप्य च कस्मिन् दुर्गे शेरते इति न प्रतीयते। विनयहेतोर्नयस्य विद्याभिः परिषिञ्चितानां प्रफुल्ल-पत्रपुष्पाङ्कुरफलानां कृते धर्मविजये नाटके सूचिताति पुराणश्रवणादीन्यपि घोषादिष्वे-वोद्घुष्य विश्राम्यन्ति। विद्यास्वृद्धा जीर्णमङ्गे सुभाषितमिति स्मरन्तः स्वस्थान एव स्थिताः मतिभावं संक्रमयितुमसमुद्युक्ता अपि खिन्नमतयो यतय इव यतन्ते वैराग्यरस-मेवास्वादयितुम्।

नीतिमतीषु चतसृषु विद्यास्वन्तर्गूढस्य तत्त्वस्य निगूहनेन प्रसृतं मोहराज्यं लोक-यात्रानिबन्धिनीं चिरन्तनसुखविलाससाधिकां लोकाराधिकाम् अजातशत्रुभावं भावयन्ती ललितामिव लालयित्री वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थां खण्डयितुं सन्नद्धसन्नाहम् इव धावमान मास्ते। लोकशास्त्रोभयमतं प्रयुञ्जानो नय एव नापनयति रञ्जितयो राजप्रजयो रागम्, अपितु महतोऽकर्मणोऽशुद्धान्नरकभागिन इति तेन नयेन रागस्तयोरनुरागरूपतां भजते। उपेक्षिते च तस्मिन्नये प्रणीतो दण्डः खाण्डं खाण्डं स्वमेव विस्तारयितुं प्रभुर्भूत्वा महतोऽ-यशसो निष्कारणमेव कारणं भवति। नयनयोर्नयस्यपनयनेन शीलं शिलाङ्कुर शरीरात्म-भावं परिमितिप्रमातृभावं चासाद्यार्थदृष्टौ दृष्टिमभिलक्ष्य रुद्रभावं भजमानं तदनुगुणयोः षड्जर्षभस्वरयोः सत्तायामेव विचिन्तयदास्ते। कोकिलकूजितादपि रंजिका शुकादिवीणा-नादभूषिता वाणी गवेषणेपि श्रुतिपथात् परिभ्रष्टा यथेष्टं विहरति। हा हन्त! राज्यं भोज्यम् अहं च भोक्तेत्युदितेन भावेन वेनसदृशेन दृश्येन दुःखबहलेन सह सकेलष्वात्म-भावोपरमाद दयापि हृदयादयात्। भृत्यं विपन्नं त्यक्षयन्ति स्वामिनः तेपि च तथाविधं स्वामिनम्। तथाविधां वधूं पतिस्तं च तथाविधा वधूः इत्यभिधाय भागवतेषूपवर्णितम् वर्णिष्वपि समापतितं सत्कृत्य दानधाराप्रवाहोपरमस्यअविश्रम्य प्रवर्तनाद् इति पथि विनिवेशितात्मनो मित्रमपि गच्छति साधु शत्रुताम्, इति दुःखनिवहाक्रोशः कोणे कोणे श्रूयते रटचमानः।

किञ्च, अच्युतस्वभावापि नीतिर्नयशीलान् धुरीणान् विना प्रच्चाव्याच्चात्मनः संपूर्णत्वं नानुमनुत इत्यहो विलक्षणे ऽपरिचितचरो नीतिमहिमा हिमालय इवाप्रकम्प्यो न कथमपि कम्पितुं योग्यः। यतो हि नीतिशास्त्रं तत्रैव विरमति यत्र गुणलुब्धा विपत्ति-रनुक्ता समेव नीतिमन्तं कोविदं रामं नलमिव यावन्न वृणुयात्। वीर पुरुषोपीदं तत्त्व-मभिमन्यमानो विपत्तिपाणिग्रहेपि स्वसुखनिभृतचेतास्तदेव सुखमनुभवति, यद् गुणलु-ब्धाया मृगनयनायाः समादरेण भवेत्।

'मानसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः।'

इदमेव तस्य सत्त्वं यद् व्यसने ऽभ्युदये विकृतेर्विकृतिकरम्। अत्रैव बलम् आरोग्यं शीलं साहचर्येण चरति। चरन्ति च तत्र सुमनसां पार्श्वयोरवतिष्ठमानानां मनांसि रोल-

म्वावलिस्तदावलिः, एवं सत्त्वगुणसंपन्नं मन्त्रिपदे तत्तदध्यक्षपदे ऽधिष्ठापयितुं शासकं प्रेरयति। परन्तु नयशास्त्रस्य दुर्नयेन वसन्तसमये प्राप्तेऽपिकाकपिकयोर्व्यावृत्तिनिर्वर्तितायां संस्कृतिर्न कृतिषु वर्तते, तर्हि पुरोभागित्वभाक्त्वं कुतो नानुभूयेत। श्रीस्तु—

'स्वल्पेनाप्युपचारेण ब्राह्मण्यमिव दुष्यति।'

आशामात्रमवलम्ब्यस्थितोत्साहशक्तिः 'हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार' इति गतिं समागता वर्तते।

चैतन्याधिष्ठितासु प्रकृतिषु विकृतौ नयस्यापचारेण समापतितायाम् अचेतनावलम्बिनी प्रकृतिषु मूकतैवादरहेतुरवशिष्यते। धैर्यस्य विप्लुतौ दक्षता भद्रता दार्ढ्यं आपत्क्लेशसहिष्णुता सन्तोषः शीलमुत्साहश्चेत्यष्टावनुजीवित्वस्यालङ्कृतिसाधनानि निधनतामनुभवन्ति। द्रव्यप्रकृतेर्हीनोऽहीनो वा स्वामी न सेव्यगुणैरन्वित इति स्वाम्यनुजीविनौ परस्परमनुजीविभावं विस्मरन्तौ स्मरन्ति सततं शासनसाहाय्यम्। आहार्यं च प्रेमस्वरूपं स्वरूपहानिं साधयद् दोषस्य व्याप्तिं प्रसारयति। सर्वेपि प्रायश एकस्वभावाः यशसोऽप यशसो वा विविक्तेन स्वरूपेणापरिचिताः कण्टकान् शोधयितुमीहन्ते, परन्तु आत्मन्येव सुगुप्तान् कण्टकान् न विजानन्ति। कण्टको यद्यपि कण्टकेन निर्ह्रियते, तथापि देशेषु समरसतां गतो दोष आत्मभात्रं परित्यज्य स्वीकृतिपथमारूढः कण्टकत्वादतिरिच्यते। अनीतिपरिणतिर्दुरपनेयैव भवति। प्रच्छन्नानि पापानि तथाच्छन्नानि यत्संस्कारवशाद् आजन्मत एव तत्संस्कारेण संस्कृताः कुमारा—

राजपुत्रा मन्दोन्मत्ता गजा इव निरङ्कुशाः।
सिंहशावा इव घ्नन्ति रक्षितारमसंशयम्॥

काष्ठम् इव घुणजग्धमविनीतकुमारं राजकुलमभियुक्तमात्रं भज्येतेति निरुक्ताम् अवस्थामुत्पाद्य सर्वेषां जागरणे हेतवो भवन्ति।

आहारेष्वथ योनौ च बीजे कर्मणि चापि यः।
शुचिः कृच्छ्रगतस्यापि न पापे रमतेऽस्य धीः॥

इति पद्यं गगनकुसुमायमानमिवाभवत्। अत एवोक्तम्—

'नीतिर्विना फलं नास्ति शास्त्रेणैकान्तिको नयः।' इति।

तस्माद् अनुपमेयस्य नयतत्वस्य विषये विशयमपसार्य मानत्रयसमेतनयस्य मार्ग एव शरणम्। नान्यः पन्था अयनाय विद्यते।

卐
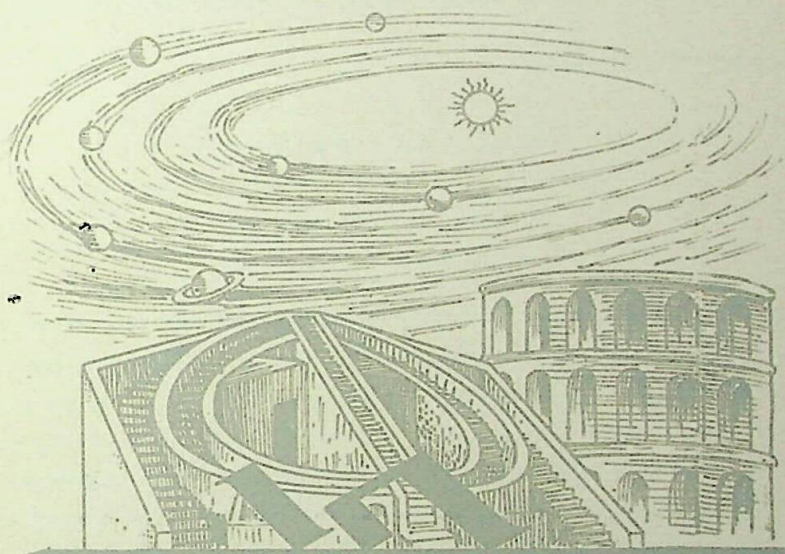
डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थः

भारतीयज्योतिषस्य विकासक्रमः

श्री अवधविहारि त्रिपाठी

स्वाकृष्टशक्त्या परितः स्वमेव
प्रदीपयन् भ्रामयतीह खेटान
सृजत्यजस्रं किल तत्र जीवान्।
श्रेयः सदाऽसौ तनुताद्दिनेशः ।।

मानवेषु शेमुषीसंस्फूर्ति समकालमेवाकाशीयघटनाविषयेऽवधानं संसर्पितुमारेभे। सूर्यः कथं प्राच्यामुदीय प्रतीच्यामस्तं व्रजति, सूर्यास्तादनन्तरमेव क्रमतो नभस्तारिकतं भवति, पुनः सूर्योदये तारकाणां दर्शनं क्वापि कथं न भवति, चन्द्रः कथं कदाऽपि वक्रः, कदाप्यतिवक्रः, कदाप्यदृश्यः, कदापि पूर्णो दृश्यते, क्वचित् पूर्णश्चन्द्रो रात्रौ ग्रस्तो दृश्यते, आकाशे रात्रौ दृश्यमानेष्वनेकेषु पिण्डेषु स्थैर्यम्। अनेकेषु च गतिमत्त्वं लभ्यते, तत्र तेषामपि गतिषु नैकविधत्वम्, तेषु केचन शीघ्रगतिमन्तः केचन मन्दगतिभागः। एवं तेषां दिग्वैपरीत्यमप्युपलभ्यते। वर्षेऽपि कालः सर्वथा नैकविधत्वमापद्यते। कदाचित्-तापाधिक्यम्, कदाचित् शैत्याधिक्यम्, कदाचिद् गहना वृष्टिः, कदाचिच्च वृष्टेरभावः इत्येवं विधा घटना मानवानां कृते विस्मयावहा एवाभवन्। ते हीथंविचारयामासु र्यद् आसां सर्वासां घटनानां हेतुभूत आकाशस्थः कोऽपि शक्ति विशेषो यः किल न खल्वासां घटनानामेव विधायकः, अपि तु मानवानां जीवनसम्बन्धि विपरिणामानामपि कारणीभूतो नियामकः। अतः सर्वाः किल घटना आकाशत एव समुत्पद्यन्त। इत्येवंभूतो विश्वासो मानवेषु समजनि। तत एव फलितज्योतिषस्य प्रादुर्भावोऽभवत्। भारतीय मनीषिणां मनीषा विषयानेतान् अधिकृत्य, अनेकविघ्न विचारधारा प्रावाहयत्, ताश्च संहिता-जातक फलादेशाः सन्ति।

वैदिककाल एव फलितज्यौतिषस्य विषयाणामुपक्रमः समभवत्, तत्रैव प्रत्यहं चन्द्राधिष्ठितनक्षत्राण्याध्याश्रित्य शुभाशुभकर्मणां कृते कालनिर्धारणं समजनि। यथा—

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविताय मवासृजत्,
अथासु हन्यन्ते गावोर्जन्योः पर्युह्यते।

ऋ० सं० १०।८५।१३

सविता सूर्यायाः स्वदुहितुः यं वहुतं (कन्यादायम्) अवासृजत् अददात्, स वहतुः प्रागात् पूर्वमेवागच्छत्, अघासु मघासु गावो धेनवो हन्यन्ते=ताड्यन्ते चेति वा, (हन्-हिंसागत्योरित्यर्थानुसन्धानात्) अर्जुन्योः पूर्वाफाल्गुन्योः पर्युह्यते कन्या परिणीयते, वहतुवहनमुहूर्तो मघाया कन्यापरिणयमुहूर्तः पूर्वाफाल्गुन्यामित्यर्थः।

नक्षत्राणां देवता अपि वैदिक काल एव निर्धारिता आसन्, तत्र प्रतिनक्षत्रं देवताकल्पनं सप्रयोजनमभवत्। यथा—

अग्नेः कृतिका शुक्रं परस्ताज्ज्योतिरवस्तात्।
प्रजायतेः रोहिणी आपः परस्तादोषधयोऽवास्तात्, इत्यादि

तै० ब्रा० १।५।१

शुभकालः

ऋक्संहितायां बहुत्र स्थलेषु कालशुभत्वं निर्दिष्टम्। यथा —

स्तोतारं विप्रः सुदितत्वे आह्नां या यान्नुद्यावस्त तनन्यादुपासः।

ऋ० सं० ७।८८।४

मेधावी वरुणो व्यतीयमानान् दिवसान् रात्रींश्च विस्तारयम् स्तोतारं अह्नां सुदिनत्वे विस्तारयामास, एतेन स्पष्टं यद् वैदिककाल एव कर्मविशेषपरत्वेन दिवसस्य शुभाशुभत्वं निर्दिष्टमभवत्।

वैदिककाले नक्षत्राणां गणना कृतिकानक्षत्रतः प्रवृत्ताऽभवत् तदानीं कृतिकानक्षत्रं विषुवद् वृत्ते कृताधिष्ठाना आसीत्। तेन कृतिकोदयेनैव पूर्वं दिङ् निर्धारणं भवति स्म।

कृतिकास्वग्निमादधीत एताह वै प्राच्यैदिशो न च्यवन्ते,

तै० ब्रा० १।४।१

अयमाशयः—

प्रजापतिः, देवताः सृजमानोऽग्निमेव देवतानां प्रथममसृजत्।

तै० ब्रा० २।१।७

इतिवचनेनाग्निर्देवतानां मुखं प्रथमो वा, तेन प्रथमदेवतागृहं कृतिका, यतो हि देवगृह्या वै नक्षत्राणि, तस्मात् कृतिका नक्षत्राणां मुखं प्रथमो वा, कृतिकातो विशाखां यावद् देवनक्षत्राणां उत्तरगोलार्धमपिभास्करनक्षत्राणीत्यर्थः, अनुराधातो भरणीं यावद्

यमनक्षत्राणि; दक्षिणगोलावलम्बिरविभानीत्याशयः। तत्र देवनक्षत्राणां प्रथमं कृतिका, यतो हि एताह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते, अन्यानि सर्वाणि नक्षत्राणि प्राच्यैदिशश्च्यवन्ते तात्पर्यमिदं यदुदयकाले कृतिका पूर्वविन्दुतश्च्युता न भवति, पूर्वविन्दुं न जहातीत्यर्थः, अन्यानि नक्षत्राणि स्वोदयकाले पूर्वबिन्दु त्यजन्तीति वक्तव्याशयः।

वेदाङ्गकालः

वैदिककाल एव नक्षत्राणां विभागाः प्रत्यहं चन्द्रनक्षत्रांशाननुरुध्य सप्तविंशति-नक्षत्राणि कल्पितान्यासन्, यतो हि चन्द्रः सप्तविंशत्या दिवसैरेव नक्षत्रचन्द्रस्य पर्ययं पूरयति स्म, सा एव गणनाप्रणाली पूर्वोक्त कृत्तिकातो वसन्तसम्पातकालमनुरुध्य प्रचलिता-ऽभवत्। अन्नस्तदानीं काले वसन्तसम्पातीयनक्षत्रमेवाग्न्याधानस्य नक्षत्रं प्राथम्येनाऽऽ-कल्प्यते स्म। नक्षत्रचक्रं प्रत्यहं पूर्वतः पश्चिमस्यां भ्रमतीति सर्वैः प्रतीयते। तत्र किन्नक्षत्र-मभीष्टकाले पूर्वस्यां लग्नमिति निर्देशार्थं वेदाङ्गज्योतिषे उत्तरायणारम्भनक्षत्र धनिष्ठात-एव निर्देशो विद्यते। यथा—

'श्रविष्ठाभ्योगुणाभ्यस्तान् प्राग्विलग्नान् विनिर्दिशेत्।'

अत्र यदि गुणशब्दस्त्र्यर्थाविबोधकः कल्प्यते, तदा त्रयाणां नक्षत्राणामेकैकं राशिं प्रकल्प्य नवराशयो लग्नत्वेन कल्पिता इति कथयितुं शक्यते। पं० प्र० श्री सुधाकर द्विवेदिना श्लोकोऽयं गणाभ्यस्तान्—इति पाठेन पुरस्कृतः, तत्रगणशब्दः एकस्मिन् चन्द्र-नक्षत्रसमुदाये समवेतानि नक्षत्राणि—अभीष्टानि, तदा सप्तविंशतिनक्षत्र गणा भवन्ति। एतेन भचक्रस्य सप्तविंशति विभागा लग्नत्वेन स्वीकृता भवन्ति।

अथर्वज्योतिषे सप्तवाराः नन्दादितिथयः करणानि जन्मादिनवतारका मुहूर्ताः, उल्का—अशनि निर्घातदिग्दाहाश्च नामतो निर्दिष्टाः। तेन तस्मिन् काले संहिताशास्त्रस्य मुहूर्तशात्रस्य जातकशास्त्रस्य च मूलस्वरूपं निर्दिष्टमभवत्। यथा—

तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रं च चतुर्गुणम्।
वारश्चाष्टगुणः प्रोक्तः करणं षोडशान्वितम्॥
द्वात्रिंशत्तथा योगस्तारा षष्टि समन्विता।
चन्द्रः शतगुणः प्रोक्तस्तस्माच्चन्द्रबलाबलम्॥

समीक्ष्य चन्द्रस्यबलाबलानिग्रहाः प्रयच्छन्ति शुभाशुभानि

अथर्वज्योतिष, श्लोक संख्या ९०।९१

जन्म सम्पद् विपद् क्षेम्यः प्रत्वरः साधकस्तथा।
नैधनो मित्रवर्गश्च परमो मैत्र एव च॥

श्लोक संख्या १०३

आदित्यसोमौ भौमश्च तथा बुधबृहस्पति।
भार्गवः शनैश्चरश्चैव एते सप्त दिनाधिपाः॥

श्लोक संख्या ९३

अथर्वज्योतिषे सप्तानां वाराणां नामान्युपलभ्यन्ते, किन्तु द्वादशराशीनां नामानि नोपलभ्यन्ते। महाभारते सप्तानां ग्रहाणां नामानि प्राप्यन्ते, किन्तु तत्रापि मेषादि राशीनां नामानि न विद्यन्ते। वायुपुराणे ग्रहाणां यः कक्षाक्रमो विद्यते, तेन कक्षाक्रमेण सिद्धान्तोक्तवार नामोपपत्तिर्न संगच्छते।

सूर्यसिद्धान्ते चोक्तम्—

'मन्दादधः क्रमेण स्युश्चतुर्थादिवसाधिपाः।' इति

क्रमोऽयं चन्द्रबुधशुक्रसूर्यभौमगुरुशनीनां पृथ्वीत उत्तरोत्तरोपचीयमानदूरत्वक्रमेण विद्यते, य खल्वेषांग्रहाणामाकाशीयगतिमनुरुध्य गणितयुक्ता सिद्धं विद्यते। वायुपुराणे क्रमोऽयमेतादृश एव, किन्तु तत्र सूर्यः सर्वेभ्योऽधस्तात् कथितः। रविचन्द्रयोरुपरागकृते तत्र राहोः पिण्डो मूर्तः कल्पितः तेन राहोश्छादकत्वं सूर्याचन्द्रमसोरुभयोरपि पर्वणो-भवतीत्युक्तम्। अतः सिद्धं यद् वाराक्रमोपयुक्ता ग्रहकक्षा वायुपुराणकाले भारतीयैर्ज्ञाता नासीत्, किन्तु मेषादिद्वादशराशीनां गणना भारतीयैर्ज्ञाताऽभवत् इति कथयितुं शक्यते, यतोहि भागवते ग्रहाणां गतिविधिक्रमः राशिनामनिर्देशोऽपि विद्यते। यथा—

राजोवाच—

यदेतद् भगवत आदित्यस्य मेरुं ध्रुवं च प्रदक्षिणेन परिक्रामतो राशीनामभिमुखं प्रचलितं चाप्रदक्षिणं भगवतोपवर्णितममुष्य वयं कथमनुमिमीमहीति।

स होवाच—

यथाकुलालचक्रेण भ्रमता सह भ्रमता तदाश्रयाणां पिपीलिकादीनां गतिरन्यैव प्रदेशान्तरेष्वप्युलभ्यमानत्वादेवं नक्षत्रराशिभिरुपलक्षितेन कालचक्रेण ध्रुवं मेरुं च प्रदक्षिणेन परिधावता सह परिधावमानानां तदाश्रयाणां सूर्यादीनां ग्रहाणां गतिरन्यैव नक्षत्रान्तरे राश्यन्तरे चोपलभ्यमानत्वात्।

श्रीमद्भाग० ५, २२, १–२

ग्रहाणां गतिमनुरुद्ध्यैव भागवते वक्रमार्गयोः फलं निर्दिष्टम्। एतेनावसीयते यत् तदानीं संहिताग्रन्थेषु प्रतिपादितशुभाशुभप्रणाली प्रचलिताऽभवत्।

संहितास्वरूपम्

अस्माकं वैदिकसाहित्ये संहिताविषयाणां पर्याप्ता सामग्री विद्यते गृह्यसूत्रेष्वयन-मासपक्षतिथिचन्द्रनक्षत्राणां सन्नियोगवशाद् शुभाशुभकला निर्दिष्टाः सन्ति।

'उदगमने आपूर्यमाणपक्षे ब्राह्मणस्योपनायनम्' इति पारस्करगृह्यसूत्रवचनेन संस्काराणां कृते चन्द्रनक्षत्र निर्देशेन चेदंज्ञायते यद् वैदिककाले संहिताविषयाणां शुभाशुभप्रणाली प्रचलिताऽभवत्। भारते ग्रहाणां राशिषु स्थितिवशेन शुभाशुभफलनिर्देश-प्रणालीतः प्राक् संहिताविषयमधिकृत्यैव शुभाशुभफलनिर्देशः क्रियते स्म। संहितानुसारेण फलं निर्देष्टुं ज्योतिषिकाः प्राकृतिक घटनाः, प्राणिनां चेष्टाः, अङ्गलक्षणानि चाधीयते स्म। सूर्यादिग्रहाः कानि नक्षत्राण्याध्यासीना उदयं व्रजन्तः प्राणिवर्गेषु कीदृक्प्रभावाः भवन्ति। ग्रहः कं वर्णमध्याश्रयति, तस्यप्राणिषु कीदृशः प्रभावः। ग्रहाणां प्रकृतिविकृतिप्रमाण वर्णकिरणप्रकाशसंस्थानोदयास्त-वक्रमार्गभेदग्रहणग्रहयुतिप्रभृतीनां प्राणिषुकीदृशः शुभाशुभ परिणामः। चन्द्रश्रृङ्गोन्नतेर्दिक्परत्वेन सुभिक्षादिपरिणामनिर्देशः। सन्ध्याराग-भूकम्पेन्द्रधनुर्गन्धर्वनगरदर्शनाशनिपातादीनां कीदृशः प्रभावः, वास्तुवनस्पतिरत्न-परीक्षणप्रभृतीनां जीवेषु कीदृशं शुभाशुभफलमित्यादयः संहितायाः प्रतिपाद्यविषयाः सन्ति। स्वरशास्त्रमपि संहिता विषयान्तर्गतमेव निर्देष्टुं शक्यते।

संहितायाः प्रादुर्भावकालो महाभारत कालतएव, महाभारतयुद्धोपक्रमे सञ्जयेन बहुत्र ग्रहाणां स्थितेर्जनक्षयकारित्वेन निर्दिष्टत्वात्। यथा—

> मघास्वङ्गारको वक्रः श्रवणे च बृहस्पतिः
> वक्रानुवक्रं कृत्वा च श्रवणं पावकप्रभः।
> ब्रह्मराशिं समाकृष्य लोहिताङ्गो व्यवस्थितः
> सूर्यचन्द्रावुभौ ग्रस्तावेकमासीं त्रयोदशीम्॥
> अपर्वणिग्रहावेतावुत्पातं जनयिष्यतः॥ इति।

भारते ग्रहाणां राशिषु सन्नियोगवशेन शुभाशुभफलकथनप्रणाली यदा प्रचलिता-ऽभवत्, तदा संहितायामपि ग्रहाणां राशि संस्थितिवशेन शुभाशुभविपाकाः सन्निक्ष्टिा-ऽभवन्।

गर्गादिभिः पूर्वाचार्योक्तान् संहिता विषयान् यथास्थितमेव संरक्ष्य नियमितग्रह-गतिराश्यादिविषयमधिकृत्य संहिताविषयं संवर्धयाञ्चक्रे। ततः पश्चाद् वराहमिहिर-भद्र-

बाहुभ्यामपि संहिताविषयः सिद्धान्तज्योतिषविषयैः संशोध्य परिमार्ज्य च विस्तारितः ।

जातकशास्त्रं होराशास्त्रं वा

वेदाङ्गज्योतिषेऽथर्वज्योतिषे च यद्यपि लग्नराशिग्रहप्रभृतीनां जातक शास्त्रीयमूल-विषयाणामंशतः परिचयो दृश्यते, तथापि राशिषु ग्रहाचारवशेनोच्चनीचमित्रादि सम्बन्धेन च द्वादशभावविभागपूर्वकं जातकशास्त्रीयविचारस्तत्र न विद्यते ।

जातकशास्त्रस्यैतादृशो विचारो भारते कदा प्रादुरभवदिति विमर्शनायां शङ्कर-बालकृष्णदीक्षितस्येदमाकूतं यत् खीष्टाब्दतो वर्षाणामष्टशताब्द्याः प्राक्तनकालत एव ग्रहीयज्योतिषशास्त्रस्य प्रचारो भारते समजनि ।

खाल्दिया (बेबीलोनिया) देशे त्वितोऽपि सहस्राब्दाः प्राक् ग्रहाणां राशीनां च ज्ञानं राशिषु ग्रहसञ्चारवशेनेष्टानिष्टफलप्रतिपादनं प्रचलितमासीत् । आधुनिकजातक (होरा) शास्त्रपद्धतेः परिष्कर्तावराहमिहिराचार्य एव, वराहमिहिरतः पुरातना आचार्या मय-यवन-मणित्थ-सत्य-विष्णुगुप्त-भदन्त-प्रभृतय आसन् । एतेषु विष्णुगुप्तचाणक्यसमयः ऐतिहासिकैः खीष्टाब्दात् पूर्वं चतुर्थं शतकं निर्धारितं एव मयाचार्यस्ततोऽपि प्राचीनः । एषां प्राचीनाचार्याणां जातकग्रन्था वराहमिहिरसमये उपलब्धा आसन्निति तेन स्वरचित-बृहज्जातकग्रन्थे मययवनमणित्थसत्यादीनांमतानि संगृह्य समालोचितानि ।

यथा नाभस योगाध्याये—

पूर्वशास्त्रानुसारेण मया वज्रादयः कृताः ।
चतुर्थेभवने सूर्याद् शासितौ भवतः कथम् ।।

यतो हि वज्रयोगः सूर्याच्चतुर्थस्थे बुधे शुक्रे वा भवति, किन्तु सिद्धान्तज्योतिष-रीत्या बुधसूर्यान्तरं परमम् ईषदूनं राशिमितं भवति सूर्यशुक्रान्तरं च सार्द्धैकराशिमितं भवति । तस्माद् बुध सूर्याद् द्वितीये द्वादशे वा, शुक्रश्च तृतीये एकादशे वा रवितः परमा-न्तरेण स्थितौ भवितुमर्हतः । एतेन स्पष्टमिदं यत् सिद्धान्तज्योतिषस्याविष्कारात् प्रागेव—द्वादशभावान् नवग्रहांश्चाधिकृत्य भारतीयैर्जातक विषये शुभाशुभ फलपरि-चायका अनेकेयोगा निर्मिता आसन् । एवं वराहमिहिरात् प्रागेव जातकज्योतिषे होराद्रेष्काणनवमांशद्वादशांशादिषड्वर्गाणां ग्रहाणांशस्वभावस्वरूपाणां राशिषु ग्रहाणा-मुच्चनीचशत्रुमित्रदृष्टिसम्बन्धादिव्यवस्थया लग्नादिदशाप्रकारेण च मानवेषु ग्रह-जन्यविपाकानिर्दिश्यन्ते स्म । ततः परम् अरबदेशे वार्षिकफलादेशविधायकं यत् ताजिक-शास्त्रं प्रादुर्भूतम्, तदपि भारतीयैः संस्कृतभाषयाऽनूद्य ताजिकशास्त्रान्तर्भूता हायनरत्न-ताजिकनीलकण्ठीप्रभृतिग्रन्थाः प्रणीता अभवन् ।

एवं भारतीयानां जातकशास्त्रीयफलादेशप्रणाली खल्वतीव पुरातनी सिद्धयति। अधुनाऽपि योरोपदेशीयजातकपद्धतिमनुश्रित्य फलादेशकथनेऽनेके भारतीयाः प्रवृत्ताः दृश्यन्ते। सा पद्धतिस्तु सायनग्रहराश्यादिमनुरुध्यप्रवर्तते। अस्माकं प्राचीनप्रणालीतो भिन्नाऽपीयं पद्धतिर्जनवर्गं प्रभावयत्येव, किन्तु फलादेशस्य सत्यत्वमेव फलितविषये शास्त्रस्य प्रामाणिकत्वे हेतुभूतं वराहमिहिरेण—

'कर्मार्जितं पूर्वभवे सदादि यत्तस्यपंक्तिं समभिव्यनक्ति:'

इति बृहज्जातकोपन्यस्तकर्मफलसिद्धान्तो ग्रहाणामाकाशीयस्थितिमनुरुध्यैव प्रतिपादितः। ततो हि जन्मार्जितकर्मविपाकाणां प्रतीका एव ग्रहा इति वराहमिहिरोक्त्या निर्धारित भवति। एवं फलितज्योतिषस्य विकासक्रमः समासेन मया मीमांसितः।
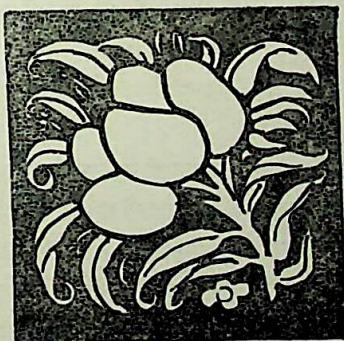
ज्यौतिषे फलानुभवकालविचारः

पण्डितश्री मीठालालहिम्मतराम ओझा

जगति बहूनां मनसीयं धारणा यज्ज्यौतिषशास्त्रद्वारा फलादेशज्ञानेन किं प्रयोजनम्। पुनर्जन्मवादिनां मते पूर्वजन्मनि यत्कृतं कर्म तस्य फलं त्ववश्यं भोक्तव्यमेव। ज्यौतिषशास्त्रमपि तदेव दर्शयति। उक्तञ्च श्री वराहमिहिराचार्येण लघुजातकस्य प्रारम्भे—

यदुपचितं पूर्वजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पंक्तिम्।
व्यञ्जयति शास्त्रमेतद् घनान्धकारे दीप इव ॥

अतो यदि फलादेशज्ञानेन हर्षो भवति। तदा तु कर्त्तव्यानुष्ठाने शैथिल्यं संभाव्यते। एवं चिन्तास्पदस्य फलस्य श्रवणेन मनसि खेदः संजायते। खेदादपि कर्मण्यनुत्साहो वर्धते। तेन जीवनेऽकर्मण्यतायाः प्रादुर्भावो जायते अत एवोक्तमर्थशास्त्रे "हर्षशोकौ हि जगतः शत्रू" इति। तस्मात् फलादेशश्रवणजिज्ञासां विहाय स्वे स्वे कर्मणि निरतेन भाव्यम्।

अपुनर्जन्मवादिनां मते तु कर्मण एव प्राधान्यम्। स्वपौरुषानुसारं जन्तुः फलमनुभवति। अत एषां मते तु ज्यौतिषशास्त्रस्य प्रयोजनमेव नावलोक्यते। किं बहुना एतेषां मते तदप्रमाणमेव।

एवं स्थितौ किमर्थमेतज्ज्यौतिषशास्त्रं प्रवृत्तम्? तदपि वेदाङ्गेषु परिगणितम्। अत्राप्येका शङ्का समुदेति। ज्यौतिषं सिद्धान्तहोरासंहितेतित्रिविभागात्मकमपि मुख्यत्वेन फलितंगणितंचेति विभागद्वयात्मकमेव परिगीयते। तत्र गणितेन दर्शपौर्णमास्यादियज्ञानां कालनिर्देशः, सूर्यचन्द्रयोर्ग्रहण निरूपणम्, गुरुशुक्रादीनामुदयास्तादि समयज्ञानम्, इत्येवं धर्मकृत्योपयोगिसमयज्ञापकत्वेन गणितविभागस्योपयोगो दरीदृश्यते। परं फलितविभागस्य धर्मकृत्योपयोगित्वं नानुभूयते। तथापि वैदिककालादेव फलभागस्यापि प्रवृत्तिः प्रायो लक्ष्यते। सा च मुहूर्तरूपा, न तु जातकरूपा। वैदिककालादनन्तरमेव जातकभागस्य प्रादुर्भाव इतीतिहासविदां मतम्। अस्य जातकभागस्य कदा प्रभृति प्रवृत्तिरिति तद्विदुषां कृतेऽनुसंधानस्य महत्त्वपूर्णो विषयः। अस्तु नाम। उभय विभागात्मकं ज्यौतिषशास्त्रमेतच्चिरंतनकालप्रवृत्तमिति निर्विवादम्। वेदाङ्गत्वादास्तिकानां कृते श्रद्धास्पदम्।

जातकशास्त्रस्य होराशास्त्रमित्यपरः पर्यायः । होराशास्त्रं लोकोपकारकमस्ति न वेति विवादेऽस्त्येवेति पक्षः साधुः प्रतिभाति । कीदृश उपकार इति विचारावसरे भूतं तु गतमेव, तस्य चिन्तनं "गतं न शोचामि" इत्यादि लोकोक्त्या व्यर्थमेव ।" वर्तमानेन कालेन वर्तयन्ति विचक्षणाः" इति लौकिकन्यायेन वर्तमानफलचिन्तनेन तस्य प्रतिकार कालाभावात् कार्यप्रतिबन्ध एव । तथापि वर्तमानफलज्ञानेन मानवः स्वकर्मणि सावधानो भवति । यथाशक्यं प्रतिकारार्हकर्मणः साफल्यार्थं प्रयतते । परन्तु भाविनः फलस्य ज्ञानेन कर्मनिष्ठस्य जनस्य महानुपकारो भवति दैवं ज्ञात्वा तदनुकूलपुरुषार्थकरणेन कार्यं साधयति । उक्तञ्च —

'न हि चैकेन चक्रेण रथस्य हि गतिर्भवेत्' इति

दैवं विज्ञाय तदनुकूलं कार्यं न करोति तदा कार्यसिद्धौ 'नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः' इति न्यायेन संदेह एव । तस्माद्दैवं सम्यगवगत्यानुकूलदैवस्य विशेषेण फलदानयोग्यतासम्पादनाय प्रतिकूलस्य च प्रतिरोधाय देवाराधनादिकरणार्थं भविष्यत्कालज्ञानस्य महत् प्रयोजनं जीवने वर्तते । देवाराधनेनानुकूलं फलं प्रवर्धते प्रतिकूलञ्च शान्तं भवतित्यल्पायुष्मतो मार्कण्डेयस्य देवाराधनया दीर्घायुष्यलाभो जात इत्यादि पौराणिकीषु कथासु स्पष्टम् । लोकेऽप्येवंभूता घटना अनेकशः श्रूयन्ते । प्रसङ्गागतैका घटनाऽत्र समुपन्यस्यते ।

यत्रोन्मुखेन उदयपुरस्य महाराणापदभाजा स्वदैवज्ञः पृष्टः । भो दैवज्ञ ! अहं चतुर्दिग्द्वारविभूषितस्य राजप्रासादस्य कस्माद् द्वाराद् यात्रां करिष्यामि ? दैवज्ञेनोक्तं यद्भवत्प्रश्नस्योत्तरं तु दास्यामि । परं तदुत्तरं पत्रपुटके संवृतं यात्राकरणानन्तरं द्रष्टव्यम् । राज्ञा तथैव स्वीकृत्य स्वराजप्रासादस्यैकमन्यं नूतनं द्वारं निर्माय तद्द्वारेण यात्रा कृता । यतो हि ज्यौतिषी चतुर्द्वारेषु कस्यचिदेकस्य द्वारस्योल्लेखं करिष्यतीति विचार्यैव नूतन द्वारेण यात्रा विहिता । यात्राकरणानन्तरं दैवज्ञ लिखितपत्रमुद्घाट्य वाचितं तदा तत्रापि नूतन द्वारस्यैव संकेत आसीत् । तद् दृष्ट्वा राजा आश्चर्यान्वितोऽभूत् पप्रच्छ चैवंविधः शास्त्रनिष्णातो भवानादावेव कुतो न मां प्रदर्शितवान् । तदातेन दैवज्ञेन कथितं यद्भविष्यस्य परिवर्तनमपि भविष्यत्फलस्य पूर्वं ज्ञाने सति कर्तुं शक्यम् । अतो मया भवान् नादिष्टः । अत एव भविष्यदनिष्टफलसूचकस्य दुःस्वप्नादेर्दर्शने सति शान्तिकं पौष्टिकं कर्तव्यत्वेन विहितं सङ्गतं भवति । इत्येवमस्य शास्त्रस्यानेके चमत्कारा लोके श्रूयन्ते । तेनास्य शास्त्रस्य लोकोपकारकत्वम् प्रतिहतमेव ।

जन्मकुण्डल्यादिषु ग्रहस्थित्या विशेषयोगैश्च जातकादिशास्त्रेषु फलं वर्ण्यते । परं तत्फलं कदा प्राप्स्यते । एवं वर्तमानकाले किंफलमस्तीति जिज्ञासा सहजं समुदेति । तत्र तत्तत्फलप्राप्तिकालज्ञानार्थमनेके प्रकाराः शास्त्रेषु परिलक्ष्यन्ते । तेषु सरलः सर्वत्र

प्रचलितो दशाप्रकारो वर्तते। दशास्वपि विंशोत्तरी- योगिनी-त्रिभागदशेत्यादिका अनेका दशाः प्रचलिताः सन्ति। तत्र योगिनीदशाया जन्मकुण्डलीस्थग्रहैः सम्बन्धो नास्ति। अतोऽस्याः फल विचारेऽपूर्णत्वमेव। अष्टोत्तरीविंशोत्तरी दशयोर्मध्ये विंशोत्तरीदशैव ग्राह्या। एतदर्थं लघुपाराशर्याम्—"दशा विंशोत्तरी चात्र ग्राह्या नाष्टोत्तरी मता" इत्युक्तम्। अत्र—"दशा विंशोत्तरी चात्र मता चाष्टोत्तरी तथा" इति पाठभेदं परिकल्प्य केचनाष्टोत्तरीदशामपि स्वीकुर्वन्ति। परं विंशोत्तरी दशाया एव विशेषतः प्रचारो दृग्गोचरी भवति।

अथ पाराशरीमतेन ग्रहाणां शुभाशुभत्वं प्रथमतो निर्णीय तत्प्रदर्शितदिशैवान्तर्दशा सूक्ष्मान्तरर्दशादिद्वारा तात्कालिकफलविचारः सुघटते। प्रायोऽमुनैव पथा ज्योतिर्विदस्तात्कालिकफलं विचारयन्ति। तत्प्रत्यक्षतोऽनुभवपथमवतरति। प्रत्येक ग्रहस्य दशाऽन्तर्दशादिविचारे बहुषु जातकग्रन्थेषु विस्तरतो विचारो वर्तते।

तात्कालिकफलनिर्धारणायाष्टकवर्गसम्बद्धा गोचर पद्धतिराद्रियते, जन्मकालिकमष्टकवर्गसम्बद्धं गणितं विधाय जन्मपत्रिका विरच्यते, तदा फल[1] विचारायातीव सौकर्यं भवति। अष्टकवर्गाश्रितगोचरपद्धत्या फलविचारे गणितजन्य आयासो भवति। अतः सामान्यरीत्या चतुर्थाष्टमद्वादशादिस्थानस्थग्रहद्वारा शन्यादिग्रहचारेण च फलं निर्धारयन्ति। अयमपि मार्गः शास्त्रीयः फलप्रत्यायकश्च। परं तत्र यदि—

[2]क्रमाच्छुभो विद्ध इति ग्रहः स्यात्
पितुः सुतस्यात्र न वेधमाहुः।
दुष्टोऽपि खेटो विपरीतवेधा—
च्छुभो द्विकोणे शुभदः सितेऽब्जे॥

इत्येवंभूतवेधविचारमङ्गीकृत्य गोचरफलमन्विष्यते, तदा फले सूक्ष्मता समायाति। गोचरफलार्थं शुभाशुभस्थानं वेधप्रकारश्च मुहूर्तचिन्तामणेर्गोचरप्रकरणस्य आदितश्चतुःश्लोकेषु सविशेषं वर्णितौ वर्तते। प्रायशो लोक एवंभूतस्या गोचर प्रकारस्य सामान्यतया फलविचारे प्रचारो वर्तते। अयं फलविचार मार्गश्चन्द्रादथाज्जन्मराशेरेव दैवज्ञैराद्रियते। तत्र जन्मलग्नकुण्डल्यां तात्कालिकगोचरग्रहान् सन्निवेश्य ततस्ता-

---

१. एतदर्थं "अष्टकवर्गः" इत्येतन्नामकं पुस्तकं मुम्बईतः प्रकाशितमतीवोपयुक्तं वर्तते। प्राचीनार्षाचार्यादीनां वचनानां संग्रहस्य आङ्गल भाषायां सुविस्तृतं व्याख्यानञ्च वर्तते। दर्शनीयोऽयं ग्रन्थः।

२. मुहूर्त चिन्तामणेर्गोचर प्रकरणस्य ४ श्लोकः।

त्कालिक फलान्वेषणाय दैवज्ञैर्यत्नो विधेयः । अनेन पथा तात्कालिकं तत्तद्भावजं फलं सम्यगनुभवपथमवतरिष्यति । अस्य तात्कालिकफलनिर्धारकमार्गस्य संकेतो जातक ग्रन्थेषु बहुश उपलभ्यते । जातकपारिजातस्य अष्टकवर्गाध्याये—

दिनेशमुख्यग्रहवर्गकेषु यदा शनिः शून्यगृहं प्रयातः ।
करोति पित्रादिकभावजानामतीव रोगारिभयाकुलानि ॥१२॥

अत्राष्टकवर्गकेष्वित्युपलक्षणम् । जन्मकाले यत्र राशौ शनेरवस्थानमशोभनं तत्र राशौ चारक्रमेण शनेरागमनेन तत्स्थानसम्बन्धिफलमशोभनं भवतीत्याशयोऽस्य श्लोककस्य निश्चेतुं शक्यते । अतोऽनया रीत्या कल्पितोदाहरणे फल विचारः क्रियते । यथा चतुर्थस्थाने कर्कराशौ शनिर्निर्बलः । चारक्रमेण पुनस्तत्र समागतस्तदा तत्काले जातकस्य मातुरवश्यं कष्टं भविष्यति । यद्यन्ये ग्रहा दशादयश्च प्रतिकूलास्तदा मातुर्मरणमेव ।

अथ च यदि पञ्चमस्थाने सिंहराशौ शनिनिर्बलो नास्ति । तत्र चार क्रमेण यथा शनिः सिंहराशौ पञ्चमस्थाने समागतस्तदा तस्य जातकस्य पुत्रसुखं जातमित्यनुभवसिद्धम् ।

अथवा मेषलग्ने शनिर्जन्मकाले वर्तते । अयं नीचराशिगतः । अतो यदा यदा मेषराशौ चारक्रमेण शनेर्भ्रमणं भविष्यति, तदा तदा तं जातकं तादृशः शनिः संतापयिष्यत्येव ।

अत एव "लग्नाष्टमाः सर्व एव ग्रहास्तेभ्यः सकाशादेकैकस्य ग्रहस्य चारवशाद्राशौ विचरतः शुभाशुभफलमष्टकवर्गे निरूप्यते" इति बृहज्जातकस्य अष्टकवर्गाध्यायारम्भे महोत्पलेन यदुक्तं तत्र यदि लग्नवशाद् ग्रहाणां चारक्रमं ग्रहीत्वा शुभाशुभफलं निर्धार्यते, तदा कियत्साफल्यं प्राप्स्यत इति ज्योतिर्विदः स्वानुभवेन निर्णयायानुरुध्यन्ते ।

उपरि लिखितोदाहरणेषु शनिसदृशाः पापास्तत्तद्भावस्य विध्वंसकाः । गुरुशुक्रादयश्च शुभग्रहास्तत्तद्भावस्य पोषका इत्यर्थः सिद्धमेव । अयं प्रयासः केवलं अष्टकवर्ग-दशादिसाधनमन्तरा सुलभो भविष्यतीत्यनुभवार्थं फलविदां पुरतः संस्थाप्यते ।

नाडीग्रन्थेषु गोचरपद्धतेः सूक्ष्मप्रक्रिया वर्तते । सा च तात्कालिकफलार्थमतीवोपयुक्तेति मे विश्वासः । अस्यां पद्धतौ स्पष्टग्रहाणां ज्ञानं तद्द्वारा तत्तद् ग्रहस्य नवांशनिश्चय आवश्यकः नाडीग्रन्थेष्वपि शनिरशुभफलदातेति यत्र तत्रोल्लेखः । यस्य कस्यापि भावस्याशुभफलं शनिचारेण शुभफलञ्च गुरुचारेण निर्धारितं वर्तते ।

तद्यथा—

तत्तद्भावादष्टमेशस्थितांशे तत्त्रिकोणगे ।
व्ययेशस्थितमांशे वा मन्दे तद्भावनाशनम् ।।१।।

फलदीपिकायां १७ अध्याये २

अस्यायमाशयः—यस्य भावस्याशुभफलजिज्ञासोदेति, तस्माद्भावाद् योऽष्टमेशः स यस्मिन्नवमांशे तिष्ठति तस्मिन्नवमांशे तत्त्रिकोणनवमांशे वा यदा चारक्रमेण शनिः समायातिः; अथवा विचारणीयभावाद् व्ययेशो यस्मिन् राशौ संगतस्तस्मिन् राशौ चारक्रमेण यदा शनिः समायाति; तदा तस्य भावस्याशुभफलंभवति । यथोदाहरणार्थं मेषलग्नेऽष्टमेशो भौमः कुम्भ नवमांशेऽस्ति । तदा चारक्रमेण शनिः कुम्भराशौ तत्त्रिकोण राश्योर्मिथुनतुलाभिद्ययोर्वा । अथवा लग्नभावाद् द्वादशेशो गुरुर्यदि कर्क राशौ तिष्ठति, अथ कर्कराशौ यदा चारक्रमेण शनिरागमिष्यति, तदा तस्य जातकस्य मिथुनर्कर्कतुलाराशि गतेः सकाशादशुभं फलं देह सम्बन्धि भविष्यन्ति । एवं सर्वभाव सम्बन्धि अशुभफलं विचारणीयम् ।

परं शनिरेकराशौ सार्धवर्षद्वयं यावत्तिष्ठति । तदा तत्फलं कदा भविष्यतीति विचारे शनिस्तस्मिन् राशौ तस्मिन्नेव नवमांशे यदा समागमिष्यति तदैव तत्फलस्यानुभवकाल इति विवेकः कर्तुं शक्यते । अत्र यदिशनिस्थान इतर पापग्रहाणां स्थितिः स्यात् । तदाऽपि तत्तद्भावस्य फलं कष्टसूचकमेव ।

एवञ्च तत्तद्भावस्य फलविचारे निश्चयार्थं कारकांशस्यापि ग्रहणं कर्तव्यम् । मातृ-पितृ-पुत्र-कलत्रादिकारकाः शास्त्रे प्रसिद्धाः । तत्कारकग्रहस्य नवमांशेऽपि यदा शनिर्याति । तदाऽप्यनिष्टमेव फलं करोति ।

उक्तञ्च—

धनेशांशे दारपीडा कारकस्यांशके तथा ।
मूर्त्यादिव्ययभावान्तं योजयेत् कालवित्तमः ।।

अंशनाडी

अस्य प्रकारस्य स्पष्टीकरणं शुक्रनाडिग्रन्थे सम्यगुपलभ्यते । तद्यथा—

लग्नेशांशे शत्रुपीडा स्वमातुलजनावपि ।
धनेशांशे दारपीडा सौख्यांशे देहजाड्यता ।
सुखेशांशे पित्ररिष्टं स्वप्रभोश्च तथा भवेत् ।।
....

एवमेव यस्य कस्यापि भावस्य तात्कालिकशुभफलज्ञानाय गुरो र्ग्रहणम्। गुरुरित्युपलक्षणमन्येऽपि शुभग्रहाः शुभफलमेव दर्शयिष्यन्ति । यस्य भावस्य शुभफल ज्ञानममीष्टं स भावेशो यस्मिन्नवमांशे तन्नवमांशराशौ वा तत्त्रिकोणराश्योरथवा कारकग्रहनवमांशराशौ यदा चारवशाद्गुरुसंक्रान्तिस्तदा विचारणीयभावस्य शुभफल प्राप्तिकालः उक्तञ्च अंशनाडीग्रन्थे—

दारेशांश त्रिकोणेषु गोचरे देवपूजिते ।
दारलाभं भवत्येव कारकस्य फलं भवेत् ॥

तथा च—

यद्भावेशस्थितर्क्षांश त्रिकोणस्थे गुरुर्यदा ।
गोचरे तस्य भावस्य फलप्राप्ति विनिर्दिशेत् ॥

फलदीपिका अ० १६ श्लोक ३२

एवमादीनि बहूनि वचनानि नाडीग्रन्थेषूपलभ्यन्ते । तद्रीत्या तत्तद्भावस्य तात्कालिकं शुभाशुभं निर्णेतुं शक्यते । अत्रैकोऽन्योऽपि प्रकारो होरासारग्रन्थे १७ अध्याये वर्णितः परिलक्ष्यते ।

स यथा—

ज्ञेया मन्दादिलग्नान्तनवांशकयुतिर्बुधैः ।
तद्योगसदृशे वर्षे चायुधक्लेशमादिशेत् ॥८९॥
राहुभौमादिलग्नान्तमंशयोगसमाब्दके ।
विपदस्त्रक्षतायास दुःखादीनि समादिशेत् ॥९०॥
शुभग्रहादिलग्नान्तमंशयोगसमाब्दके ।
पुत्रवित्तसुखादीनि लभते नात्र संशयः ॥९१॥

यस्य जातकस्य शुभाशुभवर्षज्ञानमभीष्टं तस्य जातकस्य जन्मकुण्डल्यां पापग्रहस्थनवमांशमारभ्य लग्ननिष्ठनवमांशं यावन्मध्ये नवमांशसंख्या तुल्यवर्षे कष्टम्। एवञ्च जन्मकुण्डल्यां शुभग्रहाक्रान्तनवमांशमारभ्य लग्ननिष्ठनवमांशंयावदन्त-रालगता नवमांशाः, तत्संख्या तुल्ये वर्षे शुभमादिशेत्। उदाहरणार्थं कुम्भलग्ने नवमांशो वृषः । भौमस्तुलाराशौ धनुर्नवांशे वर्तते । तदा भौमाक्रान्तनवांशमारभ्य लग्नस्थितनवांशं यावन्नवांश संख्या=तुलाराशौ भौमावशिष्टनवांशा ७+वृश्चिक-

धनुर्मकराणां नवांशा: ९ × ३ + लग्नमुक्तनवांशा: ८ = ७ + २७ + ८ = ४२ । एतत्संख्यके वर्षे कष्टं विनिर्दिशेत् । एवमेव यस्य स्वजनस्य शुभाशुभज्ञानमिष्टम्, तस्य कृते स्वजन्मकुण्डल्यां यो भावोऽथवा तत्स्वजनसम्बन्धि कारकग्रहस्तन्निष्ठ नवांशं यावत् पाप शुभग्रहाणां पूर्वरीत्या नवांशतो गणनयाऽनिष्टे वर्षज्ञानं कर्तुं शक्यते। यथा मातुः कृते चतुर्थभावं मातुः कारकं चन्द्रं वा लग्नं मत्वा पूर्वरीत्या नवांशसंख्या गणनीया ।

अथ ताजिकशास्त्रोक्तरीत्या वर्षकुण्डली मासकुण्डलीमुद्दादशादि द्वारा तात्कालिकफलविचारो विद्वद्भिः क्रियते। एतत्साधितं फलमपि जीवने सुघटते। अतोऽयं विधिरपि प्रायशः सर्वत्र प्रसृतो वर्तते। अत्र मासकुण्डल्यामेकैकभावात् सार्धद्वयदिन सम्बन्धिफलकल्पना विधीयते। प्रथमादिभावान् लग्नं परिकल्प्य तल्लग्नद्वारा सार्धद्वयदिनसम्बन्धिफलविचारः कर्तव्यः। यथा मासकुण्डल्यां चतुर्थभावं लग्नं प्रकल्प्य चतुर्थभावजन्यकुण्डलीतस्तन्मासीय सार्धसप्तदिनतो दशदिनानि यावत् फलपरिकल्पना कर्तव्या। अत्र ग्रहास्तु मासारम्भकाले यत्र राशौ तिष्ठन्ति तत्रैव लेख्याः। इतोऽपि सूक्ष्मकालज्ञानमभीष्टं तदा दैनिकी कुण्डली निर्मीयते । वर्षारम्भकालकसूर्य एकैकराशियोगेन यथा मासकुण्डली विरच्यते, तथैव वर्षारम्भकालिकसूर्य एकैकांशयोजनेन मासकुण्डलीवद् दैनिककुण्डली निर्मातुं शक्यते । अस्यामेकैकभावं लग्नं प्रकल्प्य तल्लग्नतो घण्टाद्वयपरिमित कालस्य शुभाशुभत्वं विवेचयितुं शक्यते। अयं विधिः पूर्वप्रदर्शितविधः सूक्ष्मकाल द्योतकः।

एतेभ्यः सुगमः प्रकारः श्री देवेन्द्रसूरिशिष्य श्री हेमप्रभ सूरिविरचित त्रैलोक्य प्रकाशग्रन्थे संग्रथितो वर्तते। तत्र लग्नादि द्वादशभावेष्वेकैकभावादेकैकवर्षगणनाकरणाय निर्देशो वर्तते । अर्थाल्लग्नभावः प्रथमवर्षम् द्वितीयभावो द्वितीयवर्षम्, एवमग्रेऽपि । तं तं भावमेव लग्नं मत्वा तयैव ग्रहस्थित्या तद्वर्षसम्बन्धिफलं जन्म कुण्डलीवत् परिकल्पनीयम् । लग्नादि द्वादशवर्षाणि । द्वितीयपर्याये पुनर्द्वादशवर्षाणि । एवं नवावृत्तिष्वष्टोत्तरशतवर्षाणि जायन्ते । अर्थाज्जातकस्य परमायुः पर्यन्तं शुभाशुभमनया सरण्याऽनायासेन कल्पयितुं शक्यम् । उक्तञ्च त्रैलोक्य प्रकाशे—

कोऽत्र वर्षः शुभोऽस्माकमिति समागते।
तत्ताजिकानुसारेण कीर्त्यते वर्ष लक्षणम् ॥२३३॥
जन्मतः प्रथमे लग्ने जन्मकालगतैर्ग्रहैः ।
वर्षं यावत्फलं ज्ञेयं जन्मपत्र्यां विचक्षणैः ॥२३४॥
द्वितीये वत्सरे वाच्यं द्वितीयलग्नतः फलम् ।
तृतीयवत्सरे ज्ञेयं तृतीयादपि लग्नतः ॥२३५॥

एवं द्वादशवर्षाणि जन्म द्वादशलग्नतः ।
जन्मकालगतैरेवग्रहैर्वाच्यं शुभाशुभम् ॥२३६॥
द्वादश नवका यावदष्टोत्तरशतं भवेत् ।
एवमायुषि सम्पूर्णे नवा वार्त्ता भवन्ति हि ॥२३७॥
....
सर्वे तन्वादयो भावाः शुभयुक्ता बलावहाः ।
क्रूरयुक्ताश्च ते दृष्टा विपरीतफलप्रदाः ॥२४१॥

इत्येवमनेके प्रकारा जन्मलग्नाच्चन्द्राद्वा तात्कालिकफलकल्पनार्थं शास्त्र इतस्ततो विकीर्णा वर्तन्ते परमत्रामुकक्षण एतत्फलं भविष्यत्येतदर्थं जातकपद्धत्या शास्त्रीयप्रकारोऽन्वेष्टव्यो वर्तते । फलविदः स्वानुभवेन चमत्कारकं फलमुपदिशन्ति । तादृशो विधिः प्रकाशं नेयः। अत्रैतदप्यवधेयं यत्तादृशचमत्कारकफलादेशाय आध्यात्मिकं बलं प्राधान्यमावहति । स्वकीयाध्यात्मबलसम्बलेन जनान् चमत्कुर्वन्ति ।

जन्मकालानपेक्षः कश्चिदन्योऽपि तात्कालिकफलावगमाय प्रश्नरूपो मार्गोऽस्ति। यदा यस्य कर्मणः शुभाशुभफलस्य ज्ञानोत्कण्ठा चेत्तदा सविधि दैवज्ञः प्रष्टव्यः। एवं तात्कालिकप्रश्नाङ्गद्वारा निर्णयाय शास्त्रेऽनेके ग्रन्था निर्मिताः सन्ति । तैः सम्यक्तया प्रश्नस्य समाधानं कर्तुं शक्यते । लोके तात्कालिकस्य कस्यचित् प्रश्नस्य समाधानं दैवज्ञैः प्रायः प्रश्नशास्त्रद्वारैव क्रियते । अतोऽस्य प्रश्नशास्त्रस्य बहु प्रचारो वर्तते ।

पूर्वनिर्दिष्टत्रैलोक्य प्रकाशे तात्कालिकफलाववोधाय चमत्कारका अनेके प्रकाराः ८८४ श्लोकतः सन्निवेशिताः सन्ति । ते तत्रैव द्रष्टव्या ।

तात्कालिकफलज्ञानायेषदेषा प्रदर्शिता ।
सरणिस्तद्विदां प्रीत्यै शास्त्रज्ञा वर्धयन्तु ताम् ॥ इति शम् ।
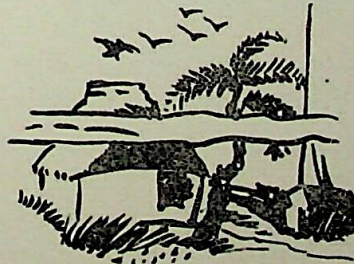
डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थः
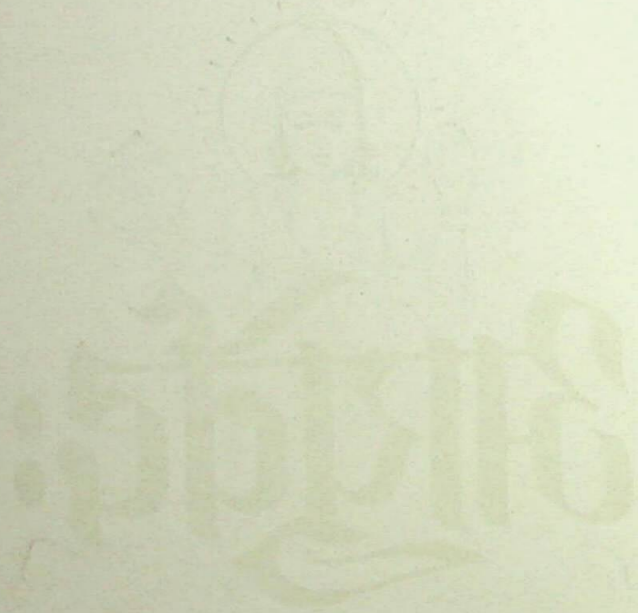
आयुर्वेद ऋतुचर्या

पण्डितश्री कैलाशपति पाण्डेयः

विश्वेऽस्मिन्नायुर्वेद एव सर्वप्राचीना चिकित्सापद्धतिरिति सर्वेषां पुरातत्त्वविदामभिमतम्। प्राचीना सत्यपि स्वगुणैरधुनाऽपि स्वत उद्भूतानां साम्प्रतं समृद्धानामन्यासां चिकित्सापद्धतीनां मुकुटायमानां तिष्ठति। अन्यचिकित्सापद्धतीनामभ्युदयो रोगेभ्यस्त्राणार्थं तत्रायुर्वेदस्यैहिकामुष्मिक[1]काभ्युदयश्रेयसे संजातः। आयुःपदेन, एति गच्छति, अनुक्षणं शरीरस्य शीर्यमाणत्वादित्यायुरिति व्युत्पत्तिलभ्यार्थतोऽपि विशेषेण—शरीरम्, इन्द्रियाणि, सत्त्वमात्मा चैतेषां संयोगोऽत्राभिप्रेतः[2]। एतेषां सुष्ठुसंयोगः स्वस्थतायामेव संभवः, स्वस्थ एव च मानवजीवनस्य चरमोपलब्धिं पुरुषार्थचतुष्टयं[3] धर्मार्थकाममोक्षरूपमनुसर्तुं प्रभवति। यदग्रत विघ्नसंचारभूता रोगाः समाक्रान्तास्तदा महर्षयः ज्ञानचक्षुषायुर्वेदं प्रकटयांचक्रुः[4]।

वेदपदेन, वेद्यन्ते विज्ञायन्ते, व्याधेर्हेतु लिङ्गौषधानि आयुष्याणि, अनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि, सुखासुखानि आयूंषि, आयुशश्चहिताहितानि प्रमाणाप्रमाणानि शरीराङ्गप्रत्यङ्गकारणानि चानेनासौ वेदो[5]ऽभिप्रेतः।

---

१. तस्यायुषः पुण्यतमो वेदोवेदविदां मतः।
वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हिते ॥ च० सू० १

२. शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते ॥

३. धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च ॥

४. प्रादुर्भूतो मनुष्याणामन्तरायो महानयम्।
कः स्यात् तेषां समोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः ॥

५. हिताहितं सुखदुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥ च० सू० १

आयुर्वेदप्रयोजनम्—स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणं प्रथमम्[1]। तत आतुरस्य विकार-प्रशमनं प्रतिपादितम्। तत्रस्वास्थ्य रक्षायामपि व्यक्तिगत स्वास्थ्यरक्षायामतीव विस्तीर्ण मध्ययनमुपलभ्यते। यदनुसृत्य दिनचर्यां निशाचर्यां[2], ऋतुचर्यां चानुपालयन् बहुकालं स्वस्थजीवनयापने शक्तः।

दिनचर्यारात्रिचर्ययोः कालापेक्षं सात्म्यत्वात् विशिष्टं परिवर्तनं सुतरां सुविचार्यै-वानुष्ठेयमिति कृत्वा सर्वोपयोगित्वात् तदधीनत्वाच्च चेष्टाहाराद्[3] बलवर्णाधिगतेः ऋतु-चर्यामधिकृत्य विचार्यते।

तत्र प्रथमं यथा सर्वासां प्राच्यविद्यानां वेदत्रयी मूलं, यथा सर्वेषां त्रयस्त्रिंशत्को-टीनामपि दिनौकसां ब्रह्मविष्णुशिवात्मकत्रय्याः श्रेष्ठत्वम्, यथा सर्वेषां त्रि चतुर्दशभुव-नानां भूर्भुवः स्वरिति लोकत्रितयस्य माहात्म्यम्, यथा वा सर्वेषां प्राणिजातानां नाना-विधानामपि सत्त्वरजस्तमात्मकं त्रैगुण्यं मूलम्,

तथैवाऽऽयुर्वेदशास्त्रे वातपित्तकफात्मकानां त्रिदोषाणां मूलत्वं श्रेष्ठतमत्वं महत्त्वं चेति निर्विवादम्। एत एव प्रकृतिभेदेन सोमसूर्यानिलात्मकाः (तत्र सोमः कफात्मकः, सूर्य पित्तात्मकः अनिलश्च वात एव) कालस्वभावमार्गमनुसृत्य संवतत्सरायनर्तुमासपक्षा-होरात्रादीनभिनिर्वर्तयन्ति[4]। यतः पृथ्वी सूर्यस्य प्रदक्षिणामेका ४६५$\frac{1}{2}$ दिवसेषु प्रकरोति। एष एव कालः संवत्सर पदेनाभिधीयते। भुवि भारतस्यैतादृशी स्थितिर्यदत्र-सूर्यकिरणानां प्रभावो विशेषेण भवति। अत एवात्र सुस्पष्ट ऋतु विभागो दरीदृश्यते। पृथिव्या एषा गतिः—सूर्यकेन्द्रकगतिः (HELIO-CENT IC) इत्युच्यते।

पुनर्भुवो दक्षिणोत्तर ध्रुवात्समानान्तरेभूगोलस्य समानं भगद्वयमुत्त रदक्षिणगोलार्द्ध-संज्ञं विदधद्, यद्वृत्तं तन्नाडीवृत्तं निरक्षवृत्तं (EQUATOR) वा कथ्यते। तथा रविः स्वीयदृश्यमानगत्या स्थिर नक्षत्रेषु चलंस्तदधो भुवि निरक्षवृत्तेन सह २३।२७ प्रथितं कोण-मुत्पादयन् यस्मिन् महावृत्ते भ्रमति तत्क्रान्ति वृत्तम् (Ecliptic) मिति परिभाष्यते।

---

१. इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं—स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम्।
आर्तस्य विकारनुच्च—च० सू० १।

२. दिनचर्यां निशाचर्याम् ऋतुचर्यां यथोदिताम्।
आचरन् पुरुषाः स्वस्थस्तिष्ठति नान्यथा॥

३. तस्याशिताद्याहाराद्बलं वर्णञ्चवर्धते।
यस्यर्तुसात्म्यं विदितं चेष्टाहारव्यपाश्रयम्॥ च० सू० ६।

४. तावेतार्कवायू सोमश्च कालस्वभावमार्ग परिगृहीताः कालर्तुरसदोषदेहबलनिवृत्तिः प्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते—च० सू० ६।५

सूर्यकेन्द्रादयमेव भ्रमणमार्ग आकलितश्चेद् भूभ्रमणमार्गः सपद्यते। नाड़ीवृत्त क्रान्तिवृत्तयोः संयातविन्दुः क्रान्तियातो निरक्षबिन्दुर्वा व्यपदिश्यते। निरक्षसमानान्तरं तथा तस्मात् २३।२७ अन्तरे यद्वृत्तद्वयं तदमनवृत्तमुच्यते।

उत्तरस्थः कर्कादितो दक्षिणायनबिन्दुः, दक्षिणस्थो मकरादित उत्तरायण बिन्दुर्निगद्यते। क्षेत्रमिति रीत्या द्वयोर्वत्तयोः संयातो बिन्दुद्वय एव भवतीति नाड़ी क्रान्तिवृत्तयोर्मेषादिबिन्दुवासन्तविषुवत् तुलादित्यक शारदविषुवदिति ज्ञेयम्। अस्मिन् बिन्दुद्वये वर्तमाने रवौमुनि सर्वप्रदेशे दिनरात्र्योः समत्वं (२१ मार्च तथा २३ सितम्बर) वेध गणिताभ्यां सुस्पष्टमेव। वेदे (शतपथ ब्राह्मणं[1]) उत्तरायनं[2]—देवयानशब्देन, दक्षिणयानं च पितृयान शब्देन परिभाषितम्। ज्योतिषे[3] सूर्य सिद्धान्तेऽपि मकरसंक्रातेः षड् मासा उत्तरायणम्, कर्क संक्रान्तितश्च षड् मासा दक्षिणायनं प्रतिपादितम्।

एवमेव, चन्द्रस्यापि गतिः पृथ्वीं परिभ्रमति, येन पक्षस्य (Fort Night) निर्माणं भवति। चन्द्रमस एषागतिः भूकेन्द्रकगतिः (Geo-Centric) उच्यते। द्वाभ्यां पक्षाभ्यां मासस्य निष्पत्तिस्तथा—द्वादशमासानां नक्षत्रयोगानुसारेण चित्रया सहिता पौर्णमासी चैत्री, सा यत्रान्वेत्यसौ चैत्र, 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' (४।२।३) इति पाणिनीय सूत्रेण समर्थितानि साम्प्रतं चैत्रवैशाखादीनि नामानि तु रूढिमुपगतानि।

परं वेदे[4], ब्राह्मणग्रन्थेषु किं वाऽऽयुर्वेदीयसुश्रुत[5] संहितायां मधुमाधवसंज्ञया

---

१. वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः। ते देवा ऋतवः। शरद्धेमन्तशिशिरस्ते पितरः। स यत्रोदया वर्तते देवेषु तर्हि भवति। यत्र दक्षिणावर्तते तर्हि पितृषु भवति। (शतपथब्राह्मण २।१।३)।

२. तस्मादादित्यः षड्मासो दक्षिणेनैति षडुत्तरेण।
(तैत्तिरीय ब्राह्मणः ६।५।३)

३. भानोर्मकरसंक्रान्ते षडमासः उत्तरायणम्।
कर्कादेस्तु तथैव स्यात् षण्मासा दक्षिणायनम्॥

४. मधुश्चमाधवश्च वासन्तिकावृतू। शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू। नभश्चनभस्यश्च वार्षिकावृतू। इषश्चोर्जश्च शारदावृतू। सहश्चसहस्यश्च हेमन्तिकावृतू। तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू। 'तैत्तिरीय संहिता'।

५. ते शिशिरवसन्तग्रीष्मवर्षाशरद्धेमन्ताः, तेषां तपस्तपस्यौ शिशिरः, मधुमाधवौ वसन्तः, शुचिशुक्रौ ग्रीष्मः,। नभो नभस्यो वर्षा, इषोर्जौ शरत्, सहःसहस्यौ हेमन्तः—सु० सू० ६।

मासनामानि ह्यृतुलक्षण लक्षितानि सन्ति। एवमत्र वैदिकालत एव मासद्वयवर्तिनी ऋतु स्थितिरेवायुर्वेदविद्भिरपि स्वीकृता।

एवं भूरपि स्वधुरि (Axis) सततं परिभ्रमति येनाहोरात्रस्य निर्माणं भवति।

एवं वैदिकपरम्पराप्राप्तमप्यृतुचक्रम् आयुर्वेदज्ञैः शरीरस्वास्थ्यदृशा संशोधनदृशां च द्विविधं विभाजितम्।

केचन विद्वांसो द्विविधोऽयंविभागः भारतवर्षस्य, क्षेत्रविभागमनुसृत्य कृतइत्यामनन्ति, यतो विन्ध्याद्रेर्दक्षिणभागे वृष्टेराधिक्यात् प्रावृट्वृष्टिचेति द्वावृतू वृष्टेर्भवतः। तथा विन्ध्यादेरुत्तरेभागे शीतस्याधिक्यात् हेमन्तः शिशिरश्चेति द्वावृतू[1] शीतप्रधानौ भवतः।

तद्यथा—

अयने	ऋतवः	स्वस्थवृत्तदिशा विभाग (विन्ध्यस्योत्तरवासिनां कृते चापिविभागः)	सूर्यसिद्धान्ते संक्रात्यनुसारेण विभागः	*संशोधनादिकर्मोपयोगी विभागः (विन्ध्यस्यदक्षिण वासिनां कृते चापि विभागः)	शार्ङ्गधरेणोक्तं संक्रात्यनुसारेण विभागः
उत्तरायणम्	शिशिरः	माघः	मकरः	— —	— —
		फाल्गुनः	कुम्भः		
	वसन्तः	चैत्रः	मीनः	फाल्गुनः	कुम्भः
		वैशाखः	मेषः	चैत्रः	मीनः
	ग्रीष्मः	ज्येष्ठः	वृषः	वैशाखः	मेषः
		आषाढः	मिथुनम्	ज्येष्ठः	वृषः
	प्रावृट्	× ×	+ +	आषाढः, श्रावणः	मिथुनं, कर्कः
दक्षिणायनम्	वर्षा	श्रावणः, भाद्रपदः	कर्कः, सिंहः	भाद्रपदः, आश्विनः	सिंहः, कन्या
	शरद्	आश्विनः	कन्या	कार्तिकः,	तुला
		कार्तिकः	तुला	मार्गशीर्षः	वृश्चिकः
	हेमन्तः	मार्गशीर्षः	वृश्चिकः	पौषः	धनम्
		पौषः	धनम्	माघः	मकरः

१. भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे जलम्।
तेन प्रावृड् वर्षाख्यौ ऋतू तेषां प्रकल्पितौ॥
गङ्गायां उत्तरे कूले हिमवदम्बुसंगमे।
भूयः शीतमतस्तेषां हेमन्तशिशिरावृतू॥ —काश्यपः।

* हेमन्तो ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रय ऋतवो भवन्ति तेषामुत्तरेष्वि-

आयनेचायुर्वेदे त्रिदोषदिशा वातस्य योगवाहित्वाद्[1] शरीरे लोके च मुख्यप्रभाव-कारिणोः पित्तकफात्मकयोः[2] सूर्यचन्द्रमसोर्बलाबलमनुसृत्याऽऽदानकालः विसर्गकाल[3] श्रुति नामभ्यां व्यपदिश्यते। तत्र—

उत्तरायणम्—आदानकालः—शिशिरवसन्तग्रीष्माऋतवः सूर्यः प्रधानः।

दक्षिणायनम्—विसर्गकालः—वर्षाहशरद्धेमन्ता ऋतवे चन्द्रः प्रधानः।

आदानकालः (उत्तरायणम्)—

कालेस्मिन् भारतस्योत्तरगोलार्धे स्थितत्वात् सूर्यस्य सान्निध्यमस्ति, तेनादान-कालस्य कर्तारौ सूर्यः[4], तथा वायोर्योगवाहित्वात् वायुश्च भवतः। मानुः स्वकीयैः प्रखरैः करैर्जगतो जलीयांशं गृह्णाति, वायुश्च तीव्रतां रूक्षतां चापन्नो जलीयांशमुपशोषयति, परि-णामतः शिशिरवसन्तग्रीष्मेषु यथाक्रमं रूक्षतामुत्पादयन्[5] तथा रूक्षान् रसान्, तिक्तं,

---

तरे साधारणलक्षणास्त्रय ऋतवः प्रावृड्शरद्वसन्ता इति। एवमेते संशोधनमधि-कृत्य षड् विभज्यन्ते ऋतवः।

च० वि० ८।१२५

† ते तु भाद्रपदाद्येन द्विमासिकेन व्याख्याताः, तद्यथा—भाद्रपदाश्विनौ वर्षा, कार्तिकमार्गशीर्षौ—शरद्, पौषमाघौ—हेमन्तः, फाल्गुनचैत्रौ—वसन्तः, वैशाख-ज्येष्ठौ—ग्रीष्मः, आषाढश्रावणौ—प्रावृड् इति।

सु० सू० ६

‡ ग्रीष्मे मेषवृषौ प्रोक्तं प्रावृट् मिथुन कर्कयोः।
धनुर्ग्राहौ च हेमन्ते वसन्तकुम्भमीनयोः॥

शार्ङ्ग० प्र० खण्डम्।

१. योग वाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत।
उष्णकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्॥

२. शीतांशुः क्लेदयत्युर्वीं विवस्वान् शोषयत्यपि।
तावुभावपि संसृत्य वायुः पालयति प्रजाः॥

सु० सू० ६।

३. इह खलु संवत्सरषडंगमृतुविभागेन विद्यात्। तत्रादित्यस्योद्गमनं त्रीनृतून् शिशिरादीन् ग्रीष्मान्तान् व्यवस्येत्, वर्षादीन् पुनर्हेमन्तान्, दक्षिणायनम् विसर्गं च—च० सू० ६।४

४. आदनं पुनराग्नेयम्।

५. आददातिक्षपयति पृथिव्याः सौम्यांशं प्राणिनां च बलमित्यादानम्।

चक्रपाणिः

कषायं, कटुकञ्चाभिवर्धयन् शरीरेदौर्बल्यमावहति । शिशिरर्त्तौ-तस्यादानारम्भकत्वात्[1] वनस्पतिषु प्राणिषु च अल्पारूक्षत । द्रव्येषु तिक्त रसस्याभिवृद्धिः, प्राणिषु च चाल्पमात्रं[2] वलस्य ह्रासः संपद्यते । कालेस्मिन् भगवान् भास्करः उत्तरेण गमनं प्रारभते, मकरे कुम्भे चः राश्योः स्थितो भवति, तेन प्राणिनामधिकवलह्रासो न भवति । आदानस्य प्रथम-एष ऋतुः ।

वसन्तर्त्तौ—मीनेमेषे च राश्यो स्थितो भास्करः शिशिरापेक्षया तीव्रतरैः किरणैस्तपति, तेन भुवि मध्यमा रूक्षतोत्पद्यते, कषायो रसोऽभिवर्धते । प्राणिषु च मध्यमा दुर्बलता भवति ।

ग्रीष्मर्तौ[3]—भास्करो वृषे मिथुने च राश्योः स्थितः, अत्रर्तौ अतिप्रखरैः करैर्भुवि सर्वपदार्थेषु तीव्रतमारुक्षताउत्पद्यते, रुक्षतमः कटुरसोऽभिवर्द्धते, प्राणिषु चात्यन्तं दौर्बल्य-मावहति ।

एवं यथा यथा सूर्यकरेषु प्रखरत्वमायाति तथैव वलस्यनाशः वायोरभिवृद्धिश्च भवतः ।

विसर्गकालः (दक्षिणायनम्)—

दक्षिणायने स्थिते भगवति भास्करे भारतस्योत्तरीयगोलार्धस्थित्या सूर्यतोऽतिदूरे-स्थिति; तेन चन्द्रमसो वलमव्याहत (पूर्ण) भवति । स च स्वीयैः शिशिरैः करैः भुवं तर्प-यति, वायुश्च नाति रुक्षं प्रवहति, अत एव सौम्य[4]श्चन्द्रमाश्चास्य विशिष्टो निर्माता तेन

---

१. तत्र रविर्भाभिरादानो जगतः स्नेहं वायवस्तीव्ररुक्षाश्चोपशोषयन्तः शिशिर-वसन्तग्रीष्मेषु यथाक्रमं रौक्ष्यमुत्पाद्यन्ते, रूक्षान् रसान् तिक्तकषायकटुकाञ्चाभि-वर्धयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति ।

च० सू० ६।६

२. उत्तरे च शिशिरवसन्तग्रीष्मः । तेषु भगवानाप्यायतेऽर्कः तिक्त कशाय कटुकाश्च रसा वलवन्तो भवन्ति । उत्तरोत्तरं च सर्वं प्राणिनां वलमपहीयते ।

सु० सू० ६

३. तीक्ष्णांशुरतितीक्ष्णांशुर्ग्रीष्मे संक्षिपतीव यत् ।
प्रत्यहं क्षीयते श्लेष्मा तेन वायुश्च वर्धते ।।

अ० सू० ३

४. विसृजति जनयत्याप्यमंशं प्राणिनां च वलम् इति विसर्गः ।

चक्रपाणिः

विसर्ग: सौम्य:, अत्रतौ भगवान् चन्द्रः प्रकृतिमनुगृह्य रसान् विसृजति, अतो विसर्ग एष[1] काल: । तथा भास्करतेजो मेघेन वायुना वृष्ट्या च न्यूनं भवति, तेन वर्षाशरद्धेमन्तेषु ऋतुषु यथाक्रमं बलमभिवर्धते । तथा च, स्निग्धा रसा:—अम्ल:, लवण:[2], मधुर-श्चोत्पद्यन्ते ।

वर्षर्तौ—विसर्गस्य प्रारम्भिककाल:, सूर्यश्च कर्के सिंहे च राश्योः स्थितो नाति-दूरेऽस्ति ।

अतो भुवि, अल्प मात्रायां स्नेहस्यामृतरसस्य चाभिवृद्धिर्भवति, तेनाल्पमात्रमेव बलमुपचीयते ।

शरदृतौ[3]—कन्यायां तुलायां च राश्योः स्थित:सूर्य: पूर्वापेक्षया तस्य करा मन्दा भवन्ति, चन्द्रमसो बलमव्याहतं (पूर्णं) भवति, अतो भुवि मध्यमस्नेहस्य, मध्यम स्निग्धस्य लवण रसस्य चाभिवृद्धिर्भवति, तेन प्राणिषु मध्यममात्रायामेव बलमुपीयते ।

हेमन्तर्तौ—वृश्चिके धने च राश्योः स्थितो भास्करस्तेजसाऽतीव क्षीणो भवति । चन्द्रश्च पूर्णबलान् सन् पूर्णतया स्नेहमुत्पादयति । अतो भुवि सर्वद्रव्येष्वतिस्निग्धस्य मधुर-रसस्याभिवृद्धिर्भवति । तस्योपयोगेन च प्राणिषु बलस्य पूर्णवृद्धिर्भवति ।

एवं संक्षेपत:[4] विसर्गकालस्यादौ (वर्षायाम्) आदानकालस्यान्ते (ग्रीष्मे) च दौर्बल्यम्, विसर्गस्य मध्ये (शरदृतौ) आदानस्य मध्ये (वसन्ते) च मध्यमं बलम्, तथा च विसर्गस्यान्ते (हेमन्ते) आदानस्यादौ (शिशिरे) च प्राणिनामुत्तमं बलं भवतीति चक्रे-णानेन स्पष्टम् ।

---

१. विसर्गे पुनर्वायवो नातिरूक्षा: प्रवान्ति सोमश्चाव्याहतबल: शिशिराभिर्भाभिरा-पूरयन् जगदाप्यायति शश्वत्, अतो विसर्ग: सौम्य:—च० सू० ६

२. तयोर्दक्षिणं वर्षाशरद्धेमन्ता:, तेषु भगवानाप्यायते सोम: ।, अम्ललवण मधुरांश्च रसा: बलवन्तो भवन्ति । उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमभिवर्धते ।

सु० सू० ६

३. वर्षाशद्धेमन्तेषु तु दक्षिणाभिमुखेऽर्के कालमार्गमेघवातवर्षाभिहतप्रतापे, शशिनि चाव्याहतबले माहेन्द्रशलिल प्रशान्तसंतापे जगत्यरूक्षा रसा: प्रवर्धन्तेऽम्ललवण-मधुरा यथाक्रमं तत्रबलमुपचीयते नृणामिति ।

च० सू० ६,७

४. आदावन्ते च दौर्बल्यं विसर्गादानयोर्नृणाम् ।
मध्ये मध्ये बलं श्रेष्ठमग्रे च विनिर्दिशेत् ॥

च० सू० ६

संवत्सरः
आदानकालः (उत्तरायणम्)
विसर्गकालः (दक्षिणायनम्)
शिशिरः
वसन्तः
ग्रीष्मः
वर्षाः
शरद्
हेमन्तः
माघः
फाल्गुनः
चैत्रः
वैशाखः
ज्येष्ठः
आषाढ़ः
श्रावणः
भाद्रपदः
आश्विनः
कार्तिकः
मार्गशीर्षः
पौषः
तिक्तरसः
काषायरसः
कटुरसः
अम्लरसः
लवणरसः
मधुररसः
दौर्बल्यम्
मध्यमं बलम्
श्रेष्ठं बलम्
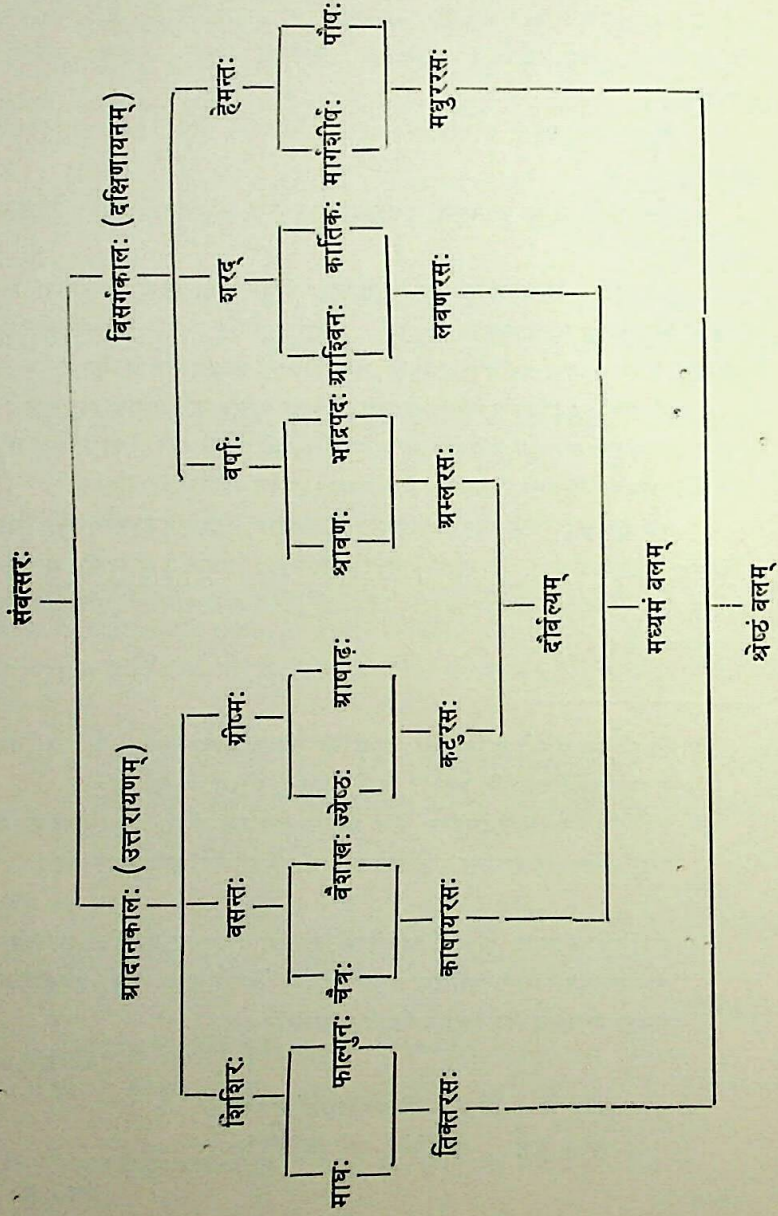
अतः स्पष्टं यद्धेमन्ते शिशिरे चोत्तमं बलं भवतीति हेमन्तमर्नदिं कृत्वाऽतिसंक्षेपत आचारादिव्यवस्था निर्दिश्यते।

हेमन्तर्तु चर्याः

ऋतावस्मिन् शीताधिक्याच्छीत[1]वायुसंस्पर्शाच्चाभ्यान्तरग्नेः बहिःसंचरणाभावादन्तरेवस्थित्या जठराग्निरत्यन्ततीव्रः संजायते, शारीरिक बलमप्युत्तमं भवति, तेन गुरवः पदार्थाः सुपाच्याः भवन्तिः। अतः स्निग्धपदार्थानाम् अम्ल कषाययो रसयोः सेवनम्, तथा मेदस्वि जीवानां मांस विलेशयानां गोधादीनाम्, तथा पक्षिणां च शूलं पक्वं मांसम्, गोरसम् इक्षुविवृतीः, वसाम्, तैलम्, नवौदनम्, उष्णजलम् मधु, मदिरां शीधुं चापि सेवयेत्। एतदभावे प्रबलोऽग्निर्धात्वादीनपि पाचयेत्,[2] तेन क्षीणता[3] सम्पद्यते।

आचारे च उष्णवस्त्राणां धारणं तथा शयनासने प्रवारेण (रजाई) अजिनेन (व्याघ्रमृगादीनां) कौशेयादिनिर्मित वस्त्रेण, शणनिर्मित वस्त्रेण, कन्थादिना वा सुसंस्कृतः कालं यापयेत्।

शरीरे चागुरोस्गाढं लेपनं विधेयम्। तथाऽगुरुणा गाढं लिप्तां प्रमदामपि आलिङ्गच शयेत्, यथाशक्तिकं मैथुनं च निषेवेत।

अपथ्यं चात्र वातवर्धकोलघ्वाहारोऽल्पाहारो, वा वायोरतिसेवनम्, उद्मन्थः (जलालोडित सक्तुः) भवति।

शिशिरर्तुचर्या

'हेमन्तशिशिरौ[4] तुल्यौ'' इति सामान्योक्तचा हेमन्तवदाहाराचरणमत्र विहितम्।

---

१. शीते शीतानिलस्पर्शः संरुद्धोबलिनां बली।
पक्ता भवति हेमन्ते मात्रा द्रव्यगुरुक्षमः॥
च० सू० ६

२. आहारान् पचति शिखी दोषानाहारवर्जितः।
दोषक्षये पचेद्धातून् प्राणान् धातुक्षये तथा॥
क्षेमकुतूहल

३. स यदा नेन्धनं युक्तं लभते देहजं तथा।
रसं हिनस्त्यतो वायुः शीतः शीते प्रकुप्यति॥
च० सू० ६

४. हेमन्तशिशिरौ तुल्यौ शिशिरेऽल्पं विशेषणम्।
रौक्ष्यमादानजं शीते मेघमारुत वर्षजभ्॥
च० सू० ६

परन्तु हेमन्ते विसर्गस्यान्तिमः कालः, अत्र चादनस्य प्रारम्भिकः कालस्तेनादानजन्या रूक्षता विशेषेण भवति, तथा मेघेन[1] वायुना वृष्ट्या च शीतमधिकं वर्धतेऽतो वात[2]रहित-मुष्णं गृहं भजेत्।

तथा वातवर्धनानि शीतलानि लघूनि कटुतिक्तकषायरसप्रधानानि चान्नपानानि विशेषण वर्जयेत्।

वसन्तर्तुचर्या

ऋतावस्मिन् हेमन्ते संचितः श्लेष्मा सूर्यकरैः प्रविलायितो जठराग्नौमन्दतामानयति। तेन[3] च बहवो रोगा जायन्ते। अतः कफनिर्हरणार्थवमनादि क्रियाऽत्र प्रशस्ता। देहे च मध्यमं बलं भवति। आरेपुराणयव[4]गोधूमादि भोजनं शरभशशकैण (कृष्णहरिण) लावकपिञ्जलानां मांसमुपसेवेत।

माध्वीकसीध्वोरनुपानं विधेयम्। मधुसेवनेन च कफस्य ह्रासो भवति।

आचारे—व्यायामः, उद्वर्तनम् धूम्रपानम् (कफ निर्हरणार्थम्), कवलग्रहः, अञ्जनम्, सुखोष्णवारिणा स्नानमाचरणीयम्।

शरीरे चन्दनागुर्वादीनां लेपः, शस्तः। विहारेपुष्पितकाननेषु चक्रमणम्। नवयुवतीनां स्त्रीणां मर्यादितमनुभवनम् (कफप्रशममात्रमेत्र विधेयम्) विहितम्। अपथ्यं च गुर्वाम्लि स्निग्धान्नपानानां, दिवास्वप्नस्य च सेवनं भवति।

---

१. शिशिरे शीतमधिकं मेघमारुत वर्षजम्।
रौक्ष्यं चादनजं तस्मात् कार्यः पूर्वाधिको विधि॥
अ० सं० सू० ४

२. निवातमुष्णंत्वधिकं शिशिरे गृहमाश्रयेत्।
च० सू० ६

३. वसन्ते निचितः श्लेष्मा दिनकृद्भाभिरीरितः।
कायाग्निं बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून्॥
तस्माद् वसन्ते कर्माणि वमनादीनि कारयेत्।
च० सू० ६

४. पुराणयवगोधूमक्षौद्रजाङ्गलशूलभुक्।
अ० हृ० सू० ३

ग्रीष्मर्तुचर्या

ऋतावस्मिन् भास्करः स्वप्रखरैः करैर्जगतः स्नेहांश[1]मुपशोषयति। तेनतीव्रारुक्षता सम्पद्यते। देहे चाल्पबलं भवति। अतः शीतं द्रवं प्रायः मधुरं स्निग्धं चान्नपान हितकरं भवति। घृतं दुग्धं शाल्यान्नं जाङ्गलानां पशुपक्षिणां मांसरसं चोपसेवेत।

घृतशर्करासहितः शीतंजलालोडितो मन्थ[2] (सक्तुः) पाने हितकारकः। अत्र मद्य[3] सेवनस्य निषेधः तथाभ्यस्तमद्यानां कृतेऽल्पमात्रायामतिजलमिश्रितं पेयम् इति विधिर्दत्तः।

विहारः—अत्र दिवाशीतगृहे, साम्प्रतमुपलभ्यमाने (Air Condition Cold Room), रात्रौ च चन्द्रकिरणैः शिशिरे प्रभाते हर्म्यपृष्ठे चन्दनलिप्तगात्रः शयीत।

मुक्तामणिविभूपितम् चन्दनोदकशीतलैः पाणिसंस्पर्शैस्तालव्यजनैश्चसेव्यमान उपविशेत्।

शीतान्येवोपवनानि कुसुमानि जलानि च सेवेत।

अवश्यं चात्र—मैथुनस्य, व्यायामस्य, लवणाम्लकटुरसानामुष्णवीर्यद्रव्याणां च सेवनं भवति।

वर्षर्तुचर्या

विसर्गस्यैष प्रथमः कालः। अतः प्रथमत एव आदानि कालाद् दुर्बले देहे जठराग्निरपि दुर्बलो भवति। सभूयोऽपि वर्षासुदूषितैर्वातादिभिः कृत्वा तथा भूवाष्पाद् मेघस्तनितात्, जलस्याम्ल विपाकाच्चात्यन्तं क्षीणो भवति। तेन विशेषेण वातः प्रकुप्यति, तस्य योगवाहित्वादनुवन्धरूपेणान्यौ पित्तकफावपि कुप्यतः, अत्र साधारणतया त्रिदोषघ्ना-विधयो विशेषोऽग्निदीपना[4] निषवेणीयाः।

---

१. मयूखैर्जगतः स्नेहं ग्रीष्मे पेपीयते रविः।
स्वादुशीतद्रवस्निग्धमन्नपानं तदाहितम्॥
च० सू० ६

२. सक्तवः सर्पिषा युक्तां शीतवारिपरिप्लुताः।
नात्यच्छा नातिसान्द्राश्च मन्थ इत्यभिधीयते॥
चरकोपस्कारः

३. मद्यं न पेयं पेयं वा स्वल्पं सुबहु वारि वा।
अन्यथा शोथ शैथिल्यदाहमोहान् करोति तत्॥
अ० हृ० सू० ३

४. वह्निनैव च मन्देन तेष्वित्यन्योन्य दूषिषु।
भजेत् साधारणं सर्वमूष्मणस्ते जनं च यत्॥
अ० हृ० सू० ३

रसेषु च वातशान्त्यर्थमम्ललवणरसयोः स्निग्धपदार्थानां च सेवनं हितम्। जठराग्नि संरक्षरणाय च पुराणा यवा गोधूमाः शाल्यः जाङ्गल पशुपक्षिणां मांसरसैः संस्कृतै र्यूषैश्च भक्षयेत्। तथा पाने भोजने च विशेषेण मधु प्रयोजयेत्। यद्यपि निघण्टुषु[1] मधु अल्प वातलं निर्दिष्टम्, तेन वातवर्धकं स्यात् तथापि वर्षर्तु जन्यक्लेदोष, शामकत्वेनास्यावश्यकतानुसारेण प्रयोगं आचरणीयम् तथा मधुमिश्रं माध्वीकम् (मधूकपुष्पनिर्मितं मद्यं) अरिष्टं जलं च सेवनीयम्। जलस्य सदोषत्वादम्लविपाकत्वाच्च तडागजं कौपं वार्षिकं वापिजलं क्वाथयित्वा पुनः शीतलं विधाय प्रयोक्तव्यम्।[2]

स्वच्छानां लघूनां च वस्त्राणां परिधानं देहाद्यघर्षणम्, उद्वर्तनम्, स्नानम्, चन्दानादि सुगन्धिद्रव्यमर्दनम्, सुगन्धि पुष्पमानां धारणं च विधेयम्।

आवासार्थं च क्लेदरहितं मशकादिभिश्चायुक्तं[3] भूवाष्परहितं विशेषतो हर्म्यमध्यभागः शस्तः।

अपथ्यानि—दिवास्वप्नः, अवश्यायः (ओससेवनम्), नदीजलपानम्, उद्मन्थ अधिकजलालोडित सत्तुपानम्) व्यायामः व्यवायश्च भवन्ति।

शरदृतुचर्या

ऋतावास्मिन् शारीरिक बलं मध्यमं भवति। वर्षासु शीताभ्यासाद् पुनः सूर्यस्य प्रखरकिरणतापेन संचितं पित्तं प्रकुप्यति। तन्निरर्हरणार्थं च विरेचनं प्रयोक्तव्यम्। अतो बुभुक्षायां जागरितायां मधुरं रिक्तरसयुक्तं च लघुगुणक शीत वीर्यं पित्तशामकमन्नपानं मात्रानुसारं हितकरं भवति।

आहारे च—यवाः गोधूमाः शालयः सेवनीयास्तथा मांसाहारिणां कृते च लावः (बटेर), कपिंजलः (गौरैया), एणः (कृष्ण हरिणः), उरभ्र (दुम्बा-भेड़), शरभ (वारह-

---

१. मधु शीतं लघु स्वादु रूक्षस्वर्थं च ग्राहकम्।
अनन्दकृच्च तुवरं चाल्पवातप्रदं मतम्॥
नि०

२. पानभोजनसंस्कारान् प्रायश्छौद्रान्वितान् भजेत्।
चरकः

३. असरीसृपभूवाष्प शीत॰ मारुतशीकरम्।
साग्निमानं च भवनं निर्दंशमशकोन्दुरम्॥
अ० सं० सू० ८

सिगा), शशकः (खरगोश), एतेषां मांसं सेवनीयम्। शरदृतौ[1] सर्वेषां प्राणिनां रक्तमुष्णं भवति, तेन रिक्त द्रव्यैः सिद्धस्य सर्पिषः पानं विहितम्, आवश्यके रक्तमोक्षणमपि विधेयम्।

विहारे च प्रातः सूर्य किरणानामुपसेवनञ्चास्मिनृतौ विहितं। प्रदोषे चन्द्रकिरणानामपि सेवनं हितकरम्, तथा हंसोदकेन च स्नानं पानयम्यवहरणं विधेयम्।

आचारे च—स्वच्छवस्त्र धारणम्, शरदृतूद्भव पुष्पाणां माल्यधारणं प्रशस्तम्।

अपथ्यानि च—वसा, तैलं अशस्पायम् (ओस) औदकं, मांसं, आनूप मांसं, क्षारं, दधि, दिवास्वप्न[2] प्रग्वालश्च भवति।

संशोधनदृशा-ऋतुविभागः

संशोधने च विशेष ऋतुविभाग आकलितस्तत्तुसाधारणलक्षणेषु[3] प्रावृट्शरद्वसन्तेषुमन्दवर्षाशीतोष्णत्वात् संशोधनानि प्रयुक्तानि[4] हिततमानि भवन्ति। अन्येषु च वर्षा हेमन्तग्रीष्मेषु अत्यर्थवर्षाशीतोष्णत्वादुपद्रवकराण्यतोऽहिततयानिसंशोधनस्यक्ते, तत्रापि संशोधनमधिकृत्य विशेषविचारणायां चैत्र[4] कफस्य, श्रवणे वातस्य, मार्गशीर्षे च पित्तस्य

---

१. शरत्कालेस्वभावाच्च शोषितं संप्रदुष्यति।
च० सू० २

२. दिवासूर्यांशुसंतप्तं निशि चन्द्रांशु शीतलम्।
कालेन पक्वं निर्दोषमगस्त्येनाविषीकृतम्॥
हंसोदकमितिख्यातं शारदं विमलं शुचि।
च० सू० ६

३. तत्र साधारणलक्षणेष्वृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिर्विधीयते, निर्वृत्तिरितरेषु, साधारणलक्षणा हि मन्दशीतोष्णवर्षत्वात्सुखतमाश्चभवन्त्यविकल्पाश्चशरीरौषधीनाम्, इतरे पुनरत्यर्थशीतोष्णवर्षास्वादुःखतमाश्च भवन्ति विकल्पाश्च शरीरौषधीनाम्।
च० वि० ८

४. माधव प्रथमे मासि नभस्य प्रथमे पुनः।
सहस्पप्रथमे चैव हारयेद्दोषसंचयम्॥
च० सू० ७

त्रिमासान्तरितं[१] निर्हरणं समीचीनं भवतीत्युक्तम् । यतोयदिवसन्तर्तौ: प्रथमे मासे-फाल्गुने कफस्य निर्हरणं विधीयते चेत्तर्हि पुनः स चैत्रे कफरोगसमुद्भावेन कालशेषत्वात् कदाचित्प्रभवेद् अतस्तदुत्तरमासेष्वेवनिर्हरणस्यविधानं कृतम् । एवं कृते दोषा अपि प्रवद्धा सम्यक्तया निर्हृता भवन्ति ।

स्वास्थ्यरक्षायां संशोधनस्य विशेषेण भवति, यतो दोषाणां चयप्रकोपोपशमं सम्यग्विज्ञाय तदनुसारं चय[२] एवानुकूलाहारविहारादिद्वारा जितादोषा कथमपि विकार-करणे न शक्ताभवन्ति[३] । यदि कथंचिन्मिथ्याहारादिद्वाराकदाचिद् वृद्धा अपि तदा प्राकृत[४]-क्रमेण प्राकृतकाले निर्हरणेन शरीरस्याव्यापन्नत्वं न क्षीयते । एवं हेमन्ते[५] संचितस्य श्लेषमणो वसन्ते (चैत्रे) ग्रीष्मे संचितस्य वातस्य प्रावृषि (श्रावणे) तथा वर्षायां संचितस्य पित्तस्य शरदि (मार्गशीर्षे) विकार[६]दर्शनात्पूर्वमेव निवारणं कुर्वन् कदाचिदपि ऋतुसमुद्भ-वान् रोगान्नसमाप्नोति । शरीरं चाव्याहतवलं (पूर्णवलशाली) भवति । यदि कदाचिद-ल्पवलत्वात्प्रकोपकालेऽनिर्हृता अपि दोषा विकारसमुद्भावनेऽशक्ताः तदा प्रशमकाले स्वत एव शाम्यन्ति[७] ।

---

१. प्रावृट् शरद्वसन्तानां मासेष्वेतेषु वा हरेत् ।
साधारणेषुविधिना त्रिमासान्तरितान् हरेत् ।।
वृहद्वाग्भट ८

२. चय एव जयेद्दोषम् । वाग्भटः

३. संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः ।
ते तूत्तराषु गतिषु भवन्तिवलवत्तराः ।। सुश्रुतः

४. वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात् ।
अ० हृ० वि० २

५. हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले घनात्यये वार्षिकमाशु-सम्यक् प्राप्नोति रोगानृतुजान न जातु । च० शा० २

६. हरेद्वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत् ।
वर्षासुशमयेद्वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्रयात् ।।
सु० सू० ६

७. तत्र पैत्तिकानां व्याधीनामुपशमो
हेमन्ते श्लेष्मिकाणां, निदाघे वातिकानां, शरदि स्वभावत एव
सु० सू० ६

संचयप्रकोप प्रशमप्रदर्शकचक्रम्

	संचयः	प्रकोपः, संशोधनम्	प्रशमः
वातः	ग्रीष्मः	प्रावृट्	शरद्
पित्तम्	वर्षा	शरद्	हेमन्तः
कफः	हेमन्तः	वसन्तः	ग्रीष्मः

चक्रेणानेन स्पष्टं यद्ग्रीष्मे ओषधय आपश्च निर्बला रूक्षा अत्यर्थं लघ्वाश्च भवन्ति। शरीरं च भानोः प्रचण्डातपेन शोषितो भवति। एवमेता उपयुज्यमाना रूक्षे देहे रौक्ष्याल्लाघव वैशद्याच्च वायोस्तुल्यत्वाद् वायोः संचयं संपादयन्ति। संचय एष प्रावृषि देहस्य भूमेश्च जलक्लिन्नत्वाद् शीतवायुना वर्षया च प्रेरितो वातिकान् व्याधीन् उत्पादयति।

वर्षास्वोषधयोऽल्पवीर्या भवन्ति। आपश्चभूमिजलयेन मलिना भवन्ति। प्राणिनां देहश्च क्लिन्नतो भवति। एवं क्लिन्न देहे, क्लिन्नाणां भूमौ, आकाशे च मेघाविष्टेऽल्पवीर्या ओषधयो मलिना आपश्चोपभुज्यमाना प्रकुपितं वातेनाग्नेर्विष्टम्भितत्वाद् विदाहमुत्पादयन्ति। विदाहाच्च पित्तसंचयो भवति। एष संचयः शरत्काले यदाऽऽकाशो निरभ्रः, भूमिः पङ्करहिता, सूर्यकरा अपि तीव्रतराः भवन्ति, तदा तीव्रसूर्यकरैः प्रेरितः पैत्तिकान् व्याधीमुत्पादयति।

हेमन्ते चौषधयः परिपक्ववीर्या बलशालिनः स्निग्धा गुरवश्च भवन्ति। आपो निर्मलाः स्निग्धा गुर्व्यो भवन्ति। देहश्च शीतवातेनोपष्टम्भितो भवति। एवम्भूते देहे चैवम्भूता औषधय आपश्चोपयुज्यमानाः सूर्यस्य मन्दकिरणत्वात् कफस्य संचयमाचरन्ति। एष संचयो वसन्ततौं किञ्चित्स्तब्धदेहे सूर्यकिरणैः प्रेरितः कफजान् व्याधीन् उत्पादयति।

एष विधिरनातपणिकावस्थायामव्यापन्ने[1] चर्तौ समाचरणीया। यत्रऽनुरागे ऋतूनां

---

१. आत्ययिके पुनः कर्मणि कामऋतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेनयथर्तुगुणविपरीतेन भेषजं संयोगप्रमाणविकल्पेनोपपाद्य प्रमाणवीर्यसमं कृत्वा ततः प्रयोजयेत्।

चरकः

च हीनमिथ्यातियोगेन विपन्नत्वे दोषनिर्हरणस्यावश्यकता संपद्येत, तदा यथेच्छमृतुविभाग-माकलया विज्ञैस्तन्निर्हरणं विधेयम्। अथवा तदनुसारेणं भेषजयोजनं विधेयम्। उपलक्षणार्थमहोरात्रमप्यृतुलिङ्गानुसारेण षट्सु विभागेषु विभक्तम्। यथा पूर्वाह्णे[१] वसन्तस्य, मध्याह्ने ग्रीष्मस्य, अपराह्णे प्रावृषः, प्रदोषे वर्षायाः, अर्धरात्रौ शरदः, ब्राह्मे मुहूर्ते च हेमन्तस्य कालः प्रतिपादितः, तथैतेष्वपि ऋतुचक्रानुसारेणैव संचयप्रकोपोपशमा भवन्ति। किन्त्वल्पबलत्वादल्पकालस्थायित्वाच्चैते स्वयमेव स्वस्थवृत्तपरिपालनेन शाम्यन्ति। किन्तु ऋतुजा दोषसंशोधनैः संशुद्धिमपेक्षन्ते।

अहोरात्रस्यर्तु विभागः

अहोरात्रविभागः	पूर्वाह्णे	मध्याह्ने	अपराह्णे	प्रदोषे	अर्धरात्रे	प्रत्युषसि
ऋतुलिङ्गम्	वसन्तः	ग्रीष्मः	प्रावृट्	वर्षाः	शरद्	हेमन्तः
संचयः	—	वातस्य	—	पित्तस्य	—	कफस्य
प्रकोपः	कफस्य	—	वातस्य	—	पित्तस्य	—
प्रशमः	—	कफस्य	—	—	वातस्य	पित्तस्य

ऋतुसन्धिः

एवमृतूनां भिन्नलक्षणकत्वात् तेषु सेवनीयानामपि वैविध्यादाचार्यैर्ऋतुसन्धि-कालस्यव्यवस्थाऽऽचरिता। तत्र प्रत्येकं ऋतोरन्तिमः प्रथमश्च सप्ताह ऋतुसन्धिर्ख्यातः।[२] यथा वसन्तस्यान्तिमो ग्रीष्मस्य च प्रथमः सप्ताह एकः ऋतुसन्धिस्तत्र क्रमशो वासन्तिका-हारविहारस्य त्यागो ग्रैष्मिकस्य चाहारविहारस्य परिशीलनं विधेयम् एवं कृते, ऋतु-भेदकृता व्याधयो न भवितुमर्हन्तीति विशेषतः परिफलनीय एष कालः।

---

१. तत्र पूर्वाह्णे वसन्तस्य लिङ्गम्, मध्याह्ने ग्रीष्मस्य, अपराह्णे प्रावृषः, प्रदोषे वार्षिकम्, शारदमर्धरात्रे, प्रत्युषसि हैमन्तमुपलक्षयेत। एवमहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्षलक्षणं दोषोपचयप्रकोपोपशमैर्जानीयात्।

सु० सू० ६।१५

२. ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः।
तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीयोऽपहक्रमात्॥

वाग्भटः

डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थः

हस्तलिखित प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थ-परिचयः

पण्डितश्री विपिनचन्द्र गोस्वामी

प्राचीन कामरूपस्य प्राग्ज्योतिषपुरे (वर्तमान-असम-राज्यान्तर्गत-गुवाहाटीनगरे) द्वादशाधिकोनविंशशत-खृीष्टाब्दे (१६१२) महामहोपाध्यायपण्डितप्रवरधीरेश्वर भट्टाचार्य, कविरत्न प्रभृतिनामैकान्तिकचेष्टया कामरूपानुसन्धान समितिरिति नाम्ना समितिरेका संस्थापिताभूत्। समितिरस्या उद्देश्यमासीद् असमीय-भाषाकृष्टि-सभ्यता-प्रभृतीनां विषये गवेषणाकरणम्, प्राचीन हस्तलिखित संस्कृत असमीय ग्रन्थानां च संग्रहं कृत्वा तेषां मुद्रणम्। पूर्वोल्लिखितोद्देश्यमवलम्ब्य समिति-पक्षतः प्राचीना बहवो हस्तलिखित-मातृभाषा-ग्रन्थाः संस्कृत ग्रन्थाश्च समितिकर्त्तृपक्षैः संगृहीताः।

एकषष्टयधिकोनविंशशतखृीष्टाब्दे (१६६१) कामरूपानुसन्धान समित्या सह राज्यिकप्रत्नतत्त्वविभागोऽपि राज्यिकसर्वकारेण प्रतिष्ठापितः। वर्तमान समये समितेरस्याः (सभापति) श्री प्रेमधरचौधुरि एम० ए० वि० एस० महोदयः। श्री मुरारिमोहन दास एम० ए०, डॉ० प्रफुल्लदत्त गोस्वामी एम० ए० महोदयश्चेति द्वावेव समितेरस्या युग्मसम्पादकौ।

अस्यां समितौ हस्तलिखिता बहवः संस्कृताग्रन्थाः विद्यन्ते। तेषां मध्ये चतुर्णां हस्तलिखितसंस्कृतग्रन्थानां संक्षेपेण परिचयो मयाधस्ताद् दीयते।

(१) प्रश्नसारावली

ग्रन्थोऽयं प्राचीने साचीपत्रे विलिखितोऽस्ति। ग्रन्थेऽस्मिनष्टत्रिंशत पत्राणि सन्ति। प्रतिपत्रं चित्रं वर्त्तते। चित्राणां सङ्कलनेन चत्वारिंशदधिकशतसंख्यकानिचित्राणि भवन्ति। प्रतिचित्रं षोडशसंख्यकभागा विद्यन्ते। तेषु भागेषु च चत्वारिंशदधिकशत-संख्यकप्रश्नानामुत्तराणि सन्ति। अस्य ग्रन्थस्य विषयवस्तु हर-गौरी-संवाद तन्त्रात् संग्रहीतम्। अशीत्यधिकषोडशशतशकाब्दे (१६८०) ग्रन्थस्यास्य प्रतिलिपिः कृता, परन्तु ग्रन्थस्य रचना कदाभूत, को वास्य रचयितेति न ज्ञायते। "असमराज्यस्यै मुख्य-वैष्णवाचार्याद् आउनी-आटीय-सत्राधिकाराद् आनीतोऽयं ग्रन्थ इति समितेर्मुद्रितसूचीपत्रात्ज्ञातुं शक्यते।"

प्रणम्य सच्चिदानन्दं भास्करं जगदीश्वरम् ।
प्रश्नसारावलीनाम्ना रचित्यं लोकसंहिता ।।

अथ प्रेम-पति-स्त्री-अपत्य-चिन्ता, प्रसवे शीघ्र-विलम्बचिन्ता, जातकस्य सुख-दुःख-चिन्ता, प्रसवकाले मातॄणां सुःख-दुखे, मातॄणां सुख-दुःख-चिन्ता, जातकस्यायुश्चिन्तेत्यादिना ग्रन्थस्य प्रारम्भस्तथैकेन चित्रेण सह ग्रन्थस्य समाप्तिः ।

(२) मूर्खबोधव्यवस्थासंग्रहः

अयमपि ग्रन्थः प्राचीनसाचीपत्रे लिखितो वर्त्तते । ग्रन्थेऽस्मिन् द्विरशीति (८२) पत्राणि सन्ति । पत्राणामुभयस्मिन् भागे दश द्वादश वाक्षरपङ्क्तयो वर्त्तन्ते । ग्रन्थस्यास्य लेखकविषये निर्माणसमयविषये च किमपि न ज्ञायते । परन्तु एकविंशत्यधिकमप्तदशशत-शकाब्दे भूधरदेवशर्मनामेकन केनचित् पण्डितेन ग्रन्थस्यास्य प्रतिलिपिः कृतेति ज्ञायते । ग्रन्थस्य दर्शनेन भूधरदेवशर्म्मैवास्य ग्रन्थस्य रचयितेति वक्तुं शक्यते । अथ शुद्धिव्यवस्था निर्णयः । तत्रादौ शुद्धि पदार्थो निरूप्यते इत्यादिना ग्रन्थस्य प्रारम्भं कृत्यादौ पवित्रता कीदृशीति ग्रन्थकारेण प्रतिपादितम् । ततो विभिन्नजाति मध्ये स्वजनानां सम्वन्धिनां वा मरणे च केन नियमेन व्रतानि कति दिनानि यावत् कर्त्तव्यानीति विलिख्य चान्द्रमासीय-दिनेषु कर्त्तव्यकर्माणि ग्रन्थकृता प्रोक्तानि । तदनन्तरं चन्द्रग्रहणे सूर्यग्रहणे वा कया रीत्या धर्म्मकार्य्यं सम्पादनीयमिति सुन्दररूपेण वर्णितम् । ततः संक्षेपेणाङ्गुरीयपरिधानस्य श्राद्धस्य च कथा ग्रन्थेऽस्मिनुल्लिखिता । शेषभागे पैत्रिकसम्पत्तिविभागस्य नियमो विशेष-रूपेण विलिखितः ।

(३) षट्चक्रम्

अयं ग्रन्थोऽपि साचीपत्रे विलिखितो वर्त्तते । अस्य ग्रन्थस्य रचयिता पूर्णानन्द-परमहंसः । समयस्तु न ज्ञायते । ग्रन्थेऽस्मिन् लिखितं वर्त्तते यत् मनुष्यस्य शरीरे कमल-सदृशानि षट्चक्राणि विद्यन्ते । एतानि षट्चक्राणि इडा-पिङ्गला-सुषुम्नानाडीभिः संलग्नानि वर्त्तन्ते । अतः परमपि चित्रब्रह्म-भेदेन विभिन्ना वह्वयो नाड्यो विद्यन्ते । ग्रन्थेऽस्मिन् बहवः सदुपदेशाः सन्ति । येषां पालनेन जना उत्कर्षलाभं कर्त्तुं शक्नुवन्ति । उत्कर्षसाधनार्थ-ञ्चैभिः षट्चक्रैः सह मनसः संयोगः स्थापनीयः । तदा हि जनः काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद मात्सर्य्याणां जयेऽपि समर्थो भवति । शरीरस्थ षड्रिपूणां जयेन चोत्कर्षसाधनं सम्भवति हि ।

अथ तन्त्रानुसारेण षट्चक्रादि-क्रमोद्गतः ।
उच्यते परमानन्द-निर्व्वाहः प्रथमाङ्कुरः ।।

"अथ षट्चक्रविधिर्लिख्यते, इत्यनेन ग्रन्थस्यास्य प्रारम्भः कृतो ग्रन्थकृता, तथा सर्व्वसिद्धिप्रदश्रीगुरुपादपद्मसेवैव हेतुरित्यन्तेन च ग्रन्थस्य समाप्ति कृता।

(४) समयामृतम्

महानयं ग्रन्थः साचीपत्रे विलिखितोऽस्ति। अस्य ग्रन्थस्य रचको मथुरानाथ-विद्यालङ्कारः। पुस्तकात् समयस्य निर्णयो न लभ्यते। चतुर्विंशत्यधिकसप्तदशशतशकाब्दे सुरकान्तदेवशर्मगोस्वामिना ग्रन्थस्यास्य प्रतिलिपिः कृता। शुभकार्य्य-सम्पादनाय केन प्रकारेण शुभसमयस्य निर्णयो भवति, तस्य प्रणाली ग्रन्थेऽस्मिन् वाहुल्येन वर्त्तते। असम-राज्यान्तर्गतशिवसागरजेताया मोरहाट-नगर-निवासिनः कृष्णकान्त भट्टाचार्य्यस्य सकाशाल्लब्धोऽयं ग्रन्थः। ग्रन्थस्यास्य प्रथमे भागे ऊनत्रिंशत् पत्राणि, द्वितीये भागे च पञ्चविंशत्यधिकशतसंख्यकपत्राणि वर्त्तन्ते। द्वितीय खण्डस्य षट्पत्राणि न सन्ति। अत्र वर्णितविषयः सुमधुरश्लोकेन विलिखितः।

शुभाशुभ फलव्यक्ति निर्वृत्त-वृत्तिहेतवे।
विश्वस्रष्ट्रे नमस्तस्मै कस्मैचित् कालरूपिणे॥

इति श्लोकेन ग्रन्थस्य प्रारम्भः कृतो ग्रन्थकारेण, तद्यथा—

दिवसत्रयमध्ये चेत्मृदुपानीयवर्षणम्।
तदातत्-पाद-दोषाणां शमनं मुनयो विदुः॥

इति मथुरानाथ विद्यालङ्कार निर्मितं व्यवहारविशुद्धचर्थं सम्पूर्णं समयामृत-मित्यन्तेन ग्रन्थस्य समाप्तिः कृता ग्रन्थकारेण।

असमराज्यस्येतिहासविभागः पुरातत्वविभागश्च

अष्टाविंशत्यधिकोनविंशशतख्रीष्टाब्दे (१९२८) "असमराज्यिक-सर्वकारेणैष विभागः संस्थापितः। अस्य विभागस्याधिकर्त्तासीद् डॉ० सूर्य्याकुमारभूर्जा एम्० ए०, वि० एल्०, पी-एच्०-डी०, डी० लिट् महोदयः। वर्त्तमानसमयेऽस्य विभागस्याधिकर्त्ता डॉ० प्रतापचन्द्र चौधुरि एम्० ए०, पी-एच्० डी० महोदयः। विभागेऽस्मिन् तन्त्र-काव्य-स्तोत्रछन्दोनीतिस्मृतिनाटकदर्शनपुराणज्योतिषव्याकरणायुर्व्वेद-क्रियाकाण्ड - पूज्यविधि-विषयकाः सार्द्ध चतुश्शतसंख्यकाः (४५०) हस्तलिखिताः संस्कृतग्रन्था विद्यन्ते। तेषां मध्ये केचन ग्रन्था मुद्रिताः। अमुद्रितहस्तलिखितग्रन्थानां मध्यतो मयाधस्तात् कतिपयसंस्कृतग्रन्थानां संक्षेपः परिचयो दीयते।

दर्शनग्रन्थः

(५) नामघोषा

भावार्थदीपिका-भक्तिविवेक-भक्तिरत्नावलीप्रभृतिग्रन्थेभ्य आवश्यकश्लोकानां संग्रहं कृत्वा माधवदेवो नामघोषेतिनाम्ना मातृभाषयाग्रन्थमिमं व्यलिखत्। प्राचीनसाचीपत्रे विलिखितस्यास्य ग्रन्थस्यचतुस्त्रिशत्पत्राणि सन्ति। तथा च ग्रन्थेऽस्मिन्नूनत्रिंशदधिकद्विशतसंख्यक संस्कृतश्लोका विद्यन्ते।

ज्योतिषग्रन्थाः

(६) ज्योतिषशास्त्रम्

एतद्ग्रन्थरचकस्य तत्समयस्य च परिचयो न लभ्यते। परन्तु सुप्राचीनोऽयं ग्रन्थ इति ज्ञातुं शक्यते। ग्रन्थेऽस्मिन् जनानां जीवनस्य घटना-पात्रसूचकाश्चतुःषष्टिश्लोकाः सन्ति।

(७) सौरमानज्योतिषम्

ग्रन्थस्यास्य रचकस्य नाम निर्म्माणस्य च समयो न ज्ञायते। अस्मिन् ग्रन्थे सूर्य्यग्रहणस्यचन्द्रग्रहणस्य च विषये सम्यग् वर्णना वर्त्तते।

(८) प्रश्नविद्या

एतद्ग्रन्थरचकस्य समयस्य च निर्णयो न सम्भवति। तुलापत्रे लिखितोऽयं ग्रन्थः। प्रश्नानां वर्णानुसारेण आयव्यययोः कथात्र विलिखितास्ति।

(९) अद्भुतचरित्रम्

अस्य ग्रन्थस्यापि रचकस्य नाम न ज्ञायते, परन्तु षडधिकाष्टादशशतशकाब्दे अमूराम नाम्ना केनचित् पण्डितेनास्य ग्रन्थस्य प्रतिलिपिः कृतेति ज्ञायते। ग्रन्थेऽस्मिन्नद्भुतविषये विशेषभावेन वर्णना विद्यते।

व्याकरणग्रन्थाः

(१०) शब्दभेदप्रकाशः

(११) अङ्कुरावलीकोषः

(१२) णकारभेदः

एतौ 'शब्दभेदप्रकाशः', 'अङ्कुरावलीकोषः' इति द्वौ पञ्चदशशतशकाब्दाय आरभ्य षोडशशतशकाब्दमध्ये महामहोपाध्यायपुरुषोत्तमभट्टाचार्यविद्यावागीशेन विलिखतौ। शब्दभेदप्रकाशे एकस्यैव शब्दस्य विभिन्ना अर्था लिखिताः सन्ति। अङ्कुरावलीकोषे तु शब्दानामर्थप्रदर्शनपूर्वकं तेषां शब्दानां व्याख्यापि च ग्रन्थकारेण प्रदत्ता। णकारभेदनामकं ग्रन्थमपि पञ्चदशशतशकाब्दादारभ्य षोडशशतशकाब्दमध्ये पण्डितजयकृष्णो व्यलिखत्। अत्र णत्वविषये नियमो वर्त्तते।

तन्त्रशास्त्रस्य ग्रन्थः

(१३) हरगौरीसंवादः

अस्य 'ग्रन्थस्य' रचकः क आसीदिति न ज्ञायते, परन्तूनविंशत्यधिकाष्टादशशतशकाब्दे गोपालचन्द्रगोस्वामि-उमाकान्तगोस्वामिभ्यां ग्रन्थस्यास्य प्रतिलिपिः कृता। योगिनीतन्त्रवत् कालिकापुराणवच्चप्राचीनकामरूपस्य राजनीतिकादीतिहासविवरण-समन्वितस्तन्त्रग्रन्थोऽयम्।

नीतिशास्त्रग्रन्थः

(१४) इतिहाससमुच्चयः

अस्य ग्रन्थस्य लेखको व्यासदेवनामकः कश्चित् पण्डितः। सप्तसप्तत्यधिकषोडशशतशकाब्देऽस्य ग्रन्थस्य प्रतिलिपिर्जाता। महाभारतस्यामृतवर्षिणीं कथां प्रबन्धाकारेण नीतिकथारूपेण च व्यलिखद् ग्रन्थकारः।

क्रियाकाण्डस्य ग्रन्थः

(१५) उद्वाहभास्करः

द्विचत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतशकाब्दे पण्डितप्रवरपीताम्बरसिद्धान्तवागीशभट्टाचार्य्येण विलिखितोऽयं ग्रन्थः। विवाहस्य श्राद्धादिविषये ज्ञानार्थम् उत्कृष्टोऽयं ग्रन्थः।

आयुर्वेदग्रन्थाः

(१६) व्याधिसङ्कुरः

अस्य ग्रन्थस्य लेखको नारायणदासकविराजः। कस्मिन् समये ग्रन्थोऽयं विलिखितो

ग्रन्थकारेणेति ग्रन्थाद् न ज्ञायते। ग्रन्थेऽस्मिन् विभिन्न रोगाणां तथा तेषां पथ्यापथ्य-व्यवस्था च विद्यते।

(१७) रसमञ्जरी

पञ्चपञ्चाशदधिकषोडशशतशकाब्दे शालीनाथनामकः कश्चित् पण्डितो ग्रन्थमिमं लिखितवान्। अस्मिन् ग्रन्थेऽष्टधातुभिः कया रीत्यौषधनिर्म्माणं क्रियते, तस्य प्रणाली सुन्दरभावेन लिखितास्ति।

(१८) सारावली

अस्य ग्रन्थस्य लेखको रामचन्द्र शर्म्मा। समयस्तु ग्रन्थाद् न ज्ञायते। वातपित्त-कफजरोगाणां चिकित्साप्रणाली चूर्ण-अरिष्ट-वटिका-तैलादीनां निर्माणप्रकारस्य प्रणाली च ग्रन्थेऽस्मिन् वाहुल्येनविलिखितास्ति।

(१९) शरीरदोषसंग्रहः

ग्रन्थस्यास्यकर्त्तुनिर्म्माणसमयस्य च कथा न ज्ञायते। अत्र नाडी-मल-मूत्राणां परीक्षापद्धतिर्विद्यते। स्त्रीरोगस्य बालरोगस्य च चिकित्सात्रास्ति। ग्रन्थेऽस्मिन् मन्त्र-चिकित्साया अपि कथा लभ्यते। शरीरस्य विभिन्नाङ्गानां रोगविवरणं तद्रोगाणां विनाशाय वनजौषधव्यवस्था चात्र विद्यते।

काव्यग्रन्थः

(२०) सटीकसारदीपिका

ग्रन्थस्यास्य टीकाकर्त्ता रत्नाकर कन्दलिनामकः कश्चित् पण्डितः। षड्विंशत्य-धिकषोडशतशकाब्दे (१६२६) कमलपाठकनाम्ना केनचित् पण्डितेनास्यप्रतिलिपिः कृता। प्राचीनकामरूपान्तर्गत—(वर्त्तमानवङ्गान्तर्गत) कोचविहारराजस्य शुक्लध्वजाभिधानस्य (चितारायनामकस्य) राज्ञ आदेशेन सारदीपिकेति नाम्ना गीतगोविन्दस्य सटीकं संस्कृत-गद्यात्मकं ग्रन्थमिमं रत्नाकरकन्दलिः कृतवान्। अतीव मनोहरोऽयं ग्रन्थः। पूर्वोल्लिखित-ग्रन्थानां नामानि असमसर्वकारस्येतिहास-पुरातत्वविभागीयमुद्रितसंस्कृतग्रन्थसूचीपत्रे विलिखितानि सन्ति। सूचीपत्रमिदं डॉ० प्रतापचन्द्रचौधुरि एम० ए०, पी० एच्० डी० महोदयो व्यलिखत्।

कामरूपमण्डलान्तर्गतं नववारीसन्तनामकग्रामस्य मदीयगृहेऽपि हस्तलिखिताः केचन संस्कृतग्रन्था विद्यन्ते। तेषां मध्यस्त्रयाणां संक्षेपवर्णना मया दीयते।

(२१) भवदेवादिसंग्रहसारोद्धारः

ग्रन्थोऽयं सूचीपत्रे विलिखितो वर्त्तते। अस्य ग्रन्थस्य लेखकः क आसीदिति कस्मिन् समये वा ग्रन्थमिमं लिखदिति च न ज्ञायते। परन्तु ग्रन्थस्य दर्शनादक्षरावलोकनच्चातीव प्राचीनोऽयं ग्रन्थ इति वक्तुं शक्यते।

यद्वासुदेव-स्मरणं समस्ताघविघातनम्।
नमस्तस्मै नमस्तस्मै सर्वान्तिर्यामिणेऽनिशम्॥

इत्यनेन नमस्कारश्लोकेन ग्रन्थस्य प्रारम्भः कृतो ग्रन्थकृता। अत्र बहूनां प्रामाण्यग्रन्थानां प्रमाणान्युद्धृत्य व्यवस्थानिरूपणं कृतं ग्रन्थकारेण। धर्म्मशास्त्राणां सारोद्धारं कृत्वा लिखितोऽयं ग्रन्थः।

(२२) राश्यादिफलसंग्रहः

सप्ताधिकाष्टादशशतशकाब्दे साचीपत्रे ग्रन्थोऽयं लिखितः, परन्तु ग्रन्थकर्त्तुर्नाम नास्ति। ग्रन्थस्यादौ कतिपयसंस्कृतश्लोकानां प्राचीनासमीयभाषयानुवादं कृत्वा ततः परं संस्कृत श्लोकैरेव ग्रन्थोऽयं विरचितो ग्रन्थकृता। ग्रन्थेऽस्मिन् जन्मसमयस्य वारतिथिमासनक्षत्रादिभेदेन फलोल्लेखो वर्त्तते। राश्यादिफलज्ञानविषये सुमनोहरोऽयं ग्रन्थः।

(२३) अथ दीक्षाप्रयोगः

अस्य ग्रन्थस्य रचयिता शम्भुनाथशर्मनामकः कश्चित् संस्कृतपण्डितः। ग्रन्थस्य समयो न ज्ञायते। शिष्यः पूर्वमुपोषितः सङ्कल्पं कुर्य्यादित्यनेन ग्रन्थस्य प्रारम्भः। ततो दीक्षाविषये विभिन्नविधानानामुल्लेखं कृत्वा—

लिख्यते चातियत्नेन श्रीशम्भुनाथशर्मणा।
दीक्षाकर्म्मणः पटलं विधिस्तु सुमनोहरः॥

इत्यनेन ग्रन्थस्य समाप्तिः कृता ग्रन्थकृता। ग्रन्थेऽस्मिन ग्रन्थकारेण प्रमाणप्रदर्शनपूर्व्वकं दीक्षाविषये सम्पूर्णप्रयोगो विधिरूपेण विलिखितः। पूर्व्वोक्ताः सर्वे एव ग्रन्था असमराज्यस्य (प्राचीनकामरूपस्य) संस्कृतपण्डितैर्विरचिताः। विभिन्नशास्त्राणामेतादृशाः संस्कृतग्रन्था 'गुवाहाटी-विश्वविद्यालये कामरूपसंस्कृत-सञ्जीवनीसमाचरन्, राज्यस्यास्य बहूनां जनानां गृहे गृहे च वर्त्तन्ते। अर्थाभावात् संग्रहव्यवस्थाया अवर्त्तमानाच्च बहवो ग्रन्था जीर्णा शीर्णाश्च जाताः। न केवलम् असमराज्य एव प्राचीनहस्तलिखिताः संस्कृतग्रन्था विद्यन्ते, अपि तु भारतवर्षस्य विभिन्नराज्यानां विश्वविद्यालयेषु जनानां गृहेषु च

नानाशास्त्राणां बहवो हस्तलिखिता अमूल्याः संस्कृतग्रन्था वर्त्तन्ते । तेषां संग्रहस्य मुद्रणस्य च व्यवस्था कया रीत्या भविष्यतीतिविषये सर्व्वैरेव विद्वद्भिर्दृष्टिर्देया ।

प्राचीन हस्तलिखितसंस्कृतग्रन्थानां संग्रहेण प्रकाशनेन च संस्कृतस्य महती समुन्नतिर्भविष्यति, तथा च जनानामपि महानुपकारो भवेत्, संस्कृतवाङ्मयस्य च गौरवमपि वर्द्धेत । आशास्यते सर्व्वैरेव संस्कृतानुरागिभिर्जनैरेवस्मिन् विषये बद्धपरिकरैर्भवितव्यमिति । परिशेषे कामरूपविषयेकेनापि कविना श्लोक एको विरचितः, तं पठित्वा निबन्धस्यास्य समाप्तिं करोमि । यथा—

यत्रास्ते नीलशैले हरि-हर-विधिभिर्धार्य्यमाणे सुरेशैः ।
कामाख्या यत्र साक्षान्मणि-गिरि-शिखरे माधवो वाजिवक्त्रः ॥
केदारो यत्र लिङ्गं मदन-गिरिवरे सर्व्वदा वर्द्धमानम् ।
पूतो लौहित्य-तोयैर्वसति विधिसुतः दर्पितश्चानुजेन ॥

\+ \+ \+

विप्रो वेदान्त-वेदागम-निपुण-तरः सर्व्वदा शान्तमूर्तिः ।
सास्माकं जन्मभूमिः सकल-वसुमती-मण्डली-सारभूता ॥
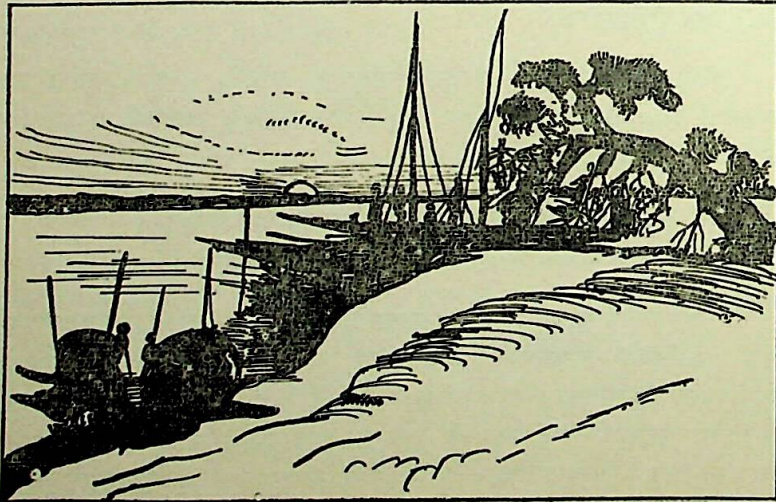
आर्याणामादिमं निवासस्थलम्

पण्डितश्री अनन्तशास्त्री फड़के

स्वनामधन्यानां विद्वद्वराणां भारतीय संस्कृति जीवातुभूतानां डाक्टर आदित्यनाथ झा महोदयानां देहली प्रदेश राज्यपाल महाभागानामभिनन्दनार्थं प्रकाश्यमानग्रन्थे लेखन-व्याजेन सर्वैरभिनन्दनीयान् तानभिनन्दितुं किञ्चित्स्वाभिप्रेतं मतं प्रकाशयामः।

आर्याणामादिमनिवासस्थलविषये बहुभिर्युरोपवासिभिर्भारतीयैश्च बहुत्र बहुवारं लिखितम्। तत्रोत्तरध्रुवदेशं सप्तसिन्धुप्रदेशमार्यावर्तादिकं चार्याणामादिमनिवास-स्थलमिति ते प्रतिपादयन्ति। तत्र ते स्वीयाभिमतमेव सुदृढ प्रमाणयुतं श्रेष्ठं चान्यैर्निर्णीत-मयोग्यप्रबलयुक्तिरहितमिति च विवदन्ते। अत्र कश्चन नूतनः पक्षो विदुषां विचाराय मोदायचोपस्थाप्यते, न तत्र मदीयोऽल्पांशेनाप्याग्रहः, किन्तु वेदाद्यालोचनेन किञ्चि-न्निश्चितिमिवमतं यज्जातं तन्निर्णये विद्वांसो निर्मत्सरा एव प्रमाणम्।

अत्यतिप्राचीने काले आर्याणां निवासस्य, कर्मणः, शौर्यस्य, धर्मस्य, यशसश्च क्षेत्रं मेरुपर्वतः (पामीरः) हरिवर्ष-हैमवतवर्षौ, भारतवर्षः, हिमालयः आर्यावर्तश्चासन्। एतेषु आर्याणां सहस्राधिकानि तीर्थानि, आश्रमाः, देवतायतनानि च सर्वत्र विद्यमानानि आसन्। तेषु महाभारतग्रन्थमवलम्ब्य कानिचित्स्थलानि प्रदर्शयामः—

हिमालयस्य आदित्यशिखरनामकेशृङ्गे भगवतः शिवस्य निवासो विद्यते[१] गौरीशिखरसंज्ञया कविकुलगुरुणा कालिदासेन वर्णितम् संप्रति एवरेस्ट संज्ञया तदेव प्रायोऽङ्गीक्रियन्ते। मानससरसोऽनन्तरं गन्धामादनपर्वतस्यं निकटे आर्ष्टिषेण ऋषेराश्रमस्य समीपे विद्यमानं तीर्थं भूतसरोवरनाम्ना प्रसिद्धचति[२]। गङ्गामहाद्वारसंज्ञके स्थाने गङ्गाहिमालयतोऽवतरति, इदं स्थानं गङ्गोत्तरीतो बहुदूरं विद्यते[३]। अर्जुनस्तपस्तप्तुं हिमवन्तं गन्धमादनं चोलङ्घ्य गतः[४]। मन्दराचलः कैलाससमीपे विद्यते[५]। महा-पार्श्वपर्वतः कैलासस्य पूर्वोत्तरभागे विद्यते[६]। कैलासपर्वते शिवकुबेरयोर्निवा-

---

१. म० भा० शां० १२७, २२ २. म० भा० व० १३०,१७; अनु० २५, ५५
३. म० भा० उद्यो० १११,१६-२० ४. म० भा० वन० ३७,४१
५. म० भा० व० १३९,५ ६. अनु० १९,२१

सोऽस्ति[७]। अत्र श्वेतकिनाचोग्रा तपश्चर्या कृता[८]। उत्तरदिग्विजययात्राया-मर्जुनोऽत्रागतः[९]। मानसद्वारसंज्ञके पर्वते परशुरामस्याश्रमो विद्यते[१०]। सप्तशृङ्गे-पर्वते पण्डुनृपः तपश्चचार, अयं पर्वतो हिमालय-गन्धमादन-इन्द्रद्युम्न-हंसकूटतो दूरं विद्यते[११]। मैनाकपर्वते राजा भागीरथो गङ्गायाः प्राप्त्यै महतीं तपश्चर्यां कृतवान्[१२]। अत्रैव समीपे विन्दुसरो विद्यते, अस्य सर्वस्य विस्तरेण प्रदर्शनस्य मुख्यं कारणमेतत्-आर्याणां सर्वत्र हिमालये, तस्योत्तरतश्च प्राथमिको निवासः, कदाचित्प्रादुर्भावस्थलम्, पराक्रमस्थानम्, संस्कृतिसंवर्धनक्षेत्रम्, सर्वतः प्रथमग्रन्थरूपेण प्रादुर्भूतवेदसमुदायप्रकाश-स्थानं च मेरुपर्वतं (पामीर) अभितो हरिवर्ष-हैमवतवर्ष-त्रिविष्टपादि-भारतवर्ष-आर्यावर्त प्रभृत्यासन्। तत एव ते इराणप्रदेश (आर्यायण)—युरोपदेश-उत्तरध्रुवस्थानानि अश्वमेधाश्वं अप्रतिहतगत्या चरन्तमनुसृत्यागमन्। भारतीयार्याणां धर्मशास्त्रादिग्रन्थेषु, पुराणादिषु च विद्यमानैः प्रमाणैर्मेरुपर्वतं हिमालयं च परित एव सर्वत्रार्यसंस्कृते-प्रादुर्भावो तद् विकासादिकं च लभ्यते। मेरुपर्वतादिकं हिमालयं आर्यावर्तं च वर्जयित्वा आर्याणा-मादिनिवासस्थल बोधकनि यानि प्रमाणानि तत्तद्वादिभिः, प्रकाश्यन्त, तानि न स्फुटान्यतो न सर्ववादि संमतानि। उत्तरध्रुवप्रदेश बोधकानि, सप्तसिन्धु प्रभृतिप्रदेशनिरूपकाणि न स्पष्टया आर्याणां प्राथमिकनिवास बोधकानि किन्तु आर्याणां तत्र तत्र देशे कदाचिद्-गमनद्योतकानि। तत्तद्देशसम्बन्धश्च अश्वमेधाश्वानुगमनेनापि संभवति।

(पामीर) मेरु-हरिवर्ष-त्रिविष्टप=तिवेट=तिब्बतस्थानेषु आर्याणां प्राथमिक निवासः संभावयितुं शक्यते। तत एव चार्या उत्तरस्यां पश्चिमायां चान्यत्रदिशि प्राचलन्। ततोऽन्यत्र गमनस्येमानि कारणानि संभवन्ति—अश्वमेधाश्वानुगमनम्, हिमाधिक्यम्, दुर्भिक्षसंभवः, शत्रुसांनिध्येनजीविकाक्षेत्रसंकोचः, मनुष्यसङ्ख्याधिक्यं नूतनप्रदेशजिज्ञासा-दिकञ्च। अस्मिन् विषये ऋग्वेदादितः स्थले काले च स्वाभिमतं मतं प्रदर्शयामः।

यदा च उत्तरस्यां दिशि मेरुपर्वते तत्समीपस्थप्रदेशेषु चार्याणामादिनिवास आसीत्तदा इन्द्रस्थानं दक्षिणस्यां दिशि विद्यते स्म। अत एव ऋग्वेदे क्वचिदल्पीयसिस्थले इन्द्रस्य दक्षिणदिशा सह सम्बन्धो निर्दिष्टः। तथाहि—अष्टममण्डलस्यैकाशीतिसङ्ख्याके सूक्ते प्रथममन्त्र एतादृशोऽस्ति—

आतून इन्द्रक्षुभन्तं चित्रं ग्राभं संगृभाय।
महाहस्ती दक्षिणेन॥

---

७. म० भा० व० १०६,६६ ८. म० भा० आदि २२२,३६-४०
९. म० भा० स०२८,४ १०. म० भा० व० १३०,१२-१७
११. म० भा० आदि ११८,५० १२. म०भा० सभा० ३,६-११

इदं सूक्तं श्रीमता सायणाचार्येण गणपतिपरं व्याख्यातम्। परन्तु वस्तुतस्तदिन्द्रपरमेव, यतस्तत्रमन्त्रे इन्द्रबोधकं शब्दसामर्थ्यरूपमिन्द्रालिङ्ग (पदं) विद्यते। अस्मिन् मन्त्रे इन्द्रस्य दक्षिणादिक् सम्बन्धः स्फुटतया ज्ञायते। अस्य विवेचनं तैत्तरीय संहितायां ५।५।१ स्थले स्पष्टतया कृतमस्ति। तद्यथा—ओजस्विनि नामासि दक्षिणा दिक् तस्यास्त इन्द्रोऽधिपतिः। इति एवं च वैदिकानि द्वित्राणि स्थलानि त्यक्त्वा दक्षिणदिशा सहेन्द्रसम्बन्धो भारतीयवाङ्मयसमुद्रे कुत्रापि प्रायो न विद्यते। सर्वत्र पूर्वया दिशया सह सम्बन्धः अस्ति। दक्षिणदिगधिपतिरिन्द्रः पूर्वस्या दिशोऽधिपतित्वेन भारतीयवाङ्मयसागरे आर्यैः स्वीकृतः, अत्र केनचिन्महता कारणेन भाव्यम्। तच्चैतत्संभवति, भारतीयग्रन्थेषु महेन्द्रपर्वतात्परं मध्येसमुन्द्रमिन्द्रद्वीपमस्तीति निरूपितम्[1]। मेरुपर्वतादिस्थानेषु पूर्वं निवसतामार्याणमार्यावर्ते, दक्षिणस्यां पूर्वस्यां, पश्चिमायां दिशि च नूतनदेशजिज्ञासया सर्वत्रगमनमासीदेव। यतः ऋग्वेदादितो तेषां ब्राह्मणादि ग्रन्थतश्च स्फुटतयैतत्प्रतिपादयितुं शक्यमेव। पूर्वप्रदर्शितैः कारणैरार्या यदा मेरुकैलासादिस्थानतोऽन्यत्र गन्तुं प्रावर्तन्त, तदा प्रथमतः पश्चिमायां दिशि शनैः शनैरागच्छन् तदोत्तरवर्तिनिवासस्थल दृष्ट्या यदिन्द्रस्थानं प्रथमं दक्षिणस्यां दिश्यासीत्। तच्छनैः शनैरार्याणां पश्चिमदिशि गमनेन पूर्वां दिशं समागन्तुं प्रावर्तत। अत इन्द्रस्थानं यत्पूर्वं दक्षिणस्यां दिश्यासीत् तत्तदात्वे तदानींतनैरिन्द्रभक्तैः शनैः शनैः प्राप्तानुभवानुसारं पूर्वस्यां दिशि योजितं यत्तदुचितमेव कृतम्। यथा वा श्राद्धप्रयोगे ईशान्यां दिशि तिलान् प्रक्षिप्य 'ईशानाविष्णु' इति मन्त्रेण श्रीगया, ब्रह्मगया, विष्णुगया, इत्याद्युच्चार्य निवीतिना श्राद्धकर्त्रा त्रिपदगमनं विधेयमिति श्राद्धप्रयोग निबन्धकाः आमनन्ति। तत्रेशानदिशि गमनकारणं श्राद्धप्रयोगनिबन्धको यत्र देशे आसीत् तद्दिग्दृष्टचा गयाक्षेत्रमीशान्यां दिशि आसीत्, तत्र तत्करणमुचितमेव। परं तु स एव श्राद्धप्रयोग निबन्धकः कारणवशात्कालिकाक्षेत्रे (कालिकातानगरे) गच्छेत्तदा स कालिकातातः ईशान्यां दिशि गयाक्षेत्रं नास्तीति कृत्वा तथा नाचरति, किन्तु यस्यां दिशि गया क्षेत्रं समापतेत्तत्रैव तिलप्रक्षेपपूर्वकमीशान विष्णुमन्त्रपठन सहितम् पदत्रयगमनं करोति। यदि तथा न कुर्याच्चेच्छ्राद्धविघातः प्रायश्चित्तार्हताच संभवेत्। तद्वत् पश्चिमायां दिशि शनैः शनैः समागतैरिन्द्रभक्तैर्दक्षिणदिगधिपतित्वमिन्द्रस्य परित्यज्य पूर्वदिगधिपतित्वं यत्संयोजितं तत्सुयोग्यमेव कृतम्। दक्षिणदिगधिपतित्वमिन्द्रस्य अत्यतिप्राचीनकालेस्याद्यत ऋग्वेदादौ स्थलद्वयं स्थलत्रयं वा त्यक्त्वा नान्यत्र विधिः समुल्लेखः संप्राप्यते, तैत्तिरीय संहितायां स्फुटतरमेतत्संप्राप्यते अतोऽत्र विषये संदेह लेखनास्त्यवसरः

---

१. महेन्द्रात्परतश्चैव इन्द्रद्वीपो निगद्यते। स्कं० मा० खं० कौ० खं० ३६, ११३ एवमन्यत्र च।

यद्यपि तैत्तिरीयसंहितायां प्रदर्शितस्थलेऽन्यदेवतानामन्या देवादिभिस्सम्बन्धो विचारणीयोऽस्ति तद्विषये अन्यत्र कारणादिकं निरूपयामः। तथा संप्रतिविद्यमानमहेन्द्रपर्वत स्थानमिन्द्रद्वीपस्थानं च अत्यतिप्राचीनतमेकाले तत्रैवासीदिति वक्तुं न शक्यते, परन्तु दक्षिणदिशि तदासीदिति तु वक्तुं सुशकम्। कदाचिदार्यावास स्थलस्य अत्यतिदूरं नस्यादल्प दूरं कदाचित्स्यात्। तत्कथञ्चिदस्तु परन्तु आर्य निवासस्थलाद्दक्षिणस्यामासीदिति सुस्फुटम्।

इन्द्रद्वीपस्योत्तरप्रदेशे मेरुपर्वत-(पामीर)-हरिवर्ष-हैमवतवर्ष-त्रिविष्टपःतिब्बत कैलास प्रभृति देशाः सन्ति। अतो निवासस्थलं प्राथमिकं मेरुप्रभृति-स्थानेष्वेव सर्वथा संभवति। नोचेदिन्द्रस्य दक्षिणदिगधिपतित्वं सुयोजयितुं न शक्यते।

मेरुपर्वते भगवतो व्यासदेवस्याश्रम आसीत्। तेन स्वपुत्रः शुको विदेहजनकस्य आर्यावर्तनिवासिनः समीपे उपदेशं ग्राहयितुं ततः प्रेषित इति महाभारततो ज्ञायते[1]। प्रसङ्गत इदमपि ज्ञायते यत् त्रिविष्टपदेशः (तिविट-तिब्बत) भारतस्यैवाभिन्नमङ्गमासीत्। यतश्चीन हूणदेशाः भारताद्वहिष्ठाः अपि भारतसमीपस्था इति कृत्वा निर्दिष्टाः, यदि तिब्बतदेशोऽपि भारताद्वहिः स्यात्तदा चीनहूणदेशतोऽपि समीपतरो-निर्दिष्टो भवेत्। परन्तु तस्यनिर्देशाभावेन स भारतस्यैवाभिन्नमङ्गमिति निश्चप्रचम्। अस्मिन् विषये प्रामाणिकं वहुवक्तव्यमास्ते तदन्यदावर्णयामः।

किञ्च त्रिविष्टपसंज्ञायाः प्रवृत्तेः कारणमृग्वेदे समुपलभ्यते, तत्र त्रयाणां विष्टपानां वर्णनं समुपलभ्यते। तथाहि न्यर्बुदस्य विष्टपमेकम् ८।३२।३

न्यर्बुदस्य विष्टपं वर्ष्माणं बृहतस्तिरम्। कृषेतदिन्द्र पौंस्याम्॥

द्वितीयं समुद्रस्य विष्टपम्—

आयाहि पर्वतेभ्यः समुद्रस्याधि विष्टपः॥ ८।३४।१३

तृतीयं रसो विष्टपम्—

परिणः शर्मयन्त्या धारया सोम विश्वतः।
सरो रसैव विष्टपम्॥ ९।४२।३

---

१. मरोर्हरेश्च देवर्षे वर्षं हैमवतं तथा।
क्रमेणैव व्यतिक्रम्य भारतं वर्षमासदम्॥
स देशान् विविधान् पश्यन् चीनहूणनिषेवितान्।
आर्यावर्तमिमं देशमाजगाम महामुनिः॥
(म० भा० शां० अ० ३२५) सः, महामुनिः=शुकः।

यद्यपि भगवता सायणाचार्येणान्यथा व्याख्यायि ऋक्त्रयम्, तथापि नगरत्रयपरतयापि पूर्वापरमन्त्रादिसमालोचनया व्याख्यातुं सुशकम् । एवं च विष्टपत्रयमेव त्रिविष्टपम् (तिबेट-तिब्बत) इति ।

आर्यावर्तनिवासिनां भारतीयार्याणां महती समीहाऽऽसीत्, यद्धर्मनिर्दिष्टं स्वीयं कार्यं संपाद्य वयं सर्वथा स्वीयमादिमं स्थानं गत्वा सुखेन तपश्चराम इति[1] ।

किञ्च मेरु=पामीर-पर्वत समीपः प्रदेशस्तदात्वे मनुष्यनिवासयोग्य आसीत् । तत्समीप एव काश्यपसमुद्रः (कास्पीयनसमुद्रः) असुरदेश (असीरिया) प्रभृतयः प्रदेशा आसन् ।

पामीरपर्वतस्य मेरुपर्वतरूपेण स्वीकरणे पाण्डवानां महाप्रस्थानसम्बन्धिवर्णनमपि अनुकूलमाचरति । यतः पूर्वदिशात-पाण्डवैर्महाप्रस्थानं प्रारब्धम् । ततो दक्षिण-नैर्ऋत्य-पश्चिमदिक्षु चलित्वा ते उत्तरदिशं प्रति प्रस्थिताः, प्रथमतो हिमगिरिं दृष्ट्वा तमुल्लंघ्य० वालुकासमुद्रमाक्रम्य च तैः मेरुपर्वतं ददृशुः । हिमालयस्यानन्तरं विद्यमानो वालुकासमुद्रः संप्रति गोबीनामक बालुकाप्रदेश एवास्ते । ततो मेरुर्नाम संप्रति विद्यमानः पामीर एव, स तदात्वे मेरुपर्वतपदेनगण्यते स्म ।

किञ्च ऋग्वेदीय नदीसूक्त[3] समालोचने तत्र प्रदर्शितनदीक्रमस्यापि कश्चन हेतुः स्यात्, स चार्याणां स्वमूलस्थानतोऽन्यत्रगमने क्रमं मार्गं च बोधयति । मनुष्यस्वभावः अयम् प्रथमतः परिचितं नित्यसम्बन्धिनं गणयति, ततस्ततोन्यूनपरिचितं, तथा ततोऽपि न्यूनतमपरिचितम् । एवं प्रथमतो नित्यपरिचितां गङ्गां ततो भिन्नानां क्रमप्राप्तानां नदीनां निर्देशः । तेनापि आर्याणां मूलनिवासः पूर्वोक्त एवं गमनमार्गश्च निश्चीयते इत्यपि केचन वर्णयन्ति ।

एवं चार्याणामादिमप्रादुर्भावस्थलं, निवासक्षेत्रं, पराक्रमप्रदेशः, ज्ञानविज्ञान प्रकाशस्थली च मेरुपर्वतादारभ्य (पामीरादारभ्य) हरिवर्ष-हैमवतवर्ष-भारतवर्ष-हिमालय-कैलास-मानस सर त्रिविष्टप-आर्यावर्त प्रभृतयश्चासन् । तथाचार्याः सर्वथा

---

१. निश्चक्राम भ्रातृसंदर्शिताध्वा । हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्षम् । भाग १।१३-२९
म०-भा० आदि० ११८।५० म० भा० आश्र० ३७।१०।३२ आदि ।

२. तमसो नियतात्मानं उदीचीं दिशमास्थिताः ।
ददृशुर्योगयुक्ताश्च हिमनद्यां महागिरिम् ॥
तं चाप्यतिक्रमंतस्ते ददृशुर्वालुकार्णवम् ।
अवैक्षन्त महाशैलं मेरुशिखरिणां वरम् ॥०
म० भा० महाप्रा० २ । १ । २ ।

३. इमं मे गङ्गे यमुने० तृष्टामया प्रथमं यातवे सतः । ऋ० म० १०।७५ ।

भारतवर्षीया एव न तु भारतवर्षाद्बहिष्ठाः। भारतवर्षस्य मर्यादा च भारतीयग्रन्थेषु इत्थं समुपलभ्यते—उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।

'वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।'

वि० पु० २।३।१

अस्य योजनतो मानं 'नव सहस्रसंमतः' इत्युक्तम्। भारतवर्षस्थोभारतदेश एकसहस्रयोजनमितो विद्यते—अयं तु (भारतदेशः) नवमस्तेषां द्वीपः सागरसंवृतः।

'योजनानां सहस्रं तु द्वीपोऽयं दक्षिणोत्तरः।' विष्णु० ६।३

पामीरशब्देऽपि पमेरु शब्दसा दृश्यं वर्तते। एको महामेरुर्विद्यते, सचोत्तर ध्रुवप्रदेशः, तस्येत्थं वर्णनमुपलभ्यते—सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः। इति। अन्यश्च प्राणिनां सकलोपयुक्तपदार्थप्रदानेन पालनकर्ता (पातीतिपः) पमेरुर्विद्यते, इत्यपि केचन कथयन्ति। भारतेऽपि केचनदेशा अनयारीत्या व्यवह्रियन्ते, यथा काश्मेरु=काश्मीर, अजमेरु=अजमीर, काश्मीरे स्थितं मेरुपुरम्=मीरपुरम्। इत्यादि। श्रूयते चाप्तजनात् संप्रति विद्यमाने अफगाणस्थाने (गान्धारदेशे) विद्यमानाः पर्वतकाः मेरु कोह् शब्देन तत्रत्यैः प्रतिपाद्यन्ते इति।

भारतवर्षैरार्यैर्भारतवर्षं स्वीयदिव्यया संस्कृत्या सर्वप्राणि हितकर्त्र्या सर्वोत्कृष्टतया स्वीयाचरणेन, तपसा, परमेश्वर साक्षात्कारेण च संस्कृत्य सर्वोत्कृष्टाः दिव्याः संदेशाः प्रवर्तिताः, तत्र च केचनः—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः

ऋ० १।८६।८

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्

ऋ० १।१८६।१

मोघमन्नं विदन्ते अप्रचेताः

ऋ०१०।११७।६

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतꣳ समाः।।

वा० ते० सं० ई० उप०

卐

पश्चिमीय जगति संस्कृत वाङ्मयस्याध्ययनानु-सन्धायोः प्रभातकालः

डॉ० सत्यनारायण शर्मा

भारतीयसंस्कृतेर्ज्ञानमुपार्जितुं पश्चिमीयजगति या चेष्टा बोभूयते, संस्कृतसाहित्यदर्शन व्याकरणेतिहास प्रभृतीनां क्षेत्रे पश्चिमीयविद्वद्भिर्यत्कार्यं कृतमस्ति तदर्थं प्रेरणा कस्मादुपलब्धा, केन विधिना, केन महापुरुषेण कासु परिस्थितिषु अध्ययन-क्रमस्य समारम्भोऽक्रियत, जिज्ञासेयं स्वाभाविकी।

भारतस्य पश्चिमीयभूभागेन सह परिचयो नास्त्यर्वाचीनः। यवनदेशीयानां विदुषां भारतीय-साहित्येन सहासीत् सम्बन्धः। ते कस्यचिद् भारतीयस्य होमरस्यो-ल्लेखमपि कुर्वन्ति स्म। भारतस्य कथनामपि पश्चिमे प्रवेशोऽति पुरातनकाल एव संबभूव। परमस्य परिचयस्यैतिहासिकं तथ्याधारितज्ञानं नास्ति सुलभम्। ऐतिहासिकानां मते आधुनिककालिकभारत विद्याप्रसारणस्य समारंभोऽभूत् षोडशशताब्द्याम्।

पुर्त्तगालदेशवासिनामेव भारतीयसाहित्येनसह प्रथमः परिचयः सञ्जातः। तेषां परिचयो नासीत् संतोषावहः, तेषामुद्देश्यमप्यासीदन्यम्। धर्मप्रचारकार्यार्थिमेव ते संस्कृतशास्त्राणामवलोकनं कुर्वंति स्म, संस्कृतज्ञानविरहिता अपि। भारतस्य यत् प्रथमं पुस्तकं पाश्चात्यभाषायामनूदिता बभूव, तस्यानुवादक आसीदेको हालैण्ड-देशीयो धर्मप्रचारकः। तस्य नाम आसीत् अब्राहमरोजरः। स मद्रासनिकट वर्त्तिनि पालिआकत्ता नामके स्थाने कार्यरतः आसीत्। एकपंचाशदधिकषट्शताधिकसहस्र-तमायां (१६५१) ईस्व्यां लाइडन नगरात् भारतस्योपरि तस्य कृतिर्डच भाषायां प्रकाशिता बभूव। भारतं प्रति भारतीयसंस्कृतिं प्रति शर्मण्यदेशीयानां हृदि तस्मिन्कालेऽपि जिज्ञासावृत्तिरासीदेव, कारणादस्मात् कृतिरियं द्रागेव शर्मण्य-भाषायामप्यनूदिता बभूव। त्रिषष्टयधिकष्टशताधिकसहस्रतमायां (१६६३) ईस्व्यां शर्मण्यदेशस्य निर्नबेर्गनगरात् पुस्तकमिदं प्रकाशितं "Offne thur znu dim verb osgenew Heydenthum" इति नाम्ना। पुस्तकस्यास्यान्तिमे भागे संस्कृतभाषायाः

सुकृतिनो रससिद्धस्य कविश्रेष्ठस्य भर्तृहरेर्यस्य 'यशःकाये जरामरणजंभयं' नास्ति, द्विशतश्लोकानां गद्यानुवादोऽपि दत्तोऽस्ति । अनुवादकार्येऽस्मिन् पद्मनाभनामा पंडितस्तस्य साहाय्यं चकार। सप्तत्यधिषट्शताकधिकसहस्रतमायां (१६७०) ईस्व्यां पुस्तकस्यास्य फ्रांसीसिभाषायामप्यनुवादो वभूव। दीर्घकालं यावत् भारतीयसंस्कृतेः प्रेमिणः पश्चिमीयजगति प्रसृतायामस्यामनुवादकृत्यामेव भारतीयसंस्कृतेर्दर्शनं कुर्वन्तः प्रसन्नतामनुभवंति स्म ।

खिृस्तीयधर्मप्रचारकाणां संख्या क्रमशः ववृधे। ते धर्मप्रचारकार्यार्थं भारतस्य धर्मभाषामधीयते स्म । पंचाशदधिकषट्शताधिकसहस्रतमायां (१६५०) ईस्व्यां मासीदेक. खिृस्तीयधर्मप्रचारकः पातर हाइनरिख रोथनामा, येन संस्कृतस्य परिश्रमपूर्वकमध्ययनं कृतमासीत् । द्वात्रिंशदधिकसप्तशताधिकसहस्रतमायां (१७३२) ईस्व्यां दिवंगेतः शर्मण्यदेशीयो यीशुसमाजी यस्य नाम आसीत् योहान्नस एन्र्स हांक्स—लदन, संस्कृतभाषाया व्याकरणं लातीनीभाषायां लिखितवान् । तदनंतरं Dictionarium Malaboricum Samseridamicum Insitanum इति नाम्ना पुस्तकमपि प्रणीतवान्। नवत्यधिक सप्तशताधिक सहस्रतमायां (१७९०) ईस्व्यां; चतुरधिकाष्टशताधिकसहस्रतमायां (१८०४) ईस्व्यां ईस्व्याञ्चासित्रयादेशवासी संयासी रोमनगरे संस्कृत व्याकरणं भारत संस्कृतिसम्वन्धिनः प्रवंधान् अपि प्रकाशितवान् । तस्य नाम आसीत् जे० वेसदिन ।

महानुभावानामेषां प्रयासस्य फलस्वरूपेण वेर्नियरस्य च तावेर्नियरस्य च यात्रावर्णनेन च पश्चिमीयजगतो जिज्ञासूनां जिज्ञासा भृशं विवृधे। अष्टादश शतकस्योत्तरार्धे फ्रांसदेशे पुस्तकमेकं प्रकाशितं वभूव, यस्य नाम आसीत् "L'Ezour Vedam on Ancien Coininentaire du vedum, contenant l' expeintion des opinions religieuses et philosopiques des Indiens. Tradint du samscretan par un Brame. अर्थात् यजुर्वेदः, वेदस्य प्राचीनं भाष्यम्, भारतीयानां धार्मिकं दार्शनिकं मतविवरणञ्च, संस्कृतादेकेन ब्राह्मणेनानूदितम् । फ्रांसदेशस्य महामनीषी विश्वविश्रुत साहित्यकारः वोल्तेरः पुस्तकेन सह मुद्रणात्पूर्वमेव परिचितो वभूव। अस्योपरि स परमोत्साहपूर्ण आसीदित्यस्ति तस्योद्गारैस्तु स्पष्टम् । स्वके सुविख्याते Essai sur les moeuss et l' espsit dcs nations नामके सुविख्याते ग्रन्थे स पुस्तकस्यानुभवमकरोत् । स लिखति—Un husasd puseux a procure' a lo bibliothique de Paris un ancien livre des brames, l'est L'Ezour Veidam, e' csit arant, l exsiditior diklcxandse dam l' Inde अर्थात् पेरिसस्य पुस्तकालये ब्राह्मणानामेका प्राचीना कृतिरागतास्ति, यस्य प्रणयनमलक्षेन्द्रस्य भारताभियानात् पूर्वं वभूव । 'Nous pourous done nous flather d'avoir augourd'

hui que ! que connoissance des plus anciens l'ents qui soient au woude. अर्थात् संसारस्य प्राचीनतमानां कृतीनां किञ्चिद् ज्ञानममस्माभिः प्राप्तमस्मोपरि वयं गर्वस्यानुभवकर्त्तुं शक्नुमः।"

पुस्तकस्यास्य जर्मनभाषानुवादोऽपि १७७६ ईस्व्यां प्रकाशितो बभूव। परं पुस्तकमिदं न च प्राचीना कृतिरासीत् न च वेदस्यभाष्यमेव। संभवतः अष्टादशशतकस्यारंभिककाल एव प्रणतस्यैकस्य पुस्तकस्यासीदयमनुवादः।

पश्चिमीय जगति यस्य परिश्रमेण महदुत्साहेन प्राचीन भारतीय पुस्तकानामागमनमभूत तस्यास्ति नाम आंकतिल द्युपरों। एकाधिकाष्टशताधिकसहस्रतमायां (१८०१) ईस्व्या सर्वप्रथम द्युपरोंकृत उपनिषदानुवादः प्रकाशतो बभूव। स स्वयन्तु संस्कृतभाषानभिज्ञ आसीत् अतएव उपनिषदां पारसीकानुवादं कृत्वा स स्वं सफलमनोरथं मेने। औरंगजेबस्य भ्राता दारा शिकोहो हिंदूनां शास्त्राणामासीत् सुमहान् प्रेमीति सर्वविदितम्। पंचाशत् (५०) उपनिषदां पारसीक भाषायां सोऽनुवादं कारितवान्। द्युपरो फ्रांसीसिभाषायापनुवादकार्यं समारभत, परं तदनंतर स मेने यल्लातीनीभाषायामेवानुवादः करणीयः। महतापश्रिमेण सह उपनिषदमनुवादकार्यं निष्पादितवान्। लोकस्य सर्वविधसुखसौविध्यं त्यक्त्वा, नितान्त साधारणे गृहे उषित्वा, धनहीनो भूत्वा, परिवारहीनो भूत्वा एकाकी निष्कंचनः स ज्ञानप्रसारणार्थं यत्किञ्चित् कृतवान् तदस्त्यविस्मरणीयम्। शर्मण्यदेशीयः परमदार्शनिक आर्थर शोपेनहावरः कृतिमिमां पठित्वा नितान्त प्रभावितो बभूव। मूलसंस्कृतेपाठेन सहासीत् शोपोहावरस्यपरिचयः, परं पारसीकानुवादस्यानुवादमेवानुशीलयित्वा स भारतीय ऋषीणां चिंतनालोकस्य सुमहान् प्रशंसको बभूव।

शोपेनहावरेण भारतीयानां चिंतनभौक्तिककणान् प्रति ये समादरपूर्णा भावाः प्रकटितास्तेषां परिणामस्वरूपेण पाश्चात्यजगति विदुषां हृदि भारतीयवाङ्मयस्य ज्ञानार्जनस्येच्छा भृशं जागराञ्चकार।